

श्रीमद्सगसहाकविविरचिन —



वधमानचरित्र.

~~~ BBBBIIEEE +



अनुवादकः—जिनदास पश्चिनाथ फडकुले.

<sup>प्रकाशकः</sup>—रावजी संखाराम दोशीः

वीरनिर्वाण संवत् २४५७.

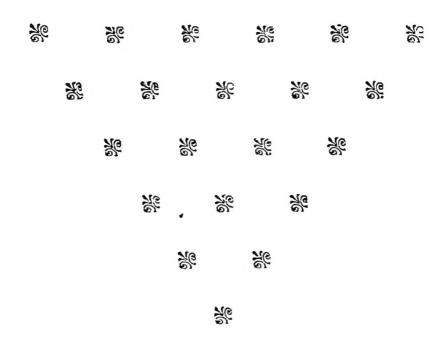
~5324634F

मार्च, सन् १९३१.

प्रथमा वृत्ति.

किंमत १ रुपये.

प्रकाशकः— रावजी सखाराम दोशी, मंगळवारपेठ, सोलापूर.



सुद्रक — कर्मयोगी प्रेस, ५७४ दक्षिण कसवा, सोलापूर.

केवळ आद्य टाण्टल पासून प्रन्तावना २८ एष्ठ पर्यंत श्रीधा प्रेस, भवानीपेट. सोलापूर. चैथे छापविले

# विषयानुक्रमणिकाः

| अ.नं | . विषय.                                                      |             | पृष्ठ संख्या. |
|------|--------------------------------------------------------------|-------------|---------------|
| . 8  | मंगलाचरण                                                     | • • •       | 8             |
| २    | पूर्वदेशाचें वर्णन                                           | • • •       | ą             |
| ३    | श्वेतातपत्रानगरीचें वर्णन                                    | • • •       | ų             |
| 8    | नंदिवर्धन राजाचें वर्णन                                      | • • •       | ९             |
| 4    | वीरवती राणीचें वर्णन                                         | • • •       | ११            |
| ξ    | नंदन राजपुत्राचें वर्णन                                      | • • •       | १२            |
| v    | नंदिवर्धनास वैराग्य होतें                                    | • • •       | २२            |
| 2    | नंदन राजपुत्रास राज्यापीण                                    | • • •       | २५            |
| ९    | उद्यान वर्णन                                                 | • • •       | २८            |
| १०   | मौष्ठिल मुनींच्या दर्शनासाठी राजाचें प्रयाण                  | • • •       | ३२            |
| ११   | नंद राजाच्या पूर्वभवांचें मुनिक्कत वर्णन                     | • • •       | ३६            |
| १२   | अमितकीर्ति मुनींचा सिंहाला उपदेश व त्यांचे पूर्वभव वर्णन     | •••         | ३८            |
| १३   | आदिनाथ स्वामीबरोबर मरीचि दीक्षा घेतो                         | •••         | ४३            |
| \$8  | मरीचीचें भववर्णन                                             | 1000        | ४५            |
| १५   | विश्वमूति राजास वैराग्य होतें. तो विश्वनंदि पुत्रास युवराज प | दवी देतो व  |               |
|      | आपल्या विशाखभूति भावास राज्य देऊन दीक्षा है                  | ातो         | ५७            |
| १६   | बगीचाविषयीं विश्वनंदी व विशाखनंदी यांचा कलह                  | • • •       | 49            |
| -    | विश्वंनदी व विशाखमूति दीक्षा घेतात                           | •••         | ६९            |
|      | विश्वनंदी मुनि निदानानें महाशुक्र स्वर्गीत उत्पन्न होतात.    |             | ७२            |
| १९   | अश्वग्रीव विद्याधराचा जन्म व त्याचा अर्धचकवर्तिपणा           | •••         | ८१            |
| २०   | पोदनपुरनगर वर्णन                                             | •••         | ८३            |
|      | प्रजापति राजाचें वर्णन                                       |             | ८'٩           |
|      | विजय व त्रिपृष्टराजपुत्राचे वर्णन                            | • •         | ८७            |
|      | सिंहवध वर्णन                                                 | • •         | ९१            |
|      | विद्याधरदूतानें सांगितलेली हकीकत                             | •••         | 6.8           |
|      | त्रिपृष्ट,राजपुत्राचं स्वयंप्रभेशीं लग्न                     | • • •       | १०१           |
|      | अध्ययीवाच्या समेत क्षुठ्ध झालेल्या विद्याधर् राजांचे वर्णन   |             | १०५           |
|      | हरिश्मश्रु प्रधानाचा अश्वय्रीव राजास उपदेश व राजाचे          | उद्धत भाषण. | १२१           |
|      | प्रजापति राजाचें मंत्रिगणासह खलवत                            | •••         | १२२           |
|      | सुश्रुत मंत्र्याचें सामोपायवर्णन                             | •••         | १२३           |
| २०   | विजयवलभद्रानं सामोपायाचं खंडन केलें                          | • • •       | १२७           |

| ्अ: नं, विषय                                                    |        | ष्ट्र. संख्या. |
|-----------------------------------------------------------------|--------|----------------|
| ३१ सैन्यप्रयाण वर्णन्                                           | • • •  | १३६            |
| ३२ त्रिपृष्टाकडे दूत येऊन भाषण करितो                            | • • •  | १४५            |
| ३३ वरुभद्राचें त्यास उत्तर                                      | • • •  | १४७            |
| ३४ पुन. दूताचे भाषण                                             | • •    | १५१            |
| ३५ युद्ध वर्णन                                                  | ••     | १६२            |
| ३६ त्रिष्ट्रष्ट व अश्वयीव यांच युद्ध                            | • • •  | १७६            |
| ३७ त्रिपृष्टाच्या ऐश्वर्याचे वर्णन.                             | • • •  | १८४            |
| ३८ प्रजापति राजांचे वैराग्य व दीक्षाग्रहण                       |        | १८९            |
| ३९ त्रिपृष्टाचा मृत्यु व विजय वलंद्वाचे मुक्तिगमन               | • • •  | २००            |
| ४० नरक दु ख वर्णन                                               | •••    | २०४            |
| ४१ अमितकीर्ति मुनीचा सिहास धर्मीपदेश .                          | •••    | २७७            |
| ४२ सुत्रत सुनीचा कनकध्वजराजास धर्मोपदेश                         |        | २२६            |
| ४३ राजा दीक्षा घेतो व सहस्रार स्वर्गीत देव होतो                 | • • •  | २३०            |
| ४४ हरिपेण राजा श्रुतसागर मुनी पास्न श्रावकांची त्रतें ब्रहण करि | रेतो . | २३७            |
| ४५ सूर्यास्त व चंद्रोद्य वर्णन                                  | • • •  | २३९            |
| ४६ प्रियमित्रचक्रवर्तीचं व त्याच्या ऐश्वर्याचें वर्णन           | • • \$ | <b>२५</b> ४    |
| ४७ क्षेमंकर जिनेश्वराचा चक्रवतीस सप्ततत्वाचा सविस्तर उपदेश      | •      | २६३            |
| ४८ नंदन राजा दीक्षा घेऊन मोळा भावनाचे चितन करितो.               | • •    | ३२०            |
| ४९ कुंडपुराचें वर्णन .                                          | •      | ३ <b>३</b> ३   |
| ५० सिद्धार्थ नृपति वर्णन                                        | •      | ३३७            |
| ५१ देवतागमन व त्रिज्ञला देवीस सोळा स्वमे पडली                   |        | ३४०            |
| ५२ स्वम फल वर्णन.                                               | •      | ३४२            |
| ५३ महावीर जन्म व त्याचा मेरू पर्वतावर इंद्र अभिषंक करितो        | •      | ३४७            |
| ५४ महावीर स्वामी सर्पाच्या मस्तकावर उमे राहातात                 | • •    | ३५६            |
| ५५ महावीर स्वामी दीक्षा घेतात व रुद्र त्यांना उपसर्ग करितो      | ••     | ३५७            |
| ५६ महावीर स्वामीस केवल ज्ञानाची प्राप्ति                        |        | <b>३६</b> १    |
| ५७ समवसरण वर्णन                                                 | •      | ३६३            |
| ५८ गीतम ब्राह्मण दीक्षा घेतो                                    | • •    | इं७४           |
| ५२ महावीर स्वामीची इंद्र स्तुति करिनो                           |        | રૂ ૭૫          |
| ६० महावीर स्वामीस मोक्ष प्राप्ति                                |        | ३८३            |
| ६६ <del>चरि</del> समस्ति                                        |        | 3 4 4          |

६१ कवि प्रशस्ति ..

३८५

# प्रस्तावनाः

#### काव्य कशास सणतात ?

श्री महावीरस्वामींचें सिवस्तर चिरत्र महाकवि असग यांनी संस्कृत भाषेत काव्यस्त्रपानें लिहिलें आहे. हें त्यांचें काव्य उच्च दर्जाचें आहे. जैन कवींनी आवल्या काव्यांत उत्कृष्ट नायकांचेंच वर्णन केलें आहे. म्हणून त्यांनी आवल्या प्रतिभाशाली वाणीचा दुरुपयोग केला नाहीं असे साणण्यास हरकत नाहीं. जैनाचार्याच्या हृदयांत लोकांना मोक्समार्गीत तत्पर करण्याचा टहेश होता. व तो त्यांनी उच्चाचरणाच्या नायकाचें वर्णन करून पार पाहिला आहे.

हीनवृत्तीच्या नायकांचें लक्ष परमार्थीकडे वळण्याचें नसतें. व अशा नायकांचें वर्णन करण्यानें आपण जनतेला उच्चमार्गीकडे नेकं शकणार नाहीं हें जैनाचार्याना पूर्णपणें माहित होतें.

सरस्वती अर्थात् वाणी ही एक अपूर्व करपळता आहे म्हणून तिची वाढ करावयाची असेळ तर तिका आदर्शनायक जे तीर्थकरादिक सत्युरुष एतत्स्वरूपी करूपवृक्षावरच चढवावयास पाहिजे.

अधमनायकरूपी विषवृक्षावर तिची वाढ करणारे कवि आपल्याला पुण्योदयाने प्राप्त झालेल्या प्रतिभा गुणयुक्तवाणीचा दुरुपयोग करितात असे द्वाणावयास कांही हरकत वाटत नाहीं. आपश्या वाणीचा दुरुपयोग करणारे कवि हे स्वतःला व जनतेला ही उच्चमार्गापासून— मोक्षमार्गापासून अष्ट करितात असे समजावें.

जैनाचार्योनी असला अशुम मार्ग स्वतः स्वीकारिका नाहीं व जनतेलाही त्या मार्गीकडे स्यांनी खेवलें नाहीं. ही फार आनंदाची गोष्ट आहे.

भगवत् जिनसेन आचार्योनीं कवि व कविता कोणास हाणावें याचें फार मार्मिक उत्तर दिलें आहे. तें याप्रमाणें:—

त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः ॥
येषां धर्मकथांगत्वं भारती प्रतिपद्यते ॥ ६२ ॥
धर्मानुबंधिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते ॥
शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥ ६३ ॥
केचिन्मिथ्याद्दशः काव्यं प्रथनन्ति श्रुतिपेशलम् ॥
तत्त्वधर्मानुबंधित्वान्त सतां प्रीणनक्षमम् ॥ ६४ ॥

खर्थ-ज्यांची वाणी धर्ममार्गला दृद्धिगत करण्यास कारण होते तेच या जगांत किंब होत, आणि तेच चतुर समजावेत. जी रस्तत्रय धर्माला अनुवरलेली आहे त्याच किंवितला कांवता हाणणें शोभतें. धर्माला न अनुमरणारी किंवता जरी श्रष्टरार्थोनों मनोहर असली तरी ती पापोत्यचीलाच कारण होते. हाणून ती किंवता प्रशंसेस पात्र होत नाहीं कित्येक मिथ्यादृष्टी किंव कानाला मधुर लागणारें काव्य करितात पण तें अधर्म — पाप उत्पन्न करणारें असल्यामुळें सज्जनांच्या हृदयाला सन्तुष्ट करण्यास समर्थ नसतें.

कुकवींच्या काव्यांत धर्माला गोण ठेऊन वर्ध व काम पुरुषार्थी नच प्राधान्य दिले हैं आढळतें यास्तव व्यशा काव्यापासून लोकांना मोक्ष प्राप्तीचा उपाय सांपदत नाहीं. ऐहिक उन्नति करून घेणे एवढेंच मनुष्याने आपलें ध्येय मानूं नये. ऐहिक उन्नति ही पारमार्थिक उन्नतीला साधनी मृत मानूनच तिची प्राप्ति करून ध्यायी. जसें धान्य पेरणें याचा उद्देश कड़वा मिळावा हा नसून धान्य मिळावें हा असतो तसेंच अड्ड्याप्रमाणें असलेली ऐहिक उन्नति ही केवळ पारमार्थिक आत्मोन्नतीचें फक्त साधन आहे. ती ध्येय नव्हे.

यास्तव आपल्याला आत्मोन्नतिरूपी ध्येय प्राप्त करून ध्यावयाचे असेल तर तें कुकाव्यापासून प्राप्त होणें शक्य नाहीं, धर्ममार्गदर्शक काव्याच्याच आश्रयानें जनतेला ऐहिक उन्नतीचें उपाय सांपडतात.

जरी जैन काठ्यांत इतर लोकांच्या काठ्याप्रमाणे शुंगार रसाचें व युद्धादिकांचें वर्णन आढळून येतें तथापि त्यालाच त्यांनीं प्राधान्य दिलें नाहीं हें ध्यानांत ठेवावें. ज्याप्रमाणें भोजनाच्या पदार्थात भात, भाकरी, चपात्या वगरे क्षुधा दूर करणाऱ्या पदार्थीचेंच प्रामुख्य असतें, चटण्या वगरे पदार्थ केवळ अल्लाला चव येण्यासाठीं असतात. क्षुधा दूर करणेच्या कामीं त्यांचा उपयोग होत न'हीं; तसें शृंगागदिक रसांचा उपयोग आचार्यानीं आपल्या काठ्यांत धर्मकथेला मधुरता यावी म्हणूनच केलेला आहे.

अर्थ पुरुषार्थ व काम पुरुषार्थ यांचे वर्णन प्रसंगोपात्त जैन किव करितात पण धर्म पुरुषार्थीला मुख्यता आहे ही गृष्ट ने विसरत नाहींत हैं खास. अर्थ व काम हे दोन पुरुषार्थ धर्मीपासूनच प्राप्त होतात, हैं दाखिवण्यामाठींच या दोन पुरुष थींचें वर्णन जैन किव करित असतात. उपर्युक्त दोन पुरुषार्थीनाच मुख्यता दिल्यावर विकथा व धर्मकथा यांत अंतर तें काय राहाणार?

प्रस्तुत महावीर चरित्र अर्थात् वर्द्धमान चरित्र हैं काव्य असग क्वींनीं आपहें चुद्धिचातुर्य खर्च करून अतिशय रसाळ असें रिचरें आहे. संस्कृत्र विद्वानांना हैं काव्य वाचृत आनद वाटल्याशिवाय राहणार नाहीं अशी आमची खात्री आहे.

#### महाबीर स्वामीचं श्रेष्ठत्व.

महावीर स्वामीच्या चिरत्रांतील प्रसंग सर्वच चित्ताकर्षक आहेत व या प्रसंगांचें वर्णन करणारा असग कवि ही तितकाच कुशल असल्यामुळें या काव्यामध्यें अपूर्व सरसता उत्पन्न झाली आहे. जसें स्वामाविक सौंदर्य असून पुनः तें खुल वण्याची सर्व सामग्रीही भरपूर असली म्हणने तें जसें जनतेला अतिशय मुग्ध वनवितें तसाच प्रकार या काव्यामध्यें ही भद्दन आंका आहें असें आम्हास वाटतें.

श्री महावीर स्वामींचें महत्त्व वर्णन करणें हैं आमच्या सारत्या अत्यंत अल्पज्ञान्याला अगर्दीच अशक्य आहे भगवान् वीरपभुचे गुण व सामध्ये वर्णन करण्यास चार ज्ञानाचे घारक असे गौतमादि गणधरही स्वतःला असमर्थ समजत असत.

तथाएँ पूर्वीचार्योनीं लिहून ठेविलेल्या ग्रंथाच्या आधारें त्यांच्या चरित्रांतीरु प्रसंगांचें बंगेने भी करितो असे असग कवींनीं म्हटलें आहे. यास्तव आम्ही ही त्यांच्या चरित्राच्या महत्त्वाच्या भागाचें संक्षेपानें वर्णन करण्याचा प्रयत्न करितो. श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभू स्तोत्रांत एके ठिकाणीं असे म्हणतात:—

# तथापि ते मुनीद्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ॥ पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो त्र्याम किंचन ॥

है प्रभो ! तुईंस संपूर्ण चरित्र सांगणें फारच कठिण आहे छाणून आही फक्त तुईंस नाम मात्र कथन करितो. कारण तुझा नामोच्छार क ण्यानें ही आमर्ची पातकें नष्ट होऊन आमहाला पवित्रपणा प्राप्त होईल, या आचार्योच्या उक्तीला अनुसद्धनच येथें थोडासा विचार करूं.

### नोदभास्यन्यदि ध्वान्तविच्छिदस्त्वद्वचोंऽशवः ॥ तमस्यन्धे जगत्कृतस्नमपतिष्यदिदं ध्रुवम् ॥५९॥ म.पु प.१

आम्हाला असे वाटतें कीं, भगवान वीर प्रभु या जगांत अवतरले नमते तर आज जैन धर्मीचें अहितत्वव राहिलें नसतें. याचें कारण अमें आहे कीं, श्री पार्श्वनाथ तीर्थका मोक्षाला गेल्यानंतर अधर्मीची चोहोक छे अतिशय वाद झाली. जगात सर्वत्र हिसेला धर्म मानण्यांत येकें लागलें त्यामुळें यज्ञादिक पाप कार्मीची प्रवृत्ति अतिशय वादली होती. अधा वेळीं अहिंसाधमीचें खाँर स्वरूप जगाला दाखिनगान्या असामान्य प्रभावशाली व्यक्त ची फरच आवश्यकता होती. सर्व विचारी लोक धर्मीचें खाँर स्वरूप काय आहे या विपर्यी विचार करीत होते. त्यांना योख सार्गदशेक एवडेंच नन्हें तर त्यांना त्या योख मार्गान रिवा करून

पुढें तो मार्ग अन्याहत चाल करण्यांचे सामध्ये वाळगणारा महात्मा पाहिने होता. तो श्री पार्श्वनाथ स्वामी मोक्षास गेल्यानंतर १७८ वर्षानीं जन्मास आला व त्यांने अनेक मतांच्या कोलाहलांत ऐकं न येणाऱ्या मागसलेल्या जैन धर्माला वेगानें पुढें आणिलें. म्हणून आज जैनधर्माचें या भारतवर्षात नांव ऐकं येत आहे.

सर्व तीर्थेकर शक्ति, गुण वर्गेरे वावर्तीत समान आहेत पण इतर तीर्थकरांच्या वेळीं व महावीर स्वामींच्या वेळीं परिस्थिती वंगळी वेगळी होती. इतर तीर्थकराच्या वेळीं अनेक कुमतांचा प्रसार झाला नव्हता तो यावेळीं झाला होता. यास्तव अनेक कुमतांच्या तीव गलबल्यांत नामशेष झालेल्या जैनधर्मानें पुनः आपली पूर्णिंश्णें ऊर्जितावस्था प्राप्त करून घेतली. याला महावीरस्वामीच संपूर्णिंश्णें कारण झालेले आहेत.

आदि भगवंताच्या पुत्राहा—भरतचक्रवतीं हो एकेवेळीं सोळा दुःस्वमें पड़हीं होतीं. त्या स्वमांचीं फरें त्यानें आदिनाथस्वामीस विचारिहीं. त्या स्वमापैकीं पहिलें स्वमाचा उल्लेख भगवज्ञिनसेनाचार्योनीं यापमाणें केला आहे:—

दृष्टाः स्त्रमे मृगाधीशा ये त्रयोविंशतित्रमाः ॥
निःसपत्नां विहृत्येमां ६मां ६माभृत्कृटमाश्रिताः ॥ ६३ ॥
तत्कलं सन्मति मुक्त्वा शेषतीर्थकरोदये ।
दुर्नयानामनुद्भृतिख्यापनं लक्ष्यतां स्फुटम् ॥ ६४ ॥
पुनरेकािकनः सिंहपोतस्यान्वकृषेशणात् ॥
भवेयुः सन्मतेस्तीर्थे सानुषंगाः कुलिंगिनः ॥ ६५ ॥
( महापुराण पर्व ४१ वें. )

अर्थात्—है भरता ! तृ पहिल्या स्वमांत सर्व पृथ्वीवर शत्रुरहित होऊन ज्यांनी विहार केटा व नंतर पर्वताच्या शिखराचा आश्रय केटा असे २३ सिंह पाहिलेस. त्याचे फरू हैं आहे कीं, महावीर स्वामीस सोझन वाकीच्या तीर्थकरांच्या वेळीं इतर कुमतांची उत्पत्ति होणार नाहीं. पुढें दुसन्था स्वमांत तृं एका सिंहाच्या वच्चाच्या मागें हरिण जात असलेश पाहिलास त्याचे हें फळ आहे कीं, महावीर स्वामीच्या वेळीं परिश्रह्धारी कुमतांचा प्रसार होईल.

या रक्षेलावरून महावीरस्वामीच्या वेर्टी कशी परिस्थिति होती हैं वाचकांदया ध्यानांत मेईलच, धर्मपरीक्षा प्रंथांत अमितगति आचार्यानीं ही असा उक्केल केला आहे:—— पाखंडाः समये तुर्ये वीजरूपेण ये स्थिताः ॥ प्ररुद्य विस्तरं प्राप्ताः कलिकालेऽवनाविमे ॥ ७२॥ सर्ग ८१

जीं कुमतें चतुर्थकालांत फक्त बीजरूपाचीं होतीं तीं कलिकालांत वीरभगवंताचे वेळीं अंकुर फुटून चुक्षाप्रमाणें फोपावलीं.

अशा प्राचीन प्रंथांच्या उल्लेखावरून इतर तीर्थकरांचे वेळीं व महावीर स्वामीचे वेळीं कशी परिस्थिति होती हैं चांगलें व्यक्त होतें.

श्री महावीर स्वामींनीं अहिंसा धर्मीचा पुष्कळ प्रसार केला. त्यांच्या उपदेशाची व स्यांनीं प्रतिपादिलेख्या जैन धर्माची छाप हिंदुधर्मीवर ही एडली, यामुळें हिंदुधर्मीत यज्ञ-यागादिक बंद पडले असें लोकमान्य बाळ गंगाधर टिळक यांनींहि बडोदे येथें दिलेख्या व्याख्यानांत स्पष्ट कबूल केलें आहे. त्यांच्या व्याख्यानाचा कांहीं अंश आम्ही येथें संक्षेपानें लिहितो:—

" मीमांसक मुक्तीकरितां यज्ञयाग करीत. कालिदासानें सुद्धा मेघहुतामध्यें नदीनें पाणी यज्ञपशूंच्या वधानें लाल झाल्याचें वर्णन केलें आहे. पशुवधानें मोक्ष प्राप्ति होत नाहीं असे गाजवून जर कोणी दयेचा ध्वज प्रथम उभारला असेल तर तो मान जैनांचाच आहे. ज्ञाम्हणधमें व जैनधमें यांच्या मधील तंट्याचें कारण हिंसाच होय. वैष्णवांच्या यज्ञांत पिष्टपशूचा बिल होतो तो जैन धर्माचाच परिणाम होय. जगांत अहिंसा तत्वाचा प्रसार करण्यांत महावीर स्वामीनी जी हढता दाखिवली ती अवतारी पुरुषाखेरीज दुसऱ्यांना दाखिवतां येण्यासारखी नाहीं. भी जैनधर्माचें नुसतें महत्त्व सांगूं इच्छित नाहीं. परंतु जैनधमीचा हिंदुधमीवर पुष्कळ परिणाम झाला हैं मला सांगितलें पाहिजे. "

केवलज्ञान झाल्यावर महावीर स्वामींनी अनेक देशांत विहार करून सर्वत्र जैन धर्मांच उज्जवल स्वरूप लोकांना दाखितें. कोटयविध लोकांनी जैनधर्म धारण करून आपलें कल्याण करून घेतलें. प्रमुच्या वेलीं श्रेणिक नांवाचा प्रसिद्ध राजा होलन गेला. हा इति-हासांत विधिसार या नांवानें प्रसिद्ध आहे. यानें पृवीं बौद्ध धर्माचा स्वीकार केला होता. परंतु पुढें श्री महावीर स्वामीच्या समवसरणांत त्यांच्या उपदेशानें तो जैनधर्मीत प्रवीण झाला. त्यानें आपल्या मगध देशांत सर्वत्र जिनधर्मीचा प्रसार करण्याचा यशस्वी प्रयत्न केला. या श्रेणिकाला महावीर स्वामीच्या सन्निध श्रुम परिणामामुळें तीर्थकर प्रकृतीचा मंध पडला. त्यामुळें तो पुढें उत्सर्पिणीच्या तिसन्या कालांत या भरतवर्षात पहिला तीर्थकर होऊन जैन धर्माचा प्रसार करणार आहे. याविषयीं हरिवंश पुराणांत जो उल्लेख आहे तो याभ्रमाणें:—

तत्र तीर्थकरः कुर्वन्त्रत्यदं धर्मदेशनं ॥
सेवितः श्रेणिकेनास्य न हि तृप्तिस्त्रिवर्गजा ॥ १८६॥
गीतमं च समासाद्य तदा तदुपदेशतः ॥
सर्वानुयोगमार्गेषु प्रवीणः स नृपोऽभवत ॥ १८७॥
तता जिनगृहैरतुँगे राज्ञा राजगृहं पुरम् ॥
कृतमन्तर्वहिव्याप्तमजस्रमहिमोत्सवैः ॥ १८८॥
कृतः सामतसंघातैर्महामंत्रिपुरोहितैः ॥
प्रजाभिजिनगेहादया मगघो विषयोऽखिलः ॥ १८९॥
पुग्षु प्रामघोषेषु पर्वताग्रव्यह्म्यत ॥
नदीतदवनांतेषु तदा जिनगृहावली ॥ १५०॥ हिरवंशपु. सर्ग २ रा.
धर्मेणायोजयद्वीरो विरहन् विमवान्वितः ॥
यथैव भगवानपूर्वं वृषमो भव्यवत्सलः ॥ ७॥
द्योतमाने जिनादित्ये केवलोद्यातमास्वरे ॥
क लीना इति न ज्ञातास्तीर्थखद्योतसंपदः ॥ हिरवंशपु. सर्ग ३ रा.

श्रेणिक राजा, त्याचे मंत्रिमंडळ व पुरोहित आणि प्रजा यांच्या प्रयत्नाने सर्व मगर्घ देशांत जिनमंदिरांची रचना झाली. मोठीं शहरें, खेडेगावें, पर्वततट, नदीचे किनारे या सर्व ठिकाणीं जिनमंदिरें बांधली गेलीं. या रीतीनें सर्व मगबदेश जैन धर्ममय बनला होता. याच प्रमणें इतर देशांतही मगवंतांनीं विहार करून लोकांना जैनवर्मी वनविलें. जसें पूर्वी आदिनाथ स्वामीनीं सर्वाना जैन केले होतें. तसेंच महावीर स्वामीनींही केले. केवळ ज्ञानरूपी प्रकाशानें जेव्हां महावीर स्वामीरूपी सूर्य तळपत होता तेव्हां कुमतरूपी काजवे कोठें लपून वसले होते हैं समजलें देखिल नाहीं! याप्रमाणें प्रयत्न केल्यामुळें महावीरस्वामींचा पर्म आज ही या हिंदुस्थानांत टिकून राहिला आहे.

महावीरस्वामीं नें अंत करण जनमस्यापासूनच वैराग्ययुक्त होतें. म्हणून त्यांनी राज्याचा स्वीकार केंटा नाहीं व लग्नही करून घेतलें नाहीं. ते कुमार ब्रम्हचारी होते.

> अधिभवस्तुणबिद्धित्तिस्य सकलां कश्चिन्छियं दत्तवान् ॥ पावां तामित्तविर्विर्वा विगणयश्चादात्वरं त्यक्तवान् ॥ प्रागेवाक्क्यलां विमृत्य सुमगोऽप्यन्यो न वर्षेयही— देते ते विदितात्तरात्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः ॥ १०२ ॥

व्यत्मानुगासन,

जगांत उत्तम माणसांचे तीन प्रकार सांगितले आहेत. पहिल्या प्रकाराची माणसें पंचेंद्रियांच्या विषयां तृणाप्रमाणें मानुन संपत्ति याचकांना देऊन टाकितात. दुसऱ्या प्रकारचीं माणसें लक्ष्मी पाप उत्पन्न करणारी आहे व तिचा उपभोग किती जरी घेतला तरीही ती लोभ वाढविणारी आहे आणि संतोषाचा नाश करणारी आहे असे समजून ती दुसऱ्याला देत नाहींत, पण तिचा त्याग करून मुनि होतात. तिसऱ्या प्रकारची माणसें लक्ष्मीचा संबंध होण्याच्या पूर्वीच घर सोद्भन वीतराग तपस्वी बनतात. महावीर स्वामी हे तिसऱ्या प्रकारचे होते म्हणून त्यांनीं आजन्म ब्रम्हचर्य पाळिळें व राज्य स्वीकारिलें नाहीं.

संपत्ति न मिळतांडी मनुष्याच्या मनांत शेंकडों प्रकारचीं मनोराज्यें उत्पन्न होतात व विषयलालसा सुटत नाहीं. भी असें करीन, तसें करीन, भी असा उद्योग करीन, अशी संपत्ति मिळवीन अशा मानसिक भावना नेहमीं मनांत उद्भवत असतात. परंतु महाबीर स्वामींना अतुल वैभव मिळालें होतें; स्वर्गाचा राजा इंद्रही त्यांचा नोकर बनला होता; तरीही ते अतुल वैभवाला लाथ मारून आरिमकसुलामध्यें निम्म झाले. ही किती तरी मोठी आश्चर्याची गोष्ट आहे. अशी उत्कृष्ट त्याग बुद्धि धारण करून जे परमविरक्त बनले; ज्यांनीं मिध्यांधकारांत चाचपडत असलेल्या भन्यांना रत्नत्रयात्मक प्रकाशांत आणून मुक्तीचा मार्ग दालविला त्या धीर वीर परमात्म्याला आमचा वारंवार नमस्कार असी.

अशी उत्कृष्ट त्यागबुद्धि मनांत बाणल्यामुळें ते शरीरापासून पूर्ण विरक्त झाले होते साणून त्यांना रुद्रादिका सारल्या व्यक्तींनीं केलेल्या उपसर्गीचें कांडींच भय वाटलें नार्डी. त्यांच्या आत्मध्यानांतील स्थिग्तेला रुद्रादिक अष्ट करूं शकले नार्डीत. असो. याप्रमाणें प्रभुच्या चरित्रांतील मुख्य गोष्टींचें आसी वर्णन केलें आहे. यांच्या चरित्रांतील कांडीं पसं-गांचें आसी 'श्री महावीर चरित्रांवर तौलिनक पद्धतीनें विचार? या लेखांत वर्णन केलें आहे. तो लेखही या पस्तावनेच्या पुढें कोडला आहे.

आतां प्रम्तुत चित्राचे कर्ते श्री असग किव याविषयीं थोडक्यांत माहिती देऊन ही प्रस्तावना आम्ही संपवितों.

#### श्री असग महाकवि.

या महाकर्व ने प्रस्तुत महावीरचरित्र आणि शांतिनाथचरित्र असे दौन प्रंथ लिहिले आहेत. आणाखी याने आठ ग्रंथ लिहिले आहेत असे स्वतः त्याने प्रशस्ति श्लोकांत सांगितलें आहे. संपत् नांवाच्या श्राविकेने हें महावीरचरित्र रचण्यास कवीला सांगितल्यावरून त्यानें हैं सुंदर चरित्र मत्वकीर्ति मुनीश्चगच्या स निष्ठ राहून रचिलें आहे. या काव्याची रचना त्यानें शके संव. ९१० मध्यें केली आहे. अर्थात् विकम संवत् १०४५ मध्ये याची रचना झाली कांजीवरं, तंजावर, कांची या प्रदेशांना चोलदेश झणतात तेथे श्रीनाधराजाच्या राज्यांत विरला नगरीमध्ये याने विद्याध्ययन केहें व त्या ठिकाणी त्याने भाठ प्रेथ रचिले असा याच काव्याच्या प्रशस्ति स्रोकांत त्याने स्वतःचा उल्लेख केला आहे.

महावीर चरित्र रचल्यानंतर या कवीनें शांतिपुराण हा ग्रंथ लिहिला भाहे. या ग्रंथाच्या प्रशस्तीमध्यें त्यानें भाष्ट्या मातापितरांचा व गुरूचा उल्लेख केला आहे. असग कवीच्या पित्याचें पटुमित असें नांव होतें हा पटुमित मुनिभक्त होता. मुनीश्वराच्या चरणरजानें याचें मस्तक पवित्र झालें होतें. याचा स्वभाव अतिशय शांत होता. व हा निर्मळ सम्यक्ताचा धारक होता. अलदान देणें, देवपूजन करणें, दशलक्षण वगेरे पर्वाचे उपवास करणें इत्यादि धार्मिक कार्यामध्ये यानें आपलें शरीर क्षीण करून पुष्कळ पुष्यसंचय केला होता. कवीच्या मातेचें 'वरेति' असें नांव होतें. हीही पतीप्रमाणें निर्मे सम्यक्त्वधारक व सत्पात्रांना दान देणारी होती.

कर्वीच्या गुरुचे नागनंद्याचार्य असे नांव होतें. हे व्याकरण शास्त्र व जैनागम यांत अतिशय निपुण होते. या कवीचा जिनप्पा नांवाचा मित्र होता. तो मोठा विद्वान असून काव्य व पुराण यांची त्यासा उत्तन माहिती होती. त्याच्या आप्रहानें कवीनें शांतिपुराण हा प्रंथ लिहिसा आहे.

या प्रंथाच्या पशस्तींत शेवटच्या स्रोकांत क्वींनें मी आधीं महावीरचरित्र लिहिलें व नंतर शांतिपुराणा हा प्रंथ लिहिला व्यों हाटलें आहे. शांतिपुराणाची पशस्ति वाचकांना उपयुक्त होईल हाणून आही तिचा येथें उल्लेख करितो:—

मुनिचरणरजोभिः सर्वदा भृतधात्र्यां प्रणितममयलग्नैः पावनीभृतम् भी । उपश्चम इव मुर्तः शुद्धमम्यक्त्वयुक्तः पटुमितिरिति नाम्ना विश्रुतः श्रावकोऽभृत १ तनुमितितन्त्रां यः सर्वपर्वोपवासैस्तनुमनुपमधीः स्म प्रापयनसंचिनोति ॥ सत्तमिपि विभ्रिति भ्रयसीमन्नदानप्रमृतिभिरुरु पुण्यं कुंद्शुभ्रं यश्च ॥ २ ॥ भिक्ति परामित्रतं समपक्षपातामातन्त्रतो मुनिनिकायचतुष्टयेऽपि ॥ वैरेतिरित्यनुपमा मुनि तस्य भार्या सम्यवत्वशुद्धिरिव मृतिमती पराभृत ॥ ३ ॥ पुत्रस्तयोरसग इत्यवदातकीत्योरासीन्मनीपिनिवहप्रमुखस्य शिष्यः । चन्द्रांशुश्चभ्रयशसो मुनि नागनंद्याचार्यस्य शब्दसमयार्णवपारगस्य ॥ ४ ॥ तस्याभवद्भव्यजनस्य सैव्यः सखा जिनापो जिनधर्मसक्तः । ख्यातोऽपि शौर्यात्परलोक्षभीरुर्द्धिजातिनाथोऽपि विपक्षपातः ॥ ५ ॥ व्याख्यानशीस्रत्वमवेक्ष्य तस्य श्रद्धां पुराणेषु च पुण्यवुद्धः किनित्वहीनोऽपि गुरौ निवंधे तिमन्नहासीदसगः प्रवंधम् ॥ ६ ॥

# चिरतं विरचय्य सन्मतीयं सद्लंकारविचित्रवृत्तवंधं ॥ स पुराणमिदं व्यथत्त शांतेरसगः साधुजनप्रमोहशान्त्ये ॥ समकालीन कवि.

या कवीच्या समकालीन किव श्री हरिनंद्र, वीरनंदि, अमितगति, वादीभसिंह वगैरे आहेत. कारण या महावीरचरित्रांत जीवंघरचंपू, चंद्रप्रभचरित, सुभावितरत्नसंदोह वगैरे प्रंथातील श्लोकापमाणें समानार्थक श्लोक आलेले आहेत. ते आम्ही प्रस्तुत ग्रंथांत टिप्पणी स्वानें दिन्ने आहेत. अमितगति आचार्य विक्रमाच्या अक्साव्या शतकांत होऊन गेले व असगकवीनें ही प्रम्तुत काव्य विक्रम संत् १०४५ मध्यें लिहिलें आहे. वीरनंदि यांचाही काल जवळ जवळ तोच आहे.

#### विषय वर्णन.

प्रस्तुतचरित्र कवीने अनेक वृत्ते, अलंकार व रस यांनी उत्तम सजिवलें आहे. वर्णन शेली सुंदर व चित्ताकर्षक आहे. जागो जागी यांत उत्तम नीतिवचनेहि आलेली आहेत. सातव्या व आठव्या सर्गात राजनीतीचें अर्थात साम, दाम, दंड व मेद या चार उपायांचें चांगलें वर्णन आहे. दुमरा, दहाबा व अकरावा सर्ग यांत वैराग्यरसाचें सुंदर वर्णन आहे. पंध-राव्या सर्गीत प्रियमित्र चक्रवर्तीला क्षेमंकर जिनांनी गृहम्थ व आवक यांच्या धर्मीचा उपदेश कक्रन सप्तत्वांचें स्वक्रप सांगितलें आहे. स्याचें कवीनें विस्तृत वर्णन २०० स्लोकांत केलें आहे.

अठगाव्या सर्गात इंद्राने महाबीर स्वामींची स्तुति केली ती ही कवीने फार उत्तमरीतीनें विजिली आहे. त्या स्तुतीचें मराठी भाषांतर आम्ही आर्थावृत्तांत करून या प्रथाच्या पार्मीं जोडलें आहे.

महावीर स्वामीचा जीव प्रथम पुरूरवा नांबाचा भिल्ल होता. त्या भवापासून तीर्थकरा-वस्था प्राप्त झाली त्या भवापर्यंत ३७ भवांचे यांत सविस्तर वर्णन आलें आहे.

#### चित्र परिचयः

या ग्रंथांत सुदर रंगत पांच चित्रं दिलों आहेत. अमिनकीर्ति पुनि सिंहाला उपरेश देन आहेत हें पिटलें चित्र आहे. इंद्राणी मायावी बालकाला ठेऊन दीर बालकाला घेऊन इंद्राच्या स्वाधीन करीत आहे हें दुसरें चित्र. संगमक नांवाच्या देवानें सर्पाचा वेष घेऊन वीर प्रमृत्या मिविवण्याचा प्रयत्न केचा पण प्रमृत्याच्याशीं निभयपणें की हा करीत आहेत हें तिसरें चित्र. प्रमृदीक्षा घेण्याप्ताठीं वनांत जाऊन वस्तालंकार अगावस्त्रन उतरीत आहेत हें चौथें चित्र व प्रसु ध्यानस्थ असतां त्यास रुद्रानें उपसर्ग केला हें पांचवें चित्र. याप्रमाण या ग्रंथांत चित्रं दिलीं आहेत. आरंभी पुष्य आचार्य शांतिसागर महागज यांचा तीन रंगी फोटो दिला आहे.

इंद्राणी प्रस्ति गृहांत जाऊन जिनमातेला मायामयी झोप आणते व जिन वालकाला घेऊन इद्राच्या स्वाधीन करिते असे वर्णन महापुगण, धर्मशर्मीभ्युद्य काव्य, चंद्रपमचरित्र इत्यादिकामध्ये आले आहे. त्यास अनुसद्धन येथील दुसरे चित्र आहे. पण प्रस्तुत प्रंथांत इंद्रानें प्रस्तिगृहांत जाऊन जिनवालकाला घेतले असे वर्णन आहे.

#### भाषांतरकाराचें वक्तव्य.

हें काच्य संस्कृत भाषेत ज्याचा थोडासा प्रवेश झाला आहे अशा विद्यार्थ्योना शिक-विण्यास योग्य आहे. यापा न त्यांचें संस्कृत भाषेचे ज्ञान तर वाढेलच पण ज्या वीग्प्रभूच्या तीर्थात आपण आहोत त्यांचें चित्र किती उत्तम होतें याची ही माहिती होईल. विशाख परीक्षच्या अभ्यासक्तमांत मुंबई प्रांतिकमभेच्या परीक्षालयानें, दि. जैन महासभेनें व दि. जैन परिषदेनें आपआपस्या परीक्षालयांच्या अभ्यासक्तमांत हें काव्य प्रविष्ट करावें अशी त्यांना सविनय विनंती आहे.

प्रस्तुत चित्राचें भाषांतर भाज पर्यंत मराठी भाषेत मूल्ग्रंथासहित प्रसिद्ध केलेलें नव्हतें प्राणून भाक्षी या ग्रंथाची संस्कृत प्रति मिळऊन हें केचेलें आहे. श्रीमान पं. खूबचंदजी शासी यांनीं या ग्रंथाचे हिंदी भाषांतर पंधरा सोळा वर्षापृतीं प्रसिद्ध केलें आहे.

श्री पूज्य व देवचंदजी यांनीं कारंजाहून आपल्या स्नेडीमंडलाक्डून लिहऊन संस्कृत ग्रंथ माझ्याकडे पाठऊन दिला होता, तो समग्र वाचून भाषांतर करण्याची तीव इंच्छा मला उत्पन्न झाली. व हें मी भाषांतर केलें आहें.

या विषयीं भी ब्रह्मचारिजींचा व त्यांच्या स्नेहीमंडलाचा अत्यंत आगरी आहे.

कारंज्याह्न पाठिविलेल्या प्रतींत पांचन्या सर्गीतील प्रारंभाचे ३१ श्लोक नन्हते. श्री लोकनाथ शास्त्री मुडविद्री यांनीं ते रलोक पाठिविले या बह्ल त्यांचाही मी फार आभारी आहे.

श्री धर्मवीर रावजी सखाराम दोशी यांनी हा समग्र ग्रंथ प्रसिद्ध केला याबहल त्यांचा मी फार काभारी आहे. हे जिनवाणीचे अनन्यभक्त आहेत मराठी भाषेचे जे जैन ग्रंथ सध्यां स्वाध्यायासाठीं लोकांना वाचावयास सुलभपणें मिळनात ते सर्व बहुतेक यांनींच छापऊन प्रसिद्ध केले आहेत. दि. जैनसमाजामध्यें पुष्कळ श्रीमान् गृहस्थ आहेत त्यांनीं जिनवाणी प्रकाशनाच्या कार्यी लक्ष देऊन जैनधर्माची प्रभावना करावी अशी त्यांस विनंती काहे. अल्पबुद्धीला अनुसद्धन मी या ग्रथाचें भाषांतर केलें असल्यामुळें यांत बरेच दोष राहण्याचा संभव आहे वाचक गणांनीं याबहल क्षमा करावी.

ता. २४-२-३१ वीरसंवत् २४५७. फाल्गुन व. ७ मंगळवार. कापला नम्र, जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले

# श्रीमहावीर चरित्रावर तौलिनक पद्धतीनें विचार.

भगवान् श्रीमहावीराच्या उज्ज्वल चित्राला श्वेतांबर ग्रंथकारांनीं कलंकित केलें आहे. दिगंवराचार्योनीं जें यांचें चित्र लिहिलें आहे तें विशुद्ध आहे. पुण्यपुरुषांचें चित्र जरें असा-वयास पाहिजे तरेंच हें आहे. महान् पुरुषाचें चित्र हें नेहमीं उज्ज्वलच असतें. परंतु श्वेतांवराचार्यप्रणीत महावीरचित्रामध्यें तशी उज्ज्वलता आढळून येत नाहीं.

दिगंबराचार्यप्रणीत महावीरचरित्र वाचरें असतां, महावीरस्वामींची उत्तरोत्तर प्रगति कशी होत गेली हें आढळून येईल व दि० जैनसिद्धांताची अविरुद्धताहि त्यापासून वाचकांना सिद्ध झालेली आढळून येईल.

श्री महावीरस्वामी हे शेवटचे तीर्थंकर आहेत हैं दिगंबर व श्वेतांबर या उभयतांना मान्य आहे. महावीर हे धर्मवीर होते, यांनीं आपल्या उपदेशानें जैनधर्मीला आलेली उत्तरती कळा नाहीशीं करून जैनधर्माची उज्ज्वलता व उत्तमता लोकांना दाखवून दिली व सर्वत्र या धर्माची संस्थापना केली.

जेव्हां जेव्हां उत्तम आचारांचा नाश होतो व मिथ्याधर्मीची भरभराट होऊन त्यामुळें जैनधर्मीला हीनस्थिति प्राप्त होत असते तेव्हां तेव्हां तीर्थंकर उत्पन्न होऊन ते जैनधर्माचा उद्धार करितात असें जैनशास्त्रांत सांगितलें आहे.

> आचाराणां विघातेन कुद्धीनां च संपदा ॥ धर्म ग्लानि पारप्राप्तमुच्छ्यन्ते जिनात्तमाः ॥ २०६ ॥

> > रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण पर्व ५ वें.

भगवद्गीतेंतही---

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिभवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

असें ह्मटलें आहे. अर्थात् जेव्हां जेव्हां धर्मीला ग्लानि येते व अधर्माचा सर्वत्र प्रसार होतो तेव्हां तेव्हां मी अवतार घेऊन धर्माचा प्रसार करितों असें कृष्णानें अर्जुनाला सांगितलें आहे. परंतु ही हिंदूंची अवतारकल्पना जैनांना मान्य नाही. आत्मा एकदां पूर्ण गुद्ध वनल्यावर त्याला पुनः देह धारण करतां येत नाही. देह, हा आत्म्याचा अगुद्धपणा जोपर्यंत आहे तोपर्यंत, नष्ट होत नहीं. व अगुद्धपणा असेल तर ईश्वरत्य कसें अस्ं शकेल ?

जैनशास्त्रांत आत्म्याच्या उन्नतीचें साधन—रत्नत्रय सन्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चा-रित्र हें सांगितलें आहे. या साधनांचा ज्या आत्म्यांनीं आश्रय करून त्यांची पृणे प्राप्ति करून घेतलो आहे ते परनात्मा वनतात. सोने जसें खाणीत अशुद्ध असते व वर काढल्या नंतर भट्टीत घालणे वगेरे उपायानी ते पूर्ण शुद्ध वनतें तसे आत्मा संसारावस्थेत अशुद्ध असतो व रतनत्रयत्स्पी अभीच्या उप्णानेन त्याचा अशुद्धपणा नष्ट होऊन त्याच्या शुद्धतेचा पूर्ण विकास होतो.

जैनधर्मामध्यें त्रेसष्ट पुण्यपुरुष होऊन गेले आहेत. त्यात तीर्थकर हे सर्वात श्रेष्ठ असे मानले जातात. मोक्षमार्गाचें स्वरूप माहीत नसल्यामुळे या संसाररूपी वनामध्यें दु लरूपी असीमध्ये हे जीव होरपळत आहेत. या अतिदीन प्राण्याचा उद्धार करीन अज्ञा रीतीचा परोपकार करण्याचा विचार सतत ज्यांच्या अंत करणात घोळत असल्यामुळें या विचाराला पोण्क अज्ञा पोडजकारण भावनाचें चितन करून जे अतिजय श्रेष्ठ अज्ञा अवस्थेला— जतेंद्रवंद्य अज्ञा अवस्थेला पोहोचतात त्यास तीर्थकर हाणतात

अशा अत्युच विचारानी त्याना जो पुण्यवंघ होतो तसला उत्कृष्ट पुण्यवंघ कोणासही होत नहीं हाणून त्याची उत्कृष्टता सर्व जग आपली मान नम्र करून मान्य करतें. या उत्कृष्ट पुण्यवंधास तीर्थकर कमें असें नाव आहे. या कर्माच्या उदयानें तीर्थकर मन्याना मोक्षमार्गाचा उपदेश करीत असतात व जैनधर्माची हीनावस्था नष्ट करून तो पूर्ण वाढीस नेतात

अशा रीतीची कामिगरी महावीर तीर्थंकरांनी केली असल्यामुळें आज भारतवर्षीत जैनधर्मांचें अस्तित्व दिस्त येत आहे. महावीर स्वामीस मोक्ष प्राप्त होऊन २४५६ वर्षें पूर्ण झाली. व आतां २४५७ व वर्ष सुरूं झालें आहे. भगवान महावीर स्वामींचे चिरत्र दिगंवर व श्वेतावर आचार्यानी आपत्या प्रंथांत लिहून ठेविलें आहे पण दोधाच्या चरित्रवर्णनात नहदंतर आहे. दिगंवराचार्योनीं लिहिलेल्या चरित्रानध्यें जसा निर्दोषपणा आढळून येतो तसा श्वेतावराचार्योनी लिहिलेल्या चरित्रामध्ये आहाला आढळला नाही असे मोट्या कष्टानें हाणावें लागते. जैनधर्माच्या सिद्धांताची यानी प्रतिपादिलेल्या चरित्राचा मेळ वसत नही. दिगंवरी महावीरचरित्राचीं श्वेतावरी महावीर चरित्राची चलना करण्याचा उद्देश आमचा हा आहे कीं सत्य कोणते हें आमच्या धर्मवंधूना चागले समजावें. द्वेपभावनेला वळी पहून आही समालोचना करीत नही. जेथे द्वेपभावना असते त्या ठिकाणीं वस्तुस्थितीचा विपर्यास होण्याचा फार संभव असतो.

महावीर चरित्रातील समय विवेचनाचें परीक्षण न करिता ज्या गोष्टी सिद्धांतविरुद्ध वाटतात तेवळाच गोष्टीचा उल्लेख करून आह्मी त्यांचें परीक्षण करूं.

श्री गुणभद्र आचार्यांनीं उत्तरपुराणात श्रीमहावीर स्वामीचे चरित्र वर्णिले आहे. याच-प्रमाणें असगक्रवी. सकल्कीर्ति वगैरे दिगंबर आचार्यानीही याचे चरित्र लिहिले आहे. या सर्व चरित्रामध्यें एक्टाक्यता आह्यास आटळून आली आहे. श्वेतांवर आचार्य हेमचंद्र यानी ' त्रिपप्टिरुक्षणपुरुष—चरित्रम् ' या ग्रंथामध्यें शेवटीं महावीर स्वामीचें व तत्कालीन श्रेणिकादिक राजांचेंही चरित्र लिहिलें आहे. आपणास फक्त आज महावीर स्वामींच्या चरित्रविषयीं विचार करावयाचा आहे.

# [ मरीचिभव वर्णन ]

महावीर त्यामी हे, जेव्हा पहिले तीर्थकर आदिनाथ स्वामी उत्पन्न झाले होते त्यावेळीं मरीचि या नावानें आदिनाथ स्वामीचे नातु होउन उत्पन्न झाले होते. या भावांत त्यांनी आदिनाथ महाराजा बरोबर दीक्षा घेऊन तपश्चरण करण्यास सुरवात केली. परंतु लोकरच अष्ट होऊन पारित्राजक वेष धारण करून यानीं साख्य मताची स्थापना केली. यांचा कपिल नांवाचा शिप्य होता, त्याला यांनीं साख्य मतामध्यें प्रवीण करून सोडलें त्यामुळें सांख्यमताला 'कापिलमत, असें ही नांव आहे. आदिनाथ स्वामीच्या वेळी जे इतर राजे अष्ट झाले होते त्यानीही अशीच निरनिराळी मतें वनविली आहेत. शुक्र व बृहस्पति या राजांनी 'चार्वाकदर्शनाची' रचना केली. कच्छ व महा-कच्छ या राजानी तापसीय मत स्थापिलें. अशा रीतीनें अनेक कुमतांची स्थापना त्यावेळी झाली. याविषयी दिगंबर आचार्य व श्वेताबर दोघेहि सम्मत आहेत.

विधाय दशनं मां रूयं कुमारेण सरीचिना ॥ व्यारूयातं निजशिष्यस्य कविलस्य पटीयमा ॥ ५६ ॥ धर्मपरीक्षा परिच्छेद १८ वा

आदिनाथ स्वामीना केवलज्ञान झाल्यावर त्यांचा सद्धमीपदेश यांना ऐकावयास मिळाला तथापि त्यानी गाढ मिथ्यात्वाचा उदय झाल्यामुळें आपल्या मताचा परित्याग केला नाही. आदि-नाथ स्वामी जसें जैन धर्माचे संस्थापक आहेत तसाच मीही सांख्यमताचा संस्थापक आहे ह्याणून त्याला अतिगय अनंतानुबंधि मान कपाय उत्पन्न झाला. या कषायानें दीर्घसंसारी व्हावे लागलें. श्वेतावरांच्या महावीर चरित्रात या मानोदयाने नीचगोत्राचा बंध पडला असा उल्लेख आहे तो या प्रमाणें:—

एवं जातिमदं कुर्वन् अजावास्कोटयन्मुहुः॥ नीचनोत्राभिधं कर्म मरीचः समुपार्जयत्॥ ५९॥

भरतानें आपल्या वंशांत पुढें कोणी तीर्थकर होणार काय असा प्रश्न आदिनाथ स्वामीस विचारला तेव्हां त्यानी मरीचि हा शेवटचा महावीर तीर्थकर होणार आहे असें सांगितलें. तें ऐकून मरीचीला अतिशय जातिगर्व उत्पन्न झाला. व या नीचगोत्राच्या उदयानें महावीर तीर्थ-कराच्या भवांत हा मरीचि नीवकुलांत जन्मला असें श्वेताम्बर महावीरचरित्रात उल्लेखिंल आहे. याचा आही पुढें विचार करणार आहोत,

#### त्रिपृष्टभवाचा विचार.

मरीचीला गाढ मिथ्यात्वोदयानें संसार त पुष्कळ फिरावे लागले. पुढें कांही पुण्योदयानें या भारत वर्षीतील पोदनपुरामध्यें प्रजापित राजाला जयावती व मृगावती या दोन स्त्रिया होत्या. त्यापैकी मृगावतीच्या पोटी हा 'त्रिपृष्ट 'नावाचा पहिला नारायण होउन जन्मला असा दिगंबरी महावीर चरित्रांत उल्लेख आहे. याविषयीं श्वेताम्बराचार्य हेमचंद्रकृत महावीर चरित्रांत अभी हकीकत आहे:—

या भरतक्षेत्रांत पोदनपुराप्रध्यें 'रिपुप्रतिशत्रु' या नांवाचा राजा राज्य करीत होता. त्याला भद्रा नांवाची राणी होती. तिला या राजापासून अचल नांवाचा मुलगा झाला. हा वलभद्र होता. तदनंतर याच राणीला राजापासून मृगावती नावाची मुलगी झाली. ही तरुण झाल्यावर एके दिवशी आपल्या वापाला नमस्कार करण्या करिता राजसभेत गेली. राजाला तिला पाहून कामविकार उत्पन्न झाला व त्याने तिला आपल्या माडीवर वसकन घेतले व हिच्याशीं आपण आपलें लग्न कहन ध्यावें असा विचार केला. नंतर तिला अंत पुरामध्ये जा हाणून सांगितलें.

पुढें एके दिवशी शहरांतील पुढारी लोकाना योलाउन राजानें विचारिलें कीं, राजाच्या वाड्यात जें रत्न उत्पन्न झालेलें असतें ते कोणाचे समजावें १ पुढाऱ्यांना त्याच्या अंतरंगांतला अभिप्राय न समजल्यामुळें ते ह्मणाले की, त्याच्यावर राजाची मालकी असते. राजानें तीन वेळां विचारलें व तीन्ही वेळा पुढाऱ्यांनी तसेंच उत्तर दिलें तदनंतर राजानें मृगावतीला लग्ना करितां अंत पुरांतून राजसमेंत आणविलें. सर्व पुढाऱ्यांना या कृत्यामुळें लज्जा वाटली व ते आपल्या घरीं निघून गेले. इकडे राजानें मृगावतीशी गाधवी विधीने विवाह केला. मद्रा राणीला राजाच्या या अयोग्य कृत्यानें फार चीड—लज्जा उत्पन्न झाल्यामुळें ती अचल नांवाच्या आपल्या मुलाला वरोवर घेऊन दक्षिण दिशेकडे निघून गेली. तेथे 'माहेश्वरी ' नावाचे नगर अचलाने स्थापन करून आईला त्या ठिकाणीं स्थापन केलें मृगावतीशी लग्न केल्यामुळे लोक राजाला ' प्रजापति ' अशा नांवानें संवोधूं लागले.

तित्वतापि स्वप्रजायाः पितत्वेनाखिलैर्जनैः ॥ प्रजापितिरिति प्रोचे वलीयः कर्म नाम हि ॥ ११७ ॥ हेमचन्द्रकृत महावीर चरित्र पर्व १० वे सर्ग १ ला.

अर्थात्—हा रिपुप्रतिशत्रु राजा स्वतःच्या मुलीचाच नवरा वनल्यामुळे याचे प्रजापति असे नांव पडलें.

येथे या हकीकतीवर असा विचार करावयाचा कीं, त्रिपृष्ट हा पहिला नारायण अर्थात् त्रिखंडाधीश अर्धचक्रवर्ती होता हें दोघांसही—श्वेतावर व दिगंवर याना मान्य आहे. नउ नारायणांना त्रेसष्टगलाका पुण्यपुरुषामध्यें हे उभयतां अंतर्भृत करितात. असे असता अशा

पुण्यपुरुपाची उत्पत्ति अञा रीतीनें मानणें हें श्वेतांवर ग्रंथकाराला उचित होणार नाहीं. हीन लोकाची उत्पत्ति अञ्चा रीतीची मानणें योग्य होईल परंतु असल्या सम्राटासारख्या पुरुषांची उत्पत्ति अञ्चा रीतीची मानणें हा अवर्णवाद आहे. राजाचें प्रजापति असें दुसरें नांव असेल. परंतु नांवाचा असा वपरीत अर्थ कांही तरी अयोग्य संबंध जुळवून करणें हें योग्य नव्हे. प्रजा या शब्दाचा अर्थ रयत असा प्रसिद्ध आहे.

तिच्यावर राजाचें स्वामित्व असतें ह्मणून त्याला प्रजापित असें दुसरें नांव पडलेलें असतें. पित शब्दाचा अर्थ नवरा असाच करावयाचा असेल तर भूपित ह्मणजे पृथ्वीचा नवरा, नरपित ह्मणजे मनुप्यांचा—पुरुपांचा नवरा असे अर्थ करावे लागतील. भगवान् आदिनाथ स्वामींनाही प्रजापित असें नांव स्वयंम् स्तोत्रांत आहे.

'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविपः शशास कृप्यादिवु कर्मसु प्रजाः ॥ ' यावरून प्रजापति हें नांव रयतेचा मालक अशा अर्थी वापग्णें योग्य आहे. अथवा प्रजापति हें नांव आहे त्याचा अर्थ करण्याची कांहीं जरूरत नाहीं. ज्या कुलांत नारायण, प्रतिनारायण, बलमद्र, चक्रवतीं व तीर्थंकर उत्पन्न होतात त्या कुलाचीं शुद्धि व आचार हे उत्कृष्ट असतात. तेथें असले अनाचार असत नाहीत. शिवाय शलाकापुरुषांची साक्षात् उत्पत्ति तर केव्हांहि अशी निकृष्ट मानणें योग्य होणार नाही.

त्यायोगें त्याला नरकगतीचा बंध पडला. नरकामध्यें पुष्कळ दुःख भोगून तो या भूतलावर सिंह होऊन जन्मला. तेथेंही पुष्कळ पापं करून प्रथम नरकांत जाऊन जन्मला. तेथील आयुष्य संपल्यावर या भृतलावर पुनः तो सिंह होऊन जन्मला. अमितकीर्ति मुनीश्वराच्या उपदेशानें त्याला पूर्वजन्माचें स्मरण होऊन त्याचा क्रूरपणा नष्ट झाला व त्यानें सम्यग्दर्शनपूर्वक व्रत प्रहण केलें. येथून त्याची क्रमानें उन्नति होत गेली व हा सिंह दहाव्या जन्मीं श्री महावीर स्वामी होऊन जन्मला, अशी संक्षेपानें दिगंबराचार्योच्या महावीर चरित्रात हकीकत आहे. परंतु श्वेतांवरकृत महावीर चरित्रांत त्रिपृष्ठ बहु आरंभ व परिग्रहानें नरकाला गेला व तेथून निवृन अनेक भव धारण करून तो प्रियमित्र चक्रवर्ती झाला व नंतर नंदराजा होऊन यानंतरच्या पुढच्या भवांत महावीर स्वामी होऊन जन्मला. अशी संक्षिप्त हकीकत आहे.

# महावीर स्वामीचें वर्णन.

आतां आपण महावीर स्वामी कोठें जन्मले वगैरे विशेष महत्वाच्या हकीकतीकडे वळू.

दिगम्बरमतामध्यें महावीर स्वामी कुंडलपुराधिपति सिद्धार्थ राजाच्या राणीच्या गर्मीत अर्थात् त्रिशला देवीच्या गर्मीत सोळा स्वप्नानंतर आषाढ शुद्ध षष्ठीचे दिवशीं आहे अशी सरळ हकीकत आहे. परंतु श्वेतांवरांनी याच्या विषयी मोठी विचित्र हकीकत हिहिली आहे, ती दमाणें —

या जंबूढीपामध्यें भरतक्षेत्रात ब्राह्मणकुंडग्राम नावाचें ब्रहर आहे. तेथें ऋषभदत्त नांवाचा कौडाल गोत्रातील ब्राम्हण राहात असे. त्याच्या स्त्रीचें नाव 'देवानंदा ' असें होते ही जालं-धरवंशात उत्पन्न आलेली होती. आपाढ गुक्ल पष्टीचे दिवशी रात्री ही सुखानें निजली असतां हिला चौदा स्वप्नें दिसली व नंदराजाचा जीव हिच्या गर्भात आला. प्रात काळी हिने हीं चौदा स्वमं आपत्या पतीला सागितली. तंव्हा त्याने चार वेढाचा ज्ञाता व परमधार्मिक असा पुत्र तुला होणार असे सागितलें. प्रभु गर्भात असरनामुळे या उभयताच्या घरात कल्पनृक्ष आल्याप्रमाणें मोठी संपत्ति वाढली. देवानंदेच्या गर्भीत प्रभु वास करून ८२ व्यायनी दिवस झाले होते त्यावेळी सौधमेन्द्राचे आसन कंपित झालें अवधिजानानें इन्ट्रानें जाणले कीं प्रभु देवानंदेच्या गर्भीत आहे. नेव्हा त्यानें सिद्यासनावरून उठून प्रमूला नमस्कार केला व याप्रमाणे विचार केला. —' त्रेलोक्यम्भु तीर्थकर हे कथी नीच कुलामध्यें, ढीनाच्या घरी व मिश्लुकाच्या घरीं जन्मत नसतात. मोती जसे जिपल्यात जन्मतात, तसे इध्वाकुवंश, हरिवंश वरेंगेरे उच्च क्षत्रियांच्या कुलायध्यें पुरुपसिंह तीर्थकर जन्मत असतात परंतु नीचकुलामध्यें प्रमूचा जन्म झारा हैं मात्र असंगत झारे, अथवा तीर्थकर देखिल वाधरेलें कर्म अन्त्रथा करण्यास समर्थ होत नाहींत. मरीचीच्या भवात प्रमृंनी कुलगढ धारण केला होता त्यावेळी त्यांना नीच गोत्राचा वंध झाला होता. त्याचा उद्य यावेळी उपस्थित झाला आहे जरी ते नीचकुलामध्यें उत्पन्न झाले आहेत. तथापि आम्हाला तेथून काहून उच्चकुलामध्यें स्थापन करण्याचा नेहमी अधिकार आहे. तेव्हा महावंशीय राजा व राणी या थएन क्षेत्रात कोठें आहेत वरें ? " विचार इंद्र करीत असता त्याला याप्रमाणें आठवंग झाली—'' या भरतक्षेत्रात माझ्या नगराप्रमाणें सुंदर व पृथ्वीला अलंकारमूत असे क्षत्रिण्कुंडगाम नावाचे गहर आहे. तथ सिद्धार्थ राजा आपल्या त्रिशका राणीसङ् राज्य करीत आहे. यान्तव त्रिशका राणीच्या पोटात देवानंदंचा गर्भ आणून ठेविला पाहिने " याप्रमाणें आठवग करून त्यानें नेगमेपी नावाच्या आपल्या सेना-पतीस है कार्य करण्याची आज्ञा दिली. या नैगमेषी सेनापतीने इंडाच्या आज्ञेप्रमाणें कार्य पार पाडलें. देवानंदा ब्राह्मणी झोपी नेली होती त्यावेळी तिनें आपत्या मुतांतून चौदा स्वमे वाहेर पडत अमलेली पाहिली. तेव्हा ती घावरून टठली व छाती वडऊन घेऊ लागली व हाणूं -लागली कीं, माझा गर्भ कोणी तरी हरण केला आहे. "

इकडे आश्विन कृष्ण त्रयोवशीच्या विवशीं हन्त नक्षत्रावर चंद्र आला असतां त्या देवाने तो गर्भ त्रिशला राणीच्या गर्भात गुप्त रीतीने स्थापन केला.

राणीला त्यावेळी व्यवमाणे चौंडा स्वप्ने पडली हत्ती वैठ सि.इ अभिषेक करीत

असंत्रेली रुक्ष्मी, पुष्पमाला, चंद्र, सूर्य, महाध्वज, पूर्ण कुंध, समुद्र, सरोवर, विमान, रत्नपुंज व निर्धूम अग्नि या स्वप्नांची फलें इंद्रानें, राजानें, व तज्ज्ञ लोकांनीं राणीस सांगितल्यानें तिला फार आनंद झाला. या प्रमाणें श्वतांबरांच्या महावीर स्वामीची हकीकत आहे.

# ( गर्भापहरण )

आतां प्रभृत्वं गर्भापहरण होऊं शकतें किंवा नाहीं याचा विचार करूं. जेव्हां सम्यग्दर्शन जीवास प्राप्त होतें तेव्हां तो जीव अत्रती जरी असला तरी नारकावस्था, नपुंसकत्व, स्त्रीत्व, नीच कुलामध्यें जन्म घेणें, अल्पायुषी होणें, दरिद्रच अशा अवस्थेस प्राप्त होत नाहीं अर्थात् तो उच्च कुलामध्येंच उत्पन्न होतो, ऐश्वर्य संपन्न होतो, स्त्रीपणा, नपुंसकत्व अशा अवस्थेप्रत पोहोचत नाहीं. श्वेतांवर व दिगम्बर या उभयतांना प्रमाणभूत आचार्य समंतभद्र याविषयीं रत्नकरंड श्रावकाचारांत या प्रमाणें प्रतिपादन करितातः—

# सम्भग्दर्शनशुद्धाः नारकतिर्यङ्नपुंमकस्त्रीत्वानि ।। दुष्कुलविकृताल्पायुर्द्दरिद्रतां च त्रजंति नाप्यव्रतिकाः ॥

महावीर तीर्थकराचा जीव अनेक भवापासून सम्यग्दर्शन धारण करून व्रतें सुद्धां पाळीत होता. यास्तव या भवांत त्याचा नीच कुलांत जन्म होणें सिद्धांताविरुद्ध आहे. नीच कुळांत उत्पन्न झालेळीं माणसें फक्त श्रावकांचीं वर्ते धारण करूं शकतात. मुनिव्रतें धारण करूं शकत नाहींत ' देसे तदियकसाया तिरिया उज्जोवणीचतिरिय गदी ' पांचव्या गुणस्थानांत चार प्रत्याख्यानावरणी कषाय, तिर्थगायु, उद्योत, नीचगोत्र व तिर्थगाति या आठ कमेप्रकृतींची उदय-व्युच्छित्ति होते अर्थात् या गुणस्थानापर्यतच यांचा उदय असू शकतो. यास्तव भगवंताचा नीच कुलामध्यें जन्म होणें असंभवनीय आहे. जेव्हां जीव सम्यग्दृष्टी होतो तेव्हां पासून त्याच्या पूर्व बद्ध अशुभ कर्माची असंख्यात पटीनें उत्तरोत्तर निर्जरा होत असते. दिगंबर व श्वेतांबर या उभ-यतांना मान्य असलेल्या श्रीमदुमास्वामी आचार्योच्या तत्वार्थसूत्र ग्रंथांत "सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानं-तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकक्षपकक्षीणमोहजिनाः ऋमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः" हें सूत्र नवव्या अध्यायांत शेवटीं सांगितलें आहे. यांत सम्यग्दष्टीपासून केवलिजिनापर्यंत क्रमानें असंख्यात गुणी निर्जरा होते असे सांगितलें आहे. यामुळें भगवंताला मरीचीच्या भवांत जरी नीच गोत्राचा वंध कुलमदानें झाला होता तरी तो या तीर्थकर अवस्थेंतही उदयरूपानें टिकून राहिला होता असें सणणें हें सिद्धांताला सोहून आहे असें ग्रंथाधोरं सिद्ध होतें. श्री गुणभद्र आचार्यीनीं महावीर स्वामीच्या जीवाला मागच्या भवांत तीर्थंकर नाम कर्मासह उच गोत्राचा ही वंध झाला होता असें स्पष्ट लिहिलें आहे. तें याप्रमाणें:--

भावियत्वा भवध्वंसितीर्थकुन्नामकारणं ॥ वद्ध्वा तीर्थकरं नाम सहोर्चगित्रकर्मणां ॥ २४५ ॥ जीवितांते समासाद्य सर्वामाराधनाविधि ॥ पुष्पोत्तरविमानेऽभृदच्युर्तेद्रःसुरोत्तमः ॥ २४६ ॥ उत्तरपुराण पर्व ७४ वें.

यास्तव भगवान महावीर उत्तम क्षत्रिय कुलांत जन्मलेत्या सिद्धार्थ व त्रिशला देवी यांच्या पोटींच जन्मले असें मानणेंच न्यायपास आहे. इतर कल्पना असंगत वाटते.

आता देवानंदा त्राह्मणीच्या गर्भीत भगवंत आले व तंथे ते ८२ दिवस राहिले तथाणि इंद्राला ही गोष्ट समजली नाही असे स्वेतावर ह्मणतात यावरून भगवंताची चारच कल्याणिक झाली, पहिलें गर्भकल्याणिक झाले नाही असेच मानावें लागेल व 'भरतक्षेत्रांत उत्पन्न झालेल्या चोवीस तीर्थकरांचें पंच कल्याण होतच असतें ' या नियमास वाधा आली असें मानावे लागेल.

ज्यावेळी भगवान देवानंदेच्या गर्भी आहे त्यावेळी इंद्राला ही गोष्ट अवधिज्ञानानें माहीत झाली होती किवा नाहीं? जर त्याला ही गोष्ट माहीत झाली होती तर त्याचें कल्याणिक का केले नाही? हें जर महावीर जिनाचें कल्याणिक केलें नाही? तर इतर २३ जिनाचेंही हें कल्याणिक झालें नाही असें मानावें. असे मानलें तर तीर्थकर प्रकृतीचा वंध मानणें व्यर्थ होईल. कदाचित् देवानंदेच्या उदरामध्यें भगवंतानी अवतरण केलें ही गोष्ट इंद्राला माहित नव्हती तर तो अज्ञानी होता असें मानावें लागेल. पुन. मोठी आश्चर्याची गोष्ट ही आहे की. त्याच इंद्राला ८२ दिवसानंतर ही गोष्ट कशी समजली?

'ट्यायजी दिवसानंतर देवानंदेच्या उदरातून महावीरस्वामीचा गर्भ काहून नैगमेषी नावाच्या देवानं त्रिज्ञाला राणीच्या पोटात स्थापन केला' या ठिकाणी असा प्रश्न उद्भवतों की, देवानंदेच्या गर्भीत भगवान महावीरानी का अवतरण केले. १ कदाचित् यावर तुह्मी असें उत्तर चाल की आपल्या पूर्वोपार्जित कर्माच्या उदयानें तथे अवतरण करावें लागलें. तर इंद्रावें त्या कर्माच्या उदयाचा निषेध कसा केला १ त्यानें आपत्या सामर्थ्याने, असें म्हणाल तर हें योग्य नाही. कारण भगवान जिनेंद्रदेव अनंतानंत वल्जाली आहेत व ते जगाचे स्वामी आहेत, तरीही ते कर्माची गति रोकूं जकत नाहीत तर फक्त एका स्वर्गाचा स्वामी असा इंद्र त्यांच्या कर्मीना विपरीत कसा करूं शकेल १ दुसरा विचार येथें असा ही उद्भवतों कीं, त्या नैगमेषी देवानं गर्भीचे अपहरण जन्ममार्गीनें केलें का अन्य मार्गीनें केलें. १

जन्ममार्गाने केलें ह्मणाल तर जन्ममार्गानें वाहेर येणें यासच जन्म ह्मणतात तेव्हा याच वेळी जन्मकल्याणिकाचाही उत्सव मानावयास पाहिजे होता. प्रवीं आपण गर्भकल्याणिक मानलें नाहीं व आतों जन्म कल्याणिक मानणार नाहीं तर दोन कल्याणिकांचा अभाव मानावा लागेल. मग वाकीचीं कल्याणिकें तरी कां मानावीत बरें ?

तसेंच हीं दोन कल्याणिकें मानली तर त्रिशलादेवीच्या उदरी महावीर स्वामी आले असतां, जशी गर्भ व जन्म हीं दोन कल्याणिकें मानिली आहेत तशीं देवानंदेच्या उदरी ते आले होते हाणून तेथें ही दोन कल्याणिकें मानावीत अभा रीतीनें महावीर जिनाचीं सात कल्याणिकें मानणें भाग पडेल.

मुख आदि अन्यद्वारें गर्भापहरण मानिलें तर अन्यमतामध्यें कर्णाची उत्पत्ति कानापासून, नासिकेय वगैरे ऋषींचा जन्म नाकापासून मानिला आहे. तो सर्व प्रकार तुझाला सत्य मानावा लागेल.

तसेंच ज्यावेळीं वीरजिनाचा गर्भ त्रिशलेच्या पोटांत स्थापन केला गेला त्याच्या पूर्वी सहा महिने व नंतर नड महिनेपर्यंत रत्नशृष्टि व छप्पनकुमारिका यांची सेवा शुश्रूपा हीं कृत्यें कोठें झालीं. १ सोळा स्वप्नें कोणीं पाहिलीं १ दोन्हीं ठिकाणी रत्नशृष्टि वगेरे झाली हाणाल तर दोन्ही कल्याणिकें दोन्ही जागीं झाली असें मानावे लागेल.

गर्भापहरण करतेवेळीं वालकाच्या नाळीचा नाश झाला असतां वालकाचाही नाश होतो, सर्व लोक याला गर्भपात ह्मणतात. आंब्याचें फळ तोडून तें दुसरीकडे लाविलें असतां जसें वाढत नहीं त्याच प्रमाणें नाळीचा नाश झाला असतां त्या वालकाची दुसऱ्याच्या उदरांत वाढ होऊ शकत नाहीं.

श्रीमहावीर स्वामी ऋषभदत्ताच्या वीर्यापासून उत्पन्न झाले असतां त्यांना सिद्धार्थपुत्र असें ह्मणणें योग्य नाही; असें ह्मणणें ह्मणजे महावीर स्व.मी दोन वापापासून उत्पन्न झालेले आहेत असें मानावे लागेल व असें मानणें ह्मणजे मोठा अवर्णवादं आहे.

तसेंच आपल्या शास्त्रांत कोठें त्रिशलादेवीच्या गर्भीत आपाढ ग्रुद्ध पष्टीचे दिवशी वीर जिन अवतरून चेत्र शुद्ध नवमीचे दिवशी भगवंताचा जन्म झाला अर्थात् नड महिने सात दिवस गर्भीत राहिले असा उल्लेख आहे. व कोठें कोठें भगवानाचें अपहरण टाख़िवले अशा रीतीनें हीं शास्त्रें परस्परविरुद्ध विधानें करणारी आहेत. यास्तव गर्भापहरण मानप्याने वीर परमदेवाच्या ठिकाणीं उलट अयोग्यपणा सिद्ध होतो ह्याणून गर्भापहरण मानुं नये.

त्रिशला देवीच्या गर्मीत प्रभु असतांना मातेला त्रास होईल छण्न त्यांनी हलनचलन करणें बंद ठेविलें; त्यामुळें मातेला माझा गर्भ कोणी हरण केला किया तो नष्ट आला अधवा त्यांचें कोणी स्तंभन केलें काय असा संशय आला व ती फार शोक करूं. टागली व आनि करूं लगली असें श्वेतांवर ग्रंथात लिहिलें आहे.

परंतु येथें ज्या मातेला त्रेलोक्यनाथ गर्भीत आल्यामुळें कठिन अञा प्रशाची उत्तर हेनां

आली होती त्याच मातेला प्रभु गर्भातच आहेत-गर्भ नष्ट आला नाही हैं कसें समजलें नाहीं याचें आश्चर्य वाटतें.

प्रभूंचा विवाह समरवीर नावाच्या राजाच्या मुलीशी—यगाँदेशीं झाला होता. व त्यांना तिच्यापासून एक प्रियदर्शना नांवाची मुलगी झाली होती व तिचा विवाह प्रभूंनीं जामाली नांवाच्या एका राजपुत्राशीं करून दिला होता. अशी हकीकत खेतांवराच्या वीर चरित्रांत सांगितली आहे. ती याप्रमाणें:—

पुण्येऽहिन महीनाथो जन्मोत्सवसमोत्सवम् ॥ विवाहं कारयामास महावीरयशोदयोः ॥ १५१ ॥ कालेन गच्छता भर्तुर्यशोदायामजायत ॥ नामतो रूपतश्चापि दुहिता त्रियदर्शना ॥ १५४ ॥ महाकुलो राजपुत्रो महर्द्धिनवयीवनः ॥ जामालिः परिणिनायाद्यीवनां त्रियदर्शनाम् ॥ १५५ ॥ (श्वेतावर हेमचंद्राचार्यकृत महावीरपुराण पर्व १० सर्ग २ रा.)

प्रभूच्या वडील भावाचें नाव नंदिवर्धन व वहिणीचें नांव सुदर्शना असें होतें. तसेंच 'पउमचरिय' नांवाचा विमलाचार्यकृत एक प्राकृत ग्रंथ आहे त्यात उपर्शक्त गोष्टीचा मुळींच उल्लेख नाहीं. यावरूनही याचीं विधानें परस्परविरुद्ध अशी आहेत.

तीर्थकराच्या मातेला तीर्थकराशिवाय अन्य मुलगा होत नाही असें दिगंवर शास्त्रांत सांगितलें आहे. हाणून तीर्थकरांना कनिष्ठपणा नाही. महावीर स्वामींनीं विवाह केला नाहीं. जितशत्रूच्या मुलीचें यशोदा असें नाव होतें व तिचें महावीर स्वामीशीं आपण लग्न लाउन द्यावें असा त्याचा मनोदय होतां परंतु महावीर स्वामीनी ही गोष्ट कवूल केली नाहीं असें जिनसेन प्रणीत हरिवंश पुराणामध्यें लिहिलें आहे. वासुपूज्य, मिल नेमि, पार्श्व व वीर हे पांच तीर्थकर वाल ब्रह्मचारी होते यावहल असा उल्लेख आहे—

वासुपूज्यस्तथा महिनेंमिः पार्श्वोऽथ सन्मतिः ॥ क्रमाराः पच निष्कांताः पृथिवीपतयः परे ॥

( दशभक्ति पृष्ठ २४७ )

महावीर स्वामीनीं दीक्षा घेतल्यावर १२ चातुर्मास निरनिराळया ठिकाणीं केले असा उल्लेख आहे. पहिला चातुर्मास त्यांनीं मोराक नावाच्या गावी केला परंतु तो पूर्ण न करतांच त्यानीं पावसाळयातच अन्य ठिकाणी प्रस्थान केले " ग्रामं नाम्नास्थिकग्रामं ययो प्राष्ट्रप्यपि प्रभुः" असा उल्लेख हेमचंद्र कृत महावीर चरित्रात आहे. परंतु दिगंवरांच्या महावीर चरित्रांत

प्रभृतीं कोठें चातुर्मास केल्याचा उहेंख आलेला नाहीं. तीर्थकरांना चातुर्मास करण्याची जरूरत नसते कारण त्यांच्या विहारापासृन कोणत्याही प्राण्याची विराधना होत नाहीं. त्यांना कधीं छेदोपस्थापना करावी लागत नाही; याचें कारण त्यांच्या हातून केव्हांही कोणताही अपराध घडत नसतो ह्मणृन त्यांना प्रतिक्रमण करणें आलोचना करणें यांची जरूरत नसते. परिहारविशुद्धि चारित्र ज्याला प्राप्त झालें आहे असा मुनि जीवांनीं भरलेल्या प्रदेशांतून जरी विहार कर्ल लागला तथापि त्याच्या विहारानें त्या जीवांना कोणतीही पीडा होत नाहीं. याबद्दल असा उहेख आहे:—

#### परिहारद्विसमेतः षड्जीवनिकायसंक्कलं विहरन् । पयसीव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन ।।

अर्थात् ज्याप्रमाणें कमलाचें पान पाण्यामध्यें अस्नही त्यापासून अलिस असतें. त्या-प्रमाणें परिहारिवशुद्धिचारित्र धारक मुनि जीवसमूहांत विहार करूनही पापापासून अलिसच राहतो. मुनि पिंछी जीवसंरक्षणाकरितां घेतात परंतु तीर्थंकरांना पिछी व कमंडळचीही अवश्य कता राहत नाहीं. यावरून त्यांचें संयम दोषरिहत असतें हें व्यक्त होतें. तीर्थंकरांना नेहमीं अभेदरूप सामायिक चरित्र असतें. या सर्व विवेचनावरून चातुर्मास करण्याची तीर्थंकरांना आवश्यकता नाहीं व दिगम्बर जैनाच्या श्रंथांत तीर्थंकरांच्या चातुर्मासाचा उल्लेखही पण नाहीं.

महावीर स्वामीचा गोशाल नांवाचा एक शिष्य होता तो महावीर स्वामीप्रमाणें स्वतःलाही सर्वज्ञ सण्न घेऊं लागला. तेव्हां ती गोष्ट गौतमगणधरांनीं महावीर स्वामीस विचारली तेव्हां ते सणाले कीं "तो माझा शिष्य आहे. परंतु सध्या मिथ्यात्वी झाला आहे. व तो सर्वज्ञ नाहीं. " हें महावीर स्वामीचें भाषण कर्णोपकर्णी होऊन गोशालासही समजलें तेव्हां तो रागानें समवसरणांत येऊन महावीरस्वामीला झणाला की, "हे महावीरा! मी तुझा शिष्य नाहीं. तूं, हा माझा शिष्य आहे असें लोकांस सांगतोस हें तूं खोटें भाषण करितोस. " असें सण्न त्यानें महावीर स्वामीच्या अंगावर तेजोलेश्या सोडली. त्यायोगानें महावीरस्वामीच्या जवळ असलेल्या दोनतीन शिष्यावरही तिचा परिणाम होऊन ते मरण पावले व गोशालामध्यें स्वतः त्यानें सोडलेली तेजोलेश्या शिष्ठा तिचा परिणाम होऊन ते मरण पावले व गोशालामध्यें स्वतः त्यानें सोडलेली तेजोलेश्या शिष्ठा रांचा रक्ताची परसाकड लगली व पित्तज्वर उत्पन्न झाला. त्यामुळें ते कृश होत चालले परंतु त्यांनीं औषघ घेतले नाहीं. गोशालानें स्वामीला सांगितलें कीं या तेजोलेश्येच्या योगानें तूं सहा महिन्यानी मरण पावशील. तें ऐकृन सिह नांवाच्या शिष्यानें स्वामीला झटलें की, "महाराज आपण औषघ ध्या, नाही तर गोशालानें झटल्या प्रमाणें होईल " झणून तो रहं लागला व औषघ घेण्यासाठीं पमूला फा आग्रह करंह

लागला. त्याच्या आग्रहाला मान दंऊन प्रभु त्याला हाणाल की, "रेवती नांवाच्या श्रावि-केच्या घरीं महालुंगाचा पक्षकटाह आहे तो घेऊन ये म्हणजे त्याने आरोग्य लाभ होईल." तेव्हां त्याने तेथून तो आणिला व त्याने प्रमृला आरोग्य लाभ झाला. या विपयीं स्वेतांबर अंथामध्यें अर्शी वचनें मिळतातः—

स्वामी तु रक्तातीसारिपत्तज्वरवशात्कृशः ॥
गोशाललेश्यया जज्ञे चकार न तु भेषजम् ॥ ५४३ ॥
तं च श्रुत्वा स्वासिशिष्यः सिंहो नामानुरागवान् ॥
गत्वैकांते रुरोदोचैः क धैर्य तादृशा गिरा ॥ ५४५ ॥
वीजपुरकटाहोऽस्ति यः पक्को गृहहेतवे ॥
तं गृहीत्वा समागच्छ करिष्ये तेन वो धृतिम् ॥ ५५१ ॥
सिंहोऽगाद्य रेवतीगृहसुपाद्त्त प्रदत्तं तया,
करुप्यं भेषजमाश्च तत्र वृष्ये स्वर्णं च हृष्टैः सुरैः ॥
सिंहानीतमुपास्य भेषजवरं तद्वर्धमानः प्रशुः,
सद्यः संघ—चकोरपार्वणश्वशी प्रापद्वपुःपाटवम् ॥ ५५३ ॥
हेमचन्द्रकृत महावीरचित्त पर्व १० वा सर्ग ८ वा.

परंतु दिगंवरांच्या महावीरचिरतामध्यें अशा रीतीची विधानें मुळींच नाहींत. तीर्थकरां-च्या शरीरात व्याधि केव्हाही होत नसतो हें दिगंवर व श्वेतावर यांना मान्य आहे. तथापि महावीर स्वामीला रक्ताची परसाकड लागली व पित्तज्वर झाला असें श्वेतांवरांनीं लिहिलें आहे ज्या हेमचंद्रानी असे लिहिलें आहे त्याच हेमचंद्रानी 'अभिधानचितामणि' ग्रंथामध्यें तीर्थकराच्या शारीरिक गुणाचें वर्णन करितांना 'निरामयत्व' हा गुण वर्णिला आहे. तो याप्रमाणे—

तेषां च देहोऽद्भुतरूपगधो निरामयः स्वेदमलोज्झितश्च । श्वासोव्जगंबो रुधिरामिष तु गोर्श्वारधायकं ह्यविस्नम् ॥

निरामयत्व हाणजे निरोगपणा परंतु महावीरस्वामीस रोग झाला असें हाणणें हैं परस्पर विरुद्ध आहे. तसेंच समवसरणांत वैर, मारी मरण हें असत नाहीं हाणून त्यांनीं प्रतिपादिलें आहे. परंतु गोजालाच्या तेजोलेज्येनें तीन मुनि मरण पावले अजी परस्परविरुद्ध विधानें पुष्कळ आहेत. या सर्व विवेचनावरुन दिगंवर जैनाच्या जालात जे महावीर जिनाचें चरित्र सांगितलें आहे तेंच सत्य आहे. महावीर म्वामीनी महाळुंगाचें औषध खाले यावरून ते आहार घेन होते हैं सिद्ध आहे. केवली कवलाहार घेतात असे श्वेतांवर क्षणतात परंतु तें दिगंबरांना मान्य नाहीं, घातिकर्माचा नाश झाल्या कारणानें अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंन सुख व अनंत शिक्त हे चार गुण प्राप्त होतात. हें उभयतांसही कब्ल आहे. केवली आहार घेतात त्यांचे कारण शक्ति कमी होत ती भरून निघाची झणून मानीत असाल तर अनंत शक्ति मानणें व्यर्थ आहे. तसेंच भुकेची वेदना मिटविण्यास्थव आहार घेत असतील तर अनंत सुख प्राप्त झालेलें व्यर्थच मानावे लागेल. भोज्य पदार्थाचा रस, गंध वगेरे जर इंद्रियद्वारें त्यांना समजत असतील तर त्यांना मतिज्ञानच मानावे लागेल. इत्यादि दोष कवलाहारामध्यें आहेत. म्हणून दिगंबरां- नीं केवली कवलाहार घेत नाहींत असें मानिलें आहे.

या प्रमाणें श्वेतांवरांच्या महावीर चरित्राची संक्षिप्त समालोचना केली आहे.

# वीरमहिमा

शार्टूलविकीडित.

झाले तेविस जे जिनेश जगतीं सामर्थ्य त्यांचें असे ॥
अंतातीत जिनेश वीर परि हा तैसा मला ना दिसे ॥
आला इंद्रमनांत संशय असा जन्माियपेकोत्सवीं ॥
तेव्हां मेरुगिरी सकंप करुनी तो वीर त्या दाखवी ॥ १ ॥
मेरूचीं शिखरें जण्ं जिनवरा वंदावया वाकलीं ! ॥
आनंदे पृथिवी तयास बघुनी नाचू जण्ं लागली ! ॥
आगंदे पृथिवी तयास बघुनी नाचू जण्ं लागली ! ॥
आगंदे पृथिवी तयास बघुनी नाचू जण्ं लागली ! ॥
आगंदे पृथिवी तयास बघुनी नाचू जण्ं लागली ! ॥
नाथा ! देह तुझा विशुद्ध अणुनीं निर्माण झाला असे ॥
नाथा ! देह तुझा विशुद्ध अणुनीं निर्माण झाला असे ॥
देवा ! त्यांत विशुद्ध एत्य सकला आत्मा तुझा की वसे ॥
श्वीरांभोनिधिच्या जल स्नपन हें त्वच्छुद्धि हेतु नसे ॥
पांपाचा अमुच्या विनाश करण्या साहाय्य हें देतसे ॥ ३ ॥
भक्तीनें विनवृन देवपतिनें आभूषणीं भूषित ॥

केलें नृत्य जिनापुढें सग तयें होऊनिया हर्षित ॥

ठेवी नंतर वर्धमान विभुची आरूया तशी वीर ही ॥ अपोंनी पितरा तया सुरपती गेला सुखें स्वर्ग्हीं ॥ ४ ॥ दोघा चारणऋद्विधारक मुनीशांना मनीं जाहला ! तत्वीं संशय तिवरास करण्या वीरास भेट्टं चला ॥ ऐसा चित्ति विचार ते करुनिया गेले महामक्तिने ॥ त्याच्या सन्धिध तूर्ण संशय लया गेलाच तद्दर्शने ॥ ५॥ हा श्रीमज्जिनराज 'सन्मति ' अशा नामा तदा पावला ॥ गेलें तें मुनियुग्म मानुनि मनीं हर्प स्वकीय स्थला ॥ होता वीरजिनेश जन्ममस्यीं ज्ञानत्रयें भृषित ॥ याचें यास्तव नाम सन्मति असें भासे मला सैचित ॥ ६॥ सीघमेंद्र समेत अन्यसमयीं देवामधे चालली। लोकीं कोण बलाह्य संप्रति असे ऐशी कथा चांगली॥ श्रीमद्वीर जिनाशिवाय दुसरा नाहीं वली भूतलीं। सांगे वासव त्यास यांत न असे मिथ्योक्तिची सावली।। ७॥ आला संगमकाच्य देव अमरावासाहुनी खालती ॥ जेथें अन्पवर्यी जिनेश अपुल्या मित्रामवें खेळती ॥ तेथें तो भुजगस्वरूप धरुनी सर्वाम भी दावितां ॥ गेले सर्व कुमार शीघ्र पळनी चित्तीं तुरे घीरता ॥ ८॥ श्रीवीराम परंतु पाहुनि तया भीती नसे वाटली ॥ पुष्पस्रवसैम त्या गण्न जिन तो घाली स्वतांच्या गळीं ॥ त्याच्या भीष्मकृणावरी स्वचरणा ठेवून नृत्या करी॥ भ्रेमाने सुद् हस्त बीर फिरबी तैसे तद्गावरी ॥ ९ ॥ हर्षीमोनिधिमर्ये देव मग तो स्त्रीकारुनि स्वाकृती ॥ तत्पादांबुजयुग्म वंदुनि करी नानाविधा तत्स्तुति ॥ त्रैलोक्यांत तुङ्याशिवाय न दिस नाथा दुजा विक्रमी॥ मार्ते यास्तव ठेवितो तव जिना नामा 'महावीर' मी ॥ १०॥ नामें उज्जियनी असें नगर जें त्याच्या दमशानीं जिन ॥ दीक्षेनंतर वीरनाथ अपुल्या ध्यानांत लावी मन ॥

१ नांव २ सु उचित-अतिशय योग्य ३ फुरुाञ्या माळेसारखा, ४ आनंद्रपी सधद.

आला रुद्र तिथं उमेरीह तदा पाहन त्याला खर्ले ॥ केला घार महोपसर्ग तरिही ध्यानाहृनी ना चळे ॥ ११॥ ज्वाला काढिति दुष्ट भूत वदनापासन भीतिप्रदा॥ क्रोधें ओरडती सभावति तसें ते नाचती ही तदा ॥ कूर व्याघ्र फणींद्र सिंह पशु तो निर्मी स्वविद्यावलें ॥ निर्मी भिल्लचमूहि घार असती जीच्या मुखांचीं बिळं ॥ १२॥ भीतीचे असले उपाय करूनी तद्ध्य भंगावया ॥ केले यत्न अनेक ते जरि तयें न्यर्थत्व आलें तया ॥ धैर्याचा निधि वीरनाथ जिन तो राह तसाचि स्थिर ॥ कांपे वृक्ष समीरणें हाणुनि कां कांपेल मेरूशिर! ॥ १३ ॥ आश्चर्यान्वित हर्षपूर्ण हृदयीं होऊन रुद्रे तदा ॥ केलें नृत्य उमेस घेउनि सर्वे तैशी स्तुती पुण्यदा ॥ ठेवी तो विश्ववं ' महा आतमहावीर ' स्वयं नाम ही ॥ वंदानी चरणद्रयास मग ता जाई स्वकीया गृहीं ॥ १४ ॥ होती चेटकस्वातिभयस्ता श्राचंदना सुद्रा ॥ कामा एक नमश्ररीाधप तिला विद्यावलाने हरी ॥ पत्नीपासुनि पाउनी भय तर्ये ती साडिला काननीं ॥ कौशांबी नगरांत भिल्लपतिने ती आणिली तेथुनी ॥ १५ ॥ तेथें श्रावृषभादिदत्त धनिकें देऊन त्याला **धन** ॥ त्याच्या पासुनि घेउनी निजगृहीं ती ठेविली आणुन ॥ मानी तो स्वसुतेसमान तिजला त्याची तथापि विया ॥ त्याच्याशीं सहवास मानुनि तिचा घेई तदा संश्वा ॥ १६ ॥ कांजी आणिक कोद्रवान परळामध्ये तिला देतसे ॥ क्रोधें बोलुनि हात पाय निगर्डे बांधून टाकीतसे ॥ ऐशा हीन पार्रास्थतीत दिन ती काढीतसे वालिका॥ आली जी घडुनी हर्काकत पुढें ती सांगतो वाचका ॥ १७॥ आहारार्थ जिनेश वीर नगरीं एके दिनीं पातले॥ त्यांना पाहुनि चदनामन तदा सानंद की जाहलें ॥

१ पार्वतीसह. २ विद्याधराचा राजा.

आहे अन थिशुद्ध आपण उसे राहा असे बोलकी ॥ त्यांचे स्वामन में करीन असवां नी शृंदाला मंगली ! ॥ १८ ॥ माला बरा विभवणादि करनी नी चंदना छोमली ॥ में मृत्याव सुवर्णपाव बनलें त्यांची प्रभा फाकली ! ॥

हालें कोड़वं अन्न नत्ममयि तें भान्यन कांनी तथी ! ॥ पापे दुरधमरूपना जिनिवमों ! लीला तुशी ही अभी ! ॥ १९॥

आहार प्रगुठा दिला गुणवती श्रीचदनेने यदा ॥ पंचाधर्य सुरृष्टि देवनिकरं केली प्रमोदप्रदा ॥ वीराचा महिमा शरा गणधरे शास्त्रामधं वर्णिला ॥ तो भी सज्जन हो तुष्पांत सगळा नेधिम सांगीतला ॥ २० ॥ श्रीवर्धमान सन्मति महति महावीर धीर ही नामें ॥ अंतिम तीर्थकराची होवोत तुष्पांग विपुलेसुख्यामें ॥२१॥

## वीरगुणस्तवन

श्रीमद्वीर जिनेंद्रा! तुझ्या गुणांचें करावया स्तवन ॥
इच्छितसे मन मातें परि हैं ओर्झें कसें करूं महन ॥ १ ॥
मन हर्द्यि तुझ्या विपर्था झाली उत्पन्न विपुल भक्ति असे ॥
छण्निच अरुपण्णस्तुति करावयाचा प्रयत्न करित असे ॥२
आवरणं क्रम विरिद्धित वोध तुझा स्थिरिह जाणतो जगता ॥
ऐमा गुण अन्यत्र न संसृतिपतिता छण्न तृं त्राता ॥ ३ ॥
शिकेच्या वाऱ्यानें केलास गिरींद्र मेरु कंपित तृं॥
कामा देहविहीना केलेस परास्त यांन नच किंतु ॥ १ ॥
मेधैविनिर्गत नीरा मिळ्युनि हो चातकास मोद जसा ॥
प्राञ्चिन तब वचनामृत होतो संतास मोद अमित तसा ॥ ५ ॥

१ पुष्कळ सुलांची स्थाने अर्थात् स्वर्गनोक्षादिक स्थाने.

२ ज्ञानावरण कर्मानें आणि कमानें रहित.

३ मेघापासून निघा हेलें पाणी.

गुणमणिसागर असुनिह आहे अजलाशयैत्व तव ठायीं ॥ विमंदन अस्न अस्ती भव्यांना विपुल कामसुखदायी॥६॥ त्रैलोक्यनाथ असुनिहि परिग्रहांनीं विहीन आहेस ॥ वीरा! विरुद्ध ऐसे सद्गुण करिती तुझ्या पदीं वास ॥ ७ ॥ चंद्राचे कर जैसे देउनि आनंद वर्षिती अमृत । तम दूर करुनि सारा सगळ्या करिती जगा प्रकाशयुत ।८। तैसे बीरा! तब गुण सज्जन हृदयास मुदित करितात ।। अज्ञानतम निवारुनि अमृतपद्रशाप्ति करून देतात ॥ ९ ॥ घैयें सागर जिक्कान आकाशा जिकलें महत्त्वगुणे ।। उचपणें मेरूला सर्यकरा जिकिलें स्वतेजानें ॥ १०॥ र्धृतिगुण साहाय्याने धरणीला जिकिले तुवां वीरा !॥ धारण करुनि प्रशमा परास्त केलेस चंद्रकरनिकरा ॥ ११ ॥ शुक्रध्यानवलानें वीरा ! जो रागभाव जिकियला ॥ तो रक्तकमलकोमल तव पद् युग्मास शरण जणु आला ।१२। तव दिव्यध्वनि ऐकुनि भक्तजना होतसेच आल्हाद ॥ आनंदित कां न करी मयूरवृंदा नवाब्बुँदिननाद ॥ १३ ॥ वीरा ! तव गुणधारक पापापासन होय नर सुक्त ॥ चंद्रप्रकाशसंयुत होइल आकाश काय तमयुक्त ॥ १४ ॥ अविनाशी दर्शन सुख बोध तसे शक्ति चार सद्गुण हे॥ असती तुझ्याच ठायीं पात्र न या हिर हरादि जन पाहे ॥ १५॥ क्षीर समुद्राचें जल असतें पीयूषतुल्य मधुर जसें॥ धारण करं नच शकती तदितँर सागर सुनीर जिंग तैसे।१६ नाथा ! तव चरणांचा आश्रय जे भव्य जीव घेतात ॥ केवल बोधासह ते अनंत सौख्यास खचित वरितात ॥ १७॥ जे नर गुणज्ञ असेती स्वसुखेच्छेनें तुलाच ते भजती ॥ पुष्पित आम्रतह्ला त्यागुनि अन्यत्र भृंग नच जाती॥१८॥

१ अजहाशयत्व—पाण्याचा सांठा नसणें, अजहाशयत्व—मंदबुद्धि नसणें. २ विनदन-कामविकाररहित. ३ कामछुलाला देणारा, पक्षांतरीं, इच्छित सुलाला देणारा. ४ समागुण ५ नवीन मेघांची गर्जना. ६ क्षीरसमुद्राहून दुसरे.

भूषण वेषा वांचुनि शोमतसे तव शरीर वीर जिना!॥ स्येंदुतीरकाविण चैताहैरता न येइ का गगना ॥ १९ ॥ विकिति नूतने कमला तैसे निर्मल शशीम पाहून।। निवति न नेत्र जनांचे निवति जसें त्वन्मुखा विलोकून ॥ २० ॥ वंदन करीत असतां भव्यांच्या नम्र मस्तकावरती ।। पुण्यांच्या. धारासम तव पदनैखिकरण पैक्ति जणु दिसती॥ न् भवेंपतित जेनाला उद्धाराया समर्थ आहेस ॥ -रिववांचुनि कोण करी नभ निर्मेल करुनि दूर तिमिरास ॥ २२ ॥ निःस्पृह होउनि भव्या वीरा ! उपदेश तुंच देतोस ॥ धरितां मिन न फलाशा करी जसा जलँद नीरवृष्टीस॥२३॥ पूर्ण द्येनें भरलें तब मत लबहीन यांत दोप असे ॥ हिममय चंद्रामध्यें उष्णत्व निवास सांग करिल कर्से ? ॥ २८ ॥ वीरा ! तव वचनामृत सादर होऊन कर्णपात्राने ॥ जो नर पीतो तो नच पीडित होतो कधींहि तुप्णेनें।।२५॥ स्वाभाविक रक्त तुझै सुंदर निर्मेल जिनेश्वरा ! चरण ॥ जिनदास निमतसे हा तद्भवदुःखा करोत हे हरण ॥ २६ ॥

१ तृर्य, चंद्र व नक्षत्रें यावांचून २ मनोहरपणा. ३ तुङ्या पायांच्या नलांच्या किरणांची पंक्ति, ४ संसार. ५ मेथ.

# महावीर चरित्र.



श्री परमपूज्य आचार्य शांतिसागर महाराज दिगंवर जैन सापृ सामायिक करीन आहेन. [ c.

医医马克姆氏 计图片符号分子的图明的分子可

# ॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः 🗓

# श्रीअसगमहाकविविरचित

# वर्द्धमानचरितम्।

# ॥ मंगलाचरणं॥

× श्रियं त्रिलोकीतिलकायमानामात्यंतिकीं ज्ञातसमस्ततत्त्वां ॥ उपागतं सन्मतिसुज्ज्वलोक्तिं वंदे जिनेंद्रं हतमोहतन्द्रम् ॥ १॥

१ जिनें जीवादिक संपूर्ण तत्त्वांना जाणिलें आहे व जी ठौलोक्याला, तिल-काप्रमाणे आहे अशा कथींही नाश न पावणाच्या अनंत लक्ष्मीला जे प्राप्त झाले आहेत त्या श्रीसन्मति जिनेश्वरास मी मन वचन व शरीर शुद्ध करून नमस्कार कारितों. श्रीसन्मति जिनेश्वर निर्दोष असा हितकर उपदेश भन्यांना देतात. ते स्वतः मोहरूपी गुंगीनें रहित झालेले आहेत व भन्यांच्याही मोहरूपी गुंगीचा ते नाश करितात.

भावार्थः — लक्ष्मी दोन प्रकारची आहे. एक अंतरंग लक्ष्मी व दुसरी वाहिरंग लक्ष्मी. अनंत ज्ञान, अनंत ज्ञाक्ति, अनंतसुख व अनंतदर्शन ही अंतरंग लक्ष्मी होय. आणि समवसरण, आठ महाप्रातिहार्ये यास वाहिरंग लक्ष्मी

> ×नास्तिकत्वपरिहारः शिष्ठाचारप्रपालनम् ॥ पुण्यावाप्तिश्च निर्विद्यं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात् ॥

अर्थात् ने आस्तिक आहेत—ने स्वर्ग, नरक आदि परछोक व त्याची प्राप्ति करून देण्यास कारणभूत अशीं कर्ने व कर्मानी राहित आत्मा व त्याचे अनंतज्ञानादिक गुण यांना मानतात—ते आपल्या कार्यात विघ्न आणणाऱ्या अतरायकर्माची विघ्न आणणारी ज्ञाक्ति क्षीण व्हावी ह्यणून कार्याच्या प्रार्भी मंगलाचरण करीत असतात. नरी मगलाचरण मन आणि शरीर याचे द्वाराही होतें अर्थात् मनात परमदेवाचें चिंतन केल्यानें व त्यास हात जोडून नमन केल्यानेंही होतें. तथापि पुढें उत्पन्न होणारे शिष्ट पुरुषानीं देखील मंगलाचर-णाची परिपाटी चालू ठेवावी या हेतूनेंही मंगलाचरण करतात. या मगलाचरणाने पुण्यप्राप्ति होते व कार्य निर्विद्य समाप्त होतें न्हणून हें वर्द्धमान चरित्र रचण्याच्या प्रार्भी शिष्टाचाराचें पालन करणाऱ्या श्रीअसग महाकवींनीं श्रीमहावीर तीर्थकरांच्या गुणाचे स्मरण करून कृतज्ञता प्रगट केली आहे.

स्मणतात. अंतरंग लक्ष्मी ही आत्म्याचे स्वरूप असल्यामुळे तीच मुख्य होय व या अंतरंग श्रीमध्यें ही अनंतज्ञानलक्ष्मी ही अधिक प्रधान आहे कारण या लक्ष्मीच्या द्वारें भगवान सन्मति (वद्धमान) जिनेश्वरांनी अनंत भव्यांचा उद्धार केला आहे. या ज्ञानलक्ष्मीच्या द्वारें प्रभूनी संपूर्ण पटार्थीचे स्वरूप त्यांच्या भूत. भविष्यत्, वर्तमानकाली होणाष्या सर्व पर्यायांसह जाणलें आहे. ही ढोन प्रकारची लक्ष्मी सर्वोत्कृष्ट असल्यामुळे त्रिलोकाला भूषणरूप झाली आहे. प्रभूच्या विकाणी हितो-पदेशकता आहे. त्यांनी केलेला हितोपदेश कुमार्गापासून भव्यांना परावृत्त करून सन्मार्गात—जैनधर्मात रिथर करितो. भगवान मोहरहित होते स्हणून वीतरागत्व या गुणानेंही भूषित होते. अर्थात सर्वज्ञपणा, हितोपदेशकपणा, व रागद्देपराहित असण या तीन गुणांनी ते गुक्त आहेत स्हणून परमदेव आहेत. यास्तव श्रीअसग महाकवीनी ग्रंथ प्रारंभी त्यांना वंदन केलें आहे. तसेंच याच प्रभूचे या ग्रंयांत किववयांने चरित्र वर्णिलें आहे स्हणून देखील स्तवनपुरःसर त्यांना वंदन करणे, हें योग्य आहे. सध्यां याच प्रभूचें तीथ चाल् आहे.

दत्तार्घमप्यात्महितरनर्धं युक्तिश्रियो मौक्तिकहारभूतं ॥ रत्नत्रयं नौमि परं पवित्रं तत्त्वैकपात्रं दुरितच्छिदस्त्रं ॥ २॥ सुदुस्तरानादिदुरंतदुःख्याहावकीणीरुभवाणवौधात् ॥ दक्षा समुद्धतुमशेपभव्यान् जयत्यजय्या जिनशासनश्रीः ॥ ३॥

र मी त्या उत्कृष्ट व पवित्र अशा रत्नाञ्चाला रतिवतो. हें रत्नञ्च पापांचा नाश करण्यास श्रह्मासारखें आहे व मोक्षरूपी लक्ष्मीच्या गळ्यांतील मोत्यांचा हार आहे. हे तत्वपात्र आहे व आत्मिहताची इच्छा करणाऱ्या भव्यांनी याची किमत केलेली असूनही असूल्य आहे. अर्थात किमत रहित आहे. येथे विरोधाभास आहे. त्याचा पिन्हार याप्रमाणे:—रत्नत्रय आत्मिहित करणाऱ्यांकहन दत्तार्य आहे अर्थात् पूज्य आहे. व म्हणूनच ते असूल्य आहे. या रत्नत्रयाचा आश्रय करणारे भव्यजीव सिक्तिलक्ष्मीच्या गळ्यांतले हार वनतात अर्थात् त्यांना मोक्ष प्राप्त होतो. जमें दृष वगैरे पिण्यासाठी पाताची आवश्यकता असते तसे तत्त्वस्वरूपाचे पान करण्यासाठी महणजे तें जाण-ण्यासाठी हे रत्नत्रय पातासारखे आहे. जसे शत्रूचे छेदन गल्लाच्या हारें करता येतें तसे कर्मरूपी शत्रूचे छेदन करण्यासाठी हें रत्नत्रय एक अहितीय शत्र आहे. यारतव या उत्कृष्ट रत्नत्रयास—सम्यण्दर्शन, सम्यज्ञान व सम्यक्चारित यांस मी स्तावितों.

३ हा संसाररूपी समुद्र तरून जाण्यास कठिण आहे व फार मोठा अस-ल्यामुळें याचा पार—दुसरा किनारा दिसत नाहीं. यामध्यें दुःखरूपी मगर वगैरे क्रूर जलचर प्राणी भरलेले आहेत. अशा या समुद्राच्या प्रवाहापासून सर्व भव्यांना वर काढण्यास ही जिनशासन लक्ष्मी समर्थ आहे व हिला अन्य मिथ्यावादी जिंक शकत नाहींत. यास्तव ही जिनशासनलक्ष्मी नेहमी विजयी असो.

भावार्थ:—जिनागमाचा आश्रय केला असतां अनादिकालाचा जीवांच्या मागें लागलेला संसार नष्ट होता व त्यांना मोक्षाची प्राप्ति होते. यास्तव हा जिनागम नेहमीं या त्रेलोक्यांत विजयी होवो. संसाराला समुद्राचें रूपक दिलें आहे. समुद्र तरून जाण्यास अशक्य असतो. संसारही जिनागमाशिवाय तरून जाता येत नाहीं. समुद्र मोठा असल्यामुळें त्याचा किनारा दिसत नाहीं. जिनागमाचा आश्रय न केला तर संसारसमुद्राच्या दुसऱ्या किनाऱ्याचें दर्शन होणें अशक्य आहे. समुद्रांत मगर,मासे वगरे क्रूर जलचर असतात. संसार समुद्रांतही मानासिक, शारीरिक व आकास्मिक अशीं तीन प्रकारचीं दुःखे हेच मगर मत्स्यादि क्रूर जलचर जीव आहेत. अशा संसार समुद्रांतृन भव्यांचा उद्धार जिनशासन लक्ष्मीच करिते म्हणून ती नेहमी जयवंत असो.

गणाधिषेरुक्तमुदारबोधैः क तत्पुराणं जडधीः क चाहम्॥
मनोजवैर्वारिनिधिं खोंद्रैः पारं गतं गच्छिति किं मथूरः॥ ४॥
तथापि पुण्यास्रवहेतुभूतिमत्यात्मशक्त्या चरितं प्रवक्तं ॥
श्रीवर्द्धमानस्य समुद्यतोऽहं फलार्थिनां नास्ति हि दुष्करेच्छा॥५॥
नापेक्षतेऽर्थापचयं न कष्टं न वृक्तभंगं भुवि नापशब्दं ॥
मूढीकृतः सन्रसिकत्ववृक्त्या किवश्च वेश्यार्पितमानसश्च ॥ ६॥
द्वीपेऽथ जंबूद्रमचारुचिन्हे श्रीभारतं क्षेत्रमपाच्यमस्ति ॥
जिनेंद्रधर्मामृतवृष्टिसेकैरसक्तमाल्हादितभव्यसस्यम् ॥ ७॥
तत्र स्वकान्त्या विजितान्यदेशो देशोऽस्ति पूर्वीपपदेन युक्तः ॥
दिवैकिसोऽपि स्पृह्यंति यत्र प्रसृतये स्वर्गकृतावताराः॥ ८॥

४-५ उत्कृष्ट द्वादशांगश्चनज्ञानाचे धारक अञ्चा गानमादि गणधरांनीं सांगितलेले श्रीमहावीर जिनाचे पुराण कोणीकडे व मंदवुद्धीचा मी कोणीकडे ? भनाममाणें तीत्र वेगाला धारण करणारा पिक्षराज गरुड समुद्राच्या दुसऱ्या किनान्याला जसा जातो तसा मोर जाड शकतो काय १ तथापि हे भगवंताचें चिरत पुण्यकर्माच्या प्राप्तीला कारण आहे म्हणून यथाशक्ति या चिरत्राचे वर्णन करण्यास भी (असग महाकावि) उद्युक्त झालों आहे. वरोवर आहे की, जो फलेच्छु आहे त्याच्या मनांत हें कार्य दुष्कर आहे, मला करतां येणार नाहीं असे वाटन नाहीं. फलप्राप्तिविषयीं तीत्र लालसा असल्या छे त्याचे भयत्न सतत चालूं होतात व तो आपणास इष्ट असें फल प्राप्त करून घेतो.

६ ज्यानें आपलें मन वेज्येला अर्पण केलें आहे असा मनुष्य आपल्या धनाचा अपन्यय होत आहे इकडे लक्ष्य देत नाहीं. कष्टांची पर्वा वालगीत नाहीं, अपकीतिं झाली तरी तिकडे ध्यान देत नाहीं, व आपल्या ब्रह्मचर्याच्या नाजाची कालजी वालगीत नाहीं. केवल तिच्या रिसक आचरणानें तो मृह वनलेला असतो. त्याप्रमाणें किव देखील रिसकस्वभावानें मृह झालेला असतो म्हणून तो अर्थाच्या हानीकडे पाहात नाहीं, छंदोभंगाकडे लक्ष्य देत नाहीं. अपशब्दांची पर्वा ठेवीत नाहीं व कान्यरचना करीत असतांना होणाच्या बुद्धीच्या कलेशाकडे पाहात नाहीं. यास्तव न्यभिचारी मनुष्य व किव वरोवरीचे आहेत.

भावार्थ:—चरित्रवर्णन करीत असतां छंडोभंग, अपगन्ड, योग्य विषय वर्णन न करणें या गोष्टी घडनील त्यावदल रसिकांनीं क्षमा करावी, तिकडे ध्यान देऊं नये, असा अभिप्राय कवीनें न्यक्त केला आहे.

## कथाप्रारंभ

७ जंबृहक्षाच्या सुंदर चिन्हानें चिन्हित झाळेल्या या जंबृहीपाच्या टाक्षण भागांत वैभवपूर्ण असें भारत नांवाचें क्षेत्र आहे. या क्षेत्रांत जिनधर्मरूपी अमृताच्या हृष्टीनें भव्यजीवरूपी धान्य नेहमी प्रफुद्धिन झाळें आहे. जमें शेनात पाऊस पडण्यानें धान्यें टवटवीत दिस् लागतात. तसें या भारत क्षेत्रांत जिनधर्मरूपी अमृताच्या हृष्टीनें भव्य जीवरूपी धान्यास फार आनंद होतो.

८ या भारत क्षेत्रांत आपल्या सौंदर्यानें इतर देशांना ज्यानें जिक्तिं आहे असा ' पूर्व देश ' नांवाचा देश आहे. या देशांत जन्म वेण्यासाटी देव देखील स्वर्गीहृत खालीं येण्याची इच्छा करितात. रत्नाकरेर्यःसमत्तीतसंख्येरलंकतो दान्तवनैश्च रम्यैः॥ अकृष्टपच्यान्यनवग्रहाणि क्षेत्रेश्च सस्यानि सदा वहाद्धः॥९॥ पुंड्रेक्षुवाटैर्निचितोपशल्याः कुल्याजलैः पूरितशालिवपाः॥ तांबुलवर्छोपरिणद्धपूगद्रमान्विताद्यानैवनश्च रम्याः॥ १०॥ अध्यासिता गोधनभृतिमाद्भः कुटुंबिभिः कुंभसहस्रधान्यैः॥ श्रामाः समग्रः निगमाश्च यत्र स्वनाथचिंतामणयो विभान्ति ॥११॥

जलोध्दृता बुध्यत कच्छिकानां तुलाघटीयंत्रविकीर्णक्लाः॥ वहंति यत्रामृतसारसाम्यं नीलोत्पलैर्वासितमंबु नद्यः ॥ १२॥ सरोभिरुन्मीलितपद्मनेत्रैर्निरीक्ष्यमाणः कृपयाध्वाखिनः॥ आहूयते पातुमिवां यस्मिन्हंसस्वनैः पांथगणस्तृषार्त्तः ॥१३॥ तत्रास्ति पुण्यात्मकृताधिवासा पुरी सुराणां नगरीव रम्या ॥ श्वेतातपत्राकृतिनामधेया श्वेतातपत्रस्य सदा निवासा ॥१४॥ अभ्रंकपान्तर्गतनीलरिमस्वर्भानुसंमर्दनरांकयैव ॥

ॐकरैःसहस्रैःसहितोऽपि यस्याः प्राकारमारोहित नैव भानुः॥१५॥

९ जो पूर्वदेश रत्नांच्या असंख्यात खाणींनी व जेथे पुष्कळ हत्ती आहेत अशा रमणीय वनांनीं शोभत आहे. न नांगरतां जेथे धान्य पिकते व पाऊस कमी झाला असतांही ज्यांत पुष्कळ धान्य उत्पन्ना होतें अशा शेतांनी या देशाला नेहमीं शोभा पाप्त झाली आहे. १०-११ या देशांतील गांवाच्या सीमेवर पुष्कळ मळे आहेत व पाटाच्या पाण्यांनी साळींची शेंतें नेहमी भरलेली असतात. या गांवांतील बगीचे ज्यांच्यावर नागवेली चढलेल्या आहेत अगा सुपारीच्या झाडांनीं युक्त असल्यामुळें गांवांना त्यामुळें फारच शोभा आली आहे. ११ या पूर्व देशांतील सर्व शहरें व गांवें या देशाच्या राजाला चिंतामणि रत्नाप्रमाणें इष्ट पदार्थीची प्राप्ति करून देतात. शहरांत व गांवांत गहणारे लोक गाई, धन, व इनर ऐश्वर्य यांनीं संपन्न असून त्यांच्या घरी हजारी कुंभप्रमाण धान्य नेहमीं जिल्लक

**%तत्रास्ति राजनगरी जगित प्रसिद्धा यत्सार्छ्नारुमणिद्योवितिरुद्धमार्ग ।।** 

राहु भ्रमेण विवशस्तराणि:सहस्रै पार्टे युंतो ऽपि न हि लघयिन स्म साल ॥११॥ इनि चीय-घरचपुकाव्ये प्रथमस्व ॥ समानार्थकरहोकः ॥

राहात असे. १२ या देशांतील नद्या निल्या कमलांच्या सुगंधानें सुगंधित झालेंल व अमृताच्या साराप्रमाणें अतिशय मधुर असें पाणी नेहमी धारण करीत असत. १३ या देशांत मार्गश्रमान खिन्न झालेला, तहानेनें पीडिलेला, असा वाटसरांचा समुदाय आपल्या कमलक्षी नेत्रांनी पाहून सरोवरे हंसपक्षांच्या ज्ञांनीं त्यांना दर्यार्द्र होऊन जणू पाणी पिण्यास बोलाबीत आहेत. १४ या देशांत देवांच्या नगरीप्रमाणें सुंदर, पुण्यवान लोकांनी यज्ञवजलेली, राजांचे निवासर्थान असलेली अशी श्वेतातपत्रा नांवाची राजधानी आहे. १५ मेबापर्यंत उंच गेलेल्या तटाला असलेल्या नीलमण्याच्या किरणांना जणु राहु समजून तो आपले मईन करील या भीतीने सूर्य हजारों करांनी-हातांनीं अधीत किरणांनी युक्त अमृनही या नगरीच्या तटावर चढत नाही.

आवार्धः —या नगराचा तट फारच उंच होता.

आभाति वाताहतवृर्णमाना क्रांतांवरा कादलपत्रनीला।।
यदंबुखातस्य तरंगपिकः संचारिकाचाद्रिपरंपरेव॥ १६॥
विराजिता द्वारघनप्रवेशिविनिर्ममायासितलोकलक्षः॥
या गोपुरैरुच्छितक्र्टकोटिक्षणध्वजीभृतिसताभ्रमंगैः॥ १७॥
अधिष्ठता कोटिसहस्ररुनेः श्रुतान्वितः श्रावकधर्मसक्तेः
विमुक्तमायेरमदैरुदारेः स्वदारसंतोषपरैर्वणिरिभः॥ १८॥
पूजाहितानर्ध्विचित्ररुत्नपूगप्रभाजालनिममदेहा॥
इंद्रायुधेः क्लप्तपटावृतेव यत्राहमार्गे जनता विभाति॥ १९॥
संरोपितेंदीवरकर्णपूरा कुङ्यस्थनीलांशुकलापवासा॥
कूटान्तरप्रान्तविलम्बमानशुभाभमालालंलितोत्तरीया॥ २०॥
आरूढकेकित्रजवर्हकेशी विलोलहेमांवुजदामवाहुः॥
समग्रचामिकरकुंभपीनस्तनांचिता चारुगवाक्षनेत्रा॥ २१॥
ठंकृतद्वारमुखी समन्तादध्यासिताशांवुजिनीविताना॥

अलंकृतद्वारमुखी समन्तादध्यासिताशांवुजिनीविताना ॥ मिथ्यादृशामप्यभिवीक्षणेच्छां जिनालयश्रीःप्रतनोति यस्यां ॥२२॥

१६ वायृच्या आघातानें उसळ्न जिनें आकाशाचे आक्रमण केलें आहे अशी, व केळीच्या पानाप्रमाणे निळसर असलेली या गहराच्या खंदकाची तरंगपंक्ति संचार करणाऱ्या नील पर्वताच्या पंक्तिप्रमाणें शोभते.१७या शहराला अनेक वेशी आहेत. यांच्या द्वारांत प्रवेश करतांना व तेथून वाहेर पडतांना फार् गर्डी असल्यामुळें हजारो छोकांना फार अडचण भासत असे. या वेज्ञींच्या अतिज्ञय उच अशा अनेक शिखरांच्या अग्रभागावर क्षणपर्यंत पांढरे हग विश्रांति घेण्या-कारितां येऊन वसत असत तेव्हां ते पताकाप्रमाणें दिसत असत. अज्ञा वेजींनीं या शहराची शोभा वाढली होती. १८-२२ या शहरांतील जिनमंदिरें मिथ्या दृष्टि लोकांच्या देखील मनांत पाहण्याची इच्छा उत्पन्न करीत असत. त्यांचें अनुपम सौंदर्भ होतें. येथें श्रावकधमीमध्यें आसक्त, शास्त्राभ्यासी, हजारो कोटि रत्नांचे स्वामी, निष्कपटी, गर्वरहित, उदार—दानशूर, रवस्त्रीयध्येंच संतुष्ट असलेलें असे श्रीमंत च्यापारी पूजनासाठी येत असत. या जिनमंदिराच्या सज्जावर चढलेले श्रावकलोक पूजेसाठी आणिलेल्या असूल्य व नानाप्रकारच्या रत्नपुंजांच्या कांतिसमूहानें त्यांचे देह व्याप्त झाल्यामुळें इद्रेषनुष्यांनीं बनाबिलेल्या वस्त्रांनीं वेष्टिल्याप्रमाणें शोभतातः पारावत—अर्थात् राबुतरें व निळीं कमळे हींच जिचे कर्णफूल आहेत, भिंतीमध्यें वसविलेल्या नीलरत्नांचा किरणसमूहच जिचे वस्त्र आहे, शिखरांच्या अंतरालभागी लोंवणारी पांढव्या मेघांची पांक्तिच जिचें पांघरण्याचें सुंदर बस्न आहे, वर वसलेल्या मोरांचे पंख हेन जिचे केन् आहेत, हलणाऱ्या सुवर्णकमलांच्या माला ह्याच जिचे वाहु आहेत, जी पूर्ण सुवर्णकुंभरूपे। कार्टन स्तनांनी शोधत आहे, सुंदर खिडक्या ह्याच जिच रमणीय नेत्र आहेत, तोरणानें अलंकृत झालेला दरवाजा हाच जिचे मुख आहे अशी ही जिनालयांची शोभा एखाद्या सुंदर स्त्रीप्रमाणें शोभते. या जिनमंदिरांच्या दरच्या भागांत सर्व बाजूनें चांदवा लावलेला असून त्यांत कमलांच्या वेलीची वेलवुटी काढलेली आहे. असें अप्रतिम सौंदर्य यांचे असल्यामुळे मिध्यात्वी लाकही यांची शोभा पाइण्यास येत असत.

यत्सौधकुड्येषु विलंबमानानितस्ततो नीलमहामयृखान् ॥
श्रहीतुमायाान्ति मुहुर्भयूर्यः कृष्णोरमास्वादनलोलचित्ताः ॥२३॥
विनिर्मलस्फाटिकरत्नभूमौ संक्रान्तनारीवदनानियत्र ॥
अभ्येति मृंगः कमलाभिलाषी आन्तात्मनो नास्त्यथवा विवेकः २४
× यस्यां गृहालिंदकभागभाजां हिरन्मणीनां किरणप्ररोहैः ॥

<sup>×</sup> यस्यामनर्ध्वनृषमदिरदेहलीपु, गारुत्मतस्यगणा बहु बिचता. प्राक् ।। दृष्ट्यापि कोमलतृणानि न संचरन्ति लीमंदहासबवन्यानि चरन्ति नानि ॥ १७॥ इति जीवधरचपृकाद्ये प्रथमन्ते ॥

प्राग्वंचिता वालम्गाश्वरन्ति तच्छंक्यानात्रगतां च दूर्वा २५ अयोलसत्कुंडलपद्मरागच्छायावतंसारुणिताननेंदुः ॥ प्रसाद्यते किं कुपितेति कांता प्रियेण कामाकुलितो हि मृदः।२६।

यत्रांबराच्छस्फाटिकाशमवेशमप्रोत्तंगशृंगारिशंतचारुरामाः ।
 नभोगता ह्यप्सरसः किमेता इति क्षणं पश्यति पौरलोकः।२०।
 यस्यां गवाक्षांतरसंप्रवेशात्संकान्तवालातपचक्रवाला ॥
 विराजते कुंकमचार्चतेव निकेतनाभ्यंतररत्नभूमिः ॥ २८॥
 हष्ट्रा स्फुटं स्फाटिकाभित्तिभागे पुरः स्थितस्वप्रतिर्विवकानि ॥
 विपक्षशंकाकुललोलचित्ताः कुष्यंति यत्र प्रमदाः प्रियेभ्यः ॥२९॥

२३ या शहरांतील राजवाड्याच्या भिंतीवर सर्वत्न लोंवणाच्या नीलरतनां च्या किरणांना कृष्ण सर्प समजून त्यांना खाण्याविषयीं ज्यांचें चित्त उत्सुक झालें आहे अशा मयूरी (लांडोरी) त्यांना पकडण्याविषयी वारंवार येतात. २४ स्वच्छ रफटिकरत्नांच्या जिमनीत ख्लियांची प्रतिविवित झालेलीं तोंडें पाहून हीं कमलें आहेत अशा समजुतीने ग्रंग्यांचा समुदाय त्यांच्याकडे धावत जातो. वरोवर च आहे की, ज्यांना भ्रान्ति उत्पन्न झाली आहे त्यांना विवेक कसा असू शकेल २५ जेथे घराच्या जोत्याला पांचरत्ने लिवली असल्यामुळं त्यांतून निघणाच्या किरणांक्ररांनी प्रथमतः फसिवले गेलेले हिरणांशिशु पुढें टाकलेली हरळी देखील पांचरत्नांच्या संशयाने खात नसत. २६ जेथे शोभणाच्या कुंडलांतिल पञ्चराममण्यांच्या कांतीने गुंदर व लालभडक दिसत आहे मुखचंद्र जिचा अशी खी तिच्या पतीकडून ती रागावली आहे असे समजून प्रसन्न केली जाते व वरोवरच आहे कीं कामुक पनुष्य कामाकुल बनला ह्मणजे मूर्ख होतो. २७ आकाशा प्रमाणें रवच्छ अशा स्फटिकमण्यांनी वांघलेल्या घरांच्या उंच गचीवर जमा रााहिलेल्या गुंदर

श्रियता विभाति नगरी गरीयसी धुरि यत रग्यसुटतीमुखाबु नम् ।।
 कुरुविटकु डलविभाविभावित प्रविल्लोक्य कोपामिव मन्यते जन ॥ २९ ॥
 इति जीवधरचपूकाव्ये पछलम्बे ॥

स्फुरत्तुपाराशुमरीचिनालैर्विनिन्हुता स्फाटिकसौधपक्तीः ।।
 आरुह्यनार्थ क्षणदासु यत्र नमोगता देन्य इव न्यरानन् ।। ४२ ।।
 शिशुपालवधे तृतीयसर्गे ॥

स्तिया ह्या आकाशांत अप्सराच उमा राहिल्या आहेत काय असें समजून लोकांकडून क्षणपंयत पाहिल्या जात असत २८ खिडकींतून प्रवेश करून घरांतील रतन
भूमीवर सूर्याच कोमल किरणसमूह पडत असत व जमीनींशीं त्यांचे मिश्रण
झाल्यामुळें ती रत्नभूमि त्यावेळीं केशरानें माखल्याप्रमाणें लालभडक दिसत असे.
२९ स्फटिकाच्या मितीमध्यें आपल्यापुढें आपलेंच प्रतिविंव पाहून तेथील स्त्रियांक्या मनांत आपल्या सवतीविपयीं शंका उत्पन्न होत असे तेव्हां त्या आपल्या
पतीवर रागावत असत.

भावार्थः—आपल्या प्रतिविंबाला पाहून आपली सवतच येथे एकांतस्थानीं आर्छा आहे असे ास्त्रयांना वादून त्या पतीवर क्रुद्ध होत असत. प्रासादश्रृंगाणि समेत्य मेघा यस्यां मयूरा मदयंत्यकाले ॥ तिचेत्ररत्नांशुक्लापमालासंपादिताखंडलचापखंडाः॥ ३०॥ विभांति यस्यां विशिखा जनानामितस्ततः संचरतामजस्रं॥ अन्योन्यसंघट्टविशीर्णहारमुक्ताफलैस्ताराकितैकदेशाः ॥ ३१ ॥ सृजंति रात्राविष यत्र वाष्यः स्फुरत्तटीरत्नमरीचिभाभिः॥ दिनश्रियं कोककुटुंबिनीनां वियोगशोकापनिनीषयेव ॥ ३२ ॥ चंद्रोद्ये चंद्रमणिप्रणद्वसौधात्रभूमिभ्रमनिर्गतानि ॥ आदाय तोयानि घनीकृतांगा यथार्थतां यत्र घनाः प्रयान्ति।।३३॥ यस्यां निशीथे गृहदीर्घिकाणां भ्राम्यन्ति भृंगाःकुमुदोदरेषु ॥ चंद्रांशुभिर्जर्जरितांधकारलेशा इवामोदितदिङ्मुखेषु ॥ ३४ ॥ , यस्यां गवाक्षांतरसंप्रविष्टां ज्योत्स्नां सुधाफेनसितां प्रदोषे ॥ दुग्धेच्छया स्वादयति प्रहृष्टो मार्जारपोतो मणिकुट्टमेषु ॥ ३५ ॥ सर्वर्तवोऽलंकृतसर्ववृक्षाः सदाधितिष्ठंति वनानि यस्यां ॥ लतागृहान्तर्गतदंपतीनां विलाससौंदर्यदिदृक्षयेव ॥ ३६॥ अथेश्वरो विश्वजनीनवृत्तिस्तस्याः पुरोऽभूत्पुरुहृतभूतिः॥ प्रामंदिराब्दान्वितवर्धनाख्यो विख्यातवंशो रिप्रवंशदावः ॥ ३७॥

तेथील राजवाडचांच्या शिखरावर मेघ येऊन पावसाला नसतांही मोरांना जन्मत्त करितात. व तेथें वसविलेल्या नाना प्रकारांच्या रत्नांच्या किरणसमूहांनी त्या मेघामध्यें पुष्कल इंद्रधनुष्यें तत्पन्न होतात. तारपर्यः —इंद्रधनुष्यासहित मेघ दिसल्यामुळें मोर उन्मत्त वनून नृत्य करीत असत.

३१ या शहरांत रस्त्यांतुन छोक नेहमीं फिरत असतांना एकमेकांच्या धक्तयाने त्यांच्या गळ्यांतील हार तुटून मोत्यें रस्यावर विखरत असत त्यावेळीं ते रस्ते ज्यामध्यें नक्षतें उगवळीं आहेत आशा आकाशाच्या भागाप्रमाणे शोभत असत. ३२ चक्रवाकींच्या विरहापासून उत्पन्न झालेला शोक नाहींसा करण्याच्या इच्छेने जणु काय येथील विहिरी रात्रीं देखिल तटाला लावलेल्या रत्नांच्या चमकणाऱ्या किरणसमूहांनीं दिवसांची शोभा उत्पन्न करितात. चक्रवाकपक्षाचें जोडपें रात्रीं वियुक्त होत असतें परंतु विहिरींच्या तटाला लावलेल्या रत्नांच्या प्रकाशानें रात्रीं देखील त्या जोडप्याला दिवसाचा भास झाल्यामुळें तें येथें कधीही वियुक्त होत नसे. ३३ चंद्राचा उदय झाला असतां चद्रकांतमण्यांनीं वांधलेल्या वाड्यांच्या गचीपासून पाणी पाझरून पन्हाळ्यांच्या वाटें वाहेर येत असतां तें घेऊन ज्यांचें शरीर मोटें वनलें आहे असे. भेघ 'घन 'या नांवाला सार्थक करतात. घन या शब्दाचा पुष्ट असा अर्थ होतो मेघही पुष्ट असतात म्हणून त्यांचे घन हें नांव सार्थक झाले आहे. ३४ या शहरांत घरांनील विहिरीमध्यें ज्यांनी दिशांची तोडें सुगंधित केली आहेत अशा कम्लांच्या मध्यभागांतून विहार करणारे भ्रंग्यांचे समुदाय अर्ध रात्रीं चंद्राच्या किरणांनीं जर्ज़र झालेले अंधाराचे तुकडे जणु इकडे तिकडे फिरतात असें भासू लागनात.

तारपर्य—कमलावरून फिरणारे भ्रंगे अर्धरात्री फिरणाऱ्या अंधकाराच्या तुकड्या प्रमाणें लोकांना वाटत असत.

३५ रात्रींच्या प्रारंभीं चंद्राचे अमृताच्या फेसा प्रमाणें स्वच्छ असलेले किरण खिडक्यांच्या द्वारें रत्नखचित जिमनीवर पडलेले पाहून हें दृधच सांडलें आहे असे वादून मांजराचे पिलं आनंदित होऊन त्यांना चाटीत असे. ३६ सर्व द्वक्षांना सुशोभित करणारे असे सहाही ऋतु लतागृहांत क्रीडा करण्यासाठी आलेल्या दंपतीचे सौद्र्य व विलास पाहण्याच्या इच्छेनें जण्ं काय या शहरांतील वगीचांत नेहमीं निवास करीत आहेत. ३७ अशा या सुंदर शहरांत नंदिवर्धन या नांवाचा राजा राज्य करीत असे. हा प्रख्यात वंशांत उत्पन्न झाला होता व शत्रूक्षी वेळ्चे वन जालण्यास अग्निममाणे होता. याचे

इंद्राप्रमाणें ऐश्वर्य होतें. व सर्वीचें कल्याण करण्याचा स्वभाव याच्या ठिकाणीं वास करीत असे.

प्रतापभानोरुदयाद्विरिंदुःकलाकलापस्य समग्रकांतिः॥
पुष्पोद्गमो यो विनयद्वमस्य जातिस्थितरं बिधरं बजाक्षः॥ ३८॥
यस्मिन्महात्मन्यमलस्वभावे नरेंद्रविद्या सकलाः प्रतिष्ठां॥
अवाप्य रेजुर्धनरोधमुक्तेर्दिनव्यपाये नभसीव ताराः॥ ३९॥
निस्मारात्रुनिप योऽभ्युपेतानाद्रांतरात्मा नृपितर्वभार॥
और्वानलस्य प्रविजृंभमाणान् ज्वालासमूहानिव वारिराशिः॥ ४०॥
यो वांकितानेकफलप्रस्तिं भूत्ये प्रजानां नयकल्पवृक्षं॥
प्रज्ञांबुसेकेन निनाय वृद्धिं परोपकाराय सतां हि चेष्टा॥ ४१॥
अलंकुतारोषमहीतलेन प्रोत्फुलकुंदचुतिनापि यस्य॥
तदद्भुतं रात्रुवधूमुखेन्दोर्मलीमसत्वं यरासा कृतं यत्॥ ४२॥
तस्याथ कान्तेरिधदेवतेव वेलेव लावण्यमहार्णवस्य॥
मूर्ता जयश्रीरिव पुष्पकेतोरासीत्रिया वीरवतीति नाम्ना॥ ४३॥
अविद्यलतेवाभिनवांबुवाहं चूतदुमं नृतनमंजरीव॥
स्फ्रस्त्रभेवामलपद्मरागं विभूषयामास तमायताक्षी॥ ४४॥

३८ कमलाप्रमाणें सुंदर नेजा ज्याचे आहेत असा हा नंदिवर्धन राजा पर राक्रमरूपी सूर्याला उदयपर्वताप्रमाणे होता. पूर्ण कांतियुक्त चढ़ जसा सर्व कलांनीं युक्त असतो तसे हा सुंदर राजा सर्व कलाकी शल्यांनीं युक्त होता. विनयरूपी दृक्ष पळिवित होण्यास वसंत ऋतुप्रमाणें होता. समुद्र जसा मर्यादेनें राहतो तसा हा रवतः मर्यादा पाळ्न प्रजेला मर्यादेचें उल्लंघन करू देत नसे. ३९ दिवस मावलला असतां व मेघांचें आवरणही नसतां स्वच्छ आकाशांत नक्षजें। जशीं चमकतात तसे निमेल स्वभावी व महात्मा अशा या राजाच्या ठिकाणी सर्व राजविद्यांना

तस्य सत्यंघरस्यासीत्कान्ता कान्त्यघिदेवता ॥

वेला लावण्यपाथोधिर्विश्चता विजयाख्यया ॥ २६ ॥

सौदामिनीव जलद नवमजरीव च्तद्रम कुमुमसपदिवाद्यमास ॥

जयोत्स्नेव चंद्रमृसमच्छिविभेव सूर्य त भूमिपालकमभूषयदायताक्षी ॥ २७ ॥

जीवधरचंपूकाव्ये प्रथमल्यं ॥

राहावयास स्थान मिळाल्यासुळें त्या फार शोसू लागल्या. ४० पाण्याच्या विषुल संग्रहासुळें शीतल व ओला असलेला असा समुद्र जसें वडवा अग्नीच्या ज्वाला समूहांस आपल्या पोटांत राहावयास स्थान देतो तसें हा दयाई राजा स्वभावतः वैर धारण करणाच्या गजांचें ते शरण आल्यासुळें रक्षण करितो. अर्थात् त्यांचें राज्य त्यांना परत देऊन त्यांच्यावर दया करितो. ४१ प्रजेला तिच्या अनेक इच्छित फलांची उत्पत्ति व्हावी म्हणून व तिचें ऐश्वर्य वाढावें म्हणून आपलें बुद्धिक्पी पाणी नीतिक्पी कल्पटक्षाला घालून ह्या राजानें त्याला पुष्कल वाढिवलें. वरोवरच आहे कीं, सत्पुरुषांची सर्व कृत्यें लोककल्याणासाठीच असतात.

भावार्थ:—या राजापासून प्रजेला सुख मिळून तिची संपत्ती वाढली. ४२ या राजाच्या कीर्तीची कान्ति विकसित झालेल्या कुंदपुष्पाप्रमाणे होती व तिनें या पृथ्वीमंडलाला फार सुशोभित केलें होतें. तथापि तिनें शत्रूंच्या स्त्रियां-च्या मुखचंद्राला मळकट करून सोडलें हें मात्र आश्रयीला उत्पन्न करणारें होते.

४३-४४ या नंदिवर्धन राजाच्या पत्नीचे नांव वीरवती असे होतें. ही राणी कांतीची जणु मुख्य देवता होतीं लावण्यरूपी समुद्राची जणु सीमा होती व काम देवाची जणु मूर्तिमंत विजयलक्ष्मी होतीं जसें विजेनें नवीन मेघाला शोभा येते, आम्रमंजरीनें [ मोहोरोने ] जसा आम्रद्रक्ष सुंदर दिसतों, पसरणारी कांति जशी पद्मरागमण्याच्या सौदर्यीत भर टाकते, तसें जिचे डोले विशाल आहेत अशा या राणीनें राजाला रवतःच्या योगानें अधिक शोभा आणिली होतीं.

तौ दंपती सर्वगुणाधिवासावन्योन्ययोग्यौ विधिवन्नियोज्य ॥ विदेण नूनं विधिनापि दृष्टं सृष्टं फलं तत्रथमं कथंचित् ॥ ४५ ॥ प्रबुद्धपद्माकरसेव्यपादं जगत्प्रवीणं क्षितिपः स तस्यां ॥ उत्पादयामास सृतं यथार्कं प्राच्यां प्रतापानुगतं प्रभातः ॥ ४६ ॥ तज्जन्मकाले विमलं नभोऽभूदिग्भिः समं भूरिप सानुरागा ॥ स्वयं विमुक्तानि च बंधनानि मंदं ववौ गंधवहः सुगंधिः ॥ ४७ ॥ जिनंद्रपूजां महतीं विधाय चक्रे नरेंद्रो दशमेऽन्हि स्नोः ॥ सर्वप्रजामानसनंदनत्वादर्थानुगां नंदन इत्यभिष्याम् ॥ ४८ ॥ बाल्येऽपि योऽभ्यस्तसमस्तविद्यो ज्याघातरेखांकितसत्प्रकोष्टः ॥ वैधव्यदीक्षां रिपुसुंदर्शणां प्रदातुमाचार्यपदं प्रपेदे ॥ ४९ ॥

पण्यांगनाजनकटाक्षरारैकलक्ष्यं ॥ कामस्य जीवनरसायनमप्यमूर्तेः॥ उद्दामरागरससागरसार्रतं ॥ लीलानिर्धि तमथ यौवनमाससाद ॥५०॥ उद्भिद्यमाननवयौवनलव्धरंध—॥ मप्यन्यभूमिपतिभिविजितं न जातु॥ एकोप्यनेकाविधचोष्टितमप्यलक्ष्य-॥

मंतःस्थितं रिपुबलं स जिगायधीरः ॥५१॥

४५ हे ढोघे पतिपत्नी सर्व सद्धणांचे माहेरघर होते व एकमेकांना अनुरूप होते. अर्थात् पति पत्नीला साजेसा होता च पत्नीही पतीला साजेशी होती. दोघांची योजना विधिपूर्वक ब्रह्मदेवानेंही परस्पराशीं करून देऊन निश्चयाने कांहीं दिवसांनीं आपल्या या मृष्टीचे पिहलें फळ कसे तरी त्यानें पाहिलें.

भावार्थः—वीरमती राणीला कांहीं दिवसांनीं गर्भ राहून पहिला मुलगा झाला.

४६ प्रतापाने अनुसरलेख्या, ज्गाला जागृत करणाऱ्या, विकसित झालेख्या कमल-समूहाकडून ज्याचे किरण सेविले जातात अशा सूर्याला प्रातःकाल जसा पूर्व दिशेषध्यें उत्पन्न करितो तसें आनंदित झालेली लक्ष्मी आपल्या हातांनीं ज्याचे पाय चुरीत आहे अज्ञा जगत्प्रकाञ्चक व पराक्रमयुक्त पुत्राला या नंदिवर्धन राजाने आपल्या दीर-वती राणीमध्यें उत्पन्न केलें. ४७ जेव्हां राजाला मुलगा झाला तेव्हां आकाश स्वच्छ झाले, सर्व दिशासह पृथ्वी प्रेमयुक्त झाली-प्रसन्न -रमणीय दिसूं ला-गली. कैद्यांच्या बेड्या आपोआप गळ्न पहल्या व सुगंध वायु मंद पंदे वाहूं लागला. ४८ राजानें दहान्या दिवशीं जिनश्वराची फार मोठी पूजा केली व मुलगा सर्व प्रजांच्या अंतः करणाला आनंदित करणारा असल्यामुळे त्याचें 'नंदन' असें सार्थक नांव ठेविलें. ४९ या राजपुत्राने वाल्यावस्थेतच सर्व विद्यांचें अध्य यन केलें. याचे दृढ मणगट धनुष्याच्या दोरीचा वारंवार आघात झाल्यामुळें घ-ट्यानें युक्त झाले होतें. अर्थात धनुर्विद्येत यानें असाधारण पावीण्य मिलविलें होतें. रात्रूंच्या स्त्रियांनां वैधव्यदीक्षा देण्यासाठीं याने आचार्य पटवी पाप्त करून घेतली होती अर्थात् हजारों शत्रूंना यानें युद्धांत परलोकीं पाटविलें होतें. ५० शरीररहित अशाही मदनाला जीवनदान देण्यास रसायनासारखें असलेलें, वे-श्यांच्या कटाक्षरूप बाणांचें लक्ष्यस्थान असलेलें, उद्दाम श्रृंगाररसरूपी समुद्राचे

उत्कृष्ट रत्न व लीलांचा निधि असलेलें असें तारुण्य या राजकुमाराला प्राप्त झाले. ५१ उत्पन्न होणाऱ्या नवीन तारुण्याच्या द्वारें संधि प्राप्त करून घेऊन ज्यांनी मनांत प्रवेश केला आहे. ज्यांना अन्य राजे जिंकण्यास कथींही समर्थ झाले नाहींत, जे नानाविध अकार्ये करावयास लावितात अला काम, क्रोध. मद, हर्ष व मान या वाहेर न दिसणाऱ्या सहा शत्रृंना निर्विकार मनाच्या राजपुताने एकट्याने जिंकिले होते. कामादिक विकारांनी मोठमोट्याचे फार कल्याण केलें आहे. वाह्य जत्रूंना जिंकण फार सोपें आहे. परंतु हे अंतरंग जत्रु अद्दर्य असून फार वलवान आहेत. यांनी सर्व जगाला वश केलें आहे. अशा या शत्रूंना या नंदन राजपुत्राने जिंकलें होतें. अन्येद्यरात्मसमवार्द्धेतराजपुत्रै ॥ रन्यैश्च मूलतनयैःसहितो जगाम॥ स कीडितुं पितुरवाप्य परामनुज्ञां ॥ क्रीडावनं क्रतकभूधरराजितान्तं ॥ ५२ ॥ झंकारितेऽलिविरुतैर्मलयानिलेन॥ प्रेंखालिते कुसुमसौरभवासितान्ते ॥ तस्मिन्वने सर्सचारुपले विहत्य॥ संतुप्तमिंद्रियगणेन च तस्य तेषां ॥ ५३ ॥ तस्मिन्नशोकतरुचारुतले विकुंथा–॥ वासीनमुच्चविम्लस्फाटकास्मपट्टे॥ पुंजीकृतात्मयश्रसीव मुनिं जिताक्ष-॥ मैक्षिष्ट शिष्टचरितं श्रुतसागराख्यं ॥ ५४॥ प्रागेव तं प्रमुदितः प्रणतोत्तमांग ॥ व्यालिंगितक्षितितलः प्रणनाम दूरात्

> पश्चात्समेत्य निजहस्तसरोरुहाभ्याम् ॥ अभ्यर्च्य तस्य चरणावभवत्कृतार्थः ॥ ५५ ॥ संविद्य तं मुनिपतिं मुकुटीकृताग्र–॥ हस्तांबुजो विदितसंसृतिफल्गुभावः॥

उलंघ्य भीमभवसागरमीश ! जीवः ॥
सिद्धिं कथं वजित तत्कथयेत्यपृच्छत् ॥ ५६॥
पृष्टः स तेन मुनिरेवमुवाच वाचं ॥
यावन्ममायमिति चैष वृथा प्रयासः ॥
तावत्कृतान्तमुखमस्य हि तद्व्यपाया—॥
दात्मात्मभावमधिगम्य स याति सिद्धिम् ॥५०॥
तस्माद्धिनिर्गतमसौ मुनिनूतनार्का— ॥
ज्ज्योतिः परं सकलवस्तुगतावभासं ॥
मिथ्यांधकारपरिभेदि समेत्य तत्त्वं ॥
पद्माकरः स्वसमये सहसा व्यबुद्ध ॥ ५८॥

५२ एके दिवशीं हा नंदन राजपुत्र आपल्या वरोवर वाढलेल्या इतर राज-पुत्रांना व मधान वॅगरेच्या पुत्रांना वरोवर घेऊन पित्याच्या आज्ञेनें ज्याचा प्रदेश कुतिमपर्वतानें शोभत आहे अशा वगीचांत क्रीडा करण्यासाठीं गेला. ५३ वगी-चामध्ये भुंगे गुंजारव करीत होते. मलय पर्वताकडून वाहात येत असलेल्या वा-च्यानें झाडें इलत होतीं. फुलांच्या सुवासानें तो सर्व उद्यानप्रदेश भरून गेला होता. झाडें सरस व सुंदर फळांनीं लकडलेलीं होती अशा या वगीचांत विहार करण्यानें त्या राजपुत्राची व त्याच्या मित्रांचीं इंद्रियें तृप्त झालीं. ५४ वर्गाचांत अशोक द्वक्षाच्या खालीं निर्जन्तुक अशा निर्मल स्फटिकाच्या शिलेवर जणु काय स्वतःच्या निर्मल यशःशुंजावर श्रुतसागर नांवाचे निरातिचार चारित्राचे धारक जितंद्रिय मुनि वसले होते. ते राजपुत्राच्या दृष्टीस पडले. ५५ दृष्टीस पड-ल्यावरोवर दुरूनच नम्र झालेल्या मस्तकानें ज्यानें भूमीस स्पर्श केला आहे अशा या राजपुत्रानें आनंदित होऊन वंदन केलें. व नंतर जवल येऊन आपल्या दोन हस्तकमलांनीं त्यानें त्यांचें पूजन करून स्वतःस कृतार्थ मानिलें अर्थात् मुनिपूजन करण्यापासून त्याला फार आनंद वाटू लागला. ५६ ज्याला संसारा-च्या निःसारपणाचें ज्ञान झालें आहे, ज्यानें आपले दोन हात कमलाच्या कली-सारखे केले आहेत अशा त्या नंदन राजपुतानें मुनीश्वराच्या जवल वसून हे मुनिराज! भयंकर संसारसमुद्राचें उछंघन करून हा जीव कोणत्या उपायांनें मो-क्षास जातो असा प्रश्न विचारला. ५७ याप्रमाणें विचारल्यावर मुनिराज म्हणाले

हे राजपुत्रा! जोपर्यंत पुत्र, मित्र, वायको वगैरे पढार्थ माझे आहेत असा न्यर्थ आग्रह जीव धारण कारितो तोंपर्यंत याची मृत्युमुखांतृन सुटका होत नाहीं. अर्थात् तोंपर्यंतच याचे संसारांत परिभ्रमण होतें. व जेन्हां त्याची ही ममत्वबुद्धि नाहीं शी होते तेन्हां त्याच्या स्वस्वरूपाचा त्याला लाभ होऊन मोक्षप्राप्ति होते. ५८ न्या प्रमाणें अंधःकाराचा नाश करणारं, सर्व वस्तृंना प्रकाणित करणारे अज्ञा वाल सूर्याच्या किरणांचा लाभ होऊन कमलसमृह प्रफुलित होतो त्याप्रमाणें विध्या-श्रद्धान रूपी अंधाराचा नाश करणारे, सगळ्या जीवादिक वस्तृंचे स्वरूप स्पष्ट टाखऊन देणारे असे मुनिसूर्यापासून निघालेले तत्वज्ञानरूपी अपूर्व किरणप्राप्त करून येऊन ह राजपुत्ररूपी कमल योग्यवेळी प्रबुद्ध-विकासित झाले अर्थात् राजपुत्राला आत्म- जान झालें.

आरोपितत्रतगणाभरणाभिरामो ॥ भक्त्या सुनिं चिरसुपास्य नरेंद्रपुत्रः॥ उत्थाय सादरमुपेत्य ऋतप्रणामो ॥ गेहं ययौ मुनिगुणानगणयनगुणज्ञः ॥५९॥ लमे गुरौ गुभिदने वसुवृष्टिपूर्वे सामंतमंत्रितलवर्गगणेन सार्द्ध ॥ ऋत्वाभिषेकमतुलं परया विभूत्या तस्मै दिदेश युवराजपदं नरेंद्रः॥६०। आगर्भवासदिवसात्प्रशृति स्वसेवा-॥ संसक्तराजसुतकार्पटिकस्वमौलान्॥ आत्मातिरिक्तविभवानकरोत्क्रमारः॥ क्वेशो हि कल्पतरुरेव सति प्रयुक्तः ॥६१॥ एकोप्यनेकविधरत्नकरान्गृहीत्वा ॥ राजात्मजः स विषयान्शितिपालदत्तान्॥ रेजे भवव्यसनसंतातिबीजहेत्न-॥ नन्यानसाध्वविषयान्विषयान्विहाय ॥६२॥ विश्राणितं अवि न केनचिदात्मनस्तत्॥ यन्नास्ति वस्तु सकलार्थिजनस्य तेन॥

मन्ये महाद्रुतिमिदं यदिवद्यमानं ॥
स्वस्याप्यदायि तदनेन भयं रिपुभ्यः ॥६३॥
सौंदर्ययोवननवोदयराजलक्ष्म्यः॥
प्राप्यापि निर्मलमितं मदहेतवोऽपि ॥
शेक्कनं तं मदियतुं क्षणमप्युदारं॥
शुद्धात्मनां न तु विकारकरं हि किंचित॥६४॥
अभ्यर्चयच् जिनगृहान्परया स अक्त्या।
श्रृण्वन् जिनेद्रचरितानि महामुनिभ्यः॥
चिन्वन्त्रतानि विधिवन्नयति स्म कालं॥
धर्मानुरागमतयो हि भवंति भव्याः॥ ६५॥

या गुणज राजपुत्रानें या द्वानिवर्याजवळ व्रतक्षी अलंकार धारण केले त्यासुळें तो फार मनोहर दिसूं लागला. वराच वेळ स्नानिवर्याची जपासना करून व उट्टन त्यांच्याजवळ जाऊन त्यानें पुनः नमस्कार केला व स्नान्यांच्या गुणांचा मनांत विचार करीत तो आपल्या घरीं गेला. ६० राजानें ग्रुभलगीं, ग्रुभादिनीं, श्रेष्ठ पुण्यनक्षत्र असतां ग्रुभवारीं सरदार, मंत्री व इतर अधिकारी वर्ग यांच्यासह अतिश्चय थाटानें नंदनराजपुत्राचा अपूर्व अभिषेक करून त्याला युवराज पदवी दिली. ६१ गर्भात आलेल्या दिवसापासून जे या राजपुत्राची सेवा करीत होते अशा राजपुत्रांना, खुषमस्कर्यांना व इतर सुख्य अधिकाच्यांना या राजपुत्रानें स्वतः पेक्षां अधिक वैभवशाली केलें. वरोवरच आहे कीं, सज्जनाविषयीं दुःख सहन करण्याचा मसंग आला तर तो कल्पद्यक्षासारखा विषुल सुखालाच देणारा होतां. ६२ संसारदुःखांच्या परंपरेला कारण असलेल्या व दुर्जन ज्यांचें सेवन करितात अशा परखी वगैरे अन्य भीग्य पदार्थांचा त्याग करून या सुवराजानें इतर राजांनीं अर्पण केलेल्या अनेक भोग्य विषयांचा व खंडणीच्या स्वरूपानें दिलेल्या रत्नांचा स्वीकार केला त्यासुळें तो फार शोशूलागला. ६३ या भूतलावर जी वस्तु आपल्याजवळ नसते ती वस्तु याचकवर्गाना आजपर्यंत कोणी दिली नाहीं य कोणाला देतां आली नाहीं. परंतु मला हे फार आश्चर्यकारक- वाटतें कीं, या युवराजानें स्वतः जवळ नसलेली भीति नांवाची वरतु शबुवर्गाला देऊन टाकली.

भावार्थ-आजपर्यंत जितके टानश्र्र लोक झाले त्यांनी आपल्याजवल असलेली वस्तूच फक्त देऊन टाकली. कारण नसलेल्या वस्तूंचे दान देणें संभवत वर्दं॰ वरि॰ ३ नसतें. परंतु उपर्युक्त प्रकारानें नसलेल्या वस्तूंचें कसें ढान संभवतें हें कविवर्यानें चातुर्याने दाखिवले आहे. युवराजापासून त्याच्या शत्रूना फार भीति वाटत असे हा अभिप्राय या श्लोकांत सांगितला आहे.

६४ गर्व वाहिविण्यास कारण असलेलें सौंदर्य, तारुण्य, नवीन प्राप्त झालेली उन्नातावस्था व राज्यलक्ष्मी हे पद्धि युवराजाजवल मुवलक असूनही ते त्या महात्म्याला मदोन्मत्त करण्यास समर्थ झाले नाहीत. वरोवर आहे की, ज्यांचा अण्ता रागद्वेपादि विकारांनी रहित असतो त्यांना वाह्य मोहक वस्तु विकार उत्पन्न करूं जकत नाहीं. ६५ हा युवराज उत्कृष्ट भक्तीनें जिनमंदिरांची पूजा करीत असे. महामुनी-पामून तीर्थकरांची चरित्रें अवण करीत असे. अनेक व्रतांचें योग्य विधीनें आचरण करीत असे. याप्रमाणें तो काल व्यतीत करीत असे. वरोवरच आहे की भव्य—धार्मिक लोकांची चुद्धि धर्मावर प्रेम करणारीच असते.

ऊढवान्स परिवृढो महात्मनां न रागतः पितुरुपरोधतो वशी।। निजिश्रिया विजितसुरांगनाकृतिं त्रियंक्ररां मनसिशयेकवागुरां।६६। व्रतानि सम्यक्त्वपुरःसराणि पत्युःत्रसादात्समवाप्य सापि॥ धर्मामृतं भूरि पपौ त्रियाणां सदानुक्रुला हि भवंति नार्यः॥ ६७॥

परा संपत्कांतेविनयजलराशोविधकला॥

वयस्या लज्जाया जयकदलिका पुष्पधनुषः॥ नतांगी तं वश्यं पतिमकृत सा साधनरिता॥ न किं वा संधत्ते भुवि गुणगणानामुपन्यः॥६८॥

\* इत्यसगर्भविकृतौ श्रीवर्द्धमानचिति महाकाच्ये नंदनसंभवो नाम प्रथमः स्मः। \*
६६ सत्पुरुषांचा नायक व जितिद्रिय अशा या राजपुत्रानें पित्याच्या आग्रहानें प्रियंकरा नांवाच्या एका राजकन्येशी लग्न लाविलें. लग्न करून घेण्यांत स्वत ला
याला तिनकी उत्सकता वाटत नव्हती. या प्रियंकरा राजकन्येने आपल्या सौदर्याने
व ऐत्वर्यानें देवांगनांना जिंकिले होते. व ही कामदेवाच्या जाळ्याप्रमाणें होती.
६७ या प्रियंकरा युवराजीनेही युवराजाच्या कृपेनें सम्यक्त्वासाहित वृतं धारण
केली. व त्याच्यापास्न हिला पुष्कल धर्मामृत प्यावयास मिळ् लागलें. वरोवर आहे कीं ज्या पतिज्ञता रित्या असतात त्या नहमी पतिशीं अनुकृत्ल असतान. ६८ ही
प्रियंकरा क्रांतिचा उत्कृष्ट खिना होती. धिनयहपी समुद्राला भरती आणण्याम

चंद्राच्या कलेश्माणे होती. ही रुजेची सखी व मदनाची जयपनाका होती. पनि

व्रतेच्या आचारानें युक्त अशा या नतांगीनें युवराजाला वश केंले. वरोवरच आहे कीं गुणसमूहांची उन्नति कोणतें कार्य करूं शकत नाहीं.

तारपर्यः—ज्याच्या ठिकाणीं सर्व सहुण माप्त झाले आहेत त्याला सर्व वश होतात. प्रियंकरेला युवराज वश झाला कारण तिन्या ठिकाणी तसेंच उत्तम सहुण होते.

या प्रमाणें श्री असगकाविकृत वर्धमानचारित महाकाव्यांतील नंदन राज पुत्नाच्या उत्पत्तीचे वर्णन करणारा पाहेला सर्ग समाप्त झाला. ॥ १॥



## हितीयः सर्गः।

अथात्मजे विश्वगुणैकभाजने नरेश्वरो राज्यधुरां निधाय सः॥ तुतोप निर्श्चिततया पियासखः पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः ॥१॥ कदांचिदुसुंगसृगेंद्रविष्टरे निविष्टमालोक्य तमीश्वरं विशां ॥ ननंद लोकः सकलः सराजकः सुखाय केपां न निरीक्षणं प्रभोः।श असक्तमिच्छाधिकदानसंपदा मनोरथानर्थिजनस्य पूरयन्॥ अवाप साम्यं सुमनोभिरन्वितो महीपातिर्जंगमकल्पभूरुहः ॥ ३॥ संतां प्रियः कांचनकूटकोटिषु ज्वलज्जपालोहितरत्नरिमिसः॥ जिनालयान्पल्लवितांवरद्रमानकारयद्धर्मधना हि साधवः ॥ ४ ॥ कपोलमूलस्रुतदानलोलुपदिरेफमालासितवर्णचामरैः॥ स पित्रिये प्रायृतमत्तदांति थिः प्रिया न केपां भवि यूरिदानिनः॥५॥ करान्गृहीत्वा परचक्रभूभृताममात्यमुख्यान्समुपागतान्स्वयं॥ अनामयप्रश्नपुरःसरं विभुः स संवभाषे प्रभवो हि वत्सलाः ॥ ६॥ × चतुःपयोराशिपयोधरिश्रयं नियम्य रक्षायतरिमना घनं ॥ उपस्तुतां सन्नयवत्सलालनैर्दुदोह गां रत्नपयांसि गोपकः ॥ ७॥

१ यानंतर संपूर्ण सहणांना अद्वितीय आश्रय असलेल्या आपल्या नंडन नांवाच्या ग्रुलावर नदिवर्धन राजा सर्व राज्यभार टाक्र्न आपण निर्श्वित होऊन आपल्या पत्नीसिहत—वीरवर्ती राणीसिहत आनंदानें राहू लागला, वरोवरच आहे की, जो सुपुत्र असतो तो नेहमीं आपल्या फित्याला अनुक्लच असतो, अर्थात् आपल्या अनुक्लल आचरणानें वापाच्या अंतःकरणाला आनंदित करीत असतो, २ कोणे एके वेलीं नंदिर्वधन राजाला उंच अशा सिंहासनावर वसलेला पाहून इतर राजगणासह सर्व मजाजनांना फार आनंद झाला, वरोवरच आहे की, आपल्या राजाचें दर्जन कोणाला सुखदायक होत नाहीं दरें १ ३ नेहमी याचक जनांना त्यांच्या उच्लेण्कां अधिक संपत्ति देऊन त्यांच्या मनोरथांना तृप्तकरणारा हा नंदिर्वधन राजा देवासारखे असलेल्या विद्वानांनीं वेष्टित होऊन चालत्या योलत्या कल्पहक्षाच्या तृल्वनला पावला.

<sup>×</sup> प्रयोवरीनृतचतु ममुद्रा जुगोप गोर्प अगमिवोर्धाम ॥

भावर्थ:—कल्पदृक्ष देवांनीं विष्टित असतो तसा हा राजा नेहिंगीं वि-द्वानांनीं वेढलेला होता. कल्पदृक्ष इन्छिलेला पदार्थच देतो पण हा राजा इन्छेपेक्षांही अधिक दान देत असे. कल्पदृक्ष रथावर असतो व हा जंगम होता एवढेंच यामध्यें अंतर होतें.

४ सत्पुरुपांना मिय असलेल्या या राजानें अनेक जिनमंदिरें बांधाविलीं होतीं. त्यांचीं शिखेंर सोन्यानें वनविळेळीं असून त्यांत जास्वंदीच्या फुळाप्रमाणें लाल व चमकणारी पद्मरागरत्ने वसविली होती. त्यांच्या लाल भडक किरणांनी तीं जिनमंदिरें आकाशांत लाल पानांनीं युक्त असे हे कल्पट्टक्षच आहेत काय अशीं भासत असत. हीं जिनगंदिरें निर्माण करविण्यांत राजानें फार पैसे खर्च केले होते. बरोवरच आहे कीं, धार्मिक लोक धर्मालाच धन समजतात. धनाला धन समजत नाहींत. अर्थात् धनापेक्षां त्यांना धर्मच अधिक प्रिय असतो. ५ ज्यांच्या गंडस्थ-ळाच्या मूलभागापासून मद बाहात असल्यामुळें ज्यांच्यावर भुंग्याचे थवे बसले आहेत व ज्यांच्या कानाजवळ पांढऱ्या चवऱ्या वांधलेल्या आहेत अशा नजराणा ह्मणून राजांनीं अर्पण केलेल्या हत्तींना पाहून या राजाला फार आनंद होत असे. वरोवरच आहे कीं, जे मोठे दानी आहेत ते कोणास वरें आवडत नाहींत. येथें दानी शद्धाचे दोन अर्थ आहेत. दानी ह्मणेन हत्ती. दान हमणेन पदनल तं ज्यांना आहे अर्थीत ज्यांच्या गडस्थळांतून मद वाहतो ते दानी होत. व दुसरा अर्थ दानी—दान देणारे. ६ स्वतः कर घेऊन आलेल्या परदेशी राजांच्या मुख्य मधान मंडळीस हा राजा कुशल प्रश्नपूर्वक मधुर भाषण करीत असे. त्यांना मर्म स्थळीं टोचणारें भाषण बालत नसे. बरोबरच आहे कीं, जे मोडे लोक असतात ते नेहमीं आपल्यापेक्षां छहान असलेल्यावर प्रीति करीत असतात. ७ चार समुद्र हेच जिचे स्तन आहेत, रक्षण करणें हीच कोणी लांव दोरी ृतिने जिला वांधून जिचें नियमन केलें आहे, उत्ताम, नीतिरूपी वासराच्या लालन पालनानें जिला पान्हा फुटला आहे अशा या पृथ्वीरूपी गाईपासून या राजारूपी गवळ्यानें नाना प्रकारचीं रत्नेंरूपी दूध काढिलें. या श्लोकांतील गोपक या शद्वाचे दोन अर्थ आ-हेत. गो-पृथ्वी व गाय पक-पालन करणारा अर्थात् राजा व गवली.

स पक्ष्मलाक्षं लिलतभु सस्मयं स्मिताभिरामाधरपलवं मिथः ॥
प्रियाननं नोपरराम वीक्षितुं मनोहरे वस्तुनि को न रज्यते । ८॥
इति त्रिवर्गं मितमानुपार्जयन् यथायथं प्राज्यसुखेकंसाधनं ॥
अभैकदा हर्म्यतले समुत्थिते स्थितः क्षितीशः प्रियया तया युतः॥

नसःपयोधेरिव फेनमंडलं विचित्रक्टं धवलाभ्रमेक्त ॥ १० ॥ सविस्मयं प्रयत एव तत्क्षणादद्वसम् गगने व्यलीयत॥ वपुर्वयोजीवितरूपसंपद्मिनित्यतां तस्य निद्श्यद्यथा॥ १९॥ असूत्तदाञ्चस्य विनाराविभ्रमादिरक्तिचित्तो निजराज्यसंसदि॥ क्षणार्द्धरन्या तरला बहुच्छला समस्तव्स्वास्थितिरिवेत्य सः ॥१२॥ अचितयच्चेवमनात्सवस्तुषु प्रसक्तिमभ्येत्खपयोगतृष्णया॥ दुरंतदुःखे भवखङ्गपंजरे तयैव जंतुः सततं नियम्यते॥ १३॥ इदं च पुंसां अवकोटिदुर्लभं नुजन्म जन्मांचुनिधौ निमज्जताय ॥ खुदुर्छमा देशकुलाद्यस्तया सवंति तेभ्यो घिपणा हितैपिणी ॥१४॥ ८ राणीचे डोळे ढाट पायण्यांनीं युक्त होते. व युवया खंढर होत्या डोळे कटाक्ष-युक्त असल्यामुळें तिची मनांतील कामाकुलता व्यक्त होत होती. मंद हंसण्याने कोवळ्या पानाममाणे छाल असे तिचे ओठ मोठे मनोहर दिसत होते. या सर्व सामग्रीने युक्त असलेलें राणीचें तोंड एकांत ठिकाणी वारंवार पाहून देखील राजाची तृप्ति होत नसे. वरोवरच आहे कीं, चित्राकर्षक वर्तूमध्यें कोण वरें आसक्त होत नाही. ९ सांसारिक उत्तम सुर्काचें साधन अगा धर्म, अर्थ व काम या तीन पुरुपार्थाची यथायोग्य प्राप्ति करून येऊन या बुद्धिमान व सत्पुरुपा-विषयी मनांत मत्सरभाव न धरणाऱ्या राजानें पुष्कळ वर्षे आनंदांत घालविलीं. १० एके दिवशीं फार उंच अगा आपल्या वाड्याच्या गचीवर वीरवर्ता राणीसह राजा वसला असतां त्याला आकाशरूपी समुद्राचा जणु हा फेसांचा समृद्रच असा नानामकारच्या शिखरांनी युक्त असलेला पांडरा मेच दिसला. ११ राना आश्चर्यचित्रत होऊन पाहात असतां तो मोटा मेय लाकरच आकागांत चित्रव्न नाहींसा झाला, तो नाहींसा होत असतांना गरीर, तारण्य, जगण, सौंदर्थ, व संपत्ती हे पदार्थ आनित्य आहेत असा जणू त्याने उपदेश केला अस राजाला बाटलें. १२ त्या मेघाचा नाश झालेला पाहृन सर्व वस्तूंची स्थिनी थोडा बेळपर्यत

पाटल. (१ त्या भवाचा नाज झालला पाहृन सर्व वस्तूची स्थिनी थोडा बेलपयत रमणीय दिसते परंतु त्यांचा नाज फार लौकर होतो. या वस्तूंची प्राप्ति कहन येनाना जीवाला पुष्कळ लासही भोगाता लागतो असा विचार कहन राजा आपल्या राज्यसंपत्तीविदयी विरक्त झाला. १३ आत्म्यापासून वारतविक भिन्न असलेल्या वस्तूमध्ये हा आत्मा उपभोग येण्याच्या इच्छेने आसक्त होतो. व त्यामुळेंच अत्यंन दुःख देणाच्या या संसारह्मी तरवारीच्या पिंजच्यामध्ये हा कायमचा अडकतो. १४ संसारह्मी समुद्रांत—जन्ममरणह्मी स्मुद्रांत चुडन असणाच्या या जीवांना कोट्यविन जन्मांतही प्राप्त न होणाग असा मनुष्यजनम

कदाचित प्राप्त होतो. इतका तो दुर्लभ आहे. तो प्राप्त झाला तरी उत्तम देश, उत्तम कुल, सुदर श्रीर, आरोग्य, जिनधर्म यांची प्राप्ति होणें फार कठिण आहे. या सर्वाची प्राप्ति हाण्यापेक्षांही आत्मकल्याण करणारी बुद्धि जीवाला प्राप्त होणें फार कठिण आहे.

सावार्थः - समुद्रामध्यें आपल्या हातांतून पडलेलें रत्न मिळणें जितकें किछण आहे तितकेच मनुष्यजनम मिळणे किछण आहे. मनुष्यजनमाची प्राप्ति झाळी तरी योग्य—धर्माचरण करण्यास योग्य—अजा क्षेत्रांत जन्म होणे हे धनिकामध्यें उदार दानी मनुष्य मिळण्याप्रमाणे किछण आहे. म्लेच्छ क्षेत्रांत उत्पात्ती झाळी तर हा आत्मा चारित्रा धारण करण्यास अयोग्य होतो. बिद्दान असून परोपकारिता असणे हें जरों दुर्लभ आहे. तरें उत्तम कुछांत जन्मणे दुर्लभ होय. नीच कुछांत जन्म झाल्यास संयमदीक्षा धारण करण्यास तो योग्य होत नाही. या प्रमाणे रत्नत्राय प्राप्त करून घेण्यास योग्य सामग्री उत्तरोत्तार दुर्लभ आहे. ही सर्व सामग्री मिळाली तरी आत्यकल्याण करणारी वृद्धि अर्थात् रत्नत्रायाची प्राप्ति होणे हे सर्व गुण प्राप्त झाले तरी कृतज्ञता गुण मिळणे जसे किछण आहे. त्याप्रमाणे किछण आहे. यास्तव जगांत रत्नत्वय प्राप्त होणे हें सर्वीत आतेज्ञय किछण आहे.

अनादिमिध्यात्वगदातुरात्मने हितापि सहृष्टिसुधा न रोचते ॥ अनाप्तत्वैकरुचिः स केवलं कृतांतरक्षोवदनं विगाह्यते ॥ १५॥ अदूरभव्यो विषयेषु निःस्पृहो विमुच्य सर्वं दिविधं परिष्रहृष् ॥ उपात्तरत्नत्रयसूरिसूषणो जिन्द्रदक्षां भजते विमुक्तये॥ १६॥

इतीदियात्मैक्हितं सुनिश्चितं॥

धुवं विजानन्त्रिप तृष्णया यया।। खलीकृतस्तामधुना क्षिपाम्यहं॥

सम्लग्जन्य लतामिव दिपः ॥ १० ॥ इति प्रभुःप्रजनाभिलाषुकस्ततेऽवतीयों ज्ञातहम्येष्टतः ॥ समागृहे पूर्वनिविष्टविष्टरे क्षणं निविश्येवस्वाच नंदनं ॥ १८ ॥ त्वमेव बत्स ! प्रतिपन्नवत्सलः पदे विभूतरासि सर्वभूखुजां ॥ निजानुरक्तप्रकृतिर्दिनिश्रयो नवोदयं भारकरमंतरेण कः ॥ १९॥ प्राजनुरागं सततं वितन्वतः ससुन्नतिं सूलजनत्य कुर्वतः ॥ परेषु विश्वासमग्च्छतः स्कुटं मयोपदेश्यं किमितम्तवापरं ॥ २० ॥

## अतो निघाय त्विय राज्यमूर्जितं विनिर्जिताराविद्मन्यदुर्धरं ॥ तपोवनं पावनमभ्यपेक्षतस्तन्ज ! मा गाः प्रतिकूलतां मम॥ २१॥

१५ हा जीव अनादिकालापासून मिथ्यात्वरूपी रोगार्ने पीडित झाला अ सल्यामुळे सम्यग्दर्शनरूपी अमृत हित्कारक असूनही याला आवडेनासे झालें आहे. श्रीजिनश्वरांनीं सांगितलेल्या जीवादिक तत्वामध्यें हा आत्मा श्रद्धान ठेवित नाही याला इतर दिथ्यातत्वामध्यें श्रद्धान करणें आवडते. अर्थात् श्रीजिनानी सांगि-तलेल्या आत्मस्वरूपांत श्रद्धान करणे सोडून या जीवाने संसारवर्धक इतत्वामध्ये शद्धान केल्यामुळे याला यमरूपी राक्षसाच्या मुखांत नेहमी प्वेश करावा लागत आहे. अर्थात् याचे जन्म मरण सुटेनासें झालें आहे. १६ जो निकट भन्य आहे अर्थात् ज्याला थोडक्याच भवांनी सोक्षप्राप्ति होणार आहे असा हा आत्मा स्ती वगैरे भोग्य पदार्थाविपयों पूर्ण निारिच्छ वनतो. दोन प्रकारच्या सर्व परिग्रहांचा-धनधान्यादि वाह्य व हास्य, रित वगैरे नउ नोकषाय, मिथ्यात्व आणि क्रोधादिक कपाय या अंतरंग परिग्रहांचा पूर्ण त्याग करितो. रत्नत्रयरूपी अलंकाराचा स्वी-कार करितो व मोक्षलाभ व्हावा स्हणून जिनदीक्षा घेतो. १७ आत्माहित क्सें करून घ्यावें हैं मला निश्चयाने माहित असूनही आत्महिताच्या कार्यात तृष्णेम अडथळा उत्पन्न केला आहे. यास्तव हत्ती जसा अडथळा उत्पन्न करणा-च्या वेलीला समूल उपडून टाकितो त्याप्रमाणे या तृष्णेला मी मूलापासून उपडून तिचा क्षय करीने. १८ या प्रमाण राजाच्या अंतःकरणांत दीक्षा घेण्याची इच्छा झाली व तो राजवाङ्याच्या गचीवरून खाली उतरून सभागृहांत पूर्वीच ठेविले-च्या सिंहासनावर येऊन वसला व नंदन युवराजाला याप्रमाणे वोलला १९ '' हे बत्सा, तूं आश्रितावर प्रेम करणारा आहेस. व सर्व ऐश्वर्याचा आधार आ-हेस. जसें नवीन उगवलेल्या सूर्याशिवाय दुसरा कोणताही ग्रह दिवसल्ह्मीला आपल्यावर अनुरक्त करू शकते नाही तसे तुझ्या शिवाय सर्व राजेलोकांना कोणीही आपल्यावर अनुरक्त करू शकत नाही. २० हे बत्सा, तूं प्रजेला नहमीं स्वतः विपयी अतिशय अनुरक्त करीत आहेस. व आपल्या मधान, सेना वगरेची नेउमी उन्नति करीत आहेस व शत्रुवर तिळमालही विश्वास टेवीत नाहीस यास्तव मी तुला या गोष्टी विषयी अविक काय सांगृ ? ते न सांगतांच योग्य रीतीने वा-गत आहेस. २१ यास्तव ज्याने शत्रूंना जिंकिले आहे अशा तुजवर इतर वाहुं शकणार नाहीत असा हा राज्यभार मी ठेवीत आहे. हे वत्सा! मला पवित्र अशा तपोवनास जाण्याची-जिनदीक्षा घेण्याची इच्छा झाली आहे. याम्तव तृं या गोष्टीत माझ्या प्रतिकृत होऊ नकोस

इतीरितां भूपतिना सुमुञ्जणा निशस्य वाचं वचने विचश्रणः॥ क्षणं विचित्यवमुवाच नंदनः प्रणामपूर्व प्रणतारिमंडलः॥ २२॥ अनात्मनीनेति विचार्य धीमता नरेंद्रलक्ष्मीरियमुज्झ्यते त्वया ॥ असंमतां ते वद तात! तामहं कथं प्रपद्येऽद्य विरोधिनीं सम ॥२३। अवैषि किं त्वत्क्रमसेवया विना मुहूर्तमप्यासितुमक्षमं न मां।। स्वजन्महेतावरविंदबांधवे गतेऽपि किं तिष्ठति वासरः क्षणम् ।२४। यथा पथि श्रेयसि वर्तते सुतस्तथा पिता शास्ति तमात्मवत्सलम्॥ त्वयोपदिष्टो नरकांधकूपकप्रवेशमार्गोऽयमनर्गलः कथं ॥ २५ ॥ प्रणम्य याचेऽहममोघदायकं अवन्तमाशु प्रणतार्त्तिहारिणं॥ त्वया समं निष्क्रमणं ममापरं न कार्यमार्येति सजोषमास्थितः॥२६॥ इति स्थितं निष्क्रमणैकनिश्चये सुतं विनिश्चित्य विपश्चितां वरः॥ अवोचदेवं द्विजमौक्तिकावलीस्फुरत्प्रभाराजिविराजिताधरः ॥२७॥ त्वया विना राज्यमपेतनायकं कुलक्रमायातिमदं विनश्याति ॥ नं विद्यते चेद्यदि गोत्रसंततिः किमात्मजेभ्यः स्पृहयन्ति साधवः॥२८॥ पितुर्वचो यद्यपि साध्वसाधु वा तदेव कृत्यं तनयस्य नापरं॥ इति स्थितां नीतिमवेयुषोऽपि ते किमन्यथा संप्रति वर्तते मतिः॥२९॥ मुतं गृहीत्वा व्रजता तपोवनं कुलस्थितिस्तेन विनाशितत्ययं ॥ जनापवादो मम पुत्र! जायते ततो गृहे तिष्ठ दिनानि कानि।चेत्॥३०॥ इतीरियत्वा तनयस्य मूर्घनि स्वयं पिता स्वं मुकुटं न्यविक्षत ॥ विचित्ररत्नस्फुरदार्चेषां वयार्विनिर्मिताखंडलचापमंडलं ॥ ३१॥

२२ याप्रमाणें मुमुक्ष अशा या नंदिवर्धन राजाने केलेले भापण ऐक न ज्यानें श्रुमंडलाला नम्र केले आहे व जो वोलण्यांत निपुण आहे अशा नंदन युवराजाने सणपर्यंत विचार करून नमरकारपूर्वक पुढें लिहिल्याप्रमाणे भापण केलें. "अहा वावा, ही राज्यलक्ष्मी आत्म्याचें हित करणारी नाहीं असे समज् आपण तिचा त्याग करण्यास उद्युक्त झालात. आपणास ती अयोग्य वाटत आहे. मग मलाही ती जर तशीच वाटत आहे तर तिचा मी आज कसा वर स्वीकार कर्छं? सांगा. २४ आपल्या चरणसेवेशिवाय मी एक क्षणपर्यत तरी राहुं शकेन अर्थे आपणास वाटतें काय? आपल्या जन्माला कारण असलेला सूर्य अस्ताला गेला असनां दिवस त्याच्या मागे एक क्षणभर देखिल राहनों काय? २५ ज्या उपायानें मुलगा कल्याणमार्गीत प्रदृत्ता होईल तोच उपाय पिता सांगत असनो. यास्तव वर्ष वरिः

आपला आवडता मुलगा असलेल्या मला नरकरूपी अंधकूपांत टाकून देणारा हा अयोग्य मार्ग कसाँ सांगता ? २६ अहो वावा. जे आपणास नमस्कार करितात त्यांचे आपण शीघ्र दुःख दूर करता. जे आपली याचना करितात त्यांना इच्छित पदार्थ देऊन आपण तृप्त करिता. यास्तव हे पूज्य पिताजी, मीही आपल्या वरोवर दीक्षाच घेणार. या शिवाय दुसरें काम मी करेणार नाहीं". असे बोलन तो स्तब्ध वसला. २७ आपल्या मुलाचा आपणावरोवर दीक्षा घेण्याचा दढनिश्रय पाहन दंतमौक्तिक समृहापासून निघालेल्या कांतिससूहाने ज्याचा ओट शोभत आहे असा तो विद्वच्छ्रेष्ठ राजा पुढें ै लिहिल्यापमाणे बोलू लागला. २८ "हे दत्सा, वंगपरपरेने चालत आलेलें हें राज्य आज नायकरहित होऊन विनाश पावेल. वंशपरपरा चालू ठेवणें अयोग्य असते तर सन्पुरुषांनीं पुत्रांची इच्छाच केही नसती. २९ वापाचें वचन अर्थात् आजा योग्य असो अथवा अयोग्य असो मुलांनी त्याचे पालन करणें हें त्यांचे कर्तव्य आहे. अशी नीति तुला माहीत आहे. असे असतांही या वेळीं तुझी बुद्धि अशी उछटी कशी झाली? वाळा! तपोवनाला जाणाऱ्या राजाने आपल्या मुलालाही आपल्या वरोवर नेलें व आपली कुलपरंपरा नष्ट करून टाकि-ली अशी अकीर्ती माझी चोहीकडे प्रायद्ध होईल यारतव कांही दिवसपर्यंत तं यरामध्येच राहृन गृहस्थयमींचे पालन कर. ३१ याप्रमाणे भाषण करून गजाने आपल्या मुलाच्या डोक्यावर आपला राजगुकुर टेविला. त्यावेळी मुक्कटांत असले-ल्या नानाप्रकागच्या रत्नांच्या कांनिसमृहार्ने आकाशामध्ये इंद्रधनुष्याची शोभा उत्पन्न झाली होती.

तथोत्तमांगस्थितहस्तकुड्मलानुवाच भूपानिति संत्रिभिः समं॥
यता मयायं भवतां महात्मनां करे करन्यास इवापितः सुतः॥३॥
कलत्रमित्रस्थिरवंधुवांधवान्यथावदापृच्ल्य विनिर्ययो गृहात्॥
अणं तदाकंदरवानुसारिणीं धियं च हिष्टं च पुरा निवेशयन॥३॥
नृपेः समं पंचशतेः स पंचमीं गतिं यियासुः पिहितासवांतिके॥
पपद्य दीक्षामनवद्यचेष्टितामचेष्टताष्टोद्धतकर्मणां जय ॥ ३४॥
यते गुरा श्रेयमि तद्वियोगजं विपादमामाद्य तताम नंदनः॥
तथावगच्छन्नपिसंसृतेःम्थितं मनां वियोगि हिनुवाऽपि विद्यत॥३५॥
अमात्यसामंतमनाभिसंहितः पितृवियोग्च्यिथितं व्यनाद्यत्॥
अमात्यसामंत्रमनाभिसंहितः पितृवियोग्च्यिथितं व्यनाद्यत्॥
इदाजहारित सभा तमीथरं विपादमुनमुच्य नरेष्ठ! संप्रति॥
उदाजहारित सभा तमीथरं विपादमुनमुच्य नरेष्ठ! संप्रति॥

प्रजाः ससाश्वासय नाथ! वर्जिताः शुचो वशः कापुरुषो न धीरधीः ३७ पुरेव सर्वः क्षितिपाल! वासरिकयाकलापः क्रियतां यथेच्छया ॥ इति प्रभौ शोकवशे त्विय स्थित सचेतनाः के सुखमासते परे ।३८। पतिं विशामित्यनुशिष्य सा सभा विसार्जिता तेन गृहानुपाययो ॥ विषादसुन्मुच्य चकार नंदनः क्रियां यथोक्तां सकलार्थनंदनः॥३९॥ अहोभिरलपेश्य नृतनेश्वरो धियेव खेदेन विना गरीयसा ॥ गुणानुरक्तामकरोद्धरावधं भयावनस्रामिप शञ्चसंहातिम् ॥ ४०॥ तदस्रुतं नो तस्पेत्य सूसृतं चलापि लक्ष्मीस्त्वचलत्वमाप यत् ॥ इदं तु चित्रं सकले महीतले स्थिरापि कीर्तिर्भ्रमतीति सन्ततं ।४१।

३२ त्यावेळीं नमस्कार करण्यासाठीं आपले हात कमलाच्या कळीसारखे करून ज्यांनीं स्वमरतकावर ठोविले आहेत अज्ञा राजांना नंदिवर्धन राजानें मंत्र्या-सह यात्रमाणे सांगितलं:-''हे नृप हो । आपण सज्जन आहात. आपल्या हातांत ही माझी पुतरूपी ठेव मी ठेऊन आज दीक्षा घेण्यासाठी जाणार आहे. करितां आपण या ठेवीचे चांगलें रक्षण करा.'' ३३ एक क्षणपर्यंत रडण्याच्या स्वराकडे वललेल्या आपल्या बुद्धीला व हृष्टीला आपल्या ध्येयाकडे लाऊन मन दृढ करून राजाते पत्नी, मित्र, आपल्या वंशांतील भाऊ, चुलता वगैरे मंडली आणि वांधव, सोयरे मंडळी यांची परवानगी घेऊन घराच्या वाहेर प्रयाण केले. ३४ पचमगति मोक्षास जाण्याची इच्छा ज्यास आहे अशा या राजानें पांचशें अन्य राजासह पिहितास्रव म्रानिजवळ दक्षि। घेतली व जानावरणादिक आठ कर्मीचा नाश करण्यासाठीं तो निर्दोष महात्रतादि २८ मूलगुण, ८४ लाख उत्तर गुणांचे पालन करू लागला. ३५ आत्मकल्याणासाठी आपले वडील निघून गेले म्हणून, नंदन राजाला, त्यांच्या विरहापासून फार खिन्नूता बाट लागली, तो यनांत फार कृष्टी झाला. जरी त्याला संसाराचें स्वरूप पूर्ण माहीत होतें तरी पित्याच्या अमृत्य गुणांचें वारंवार स्मरण होत असल्यामुळे त्याला फार दुःख झाले. वरोवरच आहे कीं, सज्जनांचा वियोग झाला असतां विद्वानासही दुःख नाटत असतेच. ३६ अमात्य, सरदार व बंधु यांनीं पित्याच्या वियोगाने खिन्न झालेल्या राजाला अनेक तन्हेच्या कथा सांगून त्याच। शोक कमी करण्याचा प्रयत्न केला. वरोवरच आहे कीं, महापुरुषांच्या सुखासाठीं कोण वरे प्रयत्न करीत नाही? मोठ्या लोकांना सुख व्हावे रहणून सर्वच झटत असतात. अमात्यादिकांच्या सभेने विनंती केली की, " महाराज! आतां आपण शोक सोडून द्या. या नायरहित आलेल्या प्रजाजनांना धीर द्या. महाराज! अधीर प्रकृतीचे छोक शोकवश होतात. आपणासारख्या धीर बुद्धीच्या लोकांनीं शोकवश होऊं नये. ३८ महाराज! आतां आपण पूर्वीप्रमाणेच

आपल्या इच्छेने सर्व राज्यकारभार पाहणे वगैरे हैनिक कर्तव्ये करण्यास सुरू करा. हे नृषेश्वरा! आपण असें शोकयुक्त होऊन वसल्यावर कोणत्या सचेतन प्राण्याला मुखानें राहतां येईल वरे?" ३९ याप्रमाणें मनुष्याचा नाथ असलेल्या या राजाला उपदेश केल्यानंतर राजानें सभा विसर्जित केली. तेव्हां सर्व लोक आपल्या घरी गेले. सर्व याचकांच्या इच्छा तृप्त करणाऱ्या नंडन राजाने शोकत्याग केला व पूर्वीप्रमाणें राजकार्ये करण्याला प्रारंभ केला. यांड्याच दिवसांनी या नवीन राजाने मोठ्या खेदावांचून—अनायासं आपल्या बुद्धि चातुर्याने सर्व पृथ्वीरूपी स्नीहा आपल्या गुणावर लुब्ध केलें व जनूसमृहासही भीति टाखऊन नम्र केलें. ४० या राजाचा आश्रय मिळाल्यामुळें चंचल अशी ही राजलक्ष्मी निश्चल झाली याच्यांत आम्हांस कांहीं आश्चर्य वाटत नाहीं. परंतु या राजाची रिथर अशी ही कीर्ती चोहिकडे भटक लागली. सगळ्या जगांत संचार करूं लागली. हें मात्र फार मोठें आश्चर्य आहे. राजाची कीर्ति सर्वत पसरली असा येथें अभिप्राय समजावा. अनुनसत्वेन विमत्सरात्मना गुणैः शरच्चंद्रमरीचिहारिभिः॥ न केवलं तेन सनाभिमंडलं प्रसाधितं शृत्रुकुलं च लीलया॥ ४२॥ इति स्वराकित्रयसारसंपदा क्षितीश्वरे कल्पलतीकृते क्षितौ ॥ दिने दिने राज्यसुखं वितन्वति न्यधत्त गर्भे प्रमदाय तात्रिया॥४३॥ अस्त कालेन ततः मुतं सती प्रियंकरा प्रीतिकरं महीपतेः॥ अभिरव्यया नंद इतीह विश्वतं मनोहरं चूतलतेव पलवं ॥४४॥ विवर्धयन् ज्ञातिकुसुद्धतीसुदं प्रसारयन्नुज्ज्वलकांतिचंदिकां ॥ कलाकलापाधिगमाय केवलं दिने दिनेऽवर्धत बालचंद्रमाः॥ ४५॥ अथोच्छ्रसन्नूतन्पुष्पप्छवानुपायनी ऋत्य तमी अरे मुदा ॥ दिदृक्षयागत्य सुदूरतो मृधुः परिश्रमं नेतुमिवावसदनं ॥४६॥ पुराणपत्राण्यपनीय दूरतो विधूननैर्दक्षिणमातरिश्वनः॥ अलंचकारांकुरकोरकादिभिर्वनं मधुर्मत्तमधुत्रताकुलं ॥ ४७॥ अपीषदुचन्मुकुलांकुरांकितं परीत्य चूतं अमराः सिपेविरे॥ वदान्यमेष्यद्धनसपदां पदं सुदक्षिणं वंधुमिवार्थिवांधवाः॥ ४८॥ निरंतरं कुड्मलकोरकोत्करान्स्वमूलतो विभदशोकपादपः॥ मृगेक्षणानां चरणांबुजाहतः प्रहृष्टरोमेव जनरहस्यत ॥ ४९॥ स्वभुक्तशेषं विरहार्दितात्मनां निकृत्य मांसं मदनोग्ररक्षसा ॥ पलाशशाखिपसवच्छलेन वा निरंतरं शोपयितुं न्यधारयत् ॥५०॥

४२ नंदनराजाचे सामर्थ्य पुष्कल होते. गुणांचा चाहता असल्यामुले याच्या हि-काणीं मत्सरभाव नव्हता. याने शरद्ऋनूच्या चंद्रकिरणाप्रमाणे मनोहर अञा भाषस्या गुणांनीं फक्त आपस्या वंधुवर्गीनोच लीलेने प्रसाधिन केलं-अलंकृत केलें असें नाहीं:तर शत्रुसमृहासही प्रसाधित केलें अर्थीत् जिक्तिंट. ४४ प्रमुशक्ति— सवीवर द्रारा वसविणे, मंत्राशक्ति—आपले विचार गुप्त टेवृन अन्यराजांचे वि-चार जाणून घेणें, व उत्साह शक्ति-सैन्याची चांगली व्यवस्था देखन राज्य वा-दविण्याची इच्छा असर्णे, अशा तीन शक्तिरूपी उत्कृष्ट संपर्नाने या राजाने पृ-ध्वीला करपलता चनविलं होतें. अथात तिच्यापासून त्याला इच्छित पदार्थाची प्राप्ति अनायासे होत होती. अज्ञा रीतीने हा राजा राज्य करीत असनां. प्रजाज-नांना फार सुख मिळू लागलें. पुढें कांईां दिवसांनीं राणी त्रियंकरेनें राजान्या दृषीकरितां गर्भ धारण केला. ४४ योग्यवेळीं पनिव्रता त्रियंकरा राणीने आस्रलता नशी कोमल सुंद्र पहुवाला प्रसवते त्याप्रमाणे राजाला आनंददायक अगा मुलाला जन्म दिला. याचें नांच नद असें टेविलें गेलें. ४५ जसा हितीयेचा चंद्र कमिल्नींना आनंदित—प्रफुल्लित करतो, आपली उञ्चल कांति चोहोकडे पसारितो व एक एक कला प्राप्त करून येण्यासाठीं दगरोज वादना तसा हा बालकरूपी चंद्र आपच्या बांधवरूपी कमलांना आनंदिन करूं लागला. आपली सुंदर देहकांति चोहोकडे फेकू लागला व नाना प्रकारच्या कलाकोगल्याचे ज्ञान करून घेण्यासाठीं दररोज बाह् लागला. ४६ यानंतर एके वेळी आनंदाने जणू आपल्या प्रभूला—राजाला पाहण्याच्या इच्छेनेंच विकासित झालेलीं फुले व कोमल पाने नजराणा करण्यासाठीं दुरून वसंत ऋतु आला. व येजन आपला थकवा नाईांसा करण्याकरितां राजाच्या वर्गीचामध्यें त्याने मुक्काम केला ४७ वसंत ऋतुने दाक्षणिदिशेच्या वाऱ्याला वाहवून झाडांचीं सर्व जुनीं पानें काहृन दृग फेक्स दिलीं. वगीचाला नवीन उगवणाच्या कल्यांनी आणि कोमल पानांनी अर्छेकृत केलें व उन्मत्त झालेल्या भुंग्यांच्या झुंडींनी भरून टाकिलें. ४८ थोडें थोंडें उत्पन्न झालेल्या मोहरांनीं व कोमल पहनांनीं आम्रहक्ष युक्त झालेला पाहन त्याचा भुग्यांनीं आश्रय केला वरोवरच आहे कीं, ज्याला विपुल संपत्ति प्राप्त होणारी आहे अशा दानी व सरळ मनुष्याला त्याचे मनळवी वंधु येगीत अमनानच. ४९ बुंध्यापासून शॅंड्यापयेत मिटलेल्या कळयांच्या समृहांना धार्ण करणारा-अशोक दक्ष हरिणाप्रमाण ज्यांचे डोळे आहेत अशा मुंदर स्त्रियांच्या चरणकम-लांच्या ताडनानें ज्याला जणु सर्व अंगभर गहारे आले आहेन असा होकांकटून पाहिला गेला. अर्थात् अशोक हुआला सुंदर वियांनी लनाप्रहार केला असतां तो फुलनो अशी कविशसिद्धि आहे. त्वियांच्या पाटमहागर्ने आनंदित होउन

जण तो रोमांचयुक्त झाला असें किनें येथें वार्णलें आहे. ५० महनरूपी उग्र राक्षसानें विरहाने पीडित झालेल्या स्त्रीपुरुपांचे मांस काइन खाले व उर्लेलें मांस पळसाच्या झाडांना आलेल्या फुलांच्या मिपानें वाळाविण्यासाठी येथे हाट पसरून जणु टेविले आहे!

भावार्थ-वसंत ऋतुमध्यें पळसांच्या झाडाला फुलें येत असतान. त्यांना पाहृन विरही लोकांना पीडा होन असते त्यामुळे त्यांचे मांस सुकूं लागलें-विलासिनीवकसरोरुहासवप्रपायिनं केसरमेत्य पुष्पितं॥ तुतोप क्जन्मधुपायिनां कुलं प्रियाः समानव्यसना हि देहिनां॥५१॥ अनर्तयत्कोकिलपुष्करध्वनिः प्रयुक्तमृंगस्वनगीतशोभिते ॥ वनांतरंगे स्मरवंधिनाटकं लताङ्गना दक्षिणवातनर्तकः॥ ५२॥ हिमक्षतां वीक्य समस्तपद्मिनीमिति ऋ्धा प्रोज्झितदक्षिणायनः॥ रविविधास्याञ्चव तस्य निग्रहं हिमालयस्याभिसुखं न्यवर्तत॥५३॥ ×समन्वितोऽप्युज्ज्वलवर्णशोभया न कार्णकारो लभते स्म सौरभं। तथा हि लोके सकले न दृश्यते समाश्रयः कोऽपि समस्तसंपदां। ५४। अनन्यसाधारण सौरभान्वितं द्धानसप्युज्ज्वलपुष्पसंपदं ॥ न चंपकं भृंगगणाः सिपेविरे कथं सुगंधे मलिनात्मनां रतिः ॥५५॥ सरोरुहिण्या शिशिरात्यये चिरात्कथं चिदासादितपूर्वसंपदा ॥ वसंतंलक्ष्मीमिभवीक्षित्रं मुदा महोत्पलं चुक्षरिवोदमील्यत ॥५६॥ अदृष्टपूर्वामिव पूर्ववल्यां विहाय कौंदीलतिकां मधुत्रताः॥ प्रपेदिरे पुष्पितमाधवीलतां चला हि लोके मथुपायिनां रितः।५७। हिमन्यपायादिशदां सुखावहां कुमुद्रतीनां कुमुदाक्रप्रियः॥ प्रसारयामास निशासु चंद्रिकां मनोभुवः कीर्तिमिवोर्जितिश्रयः ५८ स्वसोर्भामोदितसर्वदिङ्मुखं सम् मधुअर्म्भुपांगनागणः॥ स्वयं सिपेव तिलकं मनोरमं विशेषकीकर्तिभवेच्छयात्मनः ॥५९॥

× दीप:— गीप्रहेंपं मति कार्षाहार दुनोति निर्वेयतय सम्मेतः ॥ कार्येण सामायितीर गुण्यन्य परा मुन्ति विकासः अपूर्णः ॥२८॥ सुन्तरमेनी पूर्वणावे जगद्रशिकतुंमलं मनोभुवा प्रयोजितं चूर्णमिवीपधेः परेः॥
मनोज्ञगंधिस्थितिदक्षिणानिलस्ततान संतानकपुष्पजं रजः ॥६०॥
निवृत्य गच्छ स्वगृहं प्रियस्त्रियः सदा स्मरच् किं श्रियसे स्मरान्युधा ॥
इतीव निर्भत्स्यति स्म कोिकलः स्वकूजितैरध्वगमध्वचूतगः॥६१॥
इति प्रफुलहुमराजिराजितं वनं समन्ताद्रनपालको अमन् ॥
तदेकदेशे सुनिमूर्जिताविं प्रतिष्ठितं प्रौष्ठिलमेक्षत प्रस्रुं ॥ ६२॥
प्रणस्य सक्त्या प्रया महासुनिं जगाम वेगाद्रनपालकः पुरी ॥
तदीयमस्यागमनं महीपतेरभीष्टमावेद्यितुं मधोरिष ॥ ६३॥

५१ विलासिनीच्या मुखकमलांतील आरावाचें- मचाचें पान करून नागके. सर हुन फुलोनी युक्त झाला असतां, गुंजारव करणारा खुंग्यांचा समुदाय त्याच्या कटे ये उन आनंदित झाला. वरोवरच आहे कीं, समान व्यसन सेवन करणारे जे असनान ते एकमेकांचे प्रियमित्र ननतात. सुंदर स्त्रियांनी आपल्या तोंडांत दारू थरुन तिची चूळ नागकसर दृक्षावर टाकिली असतां त्याला फुलें येतात. यारतव हा दृक्ष 'मधुप' आहे. मधुप-दारू पिणारा असा या शब्दाचा अर्थ आहे. व भुंगेही मधुप आहेत अर्थात् तेही फुलांतील मकरंदाचे पान करितात. मक्रंदाला म्यु स्हणतान यास्तव मधुपत्व उभयतांमध्ये समान असल्यामुळे हे नागकेसर व र्धुंगे परस्पगंचे मित्र आहेत असे कवि यहणतात. ५२ या वगीचाच्या सध्यभागीं कोकिलपक्षी रूपी मृदंगाचा ध्वनि व धुंग्याचा गुंजारव हेंच गायन यांनीं युक्त होऊन दक्षिणेकइन बाहणारा वाग हाच कोणी नर्तक त्यानें शृंगाररसानें युक्त अशा नाटकाची रचना करून वेळीरूपी नृत्य करणाऱ्या स्त्रीला नाचित्रे. ५३ संपूर्ण कमिलनींचा वर्फानें-थंडीनें नाश केला आहे असे पाहून रागानें सूर्यानें दक्षिणायनाचा त्याग केला व वर्फाचा जण सूड उगाविण्याकरितां तो हिमालयाच्या सम्मुख जाण्यासाठीं निघाला. अर्थात् वसंत ऋतुमध्यें सूर्य उत्तरायण होतो. ५४ पांगाऱ्यांची फुल सुंदर रंगानें मनोहर दिसत होती परंतु त्यामध्यें सुगंधाचा लेशही नव्हता. वरोवरच आहे की, सर्व जगामध्ये कोणतीही व्यक्ति सर्व तन्हेच्या संप-त्तीचा आश्रय होत नाहीं. अर्थात् कांहीं नरी न्यूनता असतेच. ५५ चंपक हक्षानें इतरारध्यें न आढळून येणाऱ्या सुगंधाने युक्त अशी पुष्पसंपत्ति धारण केळी होती परंतु त्या द्वशाचा ग्रंग्यांनीं आश्रय केला नाही. वरोवरच आहे कीं, जे मिलिन असतात ते उत्कृष्ट गंधानं युक्त असलेल्यावर प्रेम करीत नाहीत. ५६ शिशिर ऋतूचा नाश झाल्यावर पुष्कळ दिवसांनीं जिला आपली पूर्व संपत्ती मिळाली आहे अशा कमलाच्या वेलीनें आनंदानें वसंत लक्ष्मीची शोभा पाहण्यासाठीं नेत्रा-प्रमाणें असलेलीं आपलीं कमले पगट केली. अर्थात् वसंतऋतूचे वेलीं तळ्यांत

कमलें उत्पन्ना झालीं. ५७ जणूं पूर्वी न पाहिलेली असा प्रथम पिय असलेल्या कुंदलतेला सोइन भुंग्यांनी पूष्पांनी लकडलेल्या मागव्याच्या वेलीचा आश्रय घतला. वरोवरच आहे जगांत जे मधुपान करणारे आहेत त्यांची पीति चंचलच असणार. अर्थात मकरंड पिऊन उन्मत्त झालेले भुंगे पूर्व वेलीवर कसचे राह् शकतात. जेथ त्यांना मकरंड आढळन येतो तिकडेच ते वलतात. पूर्वी जिचा आश्रय घतला होता तिला जणूं पूर्वी कथीच पाहिलें नाही इतकें विसल्न जातात. ५८ रात्रों विकास पावणाव्या कमलांना आवडता असलेल्या चंद्राने कमलिनीला सुख देणारी, थंडीचे दिवस अर्थात् शिकीर ऋतु नष्ट झाल्यामुळे अधिक स्वच्छ दिसणारी अशी चंद्रिका सर्वत्र पसरावयास सुरवात केली. रात्री पसरलेली ही चंद्रिका (चंद्र पक्ताश) ज्याची जोभा वाढली आहे अशा मटनाची जणू कीर्तिच आहे असे पाहणाच्यांना वाटत असे.

महाप्रतीहार्निवेदितागमः सदःस्थिताय प्रणतो महीभुजे ॥ न्यवेदयहर्शितपुष्पपछवैर्मधुं वचोभिश्च मुनींद्रमागतं॥ ६४॥ इतो निशम्योपवने स्थितं मुनिं महीभृदुत्थाय मृगेंद्रविष्टरात्॥ पदानि सप्त प्रतिगम्य तां दिशं नुनाम चूडामणिपीडिताव्निं ॥६५॥ धनं स्वनद्धाभरणैः समं तदा वितीर्य तस्मै वहु पारितोपिकं॥ अदापयत्ख्यातमुनीद्रवंदनाप्रयाणभेरीं नगरे नरेश्वरः॥ ६६॥ ५९ आपल्या सुनंधानें तिल्क दृक्षानें सब दिशांची तोंडे सुगंधित केली होती. यास्तव अंगा मनोहर तिलकबृक्षाचा वसंतंशोभेने भ्रमगच्या समृहासह आपली शोभा वाढविण्याच्या इच्छेने जणु काय आपण होऊन आश्रय केला. अर्थात् कुंकुमतिलकानें जभी सुवासिनी स्त्री अधिक शोभने तभी वसंतशोभा कुंकुमतिलका ममाणे असलेल्या या तिलक्रवृक्षानें गोभू लागली. ६० मनोहर सुगंधाला धारण करणाऱ्या ढाक्षणवायृने पारिजात वृक्षाच्या पुष्पांचे रज कण सर्वत्र पसिन्त. जणु जगाला अधिक वज करण्यासाठी इतरांच्या हारें वजीकरण करणाऱ्या औपधांचा मदनानें प्रयोग केला आहे. ६१ रस्त्यावर असलेल्या आंव्याच्या बुक्षावर वसलेला कोकिल पक्षी 'हे वाटसगा, आतां परतृन घरी जा. पिय स्त्रीचें रमरण करून मदनाच्या तडाख्यांन सांपट्टन आपले प्राण व्यर्थ कां गमाविन आहेस असा अभिप्राय आपल्या शब्दांनीं व्यक्त करून तो बाटसगची जणु निर्भन्सना क्रगीत आहे. ६२ यात्रमाणे प्रफुल्लित झालेल्या हुझांच्या पंक्तीनी क्रोभ-णाऱ्या त्या वगीचांन सर्व वाजृतें वनपाल भ्रमण करीत अमनां न्याला वगीचाऱ्या एका प्रदेशांन वसलेले उन्कृष्ट अवधिजानी प्राप्टिल नांवाचे महामानि दिसले.

मुनीश्वरास माळ्यांने मोठ्या भक्तांनें नमस्कार केला व बगीचांत त्यांचे आणि वसंत ऋतूचेंहि आगमन झाले आहे ही गोष्ट नंदनमहाराजास कळविण्याकरितां तो वेगांनें शहराकडे गेला. ६४ गजवाड्याकडे आल्यावर द्वारपालानें माळी वाहर आला आहे असें नंदन महाराजांना कळाविलें, तेन्हां त्याला आंत पाठव अशी आज्ञा केल्यावर माळी सभेंत आला आणि त्यानें महाराजांना लबून नमस्कार केला व फुले आणि कोवळीं हक्षांचीं पानें पुढें ठेऊन वसंत ऋतूचें आगमन झालें आहें हे सुचिविलें व शन्दांनीं सुनीश्वरांचें आगमन झाले आहे हें कळाविलें. ६५ सुनीश्वरांचें वनामध्यें येणें झालें आहे हें माळ्याचें तोंडून ऐकून नंदनमहाराज सिंहासनावरून उठले व सात पावलें पुढें जाऊन आपल्या चूडामणीचा जमीनीस स्पर्श करून त्यांनीं त्या दिशेला नमरकार केला.

तात्पर्यः — मुनीविषयीं राजाच्या मनांत अत्यंत भाक्त असल्यामुळें त्यानें हा परोक्ष विनयाचा प्रकार केला.

६६ त्यावेळीं राजानें पाळ्याला आपल्या अगावरील पुष्कल डाागिन्यासह धन देऊन आणखी इतर पुष्कल वक्षीस दिलं च अनिश्य प्रासिद्ध अशा मुनी-श्वरांचें आगमन झालें आहे यात्तव सर्व प्रजाजांनी त्यांना बंदन करण्यासाठीं चलावें असे दौंडीच्या द्वारें सूचित केलें. अर्थात शहरांत सर्व टिकाणी दौंढी देवविली.

प्रतिस्वनापृरितसर्वदिङ्मुखं तद्यिमाकण्यं रवं समन्ततः ॥ जिनेन्द्रधमेश्रवणोत्सुकात्मना विनिर्ययौ पौरजनेन तत्क्षणं ॥६७॥ पुरःसरेरष्टनवैःपदातिभिः समन्वितं द्वारमुपेत्य वेगतः ॥ अभीष्टवाहानधिरुह्य राजकं प्रतीक्षयामास नरेंद्रनिर्गमम् ॥६८॥

६७ ज्याने सर्व दिशामध्य प्रतिध्वनि उत्पन्न केला आहे असा तो टौडीचा शब्द ऐक् न जिनेश्वराचा धर्म आतां मुनीश्वराच्या मुखांतून आपणास ऐकावयास पिछे अशा उत्सुकतेने सर्व नगरवासी लोक तत्काल मुनिदर्शनासाठी निघाले. ६८ आठ नज पायदळ शिपायांना पुढे करून व आपणांस आवडते अशा वाह-नावर आरोहण करून अर्थान् हत्ती, धोडा, पालखी इत्यादिकावर वसून राजांचा समूह राजवाङ्याच्या द्वाराजवळ वेगाने आला व तो तेथे नंदन महाराजांची निघण्याची वाट पाहू लागला. धर्ड वरि ५

गृहीतनेपथ्यविलासविभ्रमं परीतमंतःपुरमंगरक्षकैः॥ समन्ततो युग्यगतं दिनिर्ययो तदाज्ञया ज्ञाननिधिं निरीक्षितुम्।६९। अर्थेरार्थिमनोरथान्सफलयन्नारुह्य मत्तद्विपं॥

तत्कालोचितवेपभृत् क्षितिभृतां ब्रातैर्वृतः सर्वतः ॥
भूपद्रो मुनिवंदनाय परगाऽयासीद्धनं संपदा ॥
हम्योप्रस्थित्चारुपोरवनितानेत्रोत्पलरिचतः॥७०॥

\* इत्यसगकृते वर्धमानकाच्ये ंद्नाभक्तिगमनो नाम द्वितीयः सर्गः \*

६९ अंगरक्षकांनी युक्त असलेला, डागडागिन्यांनीं सजलेला. हावभावांनीं युक्त, असा अंतःपुरांतील स्त्रीसमूह देखिल जानानिधि अशा मुनिवर्यास पाहण्यासाठीं महागजांच्या आजेनें रथावर आरोहण करून निघाला. ७० नंदनमहाराज देखिल त्यावेळेला योग्य असा पोषाख करून, याच-कांचें मनोरथ धन दानाने तृप्त करून, व मत्त हत्तीवर आरोहण करून मुनिवंदनार्थ निघाले. त्यांच्या सभोवतीं पुष्कलसे राजे चालत होते. अशा मोठ्या थाटमाटाने ते निघाले. ज्यावेळीं महाराज बाहेर निघाले त्यावेळीं वाड्यांच्या गचीवर वसलेल्या शहरांतील सुंदर स्त्रियांनीं आपल्या नेत्रकमलांनीं त्यांची पूजा केली अर्थात् त्यांना पाहून त्यांनीं आपणास धन्य मानिलें.

ज्यांत भाक्तिपूर्वक मुनिवंदनेसाठी केलेल्या गमनाचें वर्णन आहे असा हा असग महाकवि कृत वर्धमान चरित्रांतील दुसग सर्ग संपला.



## तृतीयः सर्गः।

अथ प्राप मुनेस्तस्य निवासात्पावनं वनं ॥ नंदनो नंदनोद्यानसन्निभं शकसन्निभः॥१॥ परिरेभे तमभ्येत्य दूराद्रीकृतश्रमः॥ सुगंधिर्वधुवऋरिदक्षिणं दाक्षिणानिलः॥ २॥ दूरादवातरन्नागान्नगोत्तंगान्महीपतिः॥ विनयेन विना का श्रीरित्युक्तं व्यक्तयित्रव ॥ ३॥ अपनीतातपत्रादिराजिनहोऽविशद्धनं ॥ -अपि त्यक्ता महीपालो भृत्यहस्तावलंबनं॥ ४ ॥ रक्ताशोकतरोर्मूले निर्मले स्फटिकोपले ॥ आसीनं मुनिमैक्षिष्ट सर्द्धमस्येव मूर्धनि ॥ ५ ॥ किरीटकोटिविन्यस्तहस्तांभोरुहकुड्मलः॥ त्रिः परित्य महीपालः प्रणनाम महामुनिम् ॥ ६ ॥ स निविश्य तदाभ्यर्णभूतले भूभृतां विभुः॥ प्रांजिलः प्रणिपत्यवमवादीन्मुदितो मुनिम् ॥ ७ ॥ भगवन्भव्यसत्वानां निर्वृतिः किं न जायते ॥ तव निर्धूतमोहस्य दर्शनाइर्शनादिव ॥ ८॥ अकामेनापि दृष्टयैव पूर्णकामः कथं कृतः ॥ नाथ ! त्वयाहमित्यस्मादिस्मयो नापरो मम ॥ ९॥ भव्यसत्वसमूहानामनुत्रहकरादहं ॥ भवतः श्रोतुमिच्छामि भवसंततिमात्मनः ॥ १० ॥ इत्युदाहृत्य वचनं तूष्णीभृते महीभुजे ॥ ततो यतिरुवाचैवं सकलावधिलोचनः ॥ ११॥

१ तदनंतर इंद्रंतुल्य असे नंदन महाराज त्या मुनीश्वराच्या निवासानें पवित्र वनलेल्या नंदनवनासारख्या वगीचांत गेले. २ सुगंधयुक्त दक्षिणवायृनें दुरूनच

महाराजांचा श्रम नाहींसा केला व जवळ जाऊन उदार अशा महाराजांना वर्षु-प्रमाणें आर्छिंगन दिलें. महाराज दुरूनच पर्वताप्रमाणे उंच असलेल्या हत्तीवरून खालीं उतरले. स्वतःच्या खालीं उतरण्यानें त्यांनी विनयाच्या अभावीं संपत्ति असूनहीं तिचा काय उपयोग आहे.ही गोष्ट जणु स्पष्ट केली. ४ छत्र, चवऱ्या व-गैरे राजाचिन्हांचा त्यावेळी त्यांनी त्याग केळा. एवढेच नव्हे तर नोकराच्या हा-ताचाही आधार घेतला नाहीं. अशा रीतीनें त्यांनी उचानांत प्रवेश केला. ५ तां-वड्या अशोक दक्षाच्या खालीं निर्मळ स्फटिक मण्याच्या शिलेवर वसलेले मुनि महाराजांना जणुं उत्तम धर्माच्या मस्तकावर वसलेले आहेत असें दिसलें. ६ महाराजांनी आपळे हात कमळाच्या कळीप्रमाणें करून ते मुक्कटाच्या अग्रावर ठेविले व तीनदां मदक्षिणा करून त्यांनीं मुनीश्वरांना पंचांग नमस्कार केला. ७ राजांचे स्वामी असे ते नंदन महाराज मुनीश्वरांच्या जवळ जमिनीवर वसले व आपले हात जोडून नमस्कार करून पुढे लिहिल्याप्रमाणे मुनीश्वरांना ह्मणाले. ८ हे भगवंता! आपण मोहाचा नाश केला आहे. सम्यग्दर्शनाप्रमाणे असलेल्या आपल्या दर्शनानें भव्य जीवांना मोक्षप्राप्ति होणार नाही काय? अवज्य होईली ९ हे नाथ ! आपण अकाम असून देखील मला पूर्णकाम कसे केल याचे मला आश्चर्य वाटतें. याशिवाय मला दुसरें आश्चर्य वाटत नाही. अर्थात् आपण अकाम अहात ह्मणजे आपण कामविकाराने रहित आहात. व मला आपण पूर्णकाम केलें ह्मणजे माझ्या सर्व इच्छा पूर्ण केल्या. तसच आपण अकाम ह्मणजे इच्छाराहित आहात. पण आपल्या आश्रयान भक्ताच्या सर्व इच्छा पूर्ण होतात असा या श्लो-काचा अभिप्राय आहे. १० हे नाथ! आपण सर्व भव्य प्राण्यावर अनुग्रह-उपकार करीत असता ह्मणून आपल्यापासून माझी पूर्वजन्मपरंपरा मी ऐकण्याची इच्छा करीत आहे. ११ याप्रमाणें नंदन महाराज भाषण करून थांवल्यावर सकलावधि-ज्ञानरूपी डोळा ज्यांना प्राप्त झाला आहे असे प्राष्टिल मुनीश्वर पुढें लिहिल्याप्रमाणे बोलूं लागले.

यथावत्कथ्यमानानि मया जन्मांतराणि ते त्वमेकाश्रिधया व्यक्तं भव्यचूडामणे ! शृणु ॥ १२॥ अथेह भारते वास्ये कुलशैलसरोभवा ॥ विद्यते जान्हवी फेनैहंसन्तिवान्यानिम्नगाः ॥ १३॥ अस्त्युत्तरतटे तस्या वराहा नाम पर्वतः॥ उछंव्य शिखरैव्योंम द्रष्टं नाकमिवाञ्जितः॥ १२॥ १२ भव्यसमूहांत मस्तकावरील रत्नाप्रमाणें शोभणाव्या हे नंदन राजा! मी तुझें पूर्वजन्म जसे झाले आहेत तसें स्पष्टिरातींनें सांगावयास सुरवात करितों. तूं आपली बुद्धि स्थिर करून ऐक १३ या भरत क्षेत्रांत हिमवानपर्वतावरील पद्मनां-वाच्या सरोवरापासून गंगा नदी उत्पन्न झाली आहे. ती आपल्या फेसांनीं जणुं अन्य नद्यांना हसतच आहे अशी भासते. या नदीच्या उत्तर किनाव्यावर वराह नांवाचा पर्वत आहे. आपल्या शिखरांनीं त्यानें आकाशाचें उल्लंघन केलें असल्यामुळें जणुं स्वर्गाला पाहण्यासाठीं इतका उंच तो गेला असावा असें वाटू लागते.

अभवस्त्वं गिरौ तत्र त्रासितक्षीवकुंजरः॥ इतः प्रभृति राजेन्द्र ! मृगेंद्रो नवमे भवे ॥ १५॥ बालेंदुस्पर्द्धिदंष्ट्रायकरालितबृहन्मुखः ॥ दावानलशिखापिँगभंगुरस्कंघकेसरः ॥ १६॥ कपिलभूधनुर्भीमो ज्वलदुल्कोपमेक्षणः॥ पूर्वानुवृत्तलांगूलपलवोच्छ्रिततध्द्रजः ॥ १७ ॥ 🕟 प्रोत्तुंगपूर्वकायेन क्रामिवव नभस्तलं ॥ सांद्रचंद्रांशुसंपातप्रोच्छ्वसत्कुमुदच्छविः ॥ १८ ॥ तत्सानौ गर्जतो मेघांस्तर्जयन्गर्जितैः क्रुधा ॥ उत्प्तुत्योत्प्तुत्य वेगेन द्रावयन्नखरैः खरैः॥ १९ ॥ कुंजराननुकुंजाद्रिमनुधावन्प्रधावतः॥ इति तत्रावसत्स्वैरं चिरकालं गिरौ हरिः॥ २०॥ अन्यदा वन्यनागेंद्रं हत्वा सिंहः श्रमातुरः अध्यशेत गुहावकं नगस्याहेतुहासवत् ॥ २१ ॥

१५ हे राजेंद्रा! या भवापासून मागील नवच्या भवांत तूं त्या पर्वतावर उन्मत्त हत्तींना दे माय घरणी ठाय असें वाटावयाम लावणारा सिंह झाला होतास १६ बालचंद्राशीं स्पर्धा करणाऱ्या दाढांच्या अग्रभागांनीं त्याचें मोठें तोंड फार भयंकर दिसत होतें. जंगलांत पेटलेल्या अग्रीच्या ज्वालापमाणें पिवलसर व चंचल अशा खांद्यावरच्या केसांनीं तो आधिक भयंकर दिसत असे. त्याच्या धनुष्याकृति व पिंगट भ्रवयांनीं त्याच्या कूर आकृतींत क्रूरपणाची अधिक भर पडली होती.

आकाशांत्न पडणाऱ्या उज्ज्वल नक्षत्रसमूहाप्रमाणें त्याचे घारे डोळे होते. त्यानें आपलें शेंपूट पाठीवर वळविलें असल्यासूळें त्याचा शेंडा उंच केलेल्या पताकेप्रमाणें दिसत होता. त्याच्या शरीराचा पूर्वभाग उंच व विशाल असल्यासुळें तो आकाशावर आक्रमण करण्याची जण इच्छा करीत आहे असे पाठा असे. चंद्राचे दाट किरण पडण्यानें विकसित झालेल्या पांढच्या कमलाप्रमाणें त्याच्या शरीराची कांति होती. त्या पर्वतावर मेघ गर्जना करीत असतां कोधानें गर्जना करून त्यांची तो निर्भत्सना करीत असे. अर्थात मेघांची गर्जना त्यास सहन होत नसे. त्यासुळें तो वारंवार उडी मारून वेगानें त्यांच्यावर झडप घालीत असे व त्यांना आपल्या तीक्षण नखांच्या अग्रभागांनीं फाइन टाकीत असे. २० इत्ती धांवत सुट्टन जोंपर्यंत पर्वताच्या कोणत्या तरी लतांनीं ज्याप्त झालेल्या जागेंत जाऊन घुसत नसत तोंपर्यंत त्यांचा तो सिंह पाठलाग करीत असे. याप्रमाणें तो सिंह त्या पर्वतावर फार दिवसपर्यंत स्वच्छंडानें राहित्या होता. २१ कोणे एके वेळी एका जंगली मोठ्या हत्तीला मारल्यासुळे त्याला फार थम झाले होते म्हणून तो थक्षन गुहेच्या तोंडीं निजला होता. निव्हां तो पर्वताच्या निष्कारण हात्याप्रमाणे भासला.

आयातौ तं तथा सुप्तं पावनौ पवनाध्वना ॥ यती दहशतुर्नाम्नामितकिर्यमितप्रभौ ॥ २२॥ अवतीर्य यती मुख्यावंबरादंबरेचरा ॥ आसातां सप्तपणस्य मूले मणिशिलातले॥ १३॥ चारणौ हरिबोधाय सानुकंपावकंपनौ ॥ पेठतः कलकंठौ तौ प्राज्ञौ प्रज्ञितम् ॥२४॥ ततस्तद्ध्विनना ध्वस्तनैद्रतंद्रो मृगोधिपः॥ विहाय सहजं कौर्यमायिचित्तोऽभवत्क्षणात्॥ २५॥ निर्गत्य स्नस्तकणीयवालिधस्तद्वहामुखात्॥ भीपणाकृतिमुत्सृज्य भेजे सिंहस्तदांतिकं ॥ २६॥ अत्यंतशांतभावेन पुरो निविविशे तथोः॥ सन्मुखं तन्मुखालोकुप्रीतिविस्तारितेक्षणः ॥ २७ ॥ आलोक्यामितकीर्तिस्तमित्यवादीदुदारधीः॥ अहो मृगेंद्र ! सन्मार्गमप्राप्येवं भवानभूत्॥ २८॥

नात्रैव केवलं नूनं सिंह! सिंहायितं त्वया॥ दुरंतानादिसंसारकांतारेऽप्यभयात्मना॥ २९॥ अनादिनिधनो जीवः परिणामी स्वक्रमेसुक्॥ कर्ता शरीरमात्रोऽस्ति ज्ञानादिगुणलक्षणः॥ ३०॥

२२ आकाशमार्गानें येणारे पवित्र अशा अमितकीर्ति व अमितयभ या नांवाच्या दोघा मुनींनीं त्याला गुहेच्या तोडाजवळ निजलेला पाहिंल. २२ चारणऋदि (आकाशांतून जिने गमन करतां येते अशी ऋद्भि) धारक असे ते दोंचे मुख्य मुनि आकाशांतुन उतरून सप्तपर्ण झाडाच्या खाली रत्निशिलेवर वसले. २४ त्या सिं-हाला पाहून त्यांच्या अंतःकरणांत दया उत्पन्न झाली ह्मणून न भीतां ते निपुण मुनि सिंह जागा व्हावा हाणून मधुर स्वरानें उत्कृष्ट प्रजाप्ति विद्येचें उचारण करू लागले. २५ त्यांचा तो ध्वनि ऐक्रन सिंहाचे। झोंप व आळस नाहींसे झाले. त्यानें आपल्या स्वाभाविक क्रूरपणाला रजा दिली व तत्काल तो आर्यचित्त-कोमल परिणामी बनला. २६ त्याने आपले शेंपूट कानाच्या अग्रभागावर ठेवून ादीलें व आपली भयंकर मुद्रा सोडिली व तो गुहेच्या तोंडापासून निघृन त्या दोघा मुनी। श्वराजवळ प्राप्त झाला. २७ त्या ढोघा मुनींचें तोंड पाहिल्यावरोवर त्याच्या मनांत प्रेम उपजलें. व त्यामुळें त्याचे डोळे विरतृत झाले तो अत्यंत शांत होऊन व न्यांच्या मुखाकडे आपली निश्वल नजर लाऊन त्यांच्या पुढें वसला. २८ उदार बुद्धिच धारक अमितकीर्ति नांवाचे मुनि त्याला पाहून पुढें लिहिन्याप्रमाणें वोलले-" हे मृगेंद्रा ! तुला आजपर्यंत सन्मार्ग-जैनधर्म मिळाला नाही ह्मणून तुझी अशी अवरथा झाली आहे. २९ हे सिंहा ! तूं याच जन्मांत ही सिंहाची अवस्था धारण केळी आहेस असे नाहीं तर दुःखे देणांऱ्या या अनादिकालापासून चालत आ-लेल्या संसारांत निर्भय अशा तुजकडून अनेक वेळां सिंहपणा धारण केला गेला आहे. हे सिंहा ! हा जीव अनादि निधन आहे अर्थात् मार्गे होता व पुढेंही राहील. याचा जीवपणा केन्हां ही नष्ट होणार नाहीं. हा आत्मा परिणामी आहे अथीत् याच्यामध्यें नेहमीं अनेक पर्याय उत्पन्न होतात. हा आत्मा जी पापपुण्ये करितो त्यांचें फल-सुख व दुःख यांचा हा उपभोग घेतो ह्मणून हा कर्ता व भोक्ता आहे याला या संसारांत शरीरनामकर्माच्या उदयाने जसे लहान किंवा मोट शरीर मिळतें तसा हा त्या शरीगंत लहान किंवा मोठ्या आकृतीचा होऊन हा राहता. याचें ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र हीं लक्षणें आहेत. या गुणांनी हा इतर पुद्र-लादि पदार्थापासून वेगळा करता येतो.

**%रागी वध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुंचित ॥** जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपादंधमोक्षयोः॥ ३१॥ अतो रागादिभिः सार्धं मिथ्यात्वविषमुत्सृज ॥ काललञ्ध्यादयो लभ्या नाप्तपूर्वी यतस्त्वया॥ ३२॥ मूलं वंधादिदोषस्य रागद्वेषाबुदाहृतौ ॥ तयोरुपचयेनैव सम्यक्तं च विहन्यते॥ ३३॥ त्वया रागादिदोषेयां आन्ता जन्मपरंपरा ॥ सा सिंह! श्रूयतां श्रोत्रं पात्रीकृत्य गिरां मम ॥ ३४ ॥ द्वीपेऽस्मिन्नगरी पूर्वविदेहे युंडरीकिणी॥ सार्थवाहोऽभवत्तस्यां धर्मस्वामीति धार्मिकः॥ ३५॥ सार्थेन तस्य सार्थेन तेन सार्धं महामुनिः॥ ययौ सागरसेनाख्यो विख्यातस्तपसां निधिः ॥ ३६ ॥ एकदा दस्युवंदेन तस्मिन्सार्थे विल्लंठिते॥ शूरैर्मृतं गतं भीतैर्नरै रत्नपुरांतरे ॥ ३७ ॥ नार्या पुरूरवानामा कश्या मधुवने युतः॥ दहशे यतिना तेन दिङ्मूढेन वनेचरः ॥ ३८ ॥ स क्रूरोऽपि मुनेर्वाक्यात्पुर्लिदो धर्ममग्रहीत्॥ अप्याकस्मिकतः साधोः संयोगात्को न शाम्यति॥ ३९॥ अतिदूरं समं गत्वा तेन प्रगुणवर्त्माने ॥ दस्युना योजितो भक्त्या ययौ यतिरनाकुलं॥ ४०॥

३१ हा जीव रागद्वेष, मोह, अज्ञान वंगरेच्या तावडीत सांपहन ज्ञानावरणादिक आठ कर्मानीं वांघला जातो. व जेव्हां या विकारणास्न याची सुटका होते अर्थात् तो पूर्ण वीतराग-शुद्ध वनती तेव्हां त्याला मोक्षलाभ होतो. तो कर्माणासून वेगला होतो. असा हा जिनेश्वरांनीं संक्षेपाँन वंघ व मोक्षाचा उपटेश केला आहे.

टीप-मध्यते मुच्यते जीव. सममी निर्मम कमात् ॥ -श्रीप्ज्यपादिवरिषेते इटीपदेवे ।

## अहिंसादीनि संरक्ष्य व्रतानि स चिरान्यतः॥ सौधर्मे द्विसमुद्रायुरासिद्देवः पुरूरवाः॥ ४१॥ अणिमादिगुणोपेतस्तत्र दिन्यं सुखामृतं॥ पीत्वाप्यवातरत्राकात्पूर्वपुण्यक्षयात्ततः॥ ४२॥

३२ यास्तव हे सिंहा! तूं या रागद्वेषादि विकारासह मिथ्यात्वरूपी विषाचा त्याग कर व यांचा त्याग केलास ह्मणजे काललब्धि वगैरे निमित्तें जीं तुला पूर्वी कधीं ही पाप झालीं नव्हतीं तीं पाप होतील. अर्थात् जैनधर्माचा उपदेश, जातिस्मरण वगैरें कारणें मिळ्न तुला सम्यग्दर्शनाचा लाभ होईल. ३३ कमीचा वंध होणें, त्यांचा उदय होऊन आत्म्याला सुखदुःखादि प्राप्त होणें या गोष्टीचें मूलकारण राग व द्वेष हेंच जिनेश्वरांनीं सांगितलें आहे. या रागद्वेषांचा अतिशय संग्रह झाला असतां जीवांचें सम्यक्त्व नष्ट होतें.३४हे सिंहा! रागादि दोषांनीं तुं युक्त झाल्यामुळें तुला संसारांत अनेक जन्मांत श्रमण करावें लागलें आहे. हे सिंहा! त्या तुझ्या अनेक जन्माचें मी वर्णन किरतों, तूं माझ्या वचनांचें ग्रहण कर-ण्यासाठी आपल्या कानाला पात्न कर अर्थीत् माझें भाषण ऐक.३५–३६ या जंबू-द्वीपांत पूर्वविदेह क्षेत्रामध्यें पुंडरीकिणी नांवाचे शहर आहे. तेथे धर्मस्वामी नांवाचा एक व्यापारी राहात असे. तो धार्मिक व व्यापाच्यांचा पुढारी होता. एके वेळीं पुष्कळ धन स्वतः जवळ घेऊन तो व्यापाऱ्यांचा पुढारी व्यापारासाठीं पुष्कळ च्यापाऱ्यासह निघाला असतां त्याचे वरोवर तपश्चरणांचा साठा असलेले प्रसिद्ध सागरसेन नांवाचे म्रुनिही निघाले. ३७ एके वेळीं चोरांनीं त्या व्यापाऱ्यांच्या समूहाला लुटलें. तेव्हां जे जूर लोक होते तेमारले गेले व भ्यालेलीं माणसें जवल असलेल्या रत्नपुर शहराकडे पळ्न गेलीं. ३८ इकडे मुनिराज आतां आपण कोणत्या रस्त्यानं जावें हें समजेनासें झाल्यामुळें गोंधळ्न गेले व मधुवन नांवाच्या जंगलांत ते चुक्रन गेले. तेथें काशी नांवाच्या स्त्रीसह पुरूरवा नांवाच्या भिल्लाला त्यांनीं पाहिलें. ३९-४० पुरूरवा क्रूर होता तथापि मुनीश्वरांच्या उपदेशानें त्यानें जिनधमीचा स्वीकार केला. बरोवर आहे कीं, आकिसमक जरी सत्पुरुषाचा संयोग झाला तरी त्यापासून कोणाचें अंतःकरण शांत होत नाहीं वरें ? मुनिराजावरोवर तो पुरूरवा फार दूरपर्यंत गेला व त्याने त्यांना सरल वाटेवर आणून सोडिलें तेव्हां मुनीश्वर व्याकुलतेने रहित होत्साने पुढें निघृन गेले. ४१-४२ इकडे अहिंसादिक व्रतांचे पुरूरच्यानें पुष्कल दिवसपर्यत रहाण केल व तो मरून सौधर्मस्वर्गीत दोन सागर वर्षे आयुष्य ज्याचे होते असा देव झाला. तेथें त्याला आणिमादि आढ गुणांची प्राप्ति झाली व तेथें तो दिव्य सुलरूपी अमृताचें प्राज्ञन करूं लागला. तदनंतर पुण्याचा क्षय झाल्यामुळें तो तेथून अवतरला.

भारतेऽस्मिन्पुरी ख्याता विनीतास्ति पुरां पतिः॥ स्वर्गसारमिवाोच्चित्य स्वयं शक्रेण कल्पिता ॥ ४३॥ रत्नसालप्रभाजालै।र्नेरुद्धतिमिरागमा ॥ व्यर्थेदियं हसंतीव या निशासु निशाकरं ॥ ४४ ॥ हम्योत्रशिखरानद्धस्फुरन्नीलरुचां चयैः॥ आच्छाद्यते सहस्रांशुर्यत्रनीलघनैरिव ॥ ४५॥ निश्वाससौरभाकृष्टा वक्रांभोजेषु योपितां॥ यूनां यत्रेक्षणेः सार्द्धं निपतंति मदालिनः ॥ ४६ ॥ यत्र च प्रतिमायातरमणीलोललोचनाः॥ नीलोतपलसरःकांतिं वहांति मणिभूमयः ॥ ४७॥ सौधगोपानसीलभपद्मरागांशुमंडलैः॥ यत्राकालिकसंध्याभ्रविभ्रमो दिवि तन्यते ॥ ४८ ॥ यस्यां मरकतच्छायाच्छादिता हर्म्यमूर्धसु ॥ मयूरा न्यक्तिमायांति परं केकारवैः कलैः ॥ ४९ ॥ श्रीमांस्तीर्थकृतामाद्यः सार्वः सर्वग्रणास्पदः ॥ वृषभो वृषसंपन्नो नगरीमध्युवास तां॥ ५०॥ यस्य गर्भावतारे भूरिंद्राचैनिंचितामरैः॥ वभार सकलां लक्ष्मीं स्वर्गलोकस्य तत्क्षणं ॥ ५१ ॥ दिव्यर्दुदुभयो नेदुः प्रणनर्ताप्सरोगणः ॥ यस्मिन् जाते जहास द्यौः पतत्कुसुमवृष्टिभिः ॥५२॥ उत्पन्नमात्रमानंदाद्यं नीत्वा मेरुमूर्धनि ॥ स्नापयांचिकिरे देवाः शकाद्याः श्लीरवारिभिः॥ ५३॥

४३ या भरत क्षेत्रांत सर्व नगरांची स्वामिनी अशी विनीता नांवाची नगरी आहे. ही नगरी इंद्रानें रवर्गातील सर्व उत्कृष्ट पदार्थ एकत्र करून जणु बनविले-की होती. ४४ या नगरीचा तट रत्नांनीं बनाविला होता. त्यामुळं त्यांच्या कांति. समूहाने अंधकाराचें आगमन होऊं शकत नसे. म्हणून राहीं व्यर्थ उगवलेल्या चंद्राला ही नगरी जणु इसत होती. ४५ येथील वाड्यावर असलेल्या शिखरावर वसाविलेख्या नील रत्नांच्या कांतिसमूहाने सूर्य निळ्या मेघांनीं जणु काय आ-च्छादिला जात असे. ४६-४७ स्त्रियांच्या श्वासोङ्कासाच्या सुगंवाला छुब्ध होऊन आलेले उन्मत्त भुंगे तरुणांच्या नेत्रासह स्त्रियांच्या मुखावर पडत असत. या नगरींत ज्यामध्यें सुंदर स्त्रियांचे डोळे प्रतिविंबित झाले आहेत अशा रत्नांच्या भूमि निळ्या कमळांनीं युक्त असलेल्या सरोवराच्या शोभेला धारण करितात. ४८ राजवाड्यांच्या सज्जावर वसविलेल्या पक्षरागमण्याच्या किरण मंडलाने या नगरीमध्यें संध्याकाळची वेळ झाली नसतांही आकाशांत संध्याकाळच्या मेघांची शोभा उत्पन्न केली जात असे. ४९ या नगरींत वाड्यांच्या शिखरावर असलेले मोर पांच रत्नांच्या कांतीनें आच्छादित झाल्यामुळे लोकांना दिसत नव्हते पण ते जेव्हां मधुर शब्द करीत असत त्यावेळीं त्यांच्या केकांनी लोक त्यांना ओळखुं शकत. ५० अशा ऱ्या नगरींमध्यें लक्ष्मीसंपन्न, सर्व तीर्थकारापैकीं पहिले, सर्वाचे हित करणारे, व सर्व सद्धुणांचे माहेरघर असलेले, धर्मसंपन्न असे आदि-तीर्थकर राज्य करीत असत. ५१ श्री आदिनाथ तीर्थकर जेव्हां मरुंदवी मातेच्या गर्भीत आले तेव्हां सर्व इंद्रादि देव या भूमीवर आले होते. त्यावेळीं या भूमीनें थोडा चेळपर्यंत रवर्गाच्या पूर्ण शोभेला धारण केलें होतें. स्वर्गातील सर्वच देव या भूमीवर आल्यामुळें ही भूमी त्यावेळीं पूर्ण स्वर्गमय झाली असे लोकांना वाटलें. ५२-५३ जेव्हां प्रभूंचा जन्म झाला तेव्हां पडत असलेल्या पुष्पदृष्टीच्या मिषानें आकाश जणु हंसू लागले. अप्सरांच्या समुदायानें नृत्य केलें व आकाशांत स्वर्गीय नगाऱ्यांचा गंभीर नाद होऊं लागला. यसु उत्पन्न झाल्यावरोवर त्यांना इंद्रादिकांनी मेरु पर्वताच्या मस्तकावर नेलें व तेथें क्षीर समुद्राच्या पाण्यांनीं त्यांनीं प्रभूला स्नान घातलें।

मतिश्रुतावधिज्ञानैः सहोत्पन्नैर्यतः स्वयं ॥ व्यबुद्ध सिद्धिसन्मार्गं यः स्वयंभूरभूत्ततः ॥ ५४ ॥ पद्कर्मजीवनोपायैः सिन्नश्रुज्याकुलाः प्रजाः ॥ ५५ ॥ येन कल्पद्रुमापाये कल्पवृक्षायितं पुनः ॥ ५५ ॥

आसित्तस्यात्मजो नाम्ना भरतो भारतावनेः॥ पाता चक्रभृतामाद्यः प्राज्य साम्राज्यसाजितः॥ ५६॥ चतुर्दशमहारत्नसंप्रतंपादितोन्नतैः

आसन्यस्यालये नित्यं निधयो नवर्किकराः ॥ ५७ ॥ यस्य दिग्विजये भूरिसेनाभरनिपीडनम् ॥ असहन्ती धरा रेणुव्याजेनेवारुरोह खं॥ ५८॥ रेजिरे तच्चमूचारुनारीभिरवतांसिताः॥ वेलावनलतालीनां भंगं प्राप्यापि पलवाः ॥ ५९ ॥ अंभोराशिः करानिंदोः पीत्वा पुनरिवोद्गिरन् ॥ दहशे सैनिकैर्यस्य तीरस्थैः फेनराशिभिः ॥ ६० ॥ यस्यालब्धरणारंभा वारिधौ वारिकुंजरैः॥ प्रत्युत्थितैर्भदामर्पात् क्रुधा युध्यंति दन्तिनः ॥ ६१ ॥ यं शशास स्फुरचकाश्रया दक्षिणवाहुना ॥ षट्खंडमंडलां घात्रीं घात्रीशामादिपूरुषः॥ ६२॥ तस्य प्रिया महादेवी त्रिजगच्चारुतावधिः॥ धारिणीति क्षितौ ख्याता वभूव गुणधारिणी ॥ ६३ ॥ तयोर्महात्मनोरासीत्स्वर्गादेत्य सुरः सुतः ॥

मरीचिरुदितादित्यमरीचीन् च्हेपयन्रुचा ॥ ६४ ॥
५४ प्रभु मितज्ञान, श्रुतज्ञान व अवधिज्ञान हीं तीन ज्ञानें वरोवर घेऊनच उत्पन्न झाले होते. व त्यांनी स्वतः मोक्षमार्गाचें स्वरूप जाणिलें होतें यास्तव ते
स्वयंभू होते. ५५ जीवनाच्या उपायाची माहिती नसल्यामुले खिन्न झालेल्या
प्रजेला षट्कर्मामध्यें—अर्थात् आसी, माषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या व शिल्प वामध्यें
नियुक्त बेलें हमणून कल्पन्नक्षांचा जरी त्यावेली अभाव झाला होता तभी प्रभूच
तेव्हां पुनः प्रजेला कल्पन्नक्षापमाणें वाटूं लागले. ५६ प्रभु आदिनाथ त्यामीला
भरत या नांवाचा सर्व भरत क्षेत्राचे संरक्षण करणारा मुलगा होता. हा चक्रवर्ती
मध्यें पहिला चक्रवर्ती होता व उत्कृष्ट सार्वभीम राज्यानें अलंकृत झाला होता.
५७ या भरतन्वपतीनें चौदा दिव्य रत्नांच्या संपत्तीच्या प्राप्तीनें स्वतःची ऐहित उन्नती

पूर्णतेस नेली होती. या चक्रवर्तीच्या घरीं नंक प्रकारचे निधि नोकर होक्जन राहिले होते अर्थात या निर्धापासून त्याला नाना प्रकारच्या वस्तूंची प्राप्ति होत असे. ५८ हा चऋवर्ती दिशांना जिंकण्यासाठीं निघाला तेव्हां याच्या पुष्कळ सैन्याच्या ओझ्यानें उत्पन्न झालेलें दु:ख पृथ्वीला सहन झालें नाहीं. ह्मणून जणु ती धुळीच्या मिषानें आकाशांत निघृन गेल्याप्रमाणें वादूं लागलें. ५९ समुद्राच्या किनाऱ्यावर असंहेल्या जंगलांतील वेलींच्या समृहांची कोमल पानें मंग पाऊन देखील भरत चत्रवर्तीच्या सेनेंतील स्त्रियांनी आपल्या कर्णभूषणासाठीं त्यांचा उपयोग केला असल्यामुळें शोभू लागलीं. ६० समुद्राच्या किनाऱ्यावर पुष्कळ फेस जमलेला पाहून भरताच्या सैन्याला असे वाटलें कीं, चंद्राचे किरण प्रथमतः पिऊन हा समुद्र पुन: जणु ते ओकीत आहे. ६१ ज्यांना युद्ध करण्याचा प्रसंग आला नव्हता असे भरत चक्रवर्तींचे हत्ती समुद्रामध्यें वर उसळ्न आहेल्या पाणहत्तीशीं मदानें नेफाम होऊन रागानें युद्ध कारितात. ६२-६४ राजसमूहांत प्रथम असलेला हा भरत चक्री स्फुरायमाण झालेल्या चक्राच्या शोभेनें अलंकृत झालेल्या आपल्या उजन्या हातानें सहा खंडांनीं युक्त असलेल्या या पृथ्वीचें राज्य करीत होता. या चक्रवर्तीः च्या त्रिय पहराणीचे धारिणी असे नांव होतें. या राणीचें सौंदर्य इतकें उत्तम होतें कीं तसलें सौंदर्भ त्रैलोक्यांत कोठेंच आढळून येत नसे तिनें पुष्कळ सद्गु-णांना धारण केलें असल्यामुळेंही तिचें धारिणी हैं नांव सार्थक होतें. तो स्वर्गी तील देव पुरूरवा [जो पूर्वभवीं भिल्ल होता] तेथून अवतरून या उभयतांना मरीचि नांवाचा मुलंगा झाला. यानें आपल्या कांतीनें उगवलेल्या सूर्याच्या मरीचींना-किरणांना लिजित केले होतें.

लीकांतिकामरेरेत्य बोधितेन स्वयंभुवा॥
स दीक्षां पुरुदेवेन मरीचिः सममग्रहीत्॥ ६५॥
दीनेन दुःसहास्तेन सेहिरे न परीषहाः।
नैर्ग्रन्थ्यं हि परं धत्ते धीरिचित्तो न कातरः॥ ६६॥
प्रविहाय तपो जैनं संसारोन्भूलनक्षमं॥
स्वयं प्रवर्तयामास सांख्यं सांख्यावदां विभुः॥ ६७॥
नियुज्य कापथे तस्मिन्नन्यानप्यल्पमेधसः॥
मम्करी घोरामिध्यात्वादाचचार चिरं तपः॥ ६८॥
मृत्युमासाद्य कालेन मरीचिः क्रिटिलाशयः॥
त्रिदशः पंचमे कल्पे कायक्लेशफलादभूत्॥ ६९॥

द्शामनुभवन्दिव्यां द्शांभीराशिराजितः॥ अवसत्सुरनारीभिस्तत्र नेत्राईवीक्षितः॥ ७०॥ आससाद् कृतान्तस्तं जीवितांते निरंकुशः॥ संसृतौ वर्तमानस्य कस्य मृत्युरगोचरः ॥ ७१ ॥ पुरे कौलीयके जातः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ द्विजन्मा कौशिको नाम कौसीद्येन विवर्जितः॥ ७२॥ तस्य प्रणयिनी चासीत्कापिला कपिलोपमा ॥ निसर्गमधुरालापा भर्तृपादैकदेवता ॥ ७३॥ अजायत तयोः प्रेयान्ध्वर्गादेत्य सुतः सुरः । तन्वन्मिथ्यादृशां वित्ते मैत्रीं मैत्रायणः परां ॥ ७४ ॥ पारिव्राज्यं तपो घोरमाचर्याचार्यतां गतः ॥ कुद्धेनेवेति स प्रापे कृतान्तेन कृतान्तकृत् ॥ ७५॥ ६५ होकांतिक देवांनी येऊन श्री आदिनाय प्रभूला संवोधन केलें.

इप लोकातिक देवांना यंजन श्री आदिनाय प्रभूला सवाधन कल.
अर्थात् त्यांचें वैराग्य दृढ होण्याकिरतां आपली संमती दर्शिवली. त्यांचें प्रशु बरोवर मरीनीनेंही दीक्षा चेतली. ६६ परंतु सहन करण्यास कठीण अमे भूक. तहान, थंडी, उष्णता वगैरे परीषहांना दीन असा तो मरीचि ग्रुनि सहन करं शकला नाहीं. वरोवरच आहे कीं, ज्याचें चित्तांत धेये वास करीत आहे तोच निर्म्य लिंगाला-जिनदीक्षेला धारण करं शकतो. भित्रीं माणसे धारण करण्यास समर्थ होत नाहीं. ६७ संसाराचा पूर्णपणें नाम करण्याम समर्थ असलेले जिनेश्वरांनीं सांगितलेले उपवास वगेरे वारा प्रकारचें तप न्यानें मोइन असलेले जिनेश्वरांनीं सांगितलेले उपवास वगेरे वारा प्रकारचें तप न्यानें मोइन दिलें व अनेक प्रकारचे तर्क कुतर्क करणाच्यांचा गुरु अमा या मरीचीनें मांन्य-दिलें व अनेक प्रकारचे तर्क कुतर्क करणाच्यांचा गुरु अमा या मरीचीनें मांन्य-

<sup>%</sup> टीप—मराचिश्च गुरोनेष्ठा पग्त्रिड्स्यमाम्थित ॥ मिश्यात्ववृद्धिमकरोट्पमिद्धातभाषिते ॥ ६१ ॥ तद्यज्ञमभूद्योगभास्त्र तंत्रं च काषित ॥ येनाय मोहिनो लोक सम्यक्तानपगटमुख ॥ ६२ ॥ महापुगणे १७ पर्याणे.

विवाय दर्शन मास्त्यं कुनारेण मरीनिना ॥ त्याप्त्यान निन्निज्ञास्य क्षित्रस्य प्रतीयमा ॥ ६० ॥ नर्भपगिक्षणमां अस्त्रादश्चारिकाः १८

लोकांनाही वलवन घेतलें. व तीत्र पिथ्यात्वकमीमुळें यानें पुष्कल दिवसपर्यंत नप के हैं. ६९ कों ही कालाने मरण पावन कुटिल विचाराचा तो मरीचि शरी-गलाच ज्यांत क्लेश दिले जातात, आत्मतत्वाची ज्यांत निर्मलता होत नाहीं अशा मिथ्यातपाने ब्रह्मस्वर्गामध्यं देव झाला. ७० तेथे याचे दहासागरोपम वर्षीचे आयुष्य होतं. देवांगना याच्याकडे अर्धे डोळे मिटवून प्रेमानें पाहात होत्या. अगा रीतीनें नो दिच्य अवस्थेचा अनुभव घेत तेथें राहिष्ठा. ७१ तेथेंही जेव्हां न्याचें आयुष्य संपलें तेव्हां ज्याला रोकतां येत नाहीं अशा मृत्यूनें त्याच्यावर दहा केला. बरोबरच आहे कीं, संसागंत असलेल्या कीणत्या प्राण्याला मृत्यूनें ग्रासलें नाहीं वरें ? ७२ कीलीयक नगरांत सर्व शास्त्रांत पारंगत आळस ज्याला माहीत नाहीं असा काशिक नांवाचा ब्राह्मण राहत असे. ७३ त्याच्या पत्नीचें नांव कापिला होतें. ती जमद्यीची स्त्री जी रेणुका तिच्या सारखी होती. ती आपल्या पनीच्या पायांना देव मानणारी होती अर्थात् पतित्रता होती व स्वाभाविकपणेच सर्वीशीं ती मधुर बोलत असे. ७४-७५ या उभयतांना तो देव स्वर्गीहून येऊन मुलगा बाला, हा त्यांचा फार आवडता होता. याचें मैत्रायण असें नांव होतें. याने पिथ्यात्वी लोकांच्या अंतःकरणांत स्वतः विषयीं मैत्री उत्पन्न केली अर्थात् याने पुष्कळ मिध्यात्वी लोकांना आपले अनुयायी वनविलें. पुढें याने दीक्षा घेतली व घोर मिथ्या तप करून आचार्य पदवी मिळविली. व गिथ्यातत्वांचा प्रचार केला व मिथ्याशास्त्रं रचिलीं. यामुळेंच जणु रागावलेला मृत्यु याच्याजवळ येऊन उभा राहिला अर्थात् कालान्तराने हा मरण पावला.

अभेयकान्तिसंपत्ति दधानो दिविजो महान्॥
अभवत्प्रथमे स्वर्गे स्वर्गनारीमनोहरः॥ ७६॥
ज्वलन्मणिविमानांत्रमध्यास्य प्रीतमानसः॥
निविश्वामरान्भोगान्निववार प्रियासरवः॥ ७७॥
तदपायभवामेयशोकाशानिहतो हदि॥
निपपात ततो नाकाद्दिसमुद्रायुषः क्षयात्॥ ७८॥
स्थूणाकारे पुरे सोभूद्धारदाजो दिजोत्तमः॥
यः शुद्धोभयपक्षाभ्यां राजितो राजहंसवत्॥ ७९॥
कुंदकुद्मलसत्कान्ति हसन्ती दन्तशोभया॥

पुष्पदन्ताभवत्तस्य गृहिणी गृहभूषणा ॥ ८० ॥

अवतीर्य ततः पुत्रः पुष्पिमत्रस्तयोरभूत् ॥
अन्योन्यरक्तयोर्नित्यं मोहवीजप्ररोहवत् ॥ ८१ ॥
उपगम्य परिवाजामाश्रमं स्वर्गिलिप्सया ॥
बाल एव बलाद्दीक्षां जग्राह निरवग्रहः ॥ ८२ ॥
विरकालं तपस्तप्ता मृत्योर्दशमुपागतः ॥
ईशानेऽजिन गीर्वाणो द्विपारावारजीवितः ॥ ८३ ॥
पश्यन्नप्सरसां नृत्यं तिस्मिन्नास्ते मनोहरे ॥
कंदर्पविबुधातोद्यवाद्यगीतक्रमानुगं ॥ ८४ ॥
तं स्वर्गः पातयामास क्षीणे पुण्येऽपि निर्जरं ॥
आधोरणं दिनापाये शयालुं मत्तदन्तिवत् ॥ ८५ ॥

७६-७७ तो मैत्रायण मिथ्या तापसी पहिल्या सौधर्म स्वर्गीत स्वर्गीय देवांगनांचें मनोहरण करणारा व पुष्कळ कांतीचा धारक असा मोठा ऋदिधारक देव होऊन जन्मला. तेथें प्रकाशमान रत्नांनीं वनलेल्या विमानामध्यें वसून देवां-गनासहित अतिशय आनंदित चित्तानें देवांना प्राप्त होणाऱ्या भोग्यपदार्थीचा उपभोग घेत सुखानें राहिला. ७८ जेव्हां त्याचें दोन सागरोपम वर्षीचें आयुष्य संपर्छे तेव्हां या सर्व भोगांना सोडून मला जावें लागणार ह्मणून तो फार गोक-युक्त झाला. या शोकरूपी वज्राचा याच्या हृद्यावर आघात झाल्यामुळं तो स्वर्गी-पासून खाली पडला. ७९ स्थूणाकार नांवाच्या शहरांत भारद्वाज नांवाचा उत्तम ब्राह्मण राहात असे. जसा राजहंस आपल्या दोन सुंदर व पांढऱ्या पंखानी शोभतो तसा हा ब्राह्मण माता व पिता यांच्या गुद्ध कुलानें शोभत होता. अर्थात् मातृपक्ष व पितृपक्ष हे दोन्हीं ही याचे शुद्ध होते. ह्मणून याला कुलीनपणाच्या दृष्टीनें चांगली शोभा आली होती. ८०-८१ आपल्या ढांतांच्या शोभेनें कुंढपुष्पांच्या कळ्यांच्या कांतीला इंसणारी, घराचें भूषण अशी पुष्पदन्ता नांवाची याची पत्नी होती. तो स्वर्गापासून खाली पडलेला देव नेहमीं एकमेकांवर अनुरक्त असलेल्या या उभयतांना मोहरूपी वीजाच्या अंकुराप्रमाणें प्रुत्र होऊन जन्मला. ८२ वाल-पणींच हा स्वर्गपाप्ती करून घ्यावी अजा इच्छेने मिथ्या तपस्च्याच्या आश्रमाकडे गेला व तेथें आईवापांची परवानगी नसतांहीं स्वच्छंदपणानें याने पारिव्राजक दीक्षा घेतली. ८३ पुष्कळ दिवस तपश्चरण करून हा मृत्यूच्या स्वाधीन होकन

ईगान रत्रगीत दोन सागर वपें आयुष्याचा धारक देव होऊन जन्मला. ८४-८५ त्या मनोहर स्वर्गीत कंदर्प जातीच्या देवांनीं वाजाविलेलीं वाद्यें व गीत आणि ताल यांना अनुसरून होणारें अप्सरांचें सुंदर तृत्य पाहात तो देव सुखानें राहिला. जेव्हां त्याचें पुण्य श्रीण झालें तेव्हां पाजलेला हत्ती ज्याचे दिवस भरले आहेत अगा निजलेल्या महाताला आपल्या पाठीवरून जमें फेक्कन देतो तसें स्वर्गानें त्याला आपल्या स्थानापासून टाकून दिलें.

पुरे श्वतविकाख्यायामाभिभातिर्दिजोऽमिचित् ॥ तद्भार्या गौतमी चासीद्द्युम्नद्यतिरपांशुला ॥ ८६॥ उदपादि दिवश्युत्वा सूनुरिमसहस्तयोः॥ कपिलीकृतदिग्भागो विद्यदीप्रतनुद्यता ॥ ८७ ॥ पारित्राजमनुष्ठाय तपो निष्ठितजीवितः॥ सुरः सनत्कुमारेऽभूत्कल्पेऽनल्पश्रिया युतः॥ ८८॥ सप्तसागरसंख्यातमायुस्तस्यागमत्क्षयं ॥ निपीतिभव तदीक्ष्य व्याजेनाप्सरसां हशा॥ ८९॥ अस्तीह मन्दिरं नाम सानंदं भारते पुरं॥ मंदिराष्ट्रचलत्केतुमालामंदीकृतातवं ॥ ९० ॥ गौतमोऽभूतपुरे तस्मिन् दिजः कुंदसमदिजः॥ कौशिकी कुशला गेहे गेहिनी चास्य वल्लमा ॥ ९१ ॥ दावानलशिखाकल्पानल्पकेशैर्ज्वलन्निव ॥ मिध्यात्वेनापरेणासीत्सोऽशिमित्रस्तयोः सुतः ॥ ९२ ॥ गृहवासरतिं हित्वा तपस्यामाचरन्परां ॥ परिव्राजकरूपेण चक्रे मिथ्योपदेशनं ॥ ९३ ॥ पंचतां चिरकालेन कालेन प्राप्य दुर्मदः॥ कल्पे बभूव माहेन्द्रे माहेन्द्रप्रतिमः सुरः ॥ ९४ ॥ सप्तोद्धिसमं कालं तत्र स्थित्वा यथेच्छया ॥ ततोऽच्यवत निःश्रीकः पादापाज्जीणपर्णवत् ॥ ९५ ॥

स्वस्तिमत्यां पुरि श्रीमान्सालंकायननामभाक् । दिजन्माभूतिया चास्य मंदिरा गुणमंदिरा ॥ ९६ ॥ स्वर्गादेत्य तयोरासीदपत्यमनपत्ययोः ॥ वैनतेय इवाघारो भारद्वाजो दिजिषयः ॥ ९७ ॥ पारित्राजं तपस्तप्वा चिराद्गिलतजीवितः ॥ माहेन्द्रे महनीयश्रीः कल्पेऽनल्पामरोऽभवत् ॥ ९८ ॥ सस्पृहं दिव्यनारीभिरायतेर्घनपंक्तिभिः ॥ कर्णोत्पलैः कटाक्षेश्च सुमुदे तत्र तादितः ॥ ९९ ॥ अनारतं रतं तासामन्वभूदान्वतः श्रिया ॥ सप्तसागरसंख्यातकालस्थितिसमेतया ॥ १०० ॥

८६-८७ श्वेताविका नांवाच्या शहरांत आग्नेभूति नांवाचा अग्निहोत्री ब्राह्मण राहात असे. त्याची गौतमी नांवाची स्त्री पतित्रता व लक्ष्मीप्रमाणें सुंद्र होती. या उभयतांना तो देव स्वर्गापासून चऊन आग्रिसह नांवाचा पुत्र झाला. याच्या गरीराची कांति विजेप्रमाणें तेजस्वी होती त्यापुळें यानें दिशांचे भाग पिंगट वर्णाचे केले. अर्थात् याच्या शरीराची कांति चोर्हाकडे पसरत असे. ८८ पारित्राजक तपश्चरण करून त्यानें आपलें आयुष्य समाप्त केलं. व तिसऱ्या सानत्कुमार स्वर्गात पुष्कळ ऐथ-र्याचा धारक असा तो देव वनला. ८९ तेथें देवांगनांच्या नेतांनी जणु प्यालेंगे-ल्यामुळें त्याचें तेथील सात सागराचे आयुष्य संपलें ९०-९२ या भारत क्षेत्रांत आनंदानें सहित असें मंदिर नांवाचे ज्ञहर आहे. येथील वाड्यांच्या गर्चावर हलणाच्या ध्वजपताकांनीं सूर्याचा प्रकाश मंद् केला होता. अशा त्या शहरात कुंद्पुप्पात्रमाणें ज्याची दंतपंक्ती आहे असा गौतम नांवाचा ब्राह्मण राहात असे. गृहकार्यामध्ये निपुण व गृहस्वामिनी अशी कौशिकी नांवाची आवहती पत्नी याला होती. या उभयतांना तो देव आग्नीमित्र नांवाचा मुलगा झाला. जंगलांत पेटलेल्या अमिच्या ज्वालाममाणें पिंगट वर्णाचे पुष्कल केस याच्या डोकीवर असल्यामुळें हा आग्नीमित दुसऱ्या गृहीत मिथ्यात्वार्ने जणु जळत असे वाटत असे ९३ पुढे याने गृहत्याम केला, व पारिव्राजनक दीक्षा घेऊन हा तीव्र तपश्चरण करूं लागला. व मिध्यात्वाचा सर्वीना उपदेश देत फिर लागला. ९४ पुढें पुष्कळ दिवसांनीं खोट्या गर्वाला घारण करणारा हा नपस्वी

मृत्यु पावला. व चौथ्या रवर्गामध्यें इंद्रतुल्य ऐश्वर्याचा देव होऊन जन्मला. त्या स्वर्गात तो सात सागर वर्षे सुखानें राहिला. तदनंतर आयुष्य संपल्यावर तो कांतिहीन होऊन झाडापासून जुनें पान जसें खालीं पढावें तसा तो रवर्गापासून पतन पावला. ६ ६ ५० स्वरितमती शहरांत सालंकायन नांवाचा एक श्रीमत ब्राह्मण राहत असे. याची गुणांचें घर असलेली मंदिरा नांवाची पत्नी होती. तो देव स्वर्गीतृन येऊन पुत्ररहित असलेल्या या उभयतांस भारद्वाज नांवाचा मुलगा होऊन जन्मला. हा ब्राह्मणांना फार पिय होता. जसा गरुड विष्णूला आधारभूत आहे तसा हा आपल्या मातापित्यांना आधार होता. ९८ एष्कल दिवसपर्यंत परित्राजक तप करून याचें या भवांतील आयुष्य संपल्यावर हा माहेंद्र स्वर्गात विपुल लक्ष्मीचा धारक मोठा देव होऊन जन्मला. ९९ येथें ज्यांच्या पापण्या दाट आहेत अशा दीर्घ कटाक्षांनीं व कानावर ठेविलेलया दीर्घ कमलांनीं कामेच्छेनें देवांगनांकडून ताडला गेलेला तो देव फार आनंद मानीत असे. १०० लक्ष्मीसंपन्न अशा या देवानें त्यांच्या संभोग मुखांचा नेहमीं अनुभव घेतला. अशा रीतीनें या स्वर्गसंपत्तीचा व मुखांचा सातसागर वर्षेपर्यत त्यानें उपभोग घेतला.

कल्पगृक्षस्य कंपेन म्लानमंदारमालया ।
दृष्टिम्रांत्यादिभिश्चान्यैः स्चितः स्वर्गनिर्गमः ॥१०१॥
विललाप कृताकंदो मंदीभूततनुगृतिः ।
विषादिविधुरां दृष्टिमिष्टरामासु पातयन् ॥१०२॥
शांतपुण्यप्रदीपस्य चिंतासंतप्तचेतसः ।
आशाचकं निराशस्य ममाद्य तिमिरावृतं ॥१०३॥
हा स्वर्ग ! विभ्रमोपेतदिव्यनारी जनांचित ! ।
किं मां न घारयस्यार्त्त निपतंतं निराश्रयं ॥१०४॥
शरणं कं प्रपद्येऽहं किं कृत्यं का गतिर्मम ।
केनोपायेन वा खृत्युं वंचिष्यामि तत्वतः ॥१०५॥
सहजेन गतं कापि लावण्येनापि देहतः ।
हा हा ! पुण्यक्षये किं वा विश्लेपं नोपगच्छिति ॥१०६॥

प्रणयेन समाश्विष्य गांढं कंठे तनूदिर ! ।
रंद्धि वेगेन गात्रेभ्यो निर्यियास्त्रस्तिमान् ॥१००॥
कुर्वन्प्रलापमिति मानसदुःखभारसंप्रेरणादिव दिवः सहसा प्यात।
कारुण्यबाष्पळ्ळिताक्षियुगेन दृष्टः कृष्टं विधृत्य निजमुग्धवधूजनेन

ततोऽवतीर्यास्तिमितोरुपुण्यो मिथ्यात्वदाहज्वरविव्हलात्मा। चिरं त्रसस्थावरयोनिमध्यमध्यास्त दुःखानि समश्चवानः ॥१०९॥ भान्त्वा कुयोनिषु चिरात्कथमप्यवाप मानुष्यकं पुनिरहाद्भुतगाप-भाराद।

जीवस्तथा हि निजनिर्मितकर्मपाकान्नाभ्योति किं किमिह नोज्झित किं न धत्ते ॥११०॥

अस्याः पुरे भारतवास्यलक्ष्म्या लीलांबुजे राजगृहे दिजोऽभूत्। शांडिल्यपूर्वायननामधेयः पारासरी तस्य वधूश्च नाम्ना ॥१११॥

१०१ कल्पष्टक्षाच्या हलण्याने व गळ्यांतील मंदार पुष्पांची माला सुकृत जाण्यानें, दृष्टिमध्यें भ्रम होण्यानें व इतर चिन्हांनीं त्याचें स्वर्गातून निघृत जाणें सूचित झालें. (देवांना जेव्हां त्याचे आयुष्य सहा महिने उरतें तेव्हां अशी निन्हें होत असतात.) १०२ या चिन्हांनीं घावरून जाऊन तो देव मोळ्यानें रहन गोक करूं लागला. त्याच्या शरीराचें तेज त्यावेळीं फार कभी झालें व खिन दृष्टीनें तो आपल्या देवांगनाकडे पाहूं लागला. १०३ त्याचा पुण्यत्त्पी दिवा न्यावेळीं मालवळेला होता. त्याचें अंतःकरण चिंतारूपी संतापानें संतप्त झालें होतें. तो अगदीं निराश झाल्यामुळें त्याला सर्व दिशा अधकारानें व्याप्त झाल्या आहेन असे वाहं लागलें. १०४ तो याममाणें शोक कर्र लागला:—हे स्वर्गी तुं नानामकाग्च्या विलासांनीं युक्त अगा देवांगनांनीं भरलेला आहेस. मी दुःखी होऊन येपृन पदन आहे. मला कोणी आधार देणारा दिसत नाहीं. यास्तव तुं मला यावेळीं नामण कर १०५ मी आतों कोणाला गमण जाऊं १ मी आतां काय कर्र १ आता मला कोणती गति प्राप्त होणार आहे १ कोणत्या उपायानें मृत्युला फसजून मी अमर होछं १ माझ्या देहावरोवरून उत्पन्न झालेलें लावण्य आज कोटें गेलें नें समनव होछं १ माझ्या देहावरोवरून उत्पन्न झालेलें लावण्य आज कोटें गेलें नें समनव

नाहीं. अरेरे ! पुण्याचा क्षय झाला असतां कोणती वस्तु आपल्यापासून दृर होत नाहीं बरें ? सर्व आवडत्या वरतु पुण्याच्या अभावीं हातांत आलेल्याही नाहींशा होतात. १०७ हे कुशांगी प्रियतमे! प्रीतीने माझ्या कंठाला घट्ट मिठी मार व माझ्या शरीरांतून वेगानें जाऊं पाहात असलेल्या ह्या प्राणांना आवरून धर. १०८ दयेनें ज्यांच्या डोळ्यांत अश्रु उमे साहिलें आहेत अज्ञा त्याच्या स्त्रिया त्याला धरून मोठ्या दुःखाने पाहाँत असतां तो विलाप करीत करीत न्या स्वर्गीतून एकदम पतन पावला. जणु मानसिक दुःखाच्या ओझ्यानेंच तो ढकलला गेल्यामुळे स्वर्गापासून पडला असावा. १०९ तदनंतर ज्याच्या मोठ्या पुण्याचा अस्त झाला आहे व ज्याचा आत्मा मिथ्यात्वकमींदयरूपी दाहज्वरानें तळमळत आहे असा तो देव तेथून अवतरून त्रसस्थावर योनीमध्ये नानाप्रकारच्या दुःखाचा उपभोग घेत राहिला. ११० त्रसस्थावरादि कुयोनींत भ्रमण करून त्यानें पुनः मोठ्या कष्टोंने मनुष्य जन्म प्राप्त करून घेतला, पण या जन्मांतही त्याचें पापाचें ओझें फार मोठें होतें. बरोबरच आहे कीं, जीव स्वतः प्राप्त करून घेतलेल्या कर्मोदयानें कोणत्या अवस्थेला प्राप्त होत नाहीं? अथवा कोणत्या अवस्थेचा त्याग करीत नाहीं? अथवा कोणता पर्याय धारण करीत नाहीं वरें ११११ या भारत वर्षरूपी लक्ष्मीच्या ऋडिकमलापमाणें सुंदर अशा, राजगृह नगरांत शांडिल्यायन नांवाचा ब्राह्मण होता व त्याच्या पत्नीचें पारासरी असे नांव होतें. भूत्वा तयोः स्थावर इत्याभिख्यां विभ्रत्सुतः स्थावरकर्ममुक्तः ॥ कृत्वा तपो मस्करिणां जगाम स ब्रह्मलोकं दशसागरायुः ॥११२॥ सहजमणिविभूषाक्षौममंदारमालामलयजरसरम्यं देहमासाद्य सद्यः॥ चिरगरमत तत्र स्फीतसंपत्समतः सुरयुवतिपरीतः पूर्णकामो निकामं ॥ ११३ ॥

इत्यसगकृते श्रीवर्धमानकाव्ये मरीचिमनुष्यभवलाभो नाम
 तृतीयः सर्गः श्री । ३ ।।

११२ रथावर नाम कर्माच्या उदयांतून सुटलेला तो जीव त्या उभय-तांना रथावर या नांवाला धारण करणारा मुलगा झाला. पुढें त्याने मिथ्या तपस्च्यांचे तपश्चरण करून ब्रह्म स्वगोची प्राप्ति करून घेनली. तेथें र सागर वर्षाचे आयुष्य होतें. ११३ या स्वर्गात जन्मतःच नैसर्गिक रन्नालंकागंनीं सुंदर व पातळ अञा वस्त्रांनीं, कल्पद्वक्षाच्या माळांनीं. आणि चंदन रमाने रमणीय असा देह त्याळा प्राप्त झाल्यावर तो देव विषुळ ऐ वर्षानें युक्त नेउन व देवांगनांनी वेष्टित हो उन ज्याच्या इच्छा पूर्ण झाल्या आहेन असा होत्याता त्या स्वर्गीत यथेच्छ फार काळपर्यंत रमपाण झाला.

श्रामिष्णं असगमहाकविकृत या वर्षमानमहाकिव्यामध्यं मर्गर्वाला
 स्थावर कर्मापासून सुटल्यानंतर पुनः मनुष्यभवलाभ झालाः या वर्णनाचा विगम सर्ग समाप्त झाला ॥ ३ ॥



अथ भारतवास्यभूतलेऽस्मिन्सुरलोकाश्रियमुद्धहन्स्वकान्त्या॥ प्रथितो मगधारव्यया जनांतः सुकृतामास्ति निवासहेतुरेकः ॥१॥ सकरुर्तुषु यत्र शालिवप्राः कलमामोदहतालिनां समूहैः ॥ शुकपातभयात्कृषीवलोघैः स्थगिता नीलपटैरिव व्यराजन् ॥ २ ॥ प्रतिबुद्धमहोत्पलोत्पलान्तर्विहरत्सारसहंसचकवाकैः॥ महिषीकळुषीकृतावतारैर्वरबंधैः परितः परीतमालः ॥ ३ ॥ निगमैवहदिक्षयंत्रगंत्रीचयचीत्कारविभिन्नकर्णरन्ध्रैः॥ परिपुंजितसम्यकूटकोटीनिकटाळुंचिवृषीर्वभूषितो यः ॥ ४ ॥ कदलीफलखादनावसाने ग्राचि पीत्वा नवनालिकेरतोयं॥ अधिशय्य नवप्रवालशय्यां पथिका यत्र विशश्रमुर्वनेषु ॥ ५ ॥ धरणीतलसर्वसारसंपत्पकराणां पदमस्ति तत्र रम्यं ॥ वरराजगृहेण राजमानं नगरं राजगृहाभिधां दधानं ॥ ६ ॥ उरुहर्म्यगवाक्षजालनियद्धनकालागरुघूपधूमजालैः ॥ युमणिद्युतयो विभिन्नवर्णा दिधरे यत्र चसूरुचर्मलीलां ॥ ७ ॥ प्रतिमागतशालपद्मरागद्यतिभिः पाटलितांबुरंबुखातः॥ नवविद्रमजालभिन्नदीचेः सरितां पत्युरुवाह यत्र कांतिं॥८॥

१ स्वर्ग जसा पुण्यवान छोकांचें राहण्याचे ठिकाण आहे त्याप्रमाणें या भरतक्षेत्रांत स्वतः च्या कांतीनें रवर्ग छोकाची शोभा धारण करणारा व पुण्यवान छोकांचें निवासस्थान वनछेछा असा मगध नांवांचा प्रासिद्ध व अद्वितीय देश आहे. २ या देशांत सर्वऋतूमध्ये साळींच्या सुगंधानें छुव्ध झाछेछे सुंग्याचे समूह साळींच्या शेतांत येजन वसत असत तेव्हां तीं शेते पोपटांच्या समृहापासून भ्यालेख्या शेतकच्यांनीं नीछवस्त्रांनीं जणु आच्छादून टाकिल्याप्रमाणें शोभन असन. ३ तळयामध्यें निळीं व पांढरी कमळे प्रफुा हिन झाछेळी असून त्यामध्ये सानस,

हंस व चक्रवाक पक्ष्यांचे समूह क्रीडा करीत असत. कोठें कोठें तळ्यांच्या घाटा-जवळ रेड्यांनीं पाणी सदूळ केलेलें असे. अशा उत्तम वांधांनीं युक्त असलेल्या तळयांनीं हा देश शोभत असे. ४ या देशांतील खंडेगांवांत सर्वत उसांचे पुष्कल चरक होते व पुष्कळ गाड्या होत्या त्यामुळें त्यांच्या चाकापासून व चरकापासून निवालेल्या आवाजानें लोकांच्या कानठाळ्या वसत असत. तसेंच या खेडेगांवांत एकत्र केलेल्या धान्यांच्या पुष्कळ राशी होत्या व त्यांच्या शिखरांना विर्दाणे करून टाकणारे वैलही तेथें असल्यामुळें अज्ञा खेड्यांनीं तो देश ज्ञोभत असे. ५ या देशांतील वगीच्यामध्ये केळी खाऊन तदनंतर स्वच्छ असे नारळांतलें पाणी पिऊन व नवीन कोवळया पानांच्या विछान्यावर निजून प्रवासी लोक आलेला थकवा दूर करीत असत. ६ अशा या देशांत पृथ्वीतलावरील सर्व उत्तम संपत्तीचें स्थान असलेलें राजगृह नांवाचें रमणीय उत्कृष्ट अशा राजवाड्यानें शोभत असल्यामुळें ' राजगृह 'या यथार्थ नांवाला धारण करीत होतें. ७ या नगरांत श्रीमंताच्या वाड्यांच्या खिडकीतृन नेहमी कालागरु धूपाच। पुष्कळ धूर निघून तो सूर्योच्या किरणांत मिसळ्न जात असे तेव्हां तें किरण अनेक रंगाचे दिसत असल्यामुळं वाघाच्या चित्रविचित्र कातः ख्याप्रमाणें दिसत असत. ८ प्रतिविंवित झालेल्या तटाच्या पद्मरागमण्यांच्या कांतींनीं या नगराच्या खंदकाचें पाणी तांबुस झालें होतें त्यामुळें तो खंदक नवीन पोवळ्यांच्या कांतीनें ज्याच्या लाटा व्याप्त झाल्या आहेत अशा समुद्रांची शोभा धारण करीत असे.

उरसोधतलस्थदंपतीनामतुलां कांतिमुद्धिय निनिमेषाः॥ अधुनाप्यतिविस्मयेन यस्मिन्बिबुधा इत्यनुमन्यते नृलोकः॥ ९॥ सदनाम्रानिबद्धनीलभासां निवहैः संबलितैर्गभित्तिहस्तैः॥ विसृजित्विव सर्वतः कलंकं दहशे यत्र शशी निजं निशास ॥१०॥ नृपतिर्जगिति प्रतीतवंशो निजतेजोदबदग्धशञ्चवंशः॥ स्वयमर्थिगृहीतिविश्वमूतिर्नगरं तत्प्रशशास विश्वमृतिः॥ ११॥ नयचश्चरतृनसत्वशाली भजतां पूरियता मनोरथानां॥ विनयेकथनोर्जितो जितात्मा परमासीदगुणसपदां पदं यः॥ १२॥ अभवत्कमलेव योवनस्य त्रिजगत्कांतिरिवकनामुपेना॥ पदवीव यतीवतस्य मिळ्जीयनी तस्य जनश्चरस्य जाया॥१३॥ पदवीव यतीवतस्य मिळ्जीयनी तस्य जनश्चरस्य जाया॥१३॥



घतलंख्या जिनबालकाला विग्नी स्वतःच्या मद्गधाने भुंग्यांच्या २ फमलाप्रमाणे कांतियुक्त असलेल्या आपल्या दंग्न हातानी इंट्राणीने उचलून आ तर्ण करणारा अशा पेरावत हत्तीच्या खांद्यावर स्थापन करून आकाशामागांने नेहे शरीर धुभ आहे अनुसरलेख्या सीधमेंडाने शरत्कालच्या मेघाप्रमाणे च्याचे

विजिताखिलभूतलो निधाय स्वहिते मंत्रिणि राज्यतंत्रचितां ॥ धगशावदृशा तया नरेन्द्रः सह सर्वर्तुखुखानि निर्विवेश ॥ १४ ॥ अवतीर्थ दिवस्तयोरुदारस्तनयः ख्यातनयो वभूव देवः ॥ अजहत्प्रकृतिं कृती स दिव्यां कुशलो विश्वकलासु विश्वनंदी॥१५॥ उपयांतमथैकदा विलोक्य प्रांतहारं जरसा परीतमूर्तिं ॥ इति चिंतयति स्म निश्चलाक्षः स्थितिमाङ्गीं नृपतिर्जुगुप्समानः॥१६॥

९ ज्या शहरांत अत्याश्चर्यानें मोठमोठ्या राजनाड्याच्या वसलेल्या दंपतीचें अनुपम सौंदर्थ पाहून देव अद्यापि देखील निमेषरहित झालेले आहेत असे मनुष्य समजतात १० या शहरांतील घरांच्या गच्चीवर बसाविलेल्या इंद्रनील गण्यांच्या कांतिसमूहांनीं चंद्राचे किरण भिश्रित झाल्यामुळें जणु तो राह्रीच्या वेळीं आपल्या किरणरूपी हातांनीं आपल्या कलंकाचा सर्वत्र प्रसार करीत आहे असा लोकांना भासतो. ११ ज्यानें आपल्या पराक्रमरूपी अग्रीनें शत्रुरूपी वेळ्ंचा समुदाय जाळून टाकिला असा, जगत् प्रसिद्ध वंशांत जन्मलेला विश्वभूति नांवाचा राजा या राजगृह शहरांत राज्य करीत असे. याचक छोक याची विश्वश्रुति-सर्व संपात्ति याचना न करतां ग्रहण करीत असत म्हणून याचें विश्वभूति हें नांव सार्थक होतें १२ हा राजनीतिरूपी नेत्रांनी युक्त होता व याचें सामर्थ्य फार मोठें होतें. सेवा करणाऱ्यांचे गनोरथ हा पूर्ण करीत असे. विनयरूपी धनानें हा कार्जितावस्थेला पोहोंचला होता व जितेंद्रिय होता. उत्कृष्ट गुणरूपी संपत्तीचें हा उत्कृष्ट स्थान होता. १३ या राजाच्या पट्टगणीचें नांच जायेनी असें होतें. ही राणी तारुण्याची जणु लक्ष्मी होती. त्रेलोक्याचें सौदर्य जणु तिच्या टिकाणीं एक जा झालें होतें. पाति बत्याच्या सिद्धीचा ती जणु मार्ग होती. १४ सर्व पृथ्वीला जिक्तिलेल्या या राजानें राजाहितामध्ये दक्ष असलेल्या आपल्या एंज्यावर राज्य-कार्याच्या चितेचा भार टाकिला. व हारणवालकाप्रमाणे जिचे दीर्घ डोले आहेत अशा आपल्या राणीवरोवर सर्व ऋतृंच्या सुखांचा तो उपभोग येऊं लागला. १५ या उभयतांना तो देव स्वर्गीतृन उतरून विश्वनंदी नांवाचा मुलगा झाला. या विश्वनंदीनें आपल्या दिव्य-स्वर्गीय-स्वभावाचा न्याग केला नाहीं. हा उदार, राजनीतींत निपुण व सर्व कलांमध्यें कुशल होता. १६ एके दिवर्गा वृद्धपगानें ज्याच्या शरीरावर पूर्ण तावा वसाविला आहे असा द्वारपाल आपल्याकडे येत असलेला राजानें पाहिला. आपली दृष्टि नियल करून प्राण्यांच्या शारीरिक

परिस्थितीविषयीं ज्याला तिटकारा उत्पन्ना झालेला आहं अशा या राजाने पुढें लिहिल्याप्रमाणे विचार केला.

वपुरस्य पुरा विवृत्य जुष्टं मुहुरुक्तेन यदंगनाजनेन ॥ बालेना पलितेन चाभिभूतं तदिदं संप्रति कस्य वा न शोच्यं ॥ १७॥

सकलेंद्रियशाक्तिसंपदायं जरसा विष्कुतया निराकृतोऽपि ॥ न जहाति तथापि जीविताशां खळु वृद्धस्य दिवर्द्धते हि मोहः॥१८॥ × अवनम्य प्रदेपदे | शिरोधिं | शिथिलं भूयुगलं निरुध्य दृष्या ॥ पतितं नवयौवनं धरण्यामयमन्वेष्टुमिवेक्षते प्रयत्नात् ॥ १९ ॥ अथवा किमिहास्ति देहभाजां कुश्छं जन्मवने विन्ष्टमार्गे॥ भ्रमतां सततं स्वकर्मपाकादिति निर्वेदमुपागमन्महीशः॥ २०॥ अवयन्परिपाकदुःखबीजं विजही राज्यसुखं तदा नरेंद्रः॥ विदिताखिलसंसृतिस्थितीनां महतां किं विषयेषु साक्तिरस्ति॥२१॥ धवलातपवारणस्य मूले विनिवेश्यावरजं विशारवभूतिं ॥ तनयं च निधाय यौवराज्ये व्यरुचित्रःस्पृहता सतां हि जुष्टा॥२२। उपगम्य चतुःशतैर्नरेन्द्रैः सहितः श्रीधरपादपद्ममूलं ॥ अजरामरतामुपैतुकामो जिनदीक्षां पृथिवीपतिः प्रपेदे ॥ २३ ॥ उपगम्य विनिर्जितारिजातं कृतषङ्घर्गजयं विशारवभूर्ति ॥ अभिवृद्धिमियाय राजलक्ष्मीः सततं कल्पलतेव कल्पवृक्षं ॥ २४ ॥

१७ के याचे शरीर पूर्वी स्त्रीजनांकडून मागें वळ्न वारंवार पाहिलें जात होतें तेंच त्याचें हें शरीर आतां सुरकुत्या व म्हातारपणानें जर्जर आलें आहे असें पाहून कोणास वरें वाईट वाटत नाही? १८ म्हातारपणानें याची सर्व इंद्रियशाक्ति-रूपी संपत्ती जर्जर होऊन गेलेली आहे. अशी हीन परिस्थिति याला प्राप्त झाली असतांही हा जगण्याची आशा सोड्न देत नाही. वरांवरच आहे कीं, एद माण-

टीपः—असभृत मंडनमगयष्टेर्नष्टं क मे याँवनरत्नमेतत् ॥ इतीव वृद्धो नतपूर्वकाय पर्यन्नघाऽघो भुवि वंश्रमीति ॥ धर्मशर्मामयुद्यमहाकात्र्ये चतुर्य सर्गं सांचा मोह नियमाने वाढतच जातो. १९ हा द्वारपाल पावलो पावली आपली मान वांकवून व शिथिल झालेल्या अवया वर चढवून प्रयत्नपूर्वक इकडे तिकडे नजर फेक्सन आपलें नृतन तारुण्य या पृथ्वीवर जणूं शोधीत आहे. अर्थात् आपलें गमावलेलें तारूण्य हुडकण्यासाठीं जणूं हा वाकून तें शोधीत आहे. २० जेथें खरा भार्भ सांपडणे अशक्य झालें आहे अशा या संसाररूपी जंगलांत आपल्या कमींद्यास अनुसरून भटकणाऱ्या प्राणिमात्रांना खरें सुख कसें वरें मिळेल ? अर्थात मिळणार नाहीं. अशा रीतीच्या विचारांनीं विश्वभूति राजाला वैराग्य उत्पन्न झालें. २१ त्यावेळीं परिणामीं दुःखें उत्पन्न करण्यास कारण असलेल्या राज्याचा त्यानें त्याग केला. बरोवरच आहे कीं, संसाराचें पूर्ण स्वरूप ज्यांना माहीत झालें आहे अशा महात्म्यांना विषयसुखामध्यें आसाक्ति उत्पन्न होतें काय ? २२ ग्रुभ्र छत्रांच्या खार्ली अर्थात् राजासिंहासनावर आपल्या धाकट्या भावाची-विशा-खभूतीची राजा विश्वभूतीनें रथापना केली. व आपल्या विश्वनंदी पुत्राला युवराज पदावर आरूढ केलें. बरोबरच आहे कीं, सत्पुरुषांनीं निःस्पृहता धारण केली म्हणजे तिला जास्ती शोभा येते. २३ तदनंतर विश्वभूति राजानें चारशें राजासह श्रीधर मुनीश्वरांच्या चरण कमलांचा आश्रय घेऊन म्हातारपणा व मृत्युराहत असे मोक्षसुख प्राप्त करून घेण्याच्या इच्छेने जिनदीक्षा धारण केली. २४ ज्याने शत्रुसमूह जिंकिला आहे व कामक्रोधादिक सहा अंतरंग शत्रूंना ज्याने वश केलें आहे अशा विशासभूति राजाचा आश्रय घेऊन राजलक्ष्मी करपद्यक्षाच्या आश्र-यानें कल्पवल्ली जशी सतत दृद्धिंगत होते तशी दृद्धिंगत होऊं लागली. अधिकोऽपि नयंन वीरलक्ष्म्या युवराजो बलसंपदा पितृब्यं ॥ न विलंघयति स्म मेदिनीशं स्थितिमाकामति किं महानुभावः।,२५॥ ऋतुभिः सकलैः सदा परीतं विरुवन्मत्तमधुत्रतान्यपुष्टं ॥ वनमिंद्रवनाभिभाविशोभं युवराजः समकारयद्विचित्रं ॥२६॥ लिलेतेन विलासिनीजनेन व्यहरत्तत्र सह त्रिकालरम्ये। सहकारतले रतिदितीयं स्थितिमन्वेष्ट्रमिवादरादनङ्गं ॥२०॥ नारनाथपतेश्च लक्ष्मणायाः प्रियसूनुः प्रथमो विशाखनंदी। अभवन्नवयौवनेन मत्तो मदनेनापि निरंकुशः करीव ॥२८॥ स कदाचिदुदीध्य वीक्षणीयं युवराजस्य वनं मदेभगामी। जननीं प्रणिपत्य वार्जितान्नस्तदुपादाय दिशेति याचते स्म ॥२९॥

तनयाय वनं प्रदत्त्व राजन्यदि कार्यं मम जीविते तवास्ति। इति सा रहासे स्ववल्लभत्वादनुबंधेन नराधिपं वभाषे ॥३०॥ सहसा वचनेन वल्लभाया युवराजे स्वहितैकमानसेऽपि। अगमदिक्वतिं विशाखभूतिः प्रियजानेः स्वजनो हि वैरिवर्गः॥३१॥ अथ किं क्रणीयताकुलेन दुतमाहूय रहस्यमात्यवर्गं। तमुदंतमशेषमाचचक्षे क्षितिनाथेन तदुत्तरं च पृष्टं॥३२॥ विमलेत्रया दशैव राज्ञो नयहीनामवगम्य चित्तवृत्तिं। इति वाचमुदाजहार कीर्तिः शिरसा मंत्रिगणेन चोदितार्थः॥३३॥

२५ नीति, पराक्रमलक्ष्मी, व वलसंपात्त यांनीं युवराज विश्वनंदी हा आपला चुलता जो विशासभूति राजा त्यापेक्षां अधिक असूनही त्याचें उद्घंघन केलें नाहीं. वरोवरच आहे कीं सत्पुरुष मर्यादेचें उद्घंघन करितो काय ? २६ युवराजानें एक विचित्रा -आश्चर्यचिकत करून सोडणारा वगीचा करविला या वगीचांत नेहमी सहाही ऋतूंची शोभा एकवटली होती, उन्मत्त भ्रंगे व कोकिल यांच्या मधुर आवाजानें हा युक्त होता. व इंद्राच्या नंदनवनाच्या शोभेचा पराभव केला होता. २७ आम्रवृक्षाच्या खाली रतिदेवीने सहित असलेल्या मदनाला जणु शोधण्याकरितांच युवराज सुंदर अशा विलिसनी स्त्रियांसह सकालीं, टोन-पहरीं व संध्याकाळीं रमणीय अशा वगीचांत विहार करीत असे. २८ राजा विशारवभूति व राणी लक्ष्मणा या उभयतांचा अतिशय आवडता असा विशाख-नंदी नांवाचा पहिला वडील मुलगा होता; तो अंकुशरहित हत्तीप्रमाणें तारुण्य व कामविकारानें उन्मत्त झालेला होता. २९ हत्तीप्रमाणें ज्याची गति आहे अशा त्या विशाखनंदीनें एकेवेळीं युवराजाचा प्रेक्षणीय वगीचा पाहून आईकडे येऊन तिला नमस्कार केला व अन्नत्याग करून मला तो वगीचा दे अशी तिची तो विनंती कर्र लागला. ३० लक्ष्मणा राणीवर राजाचे अतिशय प्रेम होतें म्हणून लक्ष्मणा राणींने एकांत ठिकाणीं राजाला आग्रहानें असे म्हटलें 'महाराज ! जर माझ्या जगण्याची आपणास आवश्यकता असेल तर आपल्या मुलाला युवराजाचा वगीचा द्या ' ३१ आपल्या प्रियपत्नीचें भाषण ऐक्तन विजा-खभूति आपल्या हिताविषयी ज्याचे मनांत काळजी आहे अगा युवराजाविपयीही विकारयुक्त झाला. अर्थात् त्याच्याविषयीं राजाच्या मनांत द्वेप उत्पन्न झाला. वरोवरच आहे कीं ज्याला आपली वायकोच पिय आहे त्याला त्याचे सर्व संवर्धी

लोक शत्रुसारखेच वाटतात. ३२ आनां काय ज़पाय करावा या विषयीं ज्याची चुित गोंधळून गेली आहे अशा राजाने तत्काल प्रधान मंडलींना वोलाविलं व त्यांना सगली हकीकत सांगून याविषयीं काय उपाय करावा हेंहि विचारिलं ३३ मंत्रिमंडलाकडून परतक हालवून आपला अभिप्राय कलविण्याकरितां ज्याला सूचना दिली गेली अशा कीर्ति नांवाच्या प्रधानानें राजाच्या पापी नजरेनेंच त्याच्या अतःकरणांतील अन्याययुक्त आभिप्राय जाणून घेतला व पुढें लिहिल्या-प्रमाणें त्यानें भाषण केलें.

मनसा कियया च विश्वनंदी तव भूवछम जातुंचिन्न हुए:। उपगम्य चरेरलक्ष्यचेष्टेबहुशोऽस्माभिरसौ परीक्षितश्र ॥३४॥ प्रणतस्य समस्तमोलिवर्गेनियसंपादितविक्रमकमस्य ॥ यदि तस्य जिगीषुतास्ति राजन् किमसाध्यं सकले धरातलेऽपि॥३५॥ अनुकूलतमेऽपि सोदरस्य त्रियपुत्रे विमुखल्वमभ्युपैति। भवतः स्थितिशालिनोऽपि बुद्धिधिंगिमां वैरकृतां नरेंद्रलक्ष्मी॥३६॥ न विषं मरणस्य हेतुसूतं न तमो दृष्टिपथावृतिप्रवीणं । वहुदुःखकरं न चापि घोरं नरकं न्यायविदः कलत्रमाहुः ॥३७॥ नयमार्गविदांवरस्य युक्तं न तव स्त्रहिदयेप्सितं विधातुं। असतां वचने प्रवर्तमानो विपदां याति हि पात्रतामवश्यं ॥३८॥ न ददाति वनं स याच्यमानो भवना तद्गतरम्यतानुरकः। अवलोक्य नाथ शुद्धबुद्धया ननु कस्याभिमते मतिर्न लुच्धा॥३९॥ अनवाप्य वनं प्रयासि कोपं प्रियया वाक्शया प्रताड्यमानः। हरणाय हठात्प्रवर्तसे चेत्प्रतिपक्षस्य तदानपेध्य पक्षं ॥४०॥ स्थितिहीनिमिति प्रतीतसत्वाः सकलास्त्वासपहाय राजमुख्याः। उपयांति तदा तमेव धीरं भुवि विख्यातनदा इवाम्बराशि ॥४१॥ विजितान्यनरेश्वरोऽपि राजन्युवराजस्य पुरो न भारि उद्धे । कुमुदाकरवंधवदिनादौ किरतो रिमचयं सहस्ररमेः ॥१२॥ ३४ हे राजन् ! युवराज विश्वनंदीनें मनाने व कियेनेंही आपल्याविपयीं कथीही दुष्टपणा धारण केला नाहीं. ज्यांच्या हालचाली गुप्त आहेन अशा हेरांनी व

अम्हीही त्याच्याकडे जाऊन त्याविष्यीं त्याची पुष्कळ यकारें परीक्षा केली आहे. ३५ सर्व मुख्य अधिकारी ज्याला नगस्कार करीत आहेत व ज्यानें योग्य नीतीला अनुसरून पराक्रम गुण प्राप्त करून घेतला आहे अशा या युवराजाच्या मनांत जयप्राप्ति करून घेण्याची इच्छा उद्भवली त्र सांगा वरे त्याला या भूतलावर कोणती गोष्ट असाव्य आहे ? ३६ युवराज आपल्याशीं अत्यंत अनुकूल आहे. पुनः तो आपल्या भावाचाच त्रियपुत्र आहे. कोणी परका नाहीं. असें असतांही त्याच्याविषयीं आपण मर्यादेनें युक्त असनही आपली बुद्धि आज विरुद्ध झाली आहे म्हणून वैर उत्पन्न करणाऱ्या या राजलक्ष्मीचा आम्ही धिकार करितो. ३७ या जगांत विष हे मरणाला कारण नाहीं व अंधार हा दृष्टि रोकण्यास निपुण नाहीं किंवा नरक देखिल तीव दु:खांचें कारण नाहीं. नीतीला जाणणारे विद्वान लोक स्नी हेंच विष आहे असें समजतात व तीच न्याय मार्गाला रोकणारी आहे व तिलाच नरक मानणें योग्य आहे. ३८ महाराज! आपण नीतिमागीला जाण-णाऱ्या लोकामध्यें श्रेष्ट आहांत यास्तव स्त्रीच्या मनाला जी गोष्ट आवडते ती करणें अंपिणास योग्य नाहीं. कारण दुष्टांच्या चोलण्याला अनुसरून जो वागतो तो अवश्य संकटाना पात्र होतो. ३९ युवराजाचे मन वगीच्याच्या सौंदर्याने मोहन गेलें आहे यास्तव या वगीचाची आपण मागणी केली तरी तो आपणास मिळणार नाहीं. महाराज आपण निर्मळ वुद्धीनें विचार करा म्हणजे आपणास आमर्चे म्हणणे योग्य वाटेल. अहो आवडत्या पदार्थावर कोणाची बुद्धि लुब्ध होत नाहीं वरें १४० आपणास वगीचा न मिळाल्यामुळें आपल्या प्रियतमेच्या भाषणरूपी चाबुकाच्या प्रहारांनीं आपण अवश्य ऋद्ध होऊन युवराजाच्या वाजूचा विचार न करितां वगीचा वछात्कारांने ताव्यांत घेण्याचा प्रयत्न करण्यास प्रवृत्त व्हाल तर ज्यांचें चल-शौर्य प्रासिद्ध आहे असे मुख्य मुख्य राजे आपण मर्यादेला तोडणारे आहांत असें समजून आपला त्याग करून प्रसिद्ध नद जसे समुद्राला जाऊन मिळतात त्याप्रमाणें त्या धीर गंभीर युवराजाला जाऊन मिळतील. अथवा निहतः स युद्धरंगे भवता दैववशेन वा कथंचित्। पिद्याति जगुज्जनापवादो वहुले नक्तमिवांधकारराशिः ॥४३॥ अन्पेतनयं विपाकरम्यं वचनं कर्णरसायनं बुधानां। हितमित्यभिधाय मंत्रिमुख्ये विरते प्रत्यवदन्नराधिनाथः ॥११॥ इदमीहरामेव यत्प्रणीतं भवता ऋत्यविदा तदेव ऋत्यं। तदुपायमुदीरयार्य येन क्षतहीनं तदवाप्यते सुखेन ॥४५॥

इति तद्रचनं निशम्य पत्युः पुनरूचे सचिवो विचारदक्षः।
तमुपायवरं वयं न विद्यः कुशलो यम्तदावाप्तये विपाके ॥४६॥
यदि वेत्सि विधत्स्व तं स्वबुद्धया मतयो हि प्रतिपूरुषं विभिन्नाः॥
ननु कृत्यविधौ प्रमाणमीशः सचिवोऽपि स्वमतं प्रवक्तुमीशः॥४०॥
इति वाचमुदीयं मंत्रिमुख्ये विरते मंत्रिगणान्विसर्ज्यं राजा।
मनसा स्वयमाकलय्य किंचित्तरसाहूय युवाधिपं बभाषे॥४८॥
भवता विदितो न किं प्रतीतः प्रतिकृले पथि कामरूपनाथः।
मम वर्तत इत्यहं विहन्तुं दुतमभ्येमि तमाप्तपुत्र पश्चात्॥४९॥
इति तद्धचनं निशम्य सम्यक् प्रणिपत्यवमुवाच विश्वनंदी।
मयि तिष्ठति कस्तव प्रयासः क्षितिप प्रेषय माममुं विजेष्ये॥५१॥

४२ हे राजन्, जरी आपण इतर राजांना जिंकिलें आहे तथापि युद्धपसंगीं आपण युवराजाच्या पुढें शोभणार नाहीं. यास उदाहरण असे पाहा कीं, दिव-साच्या पारंभीं चाहोंकडे किरणसमूह पसरणाऱ्या स्र्यीच्या पुढें चंद्र शोभतो काय? ४३ अथवा युद्धभूमीमध्ये दैवयोगाने आपण त्याला कसे तरी जरी ठार मारले तरी लोक आपल्या अपकीतींनें कृष्णपक्षांत अंधाराचा समूह जसा रात्रीला आच्छाद्न टाकितो त्याप्रमाणे जग आच्छाद्न टाकितील. ४४ नीतियुक्त, परि-णामीं रमणीय, विद्वान लोकांच्या कानाला रसायनासारखें असलेलें हितकर भाषण बोऌ्रन मुख्यमंत्री थांबल्यावर विशाखभूति महाराज त्यास पुढें छिहिल्या-प्रमाणें वोलले. '' अहो प्रधानजी! योग्य कृत्यें जाणणाऱ्या आपणाकडून जें कांहीं सांगितलें गेलें तें तसेंच आहे अर्थात् योग्यच आहे परंतु हे आर्या! असा कांहीं निर्दोप उपाय सांगा कीं ज्या उपायानें कांहीं हानि न होतां तो वगीचा मिळूं शकेल. ४३ महाराजांचे भाषण ऐकून विचार करण्यांत निपुण अशा प्रधानजीनें पुन: महाराजांना म्हटलें कीं, "अहो महाराज! जो परिणामीं हितकर व वगीचाची माप्ति करून देण्यास कुश्रल आहे असा श्रेष्ठ उपाय आम्हास माद्दीत नाहीं. ४७ हे राजन्! जर आपल्याला योग्य उपाय माहीत आहे तर तो आपल्या बुद्धीच्या जोरा-वर अंगलांत आणा. कारण पत्येक पुरुषांची बुद्धि वेगवेगली असतें. तसेंच कार्य कर्णे अथवा न कर्णे याविषयीं आपण समर्थ आहांत च प्रधान आपलें मत काय आहे तें सांगण्यामध्यें समर्थ आहे. अर्थात् आम्ही जें सांगितलें आहे त्या

प्रमाण वागणं न वागणं आपल्या स्वाधीन आहे परंतु आस्ही माल योग्य मार्ग दाखिनणें हें आमचें कर्तव्य आहे." ४८ याप्रमाणें भाषण करून मुख्यमंत्री स्तव्य वसला. नंतर राजांने सर्व मंत्रिमंडलाला घरी जाण्यास सांगितले व मनानें कांहीं विचार करून तत्काल युवराजाला बोलाइन तो त्यास पुढें लिहिल्याप्रमाणे बोलला. ४९ "हे वत्सा! कामरूप देशाचा राजा माझ्याइन विरुद्ध अशा धार्गामध्य प्रवृत्त झालेला आहे हें तुला माहीत नाहीं काय श्यास्तव त्याचा नाश करण्यासाठीं मी शीघ्र जातों. तूं मार्ग या राज्याचें रक्षण कर" ५० याप्रमाणें राजाचे थापण लक्ष-पूर्वक ऐक्न विश्वनंदी युवराजाने नमस्कार करून याप्रमाणें न्हटलें — "हे राजन! मी असतां आपण हा प्रयास कां कारितां? मला आपण पाठवृन द्या न्हणजे मी त्याला खातीनें जिंकीन.

प्रतिपक्षमनाप्य मत्प्रतापो भुजयोरेव चिरं विलीयमानः॥ नरनाथ! न जातु वीक्षितो यः परमाविः कियतां त्वया स तत्र॥५१॥ इति गामभिधाय सावलेपां पुनरप्यानतपूर्वकायमीशः॥ विसर्सर्ज तमेव सोऽप्ययासीत्प्रविधायोपवनस्य चाभिरक्षां ॥ ५२॥ दिवसैरथ सम्मितैः स्वदेशं तरसातीत्य नयेन संगताभिः॥ पथि राजककोटिभिः परीतो रिपुदेशस्य समीपमाससाद ॥ ५३ ॥ प्रविशन्नय दूरतः सभांतं प्रतिहारेण सहान्यदा प्रतीतः॥ व्रणपट्टकवद्धसर्वदेहो युवराजा दहशे वनाधिरक्षः ॥ ५४ ॥ प्रणनाम निवेशितेन भूम्यां शिरसा नाथमनाथवरसलं सः ॥ अभिसद्य च विष्टरोपविष्टं स्थितवांस्तिस्यदृष्टिदत्तदेशे ॥५५॥ क्षणमात्रमथोपविश्य पूर्व व्रणितेरेव निवेदितं शरीरैः ॥ पुनरुक्तमिवेश्वरेण पृष्टो निजगादागमनस्य कारणं सः ॥ ५६॥ नरनाथपतेरनुज्ञयास्मानवमत्योपवनं विशारवनंदी ॥ विशति सम भवत्प्रतापयोग्यं तदिष श्रीष्यिम यत्कृतं च रक्षः॥५७॥ इति तेन निवेदितां विदित्वा वनवार्ता छिपतोऽपि विश्वनंदी ॥ अवधीरयति स्म धीरचित्तः कथया ताम्य छी छवान्येयव ॥ ५५॥ महतीमथ तस्य कारियत्वा महसा म्नानपुरम्परां मपया॥ विवभाविषपः स च प्रसादं पुनरासाद्य नमस्ययावनमः ॥५°॥

५१ हे राजन! शत्रूंच्या अभावीं माझा जो पराक्रम माझ्या दोन बाहूम-ध्येंच फार दिवसापासून विलीन होत आहे तो आपण कथीं पाहिला नाहीं. यारतव त्या माझ्या पराक्रमाला त्या शत्रूच्या ठिकाणी प्रगट होण्यास आपणाकडून अवसर दिला जावा. ५२ याप्रमाणें गर्वयुक्त भाषण करून पुनः आपल्या शरीर चा पूर्व भाग युवराजानें वांकाविला अर्थात् त्यानें लवून राजाला नमस्कार केला. राजाने युवराजाचे विसर्जन केल्यावर तो जाण्यास निघाला व जातांना त्यानें वगीचाच्या रक्षणाची चांगली व्यवस्था केली. ५३ थोडक्या दिवसांनीं आपला देश शोघ्र ओलांइन मार्गामध्यें नीतिमार्गाला अनुसक्त येऊन मिळालेल्या अनेक राजांनीं युक्त होऊन युवराज शत्रूच्या देशाच्या जवळ येऊन पोहींचछा. ५४ कोण एके वेळीं दुरूनच द्वारपालासह सभैत प्रवेश करणारा, जखमांच्या पृष्ट्यांनीं ज्याचे देहाचे सर्व अवयव बांधळे आहेत असा, वनाचें रक्षण करणारा विश्वासू माळी युवराजानें पाहिला. ५५ माळ्याने आपलें मस्तक जमीनीवर टेकवून अनाथांत्रर प्रेम करणाऱ्या, सिहासनावर वसलेल्या युवराजाला नमस्कार केला. व जबळ जाऊन त्यानें आपल्या दयेच्या नजरेनें दाखिबेलेल्या ठिकाणीं तो वसला. ५६ क्षणपर्यत वसून नंतर प्रथमतःच जरी त्याच्या जखमी झालेल्या देहांनी-सर्व हकीकत सांगितली होती तथापि युवराजानें विचारल्यामुळें जणु पुनरुक्तिनमाणें त्यानें आपल्या यण्याच कारण सांगितलें. [कसा अर्थात् शरीरांत झालेल्या जखमांनींच त्यानें आपला अभिमाय सांगितल्यासारखाच होतो परंतु युवराजानें विचारल्यावरून शद्धाने द्वारें पुनः तोच अभिप्राय त्यानें व्यक्त केल्याची मुळें एकच गोष्ट दोनदां सांगितल्याप्रमाणें येथें झालें आहे.] ५७-५८ हे युवराज ! महाराजांच्या आज्ञेनें आह्मांला न जुपानतां विशाखनंदीनें वगीचांत प्रवेश केला परंतु वनाचें रक्षण करणाऱ्या लोकांनीं आपल्या पराक्रमाला शोभेल असें जें कार्य केलें तें देखील आपणास मागाहून ऐकावयास मिलेलच. याप्रमाणें वनपा-लाने सांगितलेली वर्गीचाची हकीकत जाणून विश्वनंदीला क्रोध आला परंतु तो धीर अंत:करणाचा असल्यामुळें लीलेनें इतर गोष्टी काढून त्या हफीकतीकडे त्यानें दुर्लक्ष केलें. ५९ स्नानपूर्वक भोजन वगैरे देऊन त्याचा मोठा आदर सत्कार केला यामुळे युवराज शोभू लागला व प्रभूच्या कृपेचा लाभ झाल्यामुळें तो वनपालंही अति नम्न झाला त्यायुळें तोही फार शोभू लागला.

अथ तेन नयैः प्रतापशक्त्या परया च प्रवणिकृतः सपत्नः ॥ प्राणिपत्य करं वितीर्य सारं विनिवृत्यापि तदाज्ञया जगाम ॥६०॥

निरवर्तत वेगतो युवेशः सफलीकृत्य ततस्तदा तदाज्ञां॥ स्वपुरं प्रतिपूज्य राजलोकं विसृजन्नप्रतिमः प्रतिप्रयाणं ॥ ६१ ॥ अवलोकयति स्म स स्वदेशं तरसा प्राप्य पलायमानलोकं ॥ किमिदं कथयेति तेन पृष्टो निजगादेत्यनिरुद्धनामधेयः॥ ६२॥ परितोऽपि वनं विशाखनंदी तत्र तद्दुर्गतरं विधाय भीमं॥ भवता सह वांछतीश योद्धं नरनाथो युवयोः स तुल्यवृत्तिः ॥६३॥ तदवेत्य पलायते जनांतो इतमाशंक्य किमप्ययं भयेन॥ कथितं च गया यथा प्रवृत्तं तदिदं देव ! परं न वेद्भि किंचित्॥६४॥ इति तद्रचनेन विश्वनंदी स विचिन्त्येति जगाद धरिनादः॥ त्रपते मम यत्र चित्तवृत्तिस्तदुपादाय पुरः स्थितं च घात्रा॥ ६५॥ विनिवृत्य यदि प्रयामि पश्चादभयः कोऽपि निवर्तते न भृत्यः॥ यदि हान्म ततो जनापवादो वद किं कृत्यमकृत्यमप्यथैकं ॥६६॥ पुनरित्यधिपेन नोदितः सन्सचिवः स स्फुटामित्युदाजहार ॥ नरनाथ यथा च वीरलक्ष्मीर्विमुखी नैव भवेत्तदेव ऋत्यस् ॥ ६७ ॥ अभवद्रिमुखो भवाना तस्मिन्वनमाकर्ण्य हुतं पुरापि देव ॥ अपहृत्य च स त्वदीयमेव प्रसमं हंतुमपीहते भवन्तं ॥ ६८ ॥

६० तद्नंतर युक्ति प्रयुक्तीनी व उत्कृष्ट अशा पराक्रमाच्या जोरावर युवराजानें कामरूप देशाच्या राजाला वश केले. तेल्हां तो करभाग व उत्कृष्ट पदार्थ युवराजाला अर्पण करून व नमस्कार करून त्याच्या आज्ञेनें पग्त निघृन गेला.६१-६३यानंतर राजाची आज्ञा सफल करून युवराज आपल्या राजधानीकडे येण्यास निघाला. जे राजे याला मदत करण्यासाठी आले होते त्यांचा आदग्सत्काग करून त्यांचें अनुपम अज्ञा या युवराजानें विसर्जन केलं व अनेक प्रयाणांनी तो आपल्या देशास शीघ्र जाऊन पोहोचला. पग्तु आपले देशांतून लोक पलता असलेले पाहून हें काय आहे सांग वरे १ असा प्रश्न त्यानें आनिरुद्ध या नांगाच्या एका मनुष्यास केला. तेल्हां त्यानें पुढे लिहिल्याप्रमाणे हक्तीकत निवेदन केला तो म्हणाला, ''हे नाथ विशाखनंदी वर्गाचाच्या सभोवती भयंकर व मजबृत असा कटिण किल्हा वांधून आपणावगेवर युद्ध करण्याचा उच्छा करांत आहे. परंतु विशाखन

भूति महाराज आपणा उभयतांविषयीं मध्यरथ हत्तीचे आहेत. ६४ ही सर्व हकीकत जाणून आपल्या देशांतील लोक आपलें कांहीं अनिष्ट होईल अशी शंका मनांत चेऊन भीतीने पळत सुटले आहेत. हे नाथ ! मला जेवहें माहीत होतें तेवहें भी है आपणांस सांगितलें. या शिवाय मला अधिक कांहीं माहीत नाहीं. " ६५ हैं त्याचें भाषण ऐक्कन विश्वनंदीनें थोडा वेळ विचार करून गंभीर शब्दांनीं महटलें कीं, " जें कार्य करण्याविषयीं माझे मन लाजतें तेंच कार्य दैवानें माझ्यापुढें अत्णून ठेविलें आहे ६६ जर भी येथूनच परत जावें म्हणतों तर कोणताही निर्भय सेवक परतुं इच्छीत नाहीं. व विशाखनंदीला मी ठार मारीन तर लोकामध्यें माझी अपकीर्ति झाल्यावांचून राहणार नाही. तेव्हां या दोन कार्यापैकीं भी कोणतें कार्य करू तें सांगा" ६७ याप्रपाणे युवराजानें प्रधानजीना विचारेले असतां प्रधा-नजींनी पुढें लिहिल्याममाणें स्पष्ट उत्तर दिलें. ते म्हणाले कीं, ''हे प्रभो ? जेणे करून वीरलक्ष्मी विमुख होणार नाहीं असेच कार्य आपण करावे. ६८ हे नाथा! आपण विशाखनंदिनं वगीचाचे हरण केले है ऐक्रनहीं त्याविषयीं पूर्वी देखिल विमुख झाला नाहींत अर्थात् त्याच्या विषयीं आपल्या मनांत शीतीचा अभाव होऊन द्वेष उत्पन्न झाला नाहीं. परंतु आतां तर तुमच। वगीचा लुटून पुनः तुम्हालाच तो मारण्याचीही इच्छा करीत आहे.

इदमद्भुतमी हरोऽपि कोपो भवतस्तत्र न जायते कथं वा ॥
प्रतिकृलगंत भनाक्त लोके द्वममत्युद्धतमापगारयोऽपि ॥ ६९ ॥
यदि च त्विय तस्य बंधुबुद्धिः किम्रु न प्रेषयतीति द्तमेकं ॥
विहितागिस च प्रयाति कोपं मिय भीत्या रचितांजलो किमार्थः॥७०॥
कृतभूरिपराभवेऽपि रात्रो प्रतिलोमेन करोति पौरुषं यः ॥
प्रतिबिंबतमीक्षते स पश्चात्रिजनारीमुखदर्पणे कलंकं ॥ ७१ ॥
अयमेव पराक्रमस्य कालो भवतो मानवतामधीश्वरस्य ॥
कथितं च मया विचार्य कार्यं सहरां त्वद्धजयोरिदं न चान्यत्॥७०॥
इति विक्रमशालिनां मनोत्तं वचनं न्यायविदां च तस्य मत्वा ॥
अविलंबितमेव विश्वनंदी प्रययावभ्यरि दुर्गमुप्रकोपात् ॥ ७३ ॥
सेनामथ प्रमुदितां प्रधनागमस्य दूरे निविश्य सुभटैःसह कैश्चिदेव ॥
दुर्गीवलोकनपदेन जगाम वेगासुद्धे निधाय हृद्यं युवराजसिंहः।७२॥

प्रापत्तदप्रतिमसालमलंब्यखातं नानाविधैः परिगतं परितोऽपि यंत्रैः॥ विख्यातशूरनिकुरंबकपाल्यमानं ॥ स्थानांतरोच्छ्रितासितध्वजवीजिताशं ॥ ७५ ॥ उत्प्लुत्य खातमचिरेण विलंब्य सालं । भन्ने समं रिपुबलेन निशातखङ्गे । उत्पादितेन सहसैव शिलामयेन ।

साटतम् सहसव शिलामयन् । स्तंभेन भासुरकरो रिप्रमापकोपात् ॥ ७६॥

६९ आम्हाला याविपयीं मोठे आश्चर्य हैं वाटतें की, अशी परिस्थिति असतांही आपणास विशाखनंदीविषयीं कोप कसा उत्पन्न होत नाहीं ? या जगांत नदीचा वेग देखील आपल्याला प्रतिकूल झालेल्या उद्धत झाडास मोडून टाकितो. हें उदाहरण आपण आपल्या दृष्टीपुढें ठेवा. ७० हे महाराज ! जर आपणाविषयी त्याच्या अंत करणांत बंधुबुद्धी जागृत आहे अशी जर आपली समजूत असेल तर " मी अपराध केला आहे व आपण रागावाल म्हणून मी आतां हात ज़ोडले आहेत तरीही आपण माझ्यावर कां कोप करितां " असा आपला अभिपाय कळ-विणाऱ्या एखाद्या स्वतःच्या दृताला तो कां वरें पाठवीत नाहीं ? ज्या अर्थी तो द्तास पाठवीत नाहीं त्या अर्थी त्याच्याविषयी आपण आपल्या मनांतून वधु बुद्धि काढून टाकणें रास्त आहे. ७१ शत्रु आपली पुष्कळ प्रकारें मानहानि करीत असतांही - नेहमीं जलट वागत असतांही त्याच्यावर जो आपला पराक्रम गाजवीत नाही तो मनुष्य आपला पराभव झाल्यानंतर आपल्या स्त्रियांच्या मुख-रूपी दर्पणांत प्रतिविंचित झालेला रवत.च्या तोडाचा कलंक पाहतो असें म्हणाव-यास हरकत नाहीं. ७२ स्वाभिमानी पुरुषांचा प्रभु असलेल्या हे युवराजा ! हाच आपला पराक्रम गाजविण्याचा काल आहे. आपल्या दोन वाहूंना शोभण्यासारखें हैं कार्य मी विचार करून आपणास सांगितलें आहे. हेंच कार्य आपणास योग्य आहे. दुसरें नाहीं.'' ७३ याप्रमाणें प्रधानजीनें केलेंल है भाषण पराक्रमशाली मनुष्यांच्या मनाला आवडणारे व नीतिवेत्त्यांना पटणारे आहे असे आणून विश्वनंदी युवराज तीव कुद्ध होऊन शीध्र बबूच्या किल्ल्यावर हल्ला करण्यासाटी निघाला. ७४ पुनः युद्ध करण्याचा प्रसग आल्यामुळें आनंदित झालेल्या सेनेला दूर ठेऊन थोडेसे वीरपुरुष वरोवर घेऊन किञ्चा पाहण्याच्या मिपाने परंतु युद्ध कर्ण्याचा आभिप्राय हृद्यांत ठेऊन युवराज वेगाने निघाला. ७५ ज्याचा तट अपानिम आहे व ज्याचा

खंदक ओलांडण्यास अज्ञक्य आहे व ज्याच्या सर्व बाजूंनी नानाप्रकारचीं यंतें बसविलीं आहेत, विख्यात ग्रूर योद्धे ज्याचें संरक्षण करण्याकारितां सज्ज झाले आहेत व ठिकठिकाणीं रोवलेल्या उंच पांढच्या ध्वजांनीं जो दिशांना वारा घालीत आहे अशा किल्ल्याजवळ युवराज आला. ७६ युवराजानें खंदक ओलां इन तटही ओलांडला व शत्रुसैन्याचा फन्ना पाडीत असतां त्याची तरवार तुटली. परंतु लागलीच एक दगडी खांव उपहून त्यानें हातांत घेतला त्यामुळें त्याचा हात शोभूं लागला. असा पराक्रम गाजवीत तो ऋद्ध होऊन शत्रूवर-विशाखनंदीवर धावला.

आयांतमंतकनिभं तमुदग्रसत्व॥ मालोक्य वेपशुगृहीतसमस्तगात्रः॥ तस्थौ कपित्थतरुमेत्य विशाखनंदी ॥ मंदीकृतद्यति वहन्वदनं भयेन ॥ ७७ ॥ तरिंमस्तराविप समं स्वमनोरथेन ॥ प्रोन्मुलिते महति तेन महाबलेन ॥ सत्रासरावरचिताञ्जलिना प्रपेदे ॥ भीत्या नमन्नशरणः शरणं तमेव पादानतं तमवलोक्य विहीनसत्वं ॥ सन्नीडमाप सहसा प्रविहाय कोपं। नूनं भयावनतचेतास शात्रवेऽपि ॥ प्रख्यातपौरुषानिधिः स्वयमेति लज्जां ॥७९॥ मूर्घानमानतमुदस्य तदा तदीयं पर्यस्तरत्नमुकुटं स करद्रयेन। तस्मे ददावभयमूर्जितसाहसानां युक्तं तदेव महतां शरणागतेषु॥८०॥

> कृत्वाहमीहशमनात्मसमं कथं वा ॥ स्थास्यामि तस्य पुरतोऽत्र विशाखभूतेः॥ इत्याकलय्य हृदयेन गृहीतलज्जो ॥ 'राज्यं विहाय तपसे निरगादगारात्॥८१॥

यांतं तदा चरितमचरितुं यतीनां॥
रोड्डं शशाक समुपेत्य न तं पितृव्यः॥
पादानतोऽपि सकलैः सह वंधवर्गैः॥
किंवा महान्व्यवासिताद्धिनवृत्य याति॥८२॥
उछिंव्य मंत्रिवचनं विहितं पुरा यतस्मात्तदानुशयमाप्य नरेश्वरोऽपि॥
लोकापवादचिकतः स्वसुते स तस्मिन्॥
लक्ष्मीं निधाय सकलां तदनु प्रतस्थे॥८३॥

गत्वा महीपतिभिराशु समं सहस्नैः संभूतपादयुगळं प्रणिपत्य मूर्धनी। दीक्षां विरेजतुरुभाविप तौ गृहीत्वा पुंसां तपो नन् विभूपणमेकमेव८४ ७७ यमानमाणे भासणारा व प्रचंड शक्तीचा धारक अशा विश्वनंदी पुवरा-

जाला येत असलेला पाहुन विशाखनंदीच्या सर्व अंगाला कांपरें सुटलें. भीतीन त्याच्या तोडावरची काति सुकून गेली अर्थात् मंद्र झाली. व नो कवटाच्या झाडा-कडे येऊन त्यावर चहुन वसला. ७८ परंतु सामर्थ्यवाली अशा युवरामाने विशा-खनंदीच्या सर्व भावी आज्ञासह तें मोठें कंवठाचे झाडही उपहून टाकिलें. त्यामुले 'माझें रक्षण कर' असे भीतीचे शब्द उचारीत हात जो हुन दुसरा कोणी रक्षक न दिसल्यामुळे तो युवराजालाच नमरकार करून शरण गेला. ७९ शक्तिहीन असा विशाखनंदी आपल्या पायांस नमस्कार करीत आहे हे पाहून युवराजाला लाज बाटूं छागछी. त्यांने तत्काल आपला राग सोडला. बरोबरचे आहे की प्रख्यात पराक्रभाचे निधि असे पुरुष शत्रु मनामध्येही नम्र झाला असतां लजायुक्त होतात. अर्थात् तो आपणास शरण आला हे अयोग्य झालें असे त्यांना चाट्टं लागतें. ८० ज्याचा रत्नांचा मुकुट ढिला झाला आहे अशा त्या विशाखनंदींचे आपल्या पाया-वर नम्र झालेलें मस्तक युवराजानें आपल्या दोन हांतांनी वर केलें व त्याला अभयदान दिलें. उत्कृष्ट साहस करणारे सत्पुरुप शरण आलेल्यांना अभयदान देत असतात हें योग्यच आहे. ८१ युवराजाला अमें वाट्टलागलें की, "मी हें रवतःला न शोभणारे कृत्य केलें. भी आतां या विशाखशूनिपुढें कसा उभा राह्"या प्रमाणें विचार उत्पन्न होऊन तो मनांत खजील झाला. व राज्याचा त्याग करन तप-श्चरण करण्यासाठी तो घराच्या बाहेर पडला. ८२ यतीच्या महाव्रतांचे आचरण कर-ण्यासाठी जात असल्हेल्या युवराजाकडे त्याचा चुलता अर्थात् विजासंभूति राजा

आला व तो आपल्या सर्व संबंधि जनांसह त्याच्या पाया पहून त्याला अडिविण्याचा प्रयत्न करूं लागला पण त्याला त्या कामांत यश आलें नाहीं. वरोवरच आहे कीं, सत्युरुष आपल्या मनांत ठरिविलेल्या कार्यापासून कधीं परावृत्त होतात काय ? ८३ विशाखभूतीनें भंज्याच्या भाषणाचा अव्हेर करून कें कार्य केलें त्यापासून त्याला आतां पश्चात्ताप झाला. त्याला लोकापवादापासून भय वाहं लागलें. यारतव त्यानें आपली राजलक्ष्मी आपल्या पुत्नावर-विशाखनंदीवर ठेविली. युवराजाचे मागें तोही दीक्षा घेण्यास निघाला. ८४ हजार राजांसह राजा विशाखभूति संभूत मुनिकडे गेला व त्यांच्या दोन पायांना मस्तकानें त्यानें नमस्कार केला. चुलता व पुतण्या या दोघांनींही दीक्षा घेनली यामुळें ते दोघे फार शोभू लागले. खरोखर पुरुषांचें भूषण तपश्चरण करणे हेंच हाये. यानेंच त्यांना शोभा येतें.

कृत्वा तपश्चिरतरं स विशाखभूतिः ॥ सोद्धा परीषहगणानथ दुनिवारान् ॥ हित्वा त्रिशल्यमनघं दशमं समापत्॥

द्वष्टाम्बिधिस्थितिमनलपसुखं तु कल्पं ॥ ८५ ॥ अथावगम्याशु विशाखनंदिनं विवार्जतं देवपराक्रमक्रमेः॥ विजित्य युद्धे समुपाददे श्रियं पुरेण दायादमहिपितिः समं ॥८६॥ आत्मंभिरत्वादपहाय मानं तमेव दूतिक्रियया सिपेवे ॥ महीपितः प्रागयमित्यशंकं निर्दिश्यमानोऽपि जनांगुलीभिः॥८७॥ अथैकदात्युश्रतपोविसूतिमीसोपवासेन कृशीकृतांगः ॥ प्रोत्तंगहर्म्यां मथुरां स्वकाले विवेश भिक्षां प्रति विश्वनंदी॥ ८८॥ शृंगप्रहारेण पशोःपतंतं रध्यामुखं साधुमसाधुवृत्तः ॥ जहास तं वीक्ष्य विशाखनंदी वारांगनासीधतलाधिरुढः ॥ ८९॥

\* टीप:-काले माममुपोप्य स्वे विशत मथुरापुरी ॥ तं पट्यान्हदुधा गृष्टिघेटोध्नी प्राहरत्पथि ॥ ४१ ॥

तस्वा श्रंगप्रहारेण पतितं विश्वनंदन । अहासीह्रिंथमणमुनुवेंश्यासीयनले ग्यित ॥४२॥ प्रहासात्तस्य सोत्सेकाच्चुकुवे मुनिना भृश ॥ तेनाकारी निदान च प्रायन्तद्वधिष्टिसया ॥४२॥ स निवृत्त्य ततो गत्वा हित्वा तनुतरातनु । महद्धिविं बुधो जज्ञे महागुक्रे तप. फलान्॥४४॥ इति असग कवि कृते शातिपुराणे अप्टम सर्गे ॥

जगाद चेति क गतं बलं ते विजित्य सेनां सकलां सदुर्गां ॥ उन्मूलितो येन शिलाविशालः स्तंभः किपत्थश्च पुरा तदद्य ॥९०॥ आकर्ण्य तस्य वचनं प्रविलोक्य तं च ॥ क्षान्ति विहाय विनिवृत्य तथैव गत्वा ॥

कृत्वा निदानममुचन्मुनिरात्मदेहं कोपो हि कारणमनर्थपरंपरायाः ९१ ततो महाशुक्रमवाप्य कल्पं महेन्द्रकल्पास्निदशो वभृव ॥ स पोडशांभोनिधिसम्मितायुद्धिव्याङ्गनालोकनलालसाक्षः ॥९२॥

८५ विशाखभूति मुनिराजांनीं पुष्कळ दिवसपर्यंत तपश्चरण करून रोक-ण्यास अशक्य असे भूक, तहानः थंडी, उष्ण वैगेरे वावीस परीषह सहन केले. मायाश्चय (कपट) मिथ्यात्वश्चय आणि निदानश्चय (यला पुँहं नानापकारचे भोग्य पदार्थ भोगावयास मिळावेत, मी इंद्र व्हावा, चऋवर्ती व्हावा इत्यादि संसा-रपरिवर्धक इच्छा ) या तीन शल्यांचा त्याग केला. त्यागुळे आयुष्य संपल्यावर ते जेथें सोळा सागर वर्षाचे आयुष्य असून विपुल सुख मिळते अशा दहाच्या महाशुक्र स्वर्गात उत्पन्न झाले. ८३ इकडे विशाखनंदी हा दैव व पराक्रम यांनी रहित आहे हें जाणून त्याचा भाउबंद असलल्या एका राजानें त्याला युद्धामध्ये शीघ्र जिंकिलें व राजगृह शहरावरोवर त्याच्या राजलक्ष्मीचा त्यानें स्वीकार केला. ८७ विशाखनंदीला आपले पोट कसें भरावे एवढेच माहीत होतें म्हणून अभिमान सोंडून त्यानें त्याच राजाची नोकरी धरली. एकाचा निरोप दुसऱ्यास सांगण्याचा उद्योग करूं लागला अर्थात तो दृत वनला. लोक त्याला पाहुन हा मनुष्य पूर्वी या शहराचा राजा होता असें त्याचेकडे बोट करून निःशक त्याच्या विषयी अजाण माणसाला सांगत असत. पण याविषयीं त्याला कांहींच दुःख वाटत नसे. ८७ एके दिवशीं तीव्रतपश्चरणाचें वैभवाला धारण करणारे, एक माहिन्याच्या **उपवासानें** ज्यांचें शरिर कुश झाले आहे असे विश्वनंदि ग्रानिराज श्रीमंतांच्या उंच उंच वाड्यांनी शोभत असलेल्या मथुरा शहरांत आहार घेण्याच्या वेळीं अर्थात दिवसा दहा वाजतां आले. ८९ त्यावेळीं त्यांना एका गछीच्या तोडाशीं रस्त्यावर एका गायीच्या शिगांचा धका लागला. त्यामुळे ते पडत असतां वेक्येच्या माडीवर वसलेल्या दुराचरणी विशाखनंदीनें त्यांना पाहिले व हंसून म्हटले की, " ज्या सामर्थ्योने तूं पूर्वी सर्व सैन्य व किल्ला जिक्लास आणि मोठा दगडी खांव उपहून कवठाचें झाडही उपहून टाकिलेस तें तुझ सामर्थ्य आज

कोंडें गेलें ? "९१ त्याचें तें भाषण ऐक्तन व त्याला पाहून मुनिराजांनीं क्षमाभाव सोडून दिला. आहार न घेतां ते तसेंच परतून निधून गेले व अन्तीं त्यांनीं निदान बांधून अर्थात् या विशाखनंदीचा पुढच्या जन्मी यी अवश्य सूड घेईन असा निश्चय करून देहत्याग केला. चरोबरच आहे कीं क्रोध हा अनेक प्रकारच्या अनर्थाचें कारण आहे ९२ हे विश्वनंदि मुनिराज यहागुक नांवाच्या दहाव्या स्वर्गात इंद्राप्रमाणें यहाश्रुद्धिधारक असा देव होऊन जन्मले. या देवाचें तेथें सोला सागर प्रमाण आयुष्य होतें. सुंदर देवांगनांचें रूप पाहण्यांन याचे नेत्र नेहमी उत्सुक असत.

विचित्रमणिरिश्मिमिजिटिलिताखिलाशामुखं। शरांकिकरणांकुरद्यतिहरं विमानोत्तमं। अनेकशिखरावलीतटिनवद्धशुभ्रध्वजं। समग्रमुखंसपदां पदमधिष्ठितः पिप्रिये॥९३॥ श्रित्वा जैनं वतमनुपमं लक्ष्मणायास्तनूजो। हट्ट्वा व्योग्नि प्रचुरविभवं खेचराणामधीशम्। वांछन्भोगानकृत कृपणो दुर्निदानं तपःस्थः। कल्पं प्राप्तस्तमपि वपुषः क्षेशतः सद्वतैश्च॥९४॥ इत्यसगकविकृते श्रीवर्धमानचरिते विश्वनंदिनिदानो नाम चतुर्थः सर्यः॥४॥

९३ नाना प्रकारच्या रत्नांच्या कांतींनीं ज्यानें सर्व दिशांचीं तोडें च्याप्त केली आहेत अथीत् ज्याची रत्नकांति सर्व दिशांत पसरली आहे, जे चंद्रिकरणांची कांति हरण करिते, ज्याला अनेक शिखरें असून ज्याच्या-वर पांढच्या ध्वजा वसविलेल्या आहेत व जें संपूर्ण सुखसंपत्तीचें रयान आहे, अशा विमानांत राहणारा तो विश्वनंदीना जीय देव फार आनंदित झाला.

९४ विज्ञासभूति व लक्ष्मणा राणीचा दीन पुत्र विशासनंदी याने जिनेश्वराचे व्रत अर्थात् जिनदीक्षा धारण केली. एके वेली आकार्यात एप्कल ऐश्वर्याचा धारक असा एक विद्याधरांचा राजा जात होता त्याला याने पाहिले.

## ( 88 )

तेव्हां याच्या सारखी भोगसंपात्ति मला प्राप्त व्हावी असे याने निद्धन वांधिलें. तपश्चरणांत निमग्न राहून उत्तम त्रतांनी व शारीरिक क्लेगांनी याने त्याच दहाव्या स्वर्गाची प्राप्ति करून घेतली.

याप्रमाणें असगकविविग्चित श्रीवर्धमानचरितांतील विश्वनंदीच्या निदानाचें वर्णन करणारा चौथा सर्ग संपला ॥ ४॥





समुन्नतानेकसुकूटरिमश्वेतीकृताशेषनभःस्थलोऽस्ति ॥१॥ यत्रामलस्पाटिककूटकोटिस्थिता विलोक्यात्मवधूः खगेन्द्राः। साम्येन मूढा विबुधांगनानां प्रयांति केल्यां सहसा व्यतीत्य ॥२॥ यत्पादनीलांशमहाप्रमाभिर्मृगेंद्रशावो बहु विप्रलब्धः । गुहामुखं शंकिमनाश्चिरेण विवेश सत्यासु गुहासु नैव ॥३॥ यः सानुदेशस्थितपद्मरागमरीचिमालारुणितांतिरक्षः। संशोभते नित्यमनंततेजाः संध्याघनो वा नितरां मनोज्ञः ॥थ॥ ० यत्सानुदेशप्रतिबिंबितं स्वं निरीक्ष्य वन्यद्धिरदो मदांधः। समेत्य वेगेन रदप्रहारैहिंनस्ति को वा मदिनां विवेकः ॥५॥ विपानलोद्रेककरालभोगा यास्मन्भुजंगाः परितो भ्रमन्तः। गरुन्मणिस्फीतमरीचिजालसंस्पर्शतस्यक्तविषा भवान्ति ॥६॥ श्रेण्यामपाच्यामलकाभिधाना पुरी धरायास्तिलकायमाना । तत्रोत्सवातोद्यसुगीतनादैरापूरिता भात्यमरावतीव ॥७॥ १ या जंबूद्वीपांतील भारत क्षेत्रांत विजयाध नांवाचा पर्वत आहे. त्याने अतिशय उंच अशा आपल्या अनेक शिखरांच्या किरणांनीं सर्व आकाश पदेशाला

<sup>\*</sup> यत्मानुनीलमणिटीप्तिपरपराभिः पचाननस्य शिशवो बहु विप्रलब्धा । सत्येऽपि कटरमुख्ने परिशंकमाना निश्चित्य गर्जनकृतध्वानिमिर्विशांति ॥८॥

रवं वीक्ष्य वन्यद्विरदो नितने यस्य निम्बत ।
 समेत्य दनैस्त हान्ति मादिना का विवोक्तिता ॥९॥
 जीवधरचंप्या तृतीयलम्बे इमी समानार्थकी श्लोको ।
 भिन विलोक्य निनमुज्ज्वलस्ताभित्तौ कोबात्प्रतिद्विप इतीह ददी प्रहारं ॥
 तद्भग्रदीर्घदशनः पुनरेव तोपा—छीलालस स्पृशित पत्र्य गन । प्रियेति ।
 धर्मशर्मभ्युद्ये चाय समानार्थकः श्लोको दशमस्रगं ॥

पांढरें केलें आहे. २ या पर्वताच्या निर्मल स्फाटिक पापाणांनीं वनलेल्या शिखराच्या अग्रभागावर आरूढ झाछेल्या स्वतःच्या स्त्रियांना पाहून विद्राधर लोक देवांग-नांच्या सादृश्यानें आंत होतात व कीडेच्या वेळी त्यांना सहसा ओलांहन जातात. ३ या पर्वताच्या पायथ्याला असलेल्या नीलमेण्यांच्या पुण्कळ प्रकाशानें सिंहाचे वचे पुष्कळ वेळां फसत असत. त्यामुळें पुढें गुहा असतांही त्यांना येथे गुहेचे तोड आहे की नाहीं अभी शंका येत असे व वऱ्याच वेळानें ने गुहत शिरत असत. नीलरत्नांचा प्रकाश कृष्णवर्णाचा असतो यामुळे तो सर्वत्र प्रसर्ल्यामुळे सिंहाच्या पिलांना गुहांची तोडें दिसत नसत म्हणून ते संशययुक्त होन असत. ४ शिखरावर असलेल्या पद्मरागरत्नांच्या किरणसमृहांने सर्व आकाशाला ज्यांने लालभडक केलं आहे व ज्याचे तेज कथीही नष्ट होत नाहीं असा तो विजयाद पर्वत संध्याकाळच्या लाल मेघाप्रमाणे अतिशय सुंदर दिसतो. ५ या पर्वताच्या कड्यामध्ये आपलें पडलेलें पातिबिव पाहृन मदाने उन्मत्त वनलेला रानटी इत्ती वेगानें येऊन त्या पातिविंवाला हा आपला पातिपक्षी आहे असें. समजून टांगांनी महार करितो. वरोवर आहे कीं, जे उन्यत्त आहेत त्यांना विवेक कसा असणार ? ६ विषरूपी अग्निच्या उत्कटतेने ज्यांचे शरीर फार भयपद दिसते असे सर्प त्या पर्वतावर सर्वत्र फिरत असत. परंतु गारुड मण्याच्या पसरहेल्या किरणसगृहाच्या रपर्शानें ते तत्काल निर्विप होन असत. गारुड माणे सर्पाचें विप नाहीस करितात. हे मणि तेथे पुष्कळ असल्यामुळें विपारी सपेही निर्विप सपीप्रमाणे तेथिल लोकांना वाटन असत. ७ या विजयधि पर्वताच्या टाक्षण श्रेणीमध्ये पृथ्वीला सौभाग्य-तिलकाममाणें शोभा आणणारी अलका नांवाची नगरी आहे. ही उत्सव व गाणें वजावण यांच्या जब्दांनीं नेहमी भरलेली असल्यामुळे इंद्राच्या अगरावती नांवा-च्या नगरीप्रमाणें शोभते.

महाशया घरितरा गभीरा सत्वाधिका सत्पुरुपाव्धितुल्या। प्रधीयसी यत्परिखा चकास्ति भंगप्रचारैः परिपूरिताशा।। ८॥ क्षि सालो विशालः स्फुरदंशुजालः परेरभेद्यो निरवद्यम्तिः। सतीजनोरःस्थलस्थलसाम्यरूपपयोधरालीढसदम्बरश्रीः॥९॥

टीप—चत्मालगाला गहुग्दश्वाला पर्यावग्योल्लमदम्बरश्री ॥
 वस्त्रस्थानि प्रमद्याननाना मनी नर्राहार्त च निर्नगणा ॥ १४ ॥

यद्गोपुरात्रस्थितसालभंजीकोट्यंतरप्रांतमुपेत्य सम्यक् ।

० विलीयमाना शरदभ्रमाला सदुत्तरीयद्युतिराविभाति ॥ १० ॥

मंदोनिलोछासितसीधनद्धध्वजोत्करैनीकभुवः समंतात् ।

उद्घीकृतात्मीयकरैः स्वशोभामाहूय संदर्शयतीव निष्यं ॥ ११ ॥

श्र प्रसिद्धमानेन विरोधवर्जिना प्रमिण्वते यद्धणिजो निकामं ।

सत्तार्किका वा सदसद्विचाराद्धस्तुप्रयत्नाः हि यतः स्ववाचा॥१२॥

८या नगरीचा मोठा खदक स्वतः च्या उसळणाऱ्या छाटांनीं दिशांना भरून टाकीत असून सत्पुरुप व समुद्र या उभयतामवाणें शोभत आहे. कारण हा खंदक सत्पुरुप व समुद्र याप्रमाणें महाशय, धीर, गंभीर आणि सत्वाधिक आहे. जसे सत्पुरुप महाज्ञय-असतो अर्थात् उत्तम अभिप्रायाला धारण करितो. व समुद्र महाज्ञय – मोठेपणाला धारण करितो. त्याप्रमाणें हा खंदक ही महाशय होता अर्थात् फार मोठा होता. जसे समुद्र व सत्पुरूप धीर आणि गंभीर असतात त्याप्रमाणं हा खंदक देखिल धीर-स्थिर व गभीर-खोल होता. सत्पुरुप जसा अधिक सत्वधारक--पराक्रम धारक असतो त्याप्रमाणें समुद्र व खंदकही अधिक सत्वधारक-अर्थात् मगर मासे वगैरे जलचर प्राण्यांना धारण करणारे असतात. ९ या नगरीचा विशाल तट पतिव्रता खीच्या वक्षःस्यलापमाणें लोकांना भासतो. पतित्रतेचें वक्ष:रथल जर्से अन्य पुरुषाकडून स्पर्शिलें जाणें अशक्य असतें च निर्दोप आणि सुंदर असतें त्याप्रमाणें हा तटही शत्रुकडून अभेय-छिद्र वगैरेंनी रहित आहे व चमकणाऱ्या किरणांनी युक्त आहे. पतिव्रतेचे वक्षःस्थल जरें पयोधरालीहसदंबरश्री असतें अर्थात् दोन स्तनांनीं व उत्तम ब्ल्लांनी आच्छादित असतें त्याप्रमाणें हा तटही पयोधरांनीं—-मेघांनीं चुंबित झालेल्या आकाशांची शोभा धारण करणारा होता. १० या अलकानगरीच्या वेशीच्या

० यद्गे।पुराप्रमूत्राममाणिपुत्री विराजते ॥ घृतमूक्ष्मदुकूलेव शारदाबुदमालया ॥ १५ ॥ जी. च. काव्ये तृतीयलवे समानार्थकाविमी स्होकी ।

<sup>\*</sup> प्रसिद्धेनाविरुद्धेन मानेनान्याभिचारिणा ॥ वर्णिनस्तार्किकाश्चापि यत्र वस्तु प्रमिण्वते ॥ १४२ ॥ समानार्थकोऽय न्होकः चद्रंप्रभकान्ये द्वितीयसर्गे ॥

जिखरावर असलेल्या पुतलीच्या वरच्या अवयवावर येऊन तेथें चिकटणारी शरत्कालच्या पांढण्या मेघांची पांक्ति उत्तम अज्ञा पांघरण्याच्या वल्लाची शोभा धारण करिते. ११ मंद वाण्यानें हलणाण्या अज्ञा राजवाड्यांच्या व जिनमंदिरांच्या पताकारूपी आपल्या उंच केलेल्या हातांनी ही अलकानगरी रवर्गभूमीला वोलाऊन तिला आपली जोभा जणु नित्य टाखवीत आहे अज्ञी शोभते. १२ ज्यामध्यें विरोध टोप येत नाहीं अज्ञा प्राप्तिद्ध पत्यक्षादि प्रमाणांनी योग्यायोग्य विचार करून उत्तम तर्केज लोक जस निर्दोप वरतुंचें ग्रहण करितान व नियमित निर्दोष चचनांनीं तिच्या रवरूपाचा निश्चय करितात. त्यापमाणें या नगरीतील व्यापारी लोक धान्यादिक पदार्थाच्या योग्यायोग्यतेचा विचार करून ज्यामध्यें विरोध येणार नाहीं अज्ञा प्राप्तिद्ध मापानी च वतनानी न्या धान्याची मोजणी करितात च उत्तम तार्किकापमाणें आपल्या श्रव्याचा गागचा पुरुवा विचार करून प्रयोग कारितात.

यत्राकुलीनाः सततं हि तारा दोषाभिलाषाः पुनरेव घ्रकाः ।
सहत्तमंगोऽपि न गद्यकाव्ये रोधः परेषां मुजनस्य चाक्षे ॥ १३ ॥
दंडो ध्वजे सन्मुरजेषु वंधो वरांगनानां चिक्ररेषु मंगः ।
सत्यंजरेष्वेव सदा विरोधो गतावहीनां कृटिलदःयोगः ॥ १४ ॥
तस्याः पतिर्धेर्यधनः खगेंद्रो महेंद्रलीलो विविधर्ष्विराशिः ।
विद्यावलिप्तोन्नतचारुचेता महाप्रभावोऽथ मथूरकंटः ॥ १५ ॥
सुरक्तसर्वप्रकृतिः प्रतापी नित्योदयोऽपास्ततमः प्रचारः ।
पद्माकरेशो जगदेकदीपो विभाति यो भास्करवत्सदार्च्यः ॥ १६ ॥

१३ या नगरीत नक्षत्रसमृहच फक्त नेहमी अकुलीन होता. इतर कोणताही पतुःय अकुलीन-नीच कुलांत जनमलेला नव्हता. नक्षत्रं अकुलीन-अर्थात
कुं—पृथ्वी लीन—चिकटलेली अर्शा नव्हती. ती आकागांत होती महणून तीच
फक्त अकुलीन होती. या नगरींत धुवडच दोपाभिलापी होते. इतर होपाभिलापीदोपांची इन्छा करणारे नव्हते. आपण दोपी व्हावें असे तेथे कोणामही वाटन

टीप:—भग कतेषु नारीणा न त्रतेषु तपन्तिना ॥ विरोप: पंजरेप्वेत न मन मु महान्मनां ॥ इति नद्रप्रसकात्ये द्वितीयमर्गे समानार्थक, श्रीकः॥

नसे. दोपा हाणजे रात्र, आभिलाप हाणजे तिची इच्छा करणें अथीत घुवडाला नेहर्मा रात्रच असावी, दिवस असू नये असे वाटत असते. या नगरीत सहृत्ताभग गद्य कान्यांतच असे. लोकांच्या ठिकाणी सहूत—उत्तम व्रतें त्यांचा भंग—नाश हा नव्हता. लोक आपल्या अहिसादि उत्तम व्रतांचा कधींही नाश करीत नसत. गद्य कान्यांतच सहूत्तभंग अर्थात् उत्तम अशा शार्दृलविक्रीडित, वसंततिलक वगैरे द्यतांचा—छंदाचा अभाव होता. या नगरींत शत्रूनाच रोध होता अर्थात् त्यांनाच अडकऊन टेवीत असत. इतरांना रोध नव्हता. तसेंच सज्जनांचा इंद्रिया-मध्येंच रोध—प्रातिवंध होता. अर्थात् सज्जन आपलीं इंद्रियें ताव्यांत टेवीत असत. १४ या नगरींत ध्वजाच्या ठिकाणींच दंड होता इतरांना दंड होत नव्हता. बंध मृदं-गामध्येच होता.अर्थात्कातड्याच्या वाद्यांनीं मृदंग आवळून बांधला जात असे तेथील लोकांना वंध नव्हता. भंग-भांग हा स्त्रियांच्या धस्तकावरील केशांतच होता. तेथें भंग-नाज्ञ नव्हता उत्तम पिंजव्यामध्ये विरोध-वि-पक्षी त्यांना रोध -अडकविणे हें होतें. लोकामध्ये विरोध-द्वेष नव्हता. सर्पाच्या चालण्याच्या पद्धतींतच कुटिलत्व-योग वांकडेपणाचा संबंध होता. तेथील लोकांच्या ठिकाणी कुटिलस्वयोग-कपटप-णाचा संवंध नव्हता. १५ या नगरीचा मयूरकंठ या नांवाचा विचाधर राजा होता, हा राजा धैर्यरूपी धनानें युक्त होता. इंद्राप्रमाणें क्रीडा करणारा व अनेक प्रकारच्या ऐश्वर्याचा स्वामी होता. अनेक तप्हेच्या विद्यांनीं याचें गन सुसंरक्रत झालें असून ते उदार होतें. हा राजा मोठा प्रभा वज्ञाली होता. १६ हा श्रेष्ठ पुरुषांना पूजनीय होता. सर्व प्रजाजनांची त्याच्यावर मीति होती. नेहमीं याचा उदय असे अर्थात हा नेहमीं उन्नतावस्थेनें युक्त होता व अज्ञानरूपी अंधकाराचा नाश करणारा असल्यामुळे नेहमीं उदय पात्रणारा, व अंधकाराचा नाश करणारा आणि उदय काली आपल्या लाल प्रकाशानें सर्व सष्टीला आरक्त करणाऱ्या सूर्याप्रमाणे शोभत होता. सूर्य जसा पद्माकरेश-कमलसमूहांचा पति व जगाचा आद्वितीय दीप असतो त्याप्रमाणे हा राजाही पशाकरेश अर्थात् सपत्ति समृहाचा अधिपति व जगाला अपूर्व दिव्यासा-रखा होता. दिव्याप्रमाणें हा लोकांना सन्मार्ग दाखवीत असे.

अपास्तपद्मा कमलेव कांतिर्गृहीतमूर्तिः स्वयमागतेव । रितःस्मरस्येव बभूव देवी मनोहरांगी कनकादिमाला ॥१७॥ जंघामृदुत्वेन हता नितांतं विसारतां सत्कदली प्रयाता । पयोधराभ्यां विजितं च यस्या मालूरमास्ते कठिनं वनांते ॥१८॥ × नेत्रोत्पलाभ्यामनवाप्य यस्या नीलोत्पलं सत्परिस्यमानं।
सरस्यगाघे पतितं प्रगत्य निकारसंतापनिरीषयेव ॥१९॥
यद्भक्षसंस्थामनवाप्य शोभां शशी समन्रोऽपि कलंकितोऽभूत्।
प्रभिन्नमातंगगतेस्तु तस्याः केनोपमानं समुपैति कांतिः ॥२०॥
तस्यामभूत्प्रीतिरनन्ययोग्या खगेशिनः सद्गुणभूषितायां।
कलानिधौ निर्मलशीलवत्यां मनोहरे को न हि सिक्तमिति॥२१॥
दिवः पतियोऽथ विशाखनंदी वभूव पुत्रः कमनीयमृत्योः।
सद्भारतार्द्धस्य पतिं प्रहृष्टः सांवत्सरस्तं सहसा दिदेश॥२०॥
कांतापि यद्भमहाभरेण महाजिगीपामकृत त्रिलोक्यां।
दिवाकरे याप्युपरि प्रयाते कृष्यत्त्यरं स्मारुणिकाननाक्षी॥२३॥
देहीतिशब्देन विवार्जेता भूरकारि राज्ञा सुतजन्मकाले।
सानंदवादित्रसुगीतनादैः शब्दात्मकं व्योमतलं समस्तं ॥२४॥

१७ या मयूरकंड विद्याघर राजाची मनोहर अवयवांना धारण करणारी कनकमाला नांवाची मुख्य राणी होती. ही कमलामध्यें निवास करणे जिन सोहन दिंल आहे अहा लक्ष्मीप्रमाणे, किंवा सौदर्याने आपले स्वरूप लोकांना टाखवांवें म्हणून तें हारीर धारण करून आले आहे अजी अथवा ही मदनाची स्त्री जणू रित आहे अही होभत असे. १८ या राणीच्या मांडचाच्या मृदुपणाने पराजित झालेली सुंदर केळी निःसार झाली. व हिच्या दोन रतनांच्या द्वारे जिंकले गेलेले किंवण वेलाचे फळ वनांत जाऊन राहूं लागले. १९ या राणीच्या सुंदर नेत्रहणी कमलाची कांति प्राप्त न झाल्यामुळें स्वत चा पराभव झाला असे समजणाने नीलक मल पराभवाचें दुःख नाहींसे करण्याकरितां अगाध सरोवरामध्ये जाऊन पडलें. २० या राणीच्या मुखावर असलेली होभा स्वत ला मिळाली नाहीं म्हणून पूर्ण देखील चंद्र कलंकगुक्त झाला ज्याच्या गंडस्थलांतून मद वाहान आहे अजा मत्त हत्तीप्रमाणें जिची गित आहे अशा या राणीची कांति कोणत्या पटार्थाच्या हारें

<sup>×</sup> विलुप्तशोभानि विलोचनोत्पर्छ सितेतराण्यवुरुहाणि योपिनाम् । मरुचलद्वीचिनि यत्र शीतले लुठान्त तापादिव दीर्घिकाजले ॥३६॥ चद्रप्रभचरितकान्य प्रथमसेर्ग ममानार्थक स्होक, ॥

उपित केही जाईल. अर्थात् या राणीचें अंगसींद्य अनुपम होतें. २१ सद्गुणांनीं शोभणारी, निर्मल पितवता, गुणानें युक्त असलेली, गायन वादन वगेरे
अनेक कलांनीं पिरिपूर्ण असलेली अशा या राणीच्या ठिकाणीं राजाचें असाधारण
प्रेम होतें. वरोवरच आहे कीं, पनोहर पदार्थामध्यें कोण आसक्त होत नाहीं बरें ?
२२ दहाव्या स्वर्गीत देव होळन जन्मलेला तो विशासनंदी सुंदर शरीर धारण
करणाच्या या राजा राणींना पुत्र होऊन जन्मला. त्याच्या जन्मकालीं ज्योतिषीनें
हा अध्यो भरत क्षेत्राचा पित होईल असें आनंदित होऊन सांगितलें.२२ ज्याच्या
गभीच्या ओक्यानें भारावलेली ही राणी त्यावेलीं तैलोक्याला जिंकण्याची इच्छा
करीत होती व सूर्य वरून जात असतां त्याच्यावरही ही राणी डोले व तोंह
लाल वरून कुद्ध होत असे. २४ मयूरकंट राजानें या पुत्राच्या जन्मकालीं पृथ्वी।
'देहि' या शब्दानें रहित केली. अर्थात् याचक लोकांना इतकें दान दिलें कीं, त्यांनीं। 'देहि' महणजे दे असें म्हणण्याचें सोइन दिलें. तसेंच त्यावेलीं आनंदवाद्यांच्या
शब्दांनीं व मंगल गाण्यांच्या शब्दांनीं सर्व आकाश शब्दमय झालें.

विधाय पूजां महतीं जिनानामनुज्ञया गोत्रमहत्तराणां। तेजस्विनः खेचरपुंगवोऽसौ चकार सुनोईयकंधराख्यां ॥ २५ ॥ पद्माप्रियः कोमलशुद्धपादो नेत्रोत्पलानंदकरो जनानां। कलाकलापं समवाप्नुवानो दिने दिनेऽवर्धत बालचंद्रमाः ॥ २६ ॥ अन्येद्यरादाय सिताक्षसूत्रं पर्यंकमास्थाय गुहोदरस्थः। ध्यानं न यावद्विततान सम्यक् विद्यागणस्तावदभूत्तंदग्रे ॥ २७ ॥ कृतार्थतामेत्य सुराचलस्य जिनालयान्सानुगतान्त्रणम्य । प्रदक्षिणीकृत्य च पांडुकाख्यां शिलां प्रपूज्येत्य गृहं विवेश ॥२८॥ चकं सहसारममोघशाक्तिं दंडं सरवड्डं सितमातपत्रं। प्रापाधिपत्यं भरतार्धलक्ष्म्याः पुण्योदयात्साध्यमहो न किं स्यात्॥२९॥ अष्टासहस्राणि षडाहतानि नितंबिनीनां ललितस्मितानां। वभू बुरत्यंतमनोहराणां प्रोत्तुंगपीनस्तनराजितानाम् ॥ ३० ॥ स संयुतः षोडशभिः सहसैर्महीभुजामुन्नतसाहसानां । विद्याप्रभावप्रथितोन्नतानां चकार राज्यं करदीकृताशः॥ ३१॥

अथ भारतेऽस्ति विषयोऽत्र वहन्धुरमाभिधां मुरनिवाससमः। विविधोऽपि कांतिनिवहो जगतः स्वयमेकतांगत इवाप्रतिमः॥३२॥ सरसाः समुन्नतत्या सहिताः स्वयमार्थिभिः परिगृहीतफलाः। अभवन्नधःकृतसमस्तजनास्तरवोऽपि यत्र सह सत्पुरुषैः॥ ३३॥ अटवीषु यत्र सरसां सरसेर्निलिनीदलैः पिहिततीरजलं। सहसा पपौ न तृषितापि मृगी गरुडोपलस्थलविमूढमतिः॥ ३४॥

२५ वंशांतील दृद्ध माणसांच्या संमतीने विद्याधरांमध्ये श्रेष्ठ अशा या राजानें जिनेश्वरांची मोठी पूजा करून तेजांचा साठा असलेल्या या गुलांच ' हयकंयर 'असं नांव टेविले. अर्थात् 'अश्वग्रीव ' असं नांव टेविले. २६ जसा वालचंद्र लक्षीचा आपडता असतो, कोमल व निर्मल किर-णांनी युक्त असतो व कमलांना आनदित करितो व कला समूहांना प्राप्त करून घेऊन दररोज बाहत जातो तसा हा वालकरूपी चंद्र लक्ष्मीचा आवहता, कोमल व निर्मल पायांनीं शोभणारा, लोकांच्या नेत्ररूपी कमलांना आनंदित करणारा व अनेक तप्हेंच्या कलांची प्राप्ति करून घेणारा होत्साता दररोज वाहूं लागला. २७ एके दिवशीं पांहरी जपमाळा घेऊन व गुहेमध्यें पद्मासनानें वसून चांगल्या रीतीनें ध्यान करावयाला सुरवात करणार तोंच सर्व विद्यांचा समुदाय त्याच्या पुढें उभा गाहिला. २८ विद्यांच्या माप्तीनें कृतार्थ होऊन तो मेरुपर्वताच्या शिख-रावर असलेल्या जिनमंदिरांना नियरकार करून व पांडुकाशिलेला प्रदक्षिणा देऊन व तिचें पूजन करून आपल्या घर्। आला. २९ या हयग्रीवालाँ ज्याला हजार आरे आहेत असें चक्र, निष्फळ न होणारे शाक्ति नांवाचे आयुधा दंडरतन, खड़-रत्न व पांउरे छत्र ही रत्नें प्राप्त झालीं. व अर्थ्या भरत क्षेत्राच्या लक्ष्मीचें प्रभुत्व प्राप्त झाले. वरोवरच आहे कीं, पुण्याच्या उढयानें या जगांत कोणती गोष्ट साध्य होत नाहीं वरे ? ३० ज्या उंच व कठिन रतनांनी शोभतात, ज्यांचे हंसणें फार मधुर आहे अशा अहेचाळीस हजार अत्यंत मनोहर स्विया याला होत्या. ३१ विद्यांच्या प्रभावानें जे प्रासिद्ध अजा उन्नतीयत पोहोचले आहेत व जे अतिगय साहसी आहेत अगा सोळा हजार राजांनी युक्त होऊन व सर्व दिशांना कर द्यावयास भाग पाइन हा हयकंवर अर्ध चक्रवर्ती राज्य करूं लागला.

३२ या भरतक्षेत्रांत रवर्गासाग्या सुंदर सुग्मा या नांवाचा एक देश आहे. नानापकारचें जगाचे सौदर्य जणु एकत्र होऊन हा अनुषम देश उत्पन्न झाला आहे असें याला पाहणाऱ्यांस वाटत असे. ३३ जसें सत्पुरूप प्रीतियुक्त, उन्नतीनें साहित व स्वतः याचक लोक ज्यांच्यापासून इच्छित पदार्थ घेतात असे व सर्व लोकांना खालीं करणारे अर्थात् सर्व लोकांमध्यें आपली श्रेष्टता कायम टेवणारे असे असतात त्याप्रमाणें येथील दृक्ष दोखिल सत्पुरूपाप्रमाणें सरस, उंचीनें सहित व ज्यांचीं फलें सर्व लोक स्वतःच ग्रहण करितात असें व सर्वाना आपल्या छायेखालीं आश्रय देणारे असे होते. ३४ या देशांतील जंगलांमध्यें सरोवरांच्या किनाऱ्यांचें पाणी सरस अशा कमलपतांनीं आच्छादिलेलें असल्यामुळें हैं गरुड-मण्यांनीं वनलेलें रथल आहे अशी जिला खांति झाली आहे अशी हरिणी तहानेने युक्त होकन देखील एकदम तें पाणी पीत नसे.

सुपयोधराः सपुरलोलदृशः सकलाश्च यत्र तनुवीविभुजाः। अपि लोकसेवितानितंबभुवः सरिदंगना बभुरपंकतया ॥ ३५॥ अन्पेतपुष्पफलचारुकुजैनिंचितैः सुधाधवलसौधचयैः। निगमैः समुज्ज्वलिनवासिजनैरधरीचकार च कुरूनिप यः ॥ ३६॥ पुरमस्ति पोदनभिति प्रथितं पृथु तत्र वैब्रधसमूहिनतं । अधरीकृतान्यनगरं स्वरुचा नभसोऽवतीर्णामेव शक्रपदं ॥ ३७॥ रजनीषु यत्र सदनात्रभुवो मणिदर्पणायलरुवो व्यरुवन । प्रतिमागतैरुडुगणैः परितो नवमौक्तिकैरिव विकीर्णतलाः ॥ ३८॥ परिवारितो धवलवारिधरैर्बहुभूमिकः स्फटिकसौधचयः। सकलां दधावुदितपक्षततेस्तुहिनाचलस्य अवि यत्र रुचिं ॥ ३९ ॥ सरसीषु यत्र च शिरीषनिभास्तटवद्धगारुडमणिद्यतयः। अतिसंद्धुः समद्हंसवधूर्नवशैवलाशनकुतूहलिनीः ॥ ४० ॥ सदनाग्रलमहरिनीलरुचां पटलेन सामिपिहितं दहशे। वपुरैंदवं युवातिभिः सहसा निशि यत्र राहुपरिदष्टमिव ॥ ४१ ॥ ललनामुखांबुरुहगंधवहो गृहदीधिकातनुत्र इभवः। भ्रमति सम यत्र पवनः सततं गणयन्निव ध्वजदुक्लपटाच् ॥ ४२ ॥ रविमंडलं विमलरत्नभुवि प्रतिविंबितं सपदि सुग्ववधं । तपनीयद्र्पणिधया द्वतीमवलोक्य यत्र च जहास सखी ॥ ४३ ॥

३५ या सुरम्य देशांतील सर्व नद्या व सर्व स्त्रिया समान शोभेला धारण करीत असत. तें याप्रमाणें — स्त्रिया सुपयोधरा - उत्तम स्तनांनीं युक्त होत्या व नद्या सु उत्तम-पयोधरा-पाण्याला धारण करणाऱ्या होत्या. ह्यिया तनुवीचि भुजा:-अर्थात् कृश लहरीपमाणें वाहंना धारण करीत असत व नद्या वारीक लाटारूपी बाहु धारण करीत असत. स्त्रिया अपंकतया म्हणजे पापरहित असल्या मुळें छोकसेत्रितनितंत्रभुतः — त्यांच्या पतिकडून ज्यांचे मध्यभाग उपभोगले गेले आहेत अशा होत्या व नचा अपंकतया-चिखलराहिन असल्यामुळें त्याही लोक सेवितनितंवभुवः म्हणजे लोकांकहून ज्यांचा तटभाग सेविला जात आहे अशा होत्या. ३६ सुंदर फुलें व फळें यांनी लकड़न गेलेल्या वृक्षांनीं, अमृताप्रमाणें शुभ्र असलेल्या श्रीमंतांच्या वाड्यांच्या समृहांनीं, व स्वरूपसुंदर अशा मनुष्यांनीं संदर दिसणाऱ्या हजारो गांवांनीं हा देश भरलेला होता. म्हणून अशा अपूर्व सींदर्याच्या हारें या देशानें देवकुरु व उत्तरकुरु या भौगभूमींनाही तुच्छ लेखलें होतें. ३७ या देशांत स्वतःच्या शोभेनें इतर शहरांना तुच्छ समजणारें असें पोदन-पुर नांवाचे राजधानींचे शहर जणु आकाशांतून इंद्राचे विवासस्थान-स्वर्गच येथे अवतरलें आहे अशी भ्रांति उत्पन्न करणारें होतें. कारण हीं टोनहीं वैबुधसमृह-चित होतीं. अथीत् स्वर्ग देवसमृहांनीं भरलेला होता व हें शहर वैवुधसमृहचित-विद्वान छोकांच्या समृहानें भरछेछा होता. ३८ या शहरांत वाड्यांचे वरचे भाग रत्नदर्पणाप्रमाणें निर्मल कांतीने युक्त होते. राह्रीं सर्व बाजूनीं प्रतिविवित झालेल्या नक्षत्रसमूहांनीं हे वरचे भाग नवीन मोत्यांच्या समूहांनी व्याप्त झाल्याममाणें शोभत असत.३९या शहरांत शुभ्र मेघांनीं वेढलेल्या व पुष्कळ मजल्यांनी युक्त अशा शुभ्र राजवाड्यांच्या समृहांनीं, ज्याला पंख फुटले आहेन अशा हिमालयाच्या संपूर्ण शोभेला या जगांत धारण केले. (पूर्वी पर्वतांना पंख होते पुढें तें इंद्रानें वजानें तोड्न टािकले अशी हिंदु लोकांच्या पुराणांत कथा आहे. तो अभिमाय घेऊन येथे उपर्युक्त कल्पना केली आहे. ) ४० या शहरांतील तळ्यांच्या तटाला ळावळेल्या पांच रत्नांच्या शिरीष पुष्पाप्रमाणें कोमळ व हिरन्यागार कांति पाहून हें नवीन शेवाळ आहे असें समजून तें खाण्यास उन्मत्त हंसी कौतुकयुक्त होऊन जात असत. परंतु खाण्याचा प्रयत्न करीत असतां त्यांची फसगत होत असे. ४१ या शहरांत वाड्याच्या गर्चीला लावलेल्या नीलरत्नांच्या कांतिसमृहाने अर्धे आच्छादिलें गेलेलें चंद्राचें विंव रात्रीं अकस्मात् पाहात असतां क्षियांना तें राहूनें ग्रासत्यानमाणें वाटत असें. ४२ ख्रियांच्या मुखकमहांत्न निघालेल्या सुगं-

धाला धारण करणारा व घरांतील विहीरींच्या कृश तरंगापासून उत्पन्न झालेला वारा या शहरांतील ध्वजांच्या रेशमी पतकांना मोजीत जणू वाहात असे. ४३ या शहरांत रत्नांनीं वनविलेल्या स्वच्छ जमीनींत पातिविवित झालेलें सूर्यमंडल पाहृन हें सोन्याचें दर्पण आहे असें समजून, ते घेण्याचा प्रयत्न कर्णाच्या एका अज्ञान सीला वघून तिची मैलीण हम्मं लागली.

समकारयन्न परिखावलयं न च यत्र शालमपि बाहुबली। प्रतिपक्षभीतिपिशुनेन सता किमनेन ऋत्यमिति मानधनः ॥ ४४॥ सक्लावनीशमुकुटाग्रमणीद्यतिमंजरीजटिलितांघियुगः । तदलंचकार पुरमप्रतिमो नृपतिः प्रजापतिरिति स्वगुणैः ॥ ४५ ॥ महतां वरे सकलसत्वचयस्थितिराजिते प्रविमलात्मगुणे। श्रियमाप यत्र कमलाप्यपरां वियाते स्थिता निारी कलेव विधोः॥४६॥ स्थिरसंगतो विनयसारधनो नयवर्त्मनि स्थितविश्रद्धमतिः। स्ववशीकृताक्षहृदयप्रसरो विरराज यः स्वयमपि प्रशमः॥ ४७॥ उरुपौरुपं रिपुषु साधुषु च प्रणयं प्रजासु च नयं विनयं। गुरुषु श्रियं च विनतेषु परां प्रथयां मभूव भुवि यः सततं ॥४८॥ पतिषद्य भूपातिरुभे शुशुभे धतिसाधते इव गृहीततन् । ललने स्वकांतिविजिताप्सरसौ स जयावतीं सगवतीं च विभुः॥४९॥ स्ववशं विनिन्यतुरनन्यसमे सममेव ते निजमनोज्ञतया। तमिलाधिनाथमरविंदलया अतदेवते स्वयमिव प्रगटे ॥ ५० ॥ स विशाखभूतिरवतीर्थं दिवस्तनयोऽजनि क्षितिपतेर्विजयः। स जयावतीप्रमदहेतुरभूत् भुवि यः पुरापि मगधाधिपतिः ॥५१॥ सकलः शशीव विमलं गगनं कुसुमोद्गमो महदिवोपवनं । भुवि विश्वतं श्रुतमिव प्रशमस्तदलंचकार स कुलं धवलः॥ ५२॥

४४ ज्याच्या बाहुमध्यें विपुल बल आहे अशा स्वाभियानरूपी धन नेहमीं जबळ बाळगणाऱ्या राजानें या नगरीन्या सभोंवती खंदक व तट ही बनविला नाहीं. हे बनविले असतां शत्रूंची भीति मनांत आहे हें सूचित होतें. यास्तव यापासून

कोणता फायदा आहे असें त्यास वाटत होतें. ४५ संपूर्ण राजांच्या किरीटांच्या अग्रभागीं असळेल्या रत्नकांतीच्या समृहांनीं ज्याचे दोन पाय व्याप्त झाले आहेत अशा प्रजापति नांवाच्या अनुपम राजाने प्रजेचे पालन करणें, दुएांना शिक्षा देणें व शिष्टांवर अनुग्रह करणे या आपल्या गुणांनीं ' मजापति ' हें नांव सार्थक करन या शहराला अलंकृत केलें होतें. ४६ हा प्रजापति राजा सज्जनामध्यें श्रेष्ठ होता, संपूर्ण पाण्यांना त्यांच्या त्यांच्या मर्यादेंत याने टेविल होतें. याचे सर्व गुण फार निर्मळ होते. जशी आकाशांत राहणारी चंद्रकला चंद्राला शप्त करून अधिक शोभते त्यापमाणें या राजाचा आश्रय करून लक्ष्मीला अपूर्व शोभा आली होती. ४७ हा राजा धैर्यानें युक्त होता, विनयरूपी उत्कृष्ट धन याचे जवळ होतें, न्यायमार्गामध्यें याची बाद्धि नेहमीं दियर राहात असे याने आपली इंद्रियें व मनाचे व्यापार वश केले होते. यामुळे हा राजा स्वतः प्रशमरूपच आहे असा शोभू लागला. अर्थात् हा शांततेचा अवतारच आहे असे लोकांना वाटत असे. ४८ या राजानें शत्रुवर पुष्कळ शौर्य गाजविलें होतें. हा सत्पुरुपावर फार प्रेम करितो अजी याची सर्वत प्रसिद्धी झाली होती. प्रजेला योग्य न्याय देण्या मध्यें हा प्रसिद्ध झाला होता.विल्लाविपयीं विनयगुण दाखाविणे व नम्न झालेल्यांना विषुल संपात्त देणें याविषयी याची सर्वत प्रासीदि जाली होती. ४९ ज्यांनी आ-पल्या सींदर्यानें देवांगनांना जिंकिलें आहे अशा जयावती व मृगवती अशा दोन राण्या या राजाला होत्या. यांच्या योगें राजाला फार शोभा आली होती. धीरता व सज्जनता यांनीं शारीर धारण कहन था दोशा राण्याच्या रूपार्ने पृथ्वीवर जणु अवतार घेतला आहे असा यांना पाहून लोकांना भारा होत होता. ५० या टोवी राण्या स्वतः लक्ष्मी व सरस्वती जगु प्रगट बाल्या आहेत अशा दिसत होत्या. लोकोत्तर अशा या दोर्घानी आपल्या सौदर्याने राजाला समान रीतीने वश केल होतें. ५१ जो पूर्वी मगध देशाचा राजा विशाखभूति म्हणून होता व नंतर जो तप करून दहाव्या महागुत्र रवर्गात देव झाला होता, तो या राजाला विजय या नांवाचा पुत्र होऊन जन्मला. हा जयावतीला ( आपल्या मातेला ) फार आनंटावें कारण झाला. ५२ जसा पूर्ण चंद्र निर्मळ आकाशाला सुशोभित करिनो, पुणांचा वहार वगीचास बोभा आणतो, शांतता गुण उत्तम शास्त्रज्ञानाळा भूपित कारिनो त्याप्रमाणं शुभ्र वर्णाच्या या विजय राजपुत्राने आपल्या वंशास शोभा आणिली.

अविन प्रसाधियतुमेव दिवस्तमथागतं मृगवती विवुधं । उदरेण निर्मेलमलं प्रदधो प्रथमांवुविद्विमव शाक्तिवधः ॥५३॥

उदरस्थितस्य यशसेव युतं परिपांडुतामुपययौ वदनं । असहदिसोडुमिव तद्गुरुतां तनुतां तदीयमगमच्च वपुः ॥५४॥ समभूदरातिकमलालयया स्तनयोर्युगं सह सुनीलसुखं। ववृधे तर्दायमुद्रं च मुदा प्रतिवासरं सह समग्रभुवा ॥५५॥ अवलोक्य तां प्रथमगर्भवतीं द्धतीं निधानिभव सारमिलां। उदयाचलांतरितशीतकरं रजनीमिव क्षितिपतिर्भुमुदे ॥५६॥ कृतचारुदोहृद्विधिः क्रमतः समये सुतं मृगवती सुष्वे। निलयं श्रियो विपुलगंधयुतं शरदीव पद्ममुक्कलं नलिनी ॥५७॥ अथ हृष्टिवृद्धिरुद्पादि तदा सकलेऽपि तत्र नगरे महता। परितश्च पंचविधरत्नमयी निपपात वृष्टिरमला नभसः ॥५८॥ अनवद्यवाद्यलयतालसमं प्रणनर्त वारवनिताभिरमा। नृपमंदिरेऽपि शिखिनां निवहः किमुतान्यदुत्सवनिविष्टमनाः॥५९॥ स्वयमाददे निजमनोऽभिमतं सहसा वनीपकजनने धनं । अपहाय लांछनमिलाधिपतेर्धवलातपत्रमितरत्सकलम् ॥६०॥ गणकस्त्रिकालविद्नुच्चतनुः प्राथितो वर्धत इति दिखलये। स्फुटमादिदेश नृपतेः स्वसुतो भवितार्द्धचक्रधर एप इति ॥ ६१ ॥ स्वकुलोचितां जिनपतेर्महिमां महतीं विधाय दिधिना नृपतिः। अकरोत्रिष्टष्ट इति नाम मुदा तनयस्य तस्य दशमे दिवसे॥६२॥ शरदंबरद्युतिसुषा वपुषा स शनैः शनैः कठिनतासुपयन् । परिरक्षया नरपतेर्ववृधे जलधेरमूल्य इव नीलमणिः ॥ ६३ ॥

५३ जशी शिंप निर्मल अशा पहिल्या थेंबाला धारण करिते त्याप्रमाणें पृथ्वी साध्य करण्याकरितांच रवर्ग लोकापासून आलेल्या अतिशय निर्मल अशा त्या देवाला— विश्वनंदीच्या आतम्याला (जो दहान्या महाशुक्र स्वर्गीत होता.) मृगवती राणीने आपल्या उदरानें धारण केलें. अर्थात् तो देव या राणीच्या गर्मीत आला. ५४ उदरांत येऊन राहिलेल्या या देवाच्या कीर्तीनें जणु युक्त झालेंलें मृगवती राणीचें तोंड पांढरें फ़टफटित झालें. व गर्भीच्या महत्वाला जणु

सहन न करणारें तिचें शरीर त्यावेळीं कृश झालें. ५५ शत्रूच्या राजलक्ष्मीसह या राणीच्या दोन रतनाचे अग्रभाग नील वर्णाचे झाले. व तिचे पोट प्रतिदिवशीं सर्व पृथ्वीसह आनंदानें बाहूं लागलें. ५६ उत्कृष्ट रत्नादिकांच्या निधीला जन्नी पृथ्वी धारण करिते अथवा उद्याचलाच्या आड असलेल्या चंद्राला राजा जशी धारण करिते तसे प्रथमगर्भाला धारण करणाऱ्या मृगवती राणीला पाहून राजा फार आनंदित झाला. ५७ जिचे सुंदर होहाळे पूर्ण केले आहेत अशा या मृगवती राणीनें शरदतुमध्यें कमलिनी जशी अतिशय सुगंधित व लक्ष्मीचें निवासस्थान असलेल्या कमलाला प्रसवते तसें आतिशय मानी व लक्ष्मीचें घर असलेल्या अगा पुत्राला जन्म दिला. ५८ राजाला मुलगा झाला म्हणून त्या सर्व नगगंतील लोकांना फार आनंद झाला. व अकाशांतून पांच प्रकार्च्या निर्मल रत्नांची रृष्टि सर्व वाजूनीं होऊं लागली. ५९ राजवाड्यांत निर्दोप वाद्यांच्या ठेक्पावर व थांवण्याच्या त्या त्या वेळीं वेश्यासह मोरांचा समूह देखिल आनंदानें वेहोप होऊन नृत्य करूं लागला. मग इतर लोक नृत्य करीत होते यांत आश्चर्य तें कोणतें? ६० राजाचें चिन्ह असलेल, अर्थीत ज्यानें राजाला ओळखतां येतें असें राजाचिन्ह असलेलें श्वेतच्छत्र फक्त सोह्न स्हणजे तें न घेतां याचक लोकांनीं आपल्याला आवडत्या अशा सर्व वस्तु निःशंकपणें राजाला न विचारतां घेतल्या. अर्थात् राजानें याचकांना पुष्कळ द्रव्य दिलें. ६१ सर्व दिशामध्यें प्रासिद्ध असलेला, गर्वराहित, भूत, भविष्य व वर्तमान जाणणारा अशा वसंत नांवाच्या ज्यांतीषीनं हा मुलगा खातीने अर्घ चक्रवर्ती अर्थात् त्रिखंडाधीश होईल असे स्पष्टपणे राजाला सांगितलें. ६२ प्रजापति राजानें आपल्या कुलाला साजेल अशी जिनेश्वराची मोठी पूजा शास्त्रोक्त पद्धतीनें केळी व दहाच्या दिवशीं आनंदानें त्या मुलाचें त्रिपृष्ट असे नांव ठेविलें. ६३ जसा समुद्राचा अमृल्य असा नीलमाण हवंहवं वाद्न कठिनपणाला पावतो तसे शरतकालच्या नील आकाशाच्या शोभेला हुनण कर्णाऱ्या अशा शरीरानें कोमलपणा त्यागृन दढता धारण करणारा तो जिपृष्ट कुमार उत्तम रीतीनें रक्षण केल्या हुळं हळं हळं वाद लागला.

सुतरामाशिश्वत कलाः सकलाः नृपविद्यया सममनन्यमितः। गुणसंग्रहे जगित यत्नपरः शिशुरप्यहो भवति सत्पुरुपः॥ ६४॥ तमवाप्य योवनमवाप परां श्रियमत्य सोऽपि तदभूतसुभगः। प्रयमं प्रसृनमिव चृततरुं स च संप्रपद्य समये तदिव॥ ६५॥ अतिमानुषं तमथ वर्माधरं जयगोमिनी प्रथमप्रकटं। स्वयमालिलिंग मदनाकुलधीरिमसारिकेव हृदयाभिमतं ॥ ६६ ॥ अथ भूपतिः सुतयुगेन समं सह राजकेन च सभाभवने । मुखमेकदास्त हरिपीठतटे घटितारुणारमिकरणांकुरितेः ॥६७॥ परिकुड्मलीकृतकरांबुरुहः प्रणिपत्य देशसचिवो विदितः। उपलब्धवागवसरप्रसरः क्षितिपं व्यजिज्ञपदिति प्रकटं ॥ ६८॥ अभिरक्षितामपि तवासिलताशितधारया घरणिनाथ ! धरां। परिबाधते मुगगणापिधतिर्वलवानहो जगति कमिरेषुः ॥६९॥ स्वयमेव किं हरिपदेन यमो जनतां हिनस्त्युत महान्युरः। तव पूर्वशाहरथवा विद्यों न हि तादशी मृगपतेर्विकृतिः॥७०। सुतयोषितोऽप्यनभिवीक्ष्य भयात्प्रपलायितं सकलजानपदैः। तव शात्रवैरिव शरीरभृतां न हि जीवितादपरमिष्टतमं ॥७१॥ स निराम्य तस्य वचनेन तदा विषयव्यथामिति सृगेंद्रकृतां। नृपतिस्तताम हृदये नितरां प्रदुनोत्यहो खलु जगद्व्यसनं ॥७२॥ दशनांशुमंडलनिभेन किरन् हृदयस्थितामिव कृपाममलां। निजगाद धीररवरुद्धसभाभवनोदरं नरपतिर्वचनं ॥ ७३॥

६४ या त्रिपृष्टराजकुमारानें एकाग्रिचित्त होऊन राजिवद्यांसह सर्व कलांचे विक्षण घेतलें. बरोवरच आहे कीं, या जगांत गुणांचा संग्रह करण्यांत एखाढा बालकही जर तत्पर असला तर त्यासही सत्पुरुप महणावयास हरकत नाटी. तात्पर्य हें कीं, वालपणी त्रिपृष्ट राजकुमारानें उपर्युक्त गुणाचा सग्रह केला म्हणून तो सत्पुरुष होता असें म्हणणे योग्य होतें. ६५ वसंतऋतुमध्यें प्रथमतः आम्रवृक्षाला मोहोर प्राप्त होऊन तो जसा शोभतो व आम्रवृक्ष मोहोर प्राप्त करून घेऊन लक्षाला मोहोर प्राप्त होऊन तो जसा शोभतो व आम्रवृक्ष मोहोर प्राप्त करून घेऊन लसा शोभूं लागतो. तसे या त्रिपृष्टाच्या आश्रयाने तारूण्याला फार शोभा आली व तारूण्यानें त्रिपृष्ट फार शोभूं लागला. असा उभयतामध्यें भूष्यभूषणभाव होता. ६६ जशी एखादी कामाकुल झालेली स्वैरिणी स्त्री संकेतस्थानी जाऊन आपल्या इच्छित पुरुपाला आलिंगन देतें तसे लोकोत्तर वलाला धारण करणाम, य चिल- खत धारण करण्यास योग्य अशा वयाचा झालेला या गजपुत्रास उन्केंटिन

जयेलक्ष्मीने अपगट रूपानें आछिंगन दिले. ६७ तद्नतर एके दिवशी वसवित्तरया पन्नराग मण्यांच्या किरणांचे अंकुर ज्यांतून वाहेर निघत आहेत अगा सिंहासनावर समेत आपल्या दोन मुलांसह व सर्व ६ रडार मंडळीसह राजा सुखाने वसला होता. ६८ त्यावेळी त्या पांतांतल्या एका पासिद्ध प्रधानाने आपले हातरूपी कमलांस कळी प्रमाणं करून व नमस्कार करून वोलण्याची योग्य संधि प्राप्त झाल्यावर राजास पुढे लिहिल्याप्रमाणें स्पष्ट विनंति केली. "६९ हे पृथ्वीनाथ! आपल्या तरवारीच्या तीक्ष्ण धारेने या पृथ्वीचे चांगलें रक्षण होत आहे व झाले आहे. परंतु एक वल-वान सिंह आपल्या प्रजेला फार आस देत आहे. अहो जगामध्ये कर्मरुपी गत्र फार वलवान आहे. ७० हे प्रभो ! यमच जणु स्वतः सिहाच्या मिपाने यजेना संहार करीत आहे ? अथवा कोणी महान् असुर हे कार्य करीत आहे ? किया आपरया पूर्व जन्माचा शत्रु असलेला कोणी देव प्रजेला त्रास देत आहे ? हे कारी समजत नाहीं. वास्तविक इतके पोठें संहाराचे कार्य सिंहाकडून होणें जनय नाहीं. देशांतील लोकांना सिंहापासून इतकी भोति बाटू लागली आहे की, हे नाथ! आपले शत्रू जस वायका पोरांची पर्वा न वालगतां भीतीनें आपणापासन पल्न जातात तसे वायका पोरांना न पाहतां आपण गेल्यावर त्यांची काय स्थिति होईल इकडे लक्ष्य न देतां ते पळ्न गेले आहेत. वरोवरच आहे की, जगामध्ये. आपल्या जीवितापेक्षां कोणतीही वस्तु अत्यंत आवडती नाही. " ७२ सिहापासून आपला देश किती पीडित झाला आहे याची हकीकत प्रधानशीच्या भाषणावरून ऐक-ण्यांत आल्याने राजाला मनांत फारच दुःख झालें. वरोवरच आहे कीं, संकट ही नेहमी जगाला दुःख करीत असतातच. ७३ दंतिकरणांच्या पंक्तीच्या गिपाने जणु आपल्या हृदयांत असलेली निर्मळ दया वाहेर प्रगट करणारा नो प्रजापित गजा आपल्या गंभीर शब्दांच्या द्वारे सभागृहाच्या सर्व यध्यथागाला व्याप्त करून पुढे

भुवि सस्यरक्षणविधौ विहितत्तृणयानुपोऽपि खृगभीतिकरः। अगमं ततोऽपि भृद्यमप्रभुतां करदीकृतासिळमहोभृदपि ॥ ७० ॥ अविनाशयन्प्रतिभयं जगतो जगताधिपत्यम्थ यः कुरुते। स वृथैव चित्रगत्रभूपतिवत्प्रविछोक्यते जनत्या नन्या ॥ ७८ ॥ मनुवंशजेऽपि सति भूमिपता तमभूत् क्षितौ प्रकटभीनिरिति । अयशस्तनोति सक्छाः कुकुभः किमिदं न संप्रति हतेऽपि हरा। ७६।

लिहिन्याप्रमाणें होतं लागला.

७४ं " शेतामध्ये धान्याचे संरक्षण करण्याकारितां गवताचा मनुष्य केलेला असतो व तो पशूंना व पक्ष्यांना भय उत्पन्न करीत असतो. परंतु मी सर्व राजे लोकाना कर देणारे केलें आहे तथापि त्या गयताच्या माणसापेक्षांही प्रभुत्वहीन झालों आहे. ७५ जगाची भीति नाहींशी न करितां जो जगाचे रवामित्व-राज्य करितो तो नम्न झालेल्या लोकांकडून निःसार झालेल्या चित्रांतील राजाप्रमाणे पाहिला जातो. 'राजा प्रकृतिरजनात् ' जो प्रजेचे अनुरंजन करितों, अर्थात् तिला जो नेहमीं सुखी कारितो तो राजा होय. जो हैं आपले कर्तव्य वजावीत नाहीं तों चित्नांतील राजाप्रमाणें व्यर्थ होय. ७६ हा राजा मन्द्रया वंशांत-भरत चक्रवर्तींच्या वंशांत उत्पन्न होऊनही जगांत उवड शितीनें सर्व प्रजेला भीति उत्पन्न झाली आहे असा लोकापवाद सर्व देशामध्ये माझ्या अकीर्तीचा डंका वाजवीत आहे. यावेळीं तरी मी सिहाचा वध केला तरी माझी अकीती पसरावयाची थोडीच थांदणार आहे. " ७७ अशा रीतीचे भाषण करून व क्रोधार्ने आपल्या भुवया वक्र वरून प्रजापाति महाराज सिंहाला ठार मारण्याकरितां रवतः उठले असतां विजयबलिभद्राचा धाकटा बंधु त्रिपृष्ट हा नम्र होऊन व वापाचा निपेध करून —आपण सिंह्वधार्थ जाणें योग्य नाही असें वोलून पुढे लिहिल्याममाणें भाषण करूं लागला. ७८ '' अहो वावा,पशुवधासार्शही आपल्याला या जगांत एवढी

खटपट करावी लागत आहे तर आमच्यासारख्या मुलांनी या गोष्टी प्रथम कराव-याच्या नाहींत तर मग आन्ही करावयार्चे तरी काय ? ७९ यास्तव अही वावा आपलें जाण योग्य नाई। आम्हीच हा कार्यासाठीं जातों. " असे बोल्हन नक नारायणापैकीं पहिला नारायण असलेला विजय राजपुताचा धाकटा वधु असा तो त्रिपृष्ट कुमार पहाराजांच्या आजेन सैन्यासह व विजयवलभद्रासह सित्वयार्थ निवाला. ८० त्रिपृष्ट राजपुतानें यमाप्रमाणें भयंकर अजा सिंहानें उत्पन्न केलेल्या भयाण परिस्थितीचा चोनक तो प्रदेश पाहिला. या प्रदेशांत पुष्कळ मापसांचा नाज झालेला होता. हा प्रदेश नखांच्या अग्रभागांतून गळून पडलेल्या मनुष्यांच्या आतड्यांना पुनः ग्रहण करण्यासार्टा आकाशांत चिर्ट्या चालणाऱ्या गियाडांनी भक्त गेला होता. ८१ टार मारलेल्या माणमांच्या हांडांनीं सर्वत्र पांडरा दिमणा-च्या त्या पर्वतावर येऊन त्रिपृष्ट कुमारानें तेथें रुंट अज्ञा गुह्त निजलेल्या सिहास वाजविलेल्या वाद्यांच्या ध्वर्नानीं द सैन्याच्या गलवल्याने जागें केलें. ८२ जागे झाल्यावर जांभयीनें ज्याचें तोंड भयंकर दिसत आहे अज्ञा त्या सिंहानें इकडे तिकडे दृष्टी फेंकून जमलेलें सैन्य पाहिलं व आपल्या मानेवरील पित्रळ्या सटा हळू हळू हालवृन आणि आलसावलेल किंदा बांकडे तिकडे झालेल आपलें गरींग पसरून तो उठून उभा राहिला.

अथ गर्जितैर्ध्वनयतः कक्कभो विवृतास्यकंदरसुद्यतनोः।
गतभीरतिष्ठद्रभिलंघयतो हरिरेक एव पुरतः स हरेः॥ ८३॥
विनियम्य दक्षिणकरेण शिलाकिनौ तद्यचरणावदयं।
इतरं निवेश्य वदने स करं समपातयन्सगपतिं सहसा॥ ८४॥
स रुषा वमन्निव द्वामिकणान्नयनद्वयेन नवरक्तभृता।
विफलीकृतोद्यमवलो वलिना विवशो सुमोह हरिरेकपदे॥ ८५॥
सृगविद्विषं नवमृणालिव प्रविदार्थ तस्य रुधिरेरवनेः।
शमयांचकार परितापचयं स तदा नवास्वुभिरिवास्बुधरः॥ ८६॥
विजसाहसेन महतापि महानुपयाति नूनमवनौ न सुदं।
यदनन्यवध्यमपि केसरिणं स निहत्य निर्विकृतमास्त हरिः॥८७॥
अथ लीलया करयुगेण हरिः ससुदस्य कोटिकिशिलासुपरि।
प्रथयांवसूव निजविर्यचयं निक्पोऽथवा वलवतामवधेः॥ ८६॥

नगरं ततः प्रतिनिवृत्य ययौ जयकेतनैर्मुकुालेतार्ककरं । उपकर्णयनिजयशः पृथुकैरिप गीयमानमनुरागपरैः ॥ ८९ ॥ कृतमंगलं सपिद राजकुलं विजयी प्रिथिश्य नरनावपितिं । विजयानुजोऽनुविजयं शिरसा प्रणनाम चंचलशिखायणिना॥९०॥ परिरम्य सम्मद्भवाश्चभृता नयनद्वयेन सुचिरं स पुरा । घनमालिलिंग तदनु स्वसुतौ भुजयोर्धुगेण पुनरुक्तमिव॥ ९१॥

८३ तदनंतर मुखरूपी गुहा उघडून आपल्या गर्जनांनी दिशांन। प्रतिध्वनीनीं युक्त करून जोरानें हल्ला करणाऱ्या, प्रचंड शरीराचा धारक अशा त्या सिंहापुढें तो राजञ्जमार एकटाच भयरहित होऊन उथा राहिला. ८४ आपल्या उजन्या हाताने शिलेप्रमाणे कठिन असलेले त्या सिंहाचे दोन पाय निर्दयपणें दावृन धरून व डाधा हात त्याच्या तोंडांत घाळून त्याला एकदम राजपुत्राने जिमनीवर आपटलें. ८५ नवीन रक्त धारण करणाऱ्या राजपुत्राने ज्यांच प्रयत्न व सामर्थ्य हे व्यर्थ केले आहत असा तो सिंह रागानें लाल दुंद झाला व आपल्या दोन डोळ्यांनीं जणु अशींचें रफुलिंग—विणग्या बाहेर टाकीत आहे असा भासूं लागला. परंतु राजपुलापुढे त्याचें कांहीं चालेनासे झाल्यामुळें तो विवश होऊन एकढम मूर्चिछत होऊन पडला. ८६ जसा नवीन मेघ आपल्या नवीन पाण्याच्या वृष्टीनें जमीनीची उष्णता नष्ट करून तिला शीतल वनिवतो तसे या राजपुत्राने सिंहाला कमलाच्या दांड्याप्रमाणे फाइन त्याच्या २क्तांनीं पृथ्वीचा संताप दूर केला. अथीत् सिंहा-पासून होत असलेल्या दुःखांचा अंत सिंहाचा अंत करून केला. ८७ मोटे लोक स्वतः केलेल्या मोठ्या साहसानें देखिल खरोखर आनंद गानीत नाहींत. अर्थात् मी एक योठें कार्य केले असे त्यांना एळीच वाटत नाही. राजपुत्रानें इतरांक इन वध करण्यास अशक्य अशा सिंहाला जरी यारलें तरी तो हर्षित झाला नाहीं. तो निर्विकारच राहिला. ८८ नंतर या राजपुचानें लीलेने आपल्या दोन हातांनीं कोटियिला वर उचलून आपलें अतुलवल सर्वत्र प्रसिद्ध केलें. कोटियिला उचलेण हे वलनानू पुरुषांच्या वलाची कसोटी आहे. सामान्य माणसे कोटिशिला उचलूं शकत नाही. जो नारायण पद्वीचा धारक आहे तोच ती उचलूं शकतो. म्हणून ती वल जाणण्याची कसोटी आहे. ८९ आपल्या विजयपताकांनी सूर्याच्या किरणांना संकुचित करणारा व मीतियुक्त वालकांच्या हारेंही गायिलें गेलेलें आपसें यश ऐकणारा तो राजपुत परतून आपल्या शहरासा आसा. ९० तत्कास

मंगलकार्ये जेथें करण्यास सुरवात जालो आहे अगा या विजयी राजपुत्रानें आपलया विजय नांवाच्या वहील आवासह प्रदेश केला व विजयाने महाराजाना
नमस्कार केल्यानंतर चंचल चूहानजाने पुक्त असलेल्या आपल्या मन्तकाने
महाराजास त्यानें नमस्कार केला. ९१ प्रजापाने महाराजांनी प्रथमतः आनंदार्थनी
भरलेल्या आपल्या दोन डोळ्यांनी आपल्या टोन हुलांना आलिएन नदनंतर
हुनः आपल्या ढोन दाहंनीं त्यांना हह आिहिशिले. या प्रकारे त्यांनी आपल्या
पुत्रांना आलिंगन देण्यांत जानु हुनकि केली. अर्थात् आनंदाने वसाच वेळपर्यत
आपल्या मुलांना त्यांनीं पाहिले व ह्यातीशीं प्रश्चित्वन हुनः त्यांना आलिंगले.

शिथिलीचकार परिरंभजतः स क्रिरात्सुतौ पुलकरुद्धतनुः। तदनुज्ञया पुनरिप प्रणतौ सनमासितौ नृपतिपीठनटे ॥ ९२॥ परिषृच्छतःक्षितिपतेर्विजयेऽनुजविकमं वदति सत्यमपि । विनताननो निभृतमास्त हारेर्न सुदे गुणस्तुतिरहो महतां ॥९३॥ इति भूपतिः सुतयुगेन तमं परिरक्षया प्रयदयन्धरणीं। सकलां राशास शरादेंदुकलावियलं यशः प्रतिदिशं विकिरन्॥९४॥ अथैकदा कौतुकनिश्वलाक्षोदोवारिकः कांचनवेत्रहस्तः। धावञ्चपेत्पावनिनाथमित्यं व्यजिज्ञपत्संभ्रमरुद्धवाक्यः॥९५॥ विहायसा कश्चिद्धपेत्य देव । द्वारि स्थितो विस्मयनीयसृतिः। तेजोमयो वीक्षितुमिच्छति त्यां प्रसाणसत्र त्यसिति व्यरंसीत् ॥९६॥ प्रवेशय द्राक्षुसुरवेत्यथाज्ञागवाप्य राज्ञो विनिदृत्य गत्वा । प्रावेशयत्तं सभया समीध्य सिनस्मयोत्फुलदृशा विवृत्य ॥ ९.७ ॥ राजा समेत्यानतमादरेण स्वहस्तनिर्दिष्टहिरण्यपीठे । अदूरवर्तिन्युपवेश्य किंचिडिआन्तमालोक्य तमावभाषे॥ ९०॥ सौम्याकृतिः कस्त्वसनन्यम् एम्दः कस्मादिसां सृपिसुपागतोऽिम । किमर्थमायात इति क्षितीका स्वयं स पृष्टः पुनरेवसूचे ॥ ९९ ॥ अस्त्यत्र शैलो विजयार्वनामा नरेंद्र ! विचाधरलोकवासः। श्रेणीद्रयेनोत्तरदक्षिणेन दिराजिता राजततुंगशृंगः॥ १००॥

९२ प्रजापति यहाराजांच्या सर्व अंगभर आनंदानें गोपांच उमे राहिले. न्यांनी फार वेळपर्यत आलिंगन इऊन मग आपल्या दोन धुलांना सोइन दिले. अतिशय नम्र झालेलीं ती दोन गुलं मंहाराजांच्या आंड्रेने यहाराजासह राजसिंहा-सनावर वसलीं. २३ महाराजांनीं हफीकत विचारल्यावर विजय वलियद्र त्यांना आपल्या धाक्रटचा भावाचा खग पगक्रव सांगत असतांही विष्धु नारायणानें आपले गरतक नम्र करून रतव्यता धारण देली. वरोवरच आहे कीं, मोठ्या पुरुपांना आपल्या गुणांची म्ताते हर्पाळा वाग्ण होत नाहीं. ९४ याप्रमाणे आपल्या दोन मुळांसर संपूर्ण पृथ्नीचे रक्षण करून प्रजापित महाराज तिला आल्हादित कर्गत राज्य करू लागले असतां त्यांचे चंद्राच्या कलेप्रमाणे गुभा यज सर्वजा पसरलें.९५ एकेनेकी आधर्याने ज्याचे डोके स्थिर झाले आहेत व ज्याच्या हातांत सोन्याने महविलेली वेताची छडी आहे असा हारपाल घांवत घांवत महाराजाकडे आला व गडवर्डीने अडखळत भाषण वरून महाराजांना त्याने पुढे लिहिल्या-प्रमाण प्रस्तावना केली. अथीत त्याने अशी हमीकत सांगितली. ९६ ' हे प्रभी! कोणी एक मनुष्य आकाशमार्गाने येऊन राजवाड्या-या उग्वाजाजवळ उभा राहिला आहे. त्याचे रवह्रप आश्चर्य उत्पन्न करणों आहे व अतिशय तेजस्वी आहे. महाराजांचे दर्शन ध्यावे अशी त्याची इंछा आहे. यास्तव आपळी आजा प्रमाण आहे. अर्थाह् आपली आज्ञा अमल्यास त्यास आंत चेऊन चेतो. '' अस बोलून नो थांबला. ९७ "हे सुपुखा! त्याला लोकर आंत पाठवन दे" अशी राजाची आज्ञा झाल्यावरोवर तो परतून गेला व आध्याने जिचे डोळे विकसित झाले 'आहेत अज्ञा सभेकड्डन चळन पारण्याला योग्य अज्ञा त्या यनुष्याला त्याने पाट-तून दिलें. ९८ त्या मनुष्याने सभेत प्रदेश करून महाराजांना नमस्कार केला. महाराजांनीं आपल्या हाताने दाखिनिलेल्या जनलन्या आसनावर तो वसला. त्याचा धक्कवा थोडा दूर झालेला पाहन महाराज त्यास याप्रमाणे वोलले. ९९ '' ज्याची समानता इतर ठिलाणी ओढळत नाही अला सान्य आकाराचा तूं दोण आहेस ? या पडेगांत तृ दोट्टन आलेला आहेस व तुझे येण्याचे काय कारण आहे?" असा महाराजांनी प्रश्न केल्याबर तो एनः एटं लिहिल्याप्रमाणे बोलं लागला.१००" अहो महाराज! या भरत क्षेत्रांन विद्याधर लोक जेवं राहतान असा विजयार्घ नावाचा पर्वत आहे. दानिण श्रेणी न उत्तर देगी यानी हा फार शोनत . आहे व याला चांदीची उंच शिखंग आहेत.

श्रेणीमपाचीं रथनूणुराख्यं पुरं समाध्यास्य महेंद्रलीलः । नभश्रराणां ज्वलनादिरेकः पतिर्जटी नाम सुनिक्ति तत्र ॥ १०१ ॥ त्वदन्वयाद्यः प्रथमस्य सूनुर्महात्मनां वाहुवली जिनानां। निपीडिय दोभ्याँ अरतेश्वरं यो सुमोच लहम्या सह हेलयैव ॥१०२॥ अलंकरोतींदुकरावदातं नमेः कुलं कच्छन्यात्मजस्य। नसश्चरणामधिपोऽपि राजन्पितृष्वसुस्ते तनयो नयज्ञः॥ १०३॥ अतोऽस्मदीशः कुशली भदन्तं दूरस्थितोऽपींदुरिवाम्बराशि । अनामयं पृच्छति मन्मुखेन प्रेम्णा समाश्विष्य पुराणवंधुं ॥१०४॥ सुतोऽर्ककीर्तिः क्षपितारिकीर्तिः स्वयंप्रभा तस्य सुता दितिया। देवी च पादाद्धितयं प्रणाहैरम्यर्चयंतीश ! तवार्चनीयं ॥ १०५॥ अथ कल्पलतामिवैकपुष्पां सदशां कामफलोन्पुखीमुपेतां। तनयामवलोक्य तत्समानं न वरं मंत्रिविलोचनोऽप्यपश्यत्॥१०६॥ कुशलं सकले निमित्ततंत्रे विहितप्रत्ययमाप्तमाममानं। उपगम्य रहस्यमात्यमुख्यैः सह संभिन्नमवोचदेवसीशः॥ १०७॥ सद्याः सुद्याः स्वयंत्रभायाः पतिरस्माभिरवोक्षतो न कश्चित्। अवलोक्य दिव्यच्छ्या तं ननु मत्कृत्यविधौ भवान्प्रमाणं ॥१०८॥ इत्युक्तवा विरतवति स्वकार्यवीजं संभिन्नः खचरपताववोचादित्यं। त्वरकृत्यं शृणु विदितं मया सुनींद्रादायुष्मन्नविधहराः पुरायथावत् 11 308 11

अस्मिन्प्रतीहि भरते भेरतशवंशे राजा प्रजापितरुदारयथार्थनामा। तस्यात्मजौ विजायेनौ विजयत्रिपृष्टावाद्यावमानुपवलौ वलवासु-देवौ॥ ११०॥

१०१ जो इंद्राप्रमाणें क्रीडा करीत असतो असा विद्यायरांचा प्रभु ज्वलनजरी नांवाचा राजा त्या विजयार्थ पर्वतावर रथन् पुर गहरामध्ये राहून दाक्षणश्रेणींचें रक्षण करीत आहे. हे राजन्! तुझ्या वंशांतील पहिला पुरुप हा महासत्एरुप अशा चोवीस तीर्थकरापैकी पहिल्या तीर्थकराचा आदिनाथ स्वामीचा सत्पुत्र होता. यानें सहज आपच्या दोन वाहंनी भरतेश्वर अर्थात् भरतचक्रवर्तीला पीडित करून राज्यलक्ष्मीसह त्याचा त्याग केला. १०३ हे राजन् हा ज्वलनज विद्यायरराजाही कच्छ नांवाच्या

राजाचा पुलगा जो नामि त्याच्या चंद्र किरणाप्रमाणें निर्मल अशा वंशाला अलंकृत करीत आहे.हे पभा ! हा नीतिज्ञ राजा पूर्व परपरेनें तुझ्या बापाच्या बहिणीचा मुलगा आहे. अर्थात् तुझा आतेगाऊ आहे. १०४ ज्याप्रमाणे दूर असळेळाही चंद्र आपळा जुना संवंधी असळेल्या समुद्रास पेमानें अलिंगन देतो त्याप्रमाणें पूर्वपरंपरेने बंधु अस-लेख्या आपणास हा सक्कशल राजा प्रेमाने अलिंगून माझ्या गुखाने आपलें आरोग्य अर्थात् कुशल् वर्तमान विचारीत आहे. १०५ या उवलनजटीला शत्रूंची कीर्ति नष्ट करणाग अर्ककीर्ति नांवाचा छलगा आहे व स्वयंप्रभा नांवाची दुसरी मुलगी आहे. व या राजाची राणी वायुवेगा नांवाची आहे. हे राजन्! हे सर्व आपल्या पूज्य चरणांची नगस्कारांनीं पूजा करीत आहेत.अर्थात् आपल्या चरणांना त्यांनीं माश्या मुखाने अनेक नमस्कार सांगितले आहेत. १०६ नंतर एके दिवशीं कल्पलतेप्रमाण अर्द्धितीय पुष्पाला धारण करणारी व कामाविकारक्षी फल उत्पन्न होण्याच्या अवस्थेला पोहोंचलेली अर्थात् तरुण झालेली अशा आपल्या मुलीस-स्वयंप्रभेस पाहून तिला शोभणारा असा वर सचिषरूपी डोळ्यांनी राजा युक्त असूनही त्याला आढळून येईना. १०७ तदनंतर सर्व निमित्त शास्त्रामध्ये प्रवीण, हित करणाऱ्या जितेंद्राप्रमाणे प्रमाणयुक्त व ज्यानें सांगितळेल्या गोष्टी अनुभवास येत असल्यामुळे विश्वासपात्र अशा संभित्र नांवाच्या निमित्त ज्ञान्य कडे आपल्या मुख्य भंत्र्यासह येऊन एकांतर्थानीं ब्वलनजटी राजाने याप्रमाणें विचारलें. १०८ "हे प्रभो, सुंदर नेत्रांना धारण करणाऱ्या आमच्या स्वयंप्रमेला साजेल असा वर बोधण्याचा आसी पुष्कळ मयत्न केला परंतु तो आहळून आला नाहीं. यारतव हे निामित्रज्ञा ! आपल्या दिन्यनेत्रोंने अर्थात् आपल्या लोकोत्तर ज्ञानाने त्यांचे अवलोक्षन कर.माझ्या या कार्यीत तूंच प्रमाण आहेस; विश्वास पात्र आहेस. " १०९ याप्रमाणें आपल्या कार्याचें कारण संगुन ज्वलनजरी विद्याधर राजा थांबला असतां तो संभिन्न नांवाचा निमित्तज्ञानी राजाला ह्मणाला की "हेराजन्! तुझ्या या कार्याविपयीची हकीकत मी पूर्वी एका अवधिज्ञानरूपी नेजाचे धारक मुनिवरापासून यथार्थ ऐकिली होती. ती सोंगतो ऐक." ११०" या भरत क्षेत्रांत भरतचक्रवर्तीच्या वंशांत उदार गुणांचा व सार्थक नांवाचा प्रजापाति या नांवाचा राजा आहे असे जाण. त्याला अमानुष शक्तींचे धारक व निजयशाली असे विजय विशिष्ट्रां या नांवांचे दोन पुत्र आहेत.
हे दोंचे वलदेव व वासुदेव अर्थात् नारायण व वलभद्र या पदवींचे धारक आहेत. विजय हा वलदेव पदवीचा धारक आहे व त्रिपृष्ट हा नारायण पदवीचा धारक आहे.

रिपुस्त्रिपृष्टस्य पुरा अवेऽभवत् विशाखनंदीत्ययमश्वकंधरः । ततः प्रहत्याहवदुर्मदं रणे नभश्चरेद्रं भवितार्द्धचक्रभृत् ॥१११॥

तस्मादेतत्वेचरावाससारं कन्यारत्नं वासुदेवाय देयं। निःसंदेहं तत्प्रसादादुदीचीं प्राप्य श्रेणीं यास्यसि त्वं च वृद्धिम्।।११२॥ इत्यादेशादवितथगिरस्तस्य कार्तातिकस्य। ध्वस्ताशंकं ज्वलनजिटना प्रेषितं विद्धि दूतं॥ मामिन्द्राख्यं घटियतुमिदं देव कल्याणकार्यं। कायाभिज्ञं स्थिरतरिया त्वत्सकाशं प्रकाशं ॥११३॥ श्रीमानागमनस्य कारणमिति व्यक्तं निवेद्य स्थितं। भ्वांगस्षृष्टसमस्तभूपणगणिरभयच्ये तं भूपतिः॥ मत्यानामाचिरादगोचरतया तस्यैव हस्ते पुनः। संदेशं खचराधिपस्य मुदितः सप्राभृतं प्राहिणोत् ॥११४॥ क्षोणीनाथं प्रणम्य श्लथमुकुटतरीकोटिविन्यस्तहस्तः। सोत्कान्विद्याधराणां पतिमनातीचिरादान्य द्रष्टुमस्मान् ॥ इत्युक्तवा तेन मुक्तो गगनतलमगादिन्दुरिन्दीवराभं। सद्यो विद्योरुसंपद्धिहितमधिवसन्राजमानं विमानं ॥११५॥

इति श्रीअसगभूपकृते श्रीवर्द्धमानचरिते त्रिपृष्टसंभवो नाम पंचमः सर्गः ॥ ५॥

१११ या त्रिषृष्ट राजकुमागचा पूर्वजन्मी विशासनंदी नांवाचा शत्रु होता; तोच आतां अश्वप्रोव नांवाचा विद्याधराधिपति अर्धचक्रवर्ती होस्न जन्मला आहे युद्धाविपयी ज्याला दुरिममान उत्पन्न झाला आहे अशा या अश्वप्रीवाला ठार मारून हा तिषृष्ट राजकुमार अर्धचक्रवर्ती होणार आहे. ११२ याग्तव या विद्याधर भूमीत है साररूप हे कन्यारत्न हे राजन्! तूं त्या कुमाराला अर्पण कर महणजे त्याच्या कुपेने तुला खात्रीने उत्तर श्रेणीचे आधिपत्य—राज्य मिळेल व तुझी उत्तरोत्तर उन्नतीच होत जाईल." ११३ ज्याचे भाषण सत्य आहे अशा निमित्तज्ञान्याच्या आजेने ज्वलनजटी नृपालाने निःशंक होस्त हें कल्याणकार्य निवाहकार्य जुळाविण्यासाटी हे राजन्! कार्याची माहिती असलेल्या मला चांगला विचार करून जयह रीतीने तुझ्याकडे पाटविले आहे. हे राजन्! माझें 'हंदू' अमें नांव आहे व मी दृत आहे असे समज. ११४ या प्रमाणे आपल्या येण्याचे कारण प्रवड करून तो टक्स नांवाचा द्व राजध्य वसला. नंतर लक्ष्मी संपन्न प्रजापति

राजानें आपल्या अंगावगील सर्व अलंबार देऊन त्याचा सत्कार केला. व भूमिगोचरी मनुष्यांना विद्याधरांच्या निवासरथानीं जाऊन लेकिर निराप सांगता
येत नसल्यानें त्याच दूताच्या हातीं विद्याधरेद्र जो ज्वलनजटी त्याच्या करितां
निरोप व नजराणा मोठ्या आनंदानें प्रजापित राजानें अर्पण केला. व त्याला
पाठऊन दिलें. ११५ व पाठिवतांना त्याला हें सांगितलें कीं. ' विद्याधराचा
राजा अशा त्या ज्वलनजटीला पाहण्याविषयीं आह्मांला फार उत्कंटा लागून
राहिली आहे; म्हणून त्याला शीघ्र आण असे बोलून राजानें त्याला जाण्यास
परवानगी दिली. त्या दूतानें देखिल दिला झालेल्या मुकुटाच्या पुढच्या भागावर
आपले हात ठेऊन महाराजांना नमरकार केला व तत्काल विद्यांच्या मोठ्या
सामध्यानें बनाविलेल्या मुंदर विमानांत वसून नील कमलाप्रमाणें ज्याचा वर्ण
आहे अशा आकाश मार्गाने विजयार्द्वपर्वताकडे निघून गेला.

याप्रमाणें असगतृप रचित या वर्द्धमान चिरतांतील त्रिपृष्टाच्या उत्पत्तीचें वर्णन करणारा हा पांचवा सर्ग संपलाः



यातेषु केषुचिदहःस्वथ खेचरेंद्रमागत्य वाह्यवनमेकदिने प्रशरते। अध्यासितं सह वलेन निशम्य सौम्याद्रष्टुं सुदा तसुदियाय विशामधीशः॥ १॥

एकेन साधुजनतां प्रति दक्षिणेन वामेन वैरिनिवहे च परेण गच्छत्। दोभ्यामिवोन्नतधनांसविराजिताभ्यां ताभ्यामराजत समं क्षितिपः सताभ्यां॥ २॥

आरूढवाहगतिवेगविलोलहारस्फारांशुचक्रधवलीकृतदिग्विभागैः। ख्यातान्वयैः पथि निजप्रतिविंवकैर्वा राजन्यकैरनुगतो वनमाप स्पूपः॥३॥

विद्याप्रभावरिचताङ्कृतसौधक्टकोटिस्थितांवरचरीजनलोलनेत्रैः। प्रत्युत्थितेन सहसा सह खेचरेशा प्रीतिप्रसारितदृशा दृशं नरेंद्रः।थ यानात्ससंभ्रमसुभाववतीर्य दूरादासन्नचारुभटदृत्तकरावलंको । अन्योन्यसन्सुख्यभीयतुरुत्सुको तो पाद्रदेन धरणीं धरणीप्रनाया

गाढोपगूहनसुधासिललेन सिक्तः संबंधचंदनतरुः सममेव नाभ्यां। जीर्णोऽपि सन्नव इवांकुरितो विरेजे केयूरकोटिमणिरिमभिन्नि-पद्धिः॥ ६॥

तस्यार्ककीर्तिरवनीश्वरनायकम्य दूरानतेन शिर्मा चर्णा वर्षे । पित्रा तदानभिहितोऽपि कटाक्षपांतेंनेमर्गिको हि महतां विनयो महत्मु ॥ ७ ॥ लक्ष्मीप्रतापवलशौर्यमतिश्रुताद्यैलीकाधिकाविष समीवजय त्रिपृष्टी। प्रीत्या प्रणेयतुरुभौ खचराधिपं तं स्तब्धो महान्गुरुजने न गुणा-धिकोऽपि॥८॥

कित्येक दिवस गेल्यानंतर एका सुभुदूर्ताच्या दिवशीं विद्याधर राजा ज्वल-नजर्रा वरोवर सैन्य घेऊन पोदनपुराच्या वाहेरील वगीचांत येऊन राहिला आहे ही गोष्ट एका सौस्य स्वभावाच्या मनुष्यानें येऊन प्रजापति महाराजांना सांगितली. तेव्हां महाराज आनंदानें त्याला पाहण्यास निघाले .अर्थात् त्याला भेटण्यास नियाले. २ उंच व वलकट अशा दोन खांद्यांनीं युक्त असलेल्या उजन्या व डान्या वाहममाणे जोभणाऱ्या आपरया दोन मुलांना बरोवर घेऊन जाणारे प्रजापाति महाराज फार शोभू लागले. महाराजांचा उजवा वाहु साधुजनाविषयीं सरळ होता अर्थात् त्यांच्यावर तो अनुग्रह करीत असे. व त्यांचा डावा वाहु वैरीजनाविपयीं नेर्व्या वापच राहात असे अर्थात् प्रतिकूळच राहत असे. याचप्रगाणें विजय व तिपृष्ट या उभयतांचा स्वभाव ऋषानें महाराजांच्या उजन्या व डान्या बाहूप्रमाणें होता इहणून हे दोचे महाराजांच्या दोन वाहूप्रमाणें शोभत असत ३७त्तम घोड्यावर आरोहण करून प्रसिद्ध वंशांतील सरदार मंडलीही महाराजासह वाह्य बनाकडे निघाली. त्यावेळीं सर्व सरदार लोक मार्गामध्यें जात असतांना लोकांना हीं महाराजाची दुसरीं प्रतिविवेंच जणु आहेत असे वाटू छागछे. कारण ते घोड्या-वरून जात असतां वेगानें त्यांच्या गळ्यांतील हार हालून त्यांच्या किरण सम्-हांनी सर्व दिशांचे भाग पांढ या प्रकाशानें व्याप्त झाले होते. या सरदारांचा थाट माटही यहाराजा प्रमाणेंच असल्यामुळें छोकांना ही महाराजांचीं प्रातिविवें असतील असे वाटणे साहाजिक आहे. ४ विद्यांचे प्रभावानें वनविलेल्या राजवा-ड्यांच्या गचीच्या पुढच्या भागावर वसलेल्या विद्याधर स्त्रियांच्या चंचलनेत्रासह उठलेला व मीतीनें ज्याचे डोळे विस्तृत झाले आहेत अशा विद्याधराधिपति ज्वल-नजटी राजानें एकदम प्रजापति महाराजांना पाहिलें. अथीत् विद्याधर स्त्रियानीं व ज्वलनजटोनें महाराजास पाहिलें. ५ त्यावेळी दोघेही राजे अर्थात पृथ्वीपति, प्रजापति व विजयार्द्धपर्वताचा अधिपति ज्वलनजटी हे दोघेही दुरूनच आप-आपल्या वाहनावरून खालीं उतरले. तदनंतर ज्यांना उत्तम शूर पुरुपांनीं आप-ल्या हाताचा आश्रय दिला आहे असे होत्साते ते दोघे मोठ्या उत्सुकतेनें पाद-चारी वनून एकमेकांच्या सन्धुख आले. ६ त्या उभयतांनीं गाढ आर्छिगनरूपी

अमृत जलानें सिंचिलेला त्यांचा संबंधरूपी चंदन दृक्ष जरी फार जुना झाला होता तरी तो पुनः स्फुरण पावणाच्या वाहुभूपणाच्या रत्निकरणांनीं नवीन पालवी फुटल्याप्रमाणें शोभू लागला. ७ ज्वलनजटीनें कटाक्षांच्या द्वारेंही सुच- विलें नसतां अर्ककीर्ती राजपुतानें दुरूनच नम्र झालेल्या मस्तकानें राजाधिराज प्रजापित महाराजांच्या दोन चरणास वंदन केलें. वरोवर आहे की, मोल्या लोकांचा पूज्य माणसाविषयीं रवाभाविकच विनय असतो. ८ लक्ष्मी, पराक्रम, वल, तेजस्वीपणा, बुद्धि, शास्त्रज्ञान या गुणांनी विजय व त्रिपृष्ठ हे जरी लोकोचर होते तरी या उभयतांनीं विद्याध ांचा राजा अशा ज्वलनजटीला एकदम नमस्कार केला. वरोवरच आहे कीं, महापुरूप गुणांनी गुरुजनांपेक्षां अधिक असले तरी ते त्यांच्यापुढें नम्रताच धानण करतात. अर्थात् सत्पुरूप गुणश्रेष्ठ असतांही वयानें अधिक माणसाञीं विनयानेंच वागतात.

आिंठिंग्य तुंगतरदेहमनंगकलं तावर्ककीर्तिममलं प्रथिताककीर्ति । प्रीतौ बभूवतुरुभाविप भूरिशोभौ केपां तनोति न सुदं प्रियवंध संगः॥९॥

ज्ञात्वा तयोविवदिषामय सूत्रधात्रीधात्रीधरप्रमुखयोर्भुखिवअमेण । प्रयान्प्रजापतिनराधिपतेरमात्यः प्रोवाच वाचिमिति कालविदो हि दक्षाः॥ १०॥

सम्यक्प्रसन्नमधुनाकुलदेवताभिः पक्वं शुभैश्च भवतोःसफलं च जन्म। छिन्नापि पूर्वपुरुपाचिता स्वतेयं येनात्मनैव पुनरंकुरिता लतेव। ११। त्वांदेव! निष्प्रतिघमात्मसमं दुरापमन्यैः प्रजापितरभूद्धवनस्य मान्यः। कृष्णस्य केवलमिव प्रतिपद्य योगी प्राप्तं पदं क्वमनुत्तरमप्यनेन॥१२॥ इत्यं तदा निगदतःसिववस्य वाक्यमाक्षिप्य खेवरपितः स्वयमेवभूचे। अभ्यर्वयन्विकचकुंददलैरिवान्तर्वाग्देवतां दशनरिमिभिरिंदुगौरैः ॥ १३॥

ईट्टग्वचो मतिमतां वर ! मा वदस्त्विमिध्वाकवो निमकुलस्य चिरंतनेशाः। आराध्य कच्छतनयो यदहींद्रदत्तां वैद्याधरीं श्रियमशिश्रयदादिदेवं

आज्ञामनादरसमुन्नमितांतवामभूमंजरीविलसनेकपदेन दत्तां। सज्जस्ततोऽस्य च विधातुमयं जनोऽपि पूर्वक्रमो ननु सतामविलं-धनीयः॥ १५॥

संभाष्य ताविति महीपतिखेचराणां नाथौ पुरा प्राणिधिना विधि-

स्फीतां विवाहमहिमां सुतयोर्विधातुमभ्युद्यतौ विविशतुर्गृहसुत्प-ताकम् ॥ १६॥

९ विपुल सौंदर्यधारक असे विजय व त्रिपृष्ट हे दोघे राजपुत्रही ज्याची कीर्ति सूर्याप्रमाणें उज्ज्वल आहे, जो अधिक उंच शरीराचा, मदनाप्रमाणें सुंदर व निर्दोप आहे अशा अर्ककीनींला आलिंगून आनंदित झाले. वरोवरच आहे वीं, आवडत्या संवंधी जनांचा सहवास कोणास आनंदित करीत नाहीं बरें ? सर्वीस आनंदित करितोच. १० पृथ्वीपति प्रजापति महाराज आणि विजयार्द्ध पर्वताचा अधिपति ज्वलनजटी यांच्या मुखायरील आकृतीनें त्यांच्या मनांत भाषण करण्याची इच्छा आहे असं जाणून प्रजापति महाराजांचा आवडता मंत्री पुढें किहिल्याप्रमाणे बोलू लागला. वरोवर आहे कीं, हुवार माणसें योग्य कालाला जाणणारीं अप्ततात. ११ '' आज कुल देवता चांगल्या प्रसन्न झाल्या,आज शुभकर्षे उदयास आलीं व आज उभयतांचा जन्म सफल झाला. पूर्व पुरुपांचा संबंध जो वन्याच कालापासून तुटला होता तो आज तुटलेल्या वेलीपमाणें पुनः अंकुरयुक्त ञाला आहे. १२ ज्यामपाणे एखादा योगी-मुनि मतिपक्षरहितः इतरांना माप्त हावियास कठिण असें, आत्मस्वरूप असलेलें केवलज्ञान माप्त करून घेऊन त्रैलोक्य वंद्य होतो व सर्वोत्कृष्ट अविनाशी असे मोक्षस्थान माप्त करून घेतो त्याचममाणे हे प्रभो । प्रभापति महाराज प्रतिपक्षरहित, अन्य जन दुर्लभ, आपल्या बरोवरीच्या अशा आपल्या आश्रयानें जगन्मान्य झाछे आहेत व स्थिर आणि उत्कृष्ट अजी प्रतिष्ठा त्यांना लामली आहे." १३ यापमाणे भाषण करणाऱ्या मंत्र्याचे बोलणे मध्येंच थांववून विद्यावरांचा राजा ज्वलनजटी हा कुंद्पूष्पांच्या दल।प्रमाणें

असलेल्या चंद्रनिर्मल डांतांच्या किरणांनीं हृद्यांत असलेल्या वाग्डेवतेची-सरस्व-तीची जणू पूजा करणारा असा होत्साता स्वतः याप्रमाणे वोलं लागला १४ "हे विद्वच्छ्रेष्ठा ! तूं असे वोॡं नकोस. इक्ष्वाक्चवंशीय राजे नमिक्कलाचे फार प्राचीन कालापासून मालक होन आले आहेत. कच्छ राजाचा पुत्र जो नमिकुमार त्याने श्रीआदि भगवंताची आराधना करून धरणेद्रानें दिलंख्या विद्यापराच्या लक्ष्मीचा स्वीकार केला आहे. अर्थात् आमच्या कुलांतील प्राचीन मुख्य पुरुपानें इक्ष्याङ्घ-कुळोत्पन्न आदि तीर्थकराची सेवा करूनच विद्याधर पढ प्राप्त करून चेतरं आहे. ह्मणून आह्मी य। वंशाचे पिढीजाट सेवक आहोत. १५ सहज जिचा शेवटचा भाग दर आला आहे अशा सुवईरूपी मंजरीच्या दिलासरूपी निमित्ताने केलेल्या या महाराजांच्या आहेला अनुसल्न हा भी देखील नेहमी कार्य करण्याम तयार राहीन. अर्थात् आपली आज्ञा मानणें माझे कर्तव्यच आहे कारण सन्पुरुप आपल्या वंशपरंपरेची पद्धती उछंघीत नाहींत. १६ यात्रमाणें भाषण करून भृगोचगीराजे व विचाधर यांचे स्वामी असे ते डोघेजण ज्याची तयारी ब्रह्मदेवाने-६ण्यकर्माने आधीच करून टेविली आहे अगा आपल्या मुलगा व गुलगी यांच्या रमणीय विवाहाचा उत्सव करण्यासाठी उद्युक्त होऊन पताका, तोरणें यांनी सुर्घाभिन अज्ञा आपल्या घरीं गेले.

प्रत्यालयं प्रहतमंगलत्र्यंश्यम्त्थापितध्वजिवतानकृतांथकारं ।
प्राग्दारदेशिविनिवेशितशातकुंभकुंभाग्रद्त्तसुकुमारप्यश्रोहं ॥१०॥
नृत्यन्मदालस्वधूजनवक्ष रद्यव्यासक्तकामुक्विलोचनमत्तृश्रंगम् ।
रंगावली वरिवेतोज्ज्वलपद्यरागेंप्रख्तमभापटलप्रावितांनिरक्षं॥१०॥
स्वचारणाचतुरचारणवंदिश्द्कोलाहलप्रतिनिनादितसर्वादेकं ।
आसीत्परस्परिवस्तिकिगीपयेव रस्यं पुरं ख्वरसंनिहितं वनं च १९ संभिन्नद्त्तिद्वसेऽय जिनेह्रपूजां पूर्वं विधाय जिनमंदिरमंदरांग्रं ।
लक्ष्मीमपास्तक्मलाभिव खेचरहः पुत्रीं दिदेश विधिना पुरुषात्माय १० केय्रहारकटकोज्ज्वलकुंडलावेः समान्य राजकम्बोपमशिकारितारः ।
कन्यागदानदहनेन समं महिष्या चिनामसुहमतरक्तिवंशक्तः १३।
इत्यं प्रदाय ननुजां विजयास्त्जाय प्रीति परामृत्यया स्वन्यान्तारः।

एष्यन्महाभ्युद्यवैभवभाजनेन संबंधमेत्य महता सह को न तुष्येत्।२२ श्वत्वाथ खेचरपतेर्दुहितुःप्रदानं भूगोचराय विदितात्मचरेण नीतं। सचरचकोप गगनेचरचक्रवर्ती सिंहो यथा नवपयोधरधीरनादं।२३। कोपेन पछवितभीषणदृष्टिपतिरंगारसंचयमिवाविकरन्सभायां। इत्यं जगाद वितताशानियोरनादः प्रस्वेदवारिकणिकास्तबकावतंसः॥ २४॥

हे खचराः रुतिमदं न तु किं भवद्भिर्यत्कर्म तेन विहितं खचराधमेन । युप्माञ्जर चृणमिव प्रविलंघ्य दत्तं कन्याललाम मनुजाय जगत्प्रधानं २५

१७ त्यावेळीं पोदनपुर शहरांत व विद्याधगंनीं जेथें मुक्काम केला होता त्या वगीचामध्यें प्रत्येकाचे घरीं मंगल वाद्यें व शंख वाजूं लागले. ध्वज व चांदेवे लावण्यानें तेथें अधार झाला होता. घरांच्या पुढच्या दारावर सुवर्णाचे कुंभ टेविले होते व त्यांच्या मुखावर सातूंच्या कोमल अंकुरांची स्थापना केली होती. १८ तारुण्यमदानें आळशी वनलेल्या स्त्रिया प्रत्येकाच्या घरीं नृत्य करीत असतां त्योच्या मुखरूपी कमलांवर कामुक जनांचे डोळेरूपी उन्मत्त सुंगे आसक्त होत असत. प्रत्येकाच्या घरीं गंगोळी काढलेली असून त्यांत उज्ज्वल पद्मरागमणि दराविलेले असल्यामुळें त्यांच्या पसरलेल्या कांतिसमूहानें आकाशाला जणु लाल कांगल पालवी फुटली आहे असा भास होत होता. १९ उच्चारण करण्यांत निपुण असलेले चारण लोक व बंदीलोकांच्या स्तुतिपाठांनीं जेथें सर्व दिशा प्रति-ध्वनींनीं गुक्त झालेल्या आहेत; असें तें सुंदर पोदनपुर शहर व विद्याधरांचें रमणीय वन हीं एकमेकांच्या ऐश्वर्याला जिंकण्याची जणुं इच्छा करीत आहेत अशीं भास लागलीं. २० यापमाणें दोन्ही ठिकाणीं खूप शोभा झाल्यावर संभिन्न निमित्ताज्ञान्याने काइन दिलेल्या दिवशीं प्रथम जिनमंदिर व मेरपर्वतावर जिनेश्व रांची पूजा करून विद्याधरराजा ज्वलनजटीने शास्त्रोक्त पद्धतीने कपलवनागध्ये राहणें जिनें सोडलें आहे अशा लक्ष्मीप्रमाणें सुंदर असलेली आपली रवयंप्रभा कन्या तिपृष्ट कुमाराला अर्पण केली. २१ बाहुभूपणें, हार, कडीं, सुंदर कुंढलें वगेरे अलंकार राजे लोकांना अर्पण करून ज्यानें संपूर्ण शत्रु नष्ट केले आहेत असा नामिकुलांत ध्वजासारखा भासणारा ज्वलनजटी आपल्या राणीसह कन्याप्रदानरूपी नौकेच्या द्वारें चितारूपी समुद्र तरून गला.

२२ याममाणें विजयवलभद्राच्या धाकट्या वं वृला आपली कन्या अर्पण करून विद्याधरांचा राजा फार संतुष्ट झाला. पुढें ज्यांना उन्नतियुक्त ऐश्वर्य प्राप्त होणार आहे अगा मोट्या छोकांशीं आपला संबुंध झाला असतां काणास वरें आनंद होत नाहीं ? सर्वीसच होतो. २३ विद्याधरराजा ज्वलनजटीर्ने आपली कन्या भूगोचरी राजाला दिली अग्नी हकीकत आपल्या मिसद्ध हेरानें आणिलेली ऐकृन विद्याधरांचा चक्रवर्ती अश्वग्रीव प्रतिनारायण नवीन मेघांच्या गंभीर ध्वनीला एक्कन जसा सिंह रागावतो तसा तत्काल रागावला. २४ कोपार्ने लाल भडक झालेल्या आपल्या भयंकर नेलकटाक्षांनी तो सभेमध्ये विस्तवांची जणु दृष्टि करीत आहे असा भासू लागला. घामाच्या पाण्याच्या वारीक कणांनी त्याचे शरीर शोभू लागलें. विजेच्या कडकडाटाप्रमाणें ज्याचा भयंकर ध्विन पसरला आहे असा तो अर्धचक्रवर्ती याममाणें बोलूं लागला. २५ " हे विद्याधरानों! त्या अधम खचरानें अर्थात् विद्याधरानें जें काम केलें तें तुझी ऐकिलें नाही काप ? तुझा सर्वे विद्याधरांना जीर्ण गवतताप्रागाणें तुच्छ मानून-तुमचें उहुंचन करून त्याने बैलोक्यांत अद्वितीय रूपवती सर्व कन्यामध्य सीभाग्यतिलकाष्ट्रमाणे शोभणागी े कन्या स्वयंप्रभा एका मनुष्याला दिली आहे. ही गोष्ट तुझी ऐकिली नाई। काय? अर्थात् आतांच ऐकिली आहे.

इत्याहतं प्रतिमुखं वचनेन तस्य प्रक्षोभघूर्णितमुवाह सदःसमस्तं। लीलां प्रसादिवरहादिवलोकनीयां कल्पांतकालपवनक्षभितां इराहे। ॥ २६॥

अग्रेसरः स्थितिमतामाविलंघनीयां विभ्रत्समुन्नतिमनन्यभवोरुपत्वः कोपात्प्रकंपितजगज्जनताक्षयाय आलेयशैल इव नीलस्थश्रवाल ॥ २७॥

चित्रांगदो निहतशात्रवशोणितेन चित्रां गदां परिमृशत्रुद्गात्करेण वामेन वेगचिलतांगदपद्मरागछायापदान्मिपितकोपद्वानलेन १२८। भ्रूभंगभंगुरमुखः परिवाटलाक्षः प्रस्वेदवारिलक्कीर्णकपोलमुलः । दोलायितोचाततनुः स्फुरिताधराऽभूद्भीमः म्वयं मद्भि कापवद्भ-कापः ॥ २२ ॥ विद्याविष्ठप्तहृदयः शरणातुराणां दत्तागयः प्रतिभये सित नीलकंठः। उच्चैर्जहास ककुभां विवराणि कोपात्प्रध्वानयन्कहकहध्वानिभिग-भीरैः॥ ३०॥

स्वेदार्द्रनिर्मलतनुप्रातिर्विनितेन कुद्धेन संसदि गतेन जनेन तेन । आसीदनेकिमव हंतुमरीन्विकुर्वन्विद्याबलेन बलमाजिरसेन सेनः ॥ ३१॥

कोधोद्धतःसमदशात्रवदंतिदंतप्राप्ताभिधातविपुलवणमभहारं । वक्षःस्थलं विपुलमुत्पुलकं करेण वामेतरेण परिघः परितो ममार्ज ॥ ३२॥ विक्यान्योक्ष्यवर्शकववैभिवर्गो विद्याविभविज्यविक्वविक्यवांस्यः।

निर्व्याजपौरुषवराकितवैरिवर्गो विद्याविभृतिजनितोन्नतिरुन्नतांसः। उवीं जघान कुपितो हरिकंघरांकः कर्णोत्पलेन चलितालिकुला-कुलेन ॥ ३३ ॥

२६ प्रत्येकाच्या मुखाकडे वळ्न अश्वग्रीवानें यापमाणें भाषण केलें. त्याच्या भाषणानें ताडित झालेल्या लोकावर वराच परिणाम झाला. सगळ्या सभेत प्रसन्नतेचा अभाव झाला व कल्पांतकालाच्या वाऱ्यानें समुद्र खवलला असतां जसा तो भयंकर होतो, त्याच्याकडे त्यावेळीं पाहणेंही शक्य नसते नशी सभा अगदीं क्षुब्ध होऊन गेली. २७ कोपानें जगाला कंपित करणारा नीलस्थ सर्व भूमिगोचरी मनुष्यांचा क्षय करण्यासाठीं निघाला असतां तो हिमा उयपर्वताप्रमाणें शोभूं लागला. हिमालय जसा स्थिरपर्वतामध्यें अग्रेसर-मुख्य आहे तसा हाही स्थितिमान लोकांमध्यें-मर्यादेचें रक्षण करणाऱ्या लोकांमध्यें अग्रेसर-पुढारी आहे. हिमालय उल्लंघन करतां न येणाऱ्या समुन्नतिला-उंचीला धारण करितो. व हा नीलरथही उल्लंघन न करतां येईल अशा समुन्नतिला-वैभवाला धारण करीत आहे. हिमालय अनन्य-भवोरुसत्व अर्थात् इतर ठिकाणीं न आढळ्न येणाऱ्या अपूर्व धारण करितो तसा हा विद्याधरही अनन्यभवोक्सत्व होता अर्थात् त्याच्या ठिकाणीं इतरांच्या ठिकाणीं न आढळून येणारें असें मोठें सामर्थ्य होतें. २८ ठार मारलेख्या शत्रूंच्या रक्ताने चित्रित झालेख्या गदेला डाव्या हाताने धरून चित्रांगद सभेंत उठून उभा राहिला व डाव्या हातानें ती फिरऊ

लागला. फिरविण्याच्या वेगानें रथानापासून खालीं सरकलेल्या वाहु भूषणांतील पद्मरागमण्यांच्या कांतीच्या मिपानें जणु त्याचा हात कोपरूपी वडवाग्नीने युक्त झाल्याप्रमाणें शोभू लागला. २९ भीम नांवाचा विद्याप्टर राजा अश्वग्रीवाचे भाषण ऐक्न सुवया वाकड्या झाल्यामुळे ज्याच मुख वांकडें झालें आहे असा झाला. त्याचे डोळे लाल झाले, घामाच्या धेवांनीं गालांच्या जवळचा प्रदेश व्यापून गेला. त्याचें उंच व घिष्पाड शरीर झोक्याप्रमाणे हालूं लागलें, ओठ थरथर कांपू लागले. त्याला फार तीत्र कोप आला. त्यामुळे सभेत जणु तो साक्षात् कोपापमाणें भासू लागलाः ३० ज्याचे हृदय विद्यांच्या पाप्तीने गर्वयुक्त झालें आहे, शत्रूपासून भय उत्पन्न झालें असतां शरण नसल्यामुळें भयाकुल झालेल्या लोकांना जो अभयदान देतो असा नीलकंठ नांवाचा एक राजा गंभीर अशा कहकहाट ध्वनींनीं दिशांच्या विवरांना प्रतिध्वनियुक्त करून कोपानें मोठ्यानें हंसू लागला. ३१ घामाने ओले झालेल्या ज्याच्या निर्मल देहामध्यें सभैतील सर्व कुद्ध झालेल्या लोकांचें प्रतिविंद पढले आहे असा सेन नांवाचा एक विद्यापर <sup>राजा</sup> युद्धवेमानें शत्रूंना ठार मारण्यासाठीं विद्येच्या सामर्थ्यानें जणु ज्यानें विपुल सैन्य तयार केलें आहे असा दिसू लागला. ३२ शत्रूच्या उन्मत्त हत्तीच्या दन्तप्रहारामुळें झालेल्या मोठ्या जखमेंत बुडालेल्या मोत्याच्या हारानें युक्त व ज्याच्यावर शहारे आले आहेत असें स्वतःचें मोठें चंद् वक्षःरथल क्रुद्ध झालेला परिव नांवाचा राजा आपल्या उजन्या हातानें सर्व वार्जुनीं चोळ् लागला. ३३ स्वाभाविक पराक्रमानें ज्यानें शत्रूसमूहास वश केलें आहे, विचा व ऐव्वर्य यांन्या द्वारें ज्याने प्रजाननांना उद्यावस्थेला पोहोचिवलें आहे, ज्याचे खांदे उंच आहेत अशा अश्वग्रीव अर्धचक्रवर्तीनें क्रुद्ध होऊन चंचल झालेल्या भ्रमरसमृहानें युक्त असलेर्डे कानावरील कमलानें जमीनीवर आधात केले.

भूरिप्रतापपरिप्रिरितसर्वदिकः पद्माकरार्पितजगत्प्रणतात्रपादः । कोपाञ्जनक्षयमिन प्रथयन्विवर्णस्तूर्ण दिवाकर इवैप दिवाकरोऽ-भूत् ॥ ३४ ॥

ज्याघातजेः किणकणैःस्यपुटाग्रहस्तो हस्तद्रयेन मथितारिकुलाः चलेन ।

संचूर्णयन्नुरिस हारलतां न चके सूत्राविशेषमपि संसदि कामदेवः योद्धं दिषा सह वियत्प्रविगाहमानौ सभ्येर्धतौ कथमपीश्वरवृज्ञ उत्वातधौतक्रवालक्रम्शेहमारोहभासुरित्दक्षिणबाहुदंडौ। ३६। कालान्तराद्धिगतावसरोऽप्यनेन नांगीकृतोऽहमिति रुष्ट इवास्त। दूरादंकपननृपस्य यथार्थनाम्नः कुप्यत्यहो सदिस चंचलधीर्न धीर। 1391 आस्फालिता रभसनिर्दयदृष्टकांतदन्तच्छदेन बलिनाशानिविक्रमेण। क्रुद्धेन दक्षिणकरेण रसा ररास स्फीतांबरं रणरणायितभूषणेन।३८। इत्यद्धतः सदिस धूमशिखो जगाद व्यात्ताननप्रसृतधूमविधूमिताशः आलोक्य कोपपरिपाटलितेक्षणाभ्यां नीराजयिवव सभामभिमानशाली ॥ ३९॥ आज्ञापयाश्वगल ! तिष्ठसि किं रूथैव

नीराजयांचाव सभामांभमानशाली ॥ ३९॥ आज्ञापयाश्वगल ! तिष्ठसि किं वृथैव प्रज्ञा सतां परिभवे सति निर्च्यपेक्षा । वामेन किं करतलेन घरामशेषामुद्धत्य चक्रघर ! वारिनिधौ क्षिपामि ॥ ४०॥

३४ जसा दिवाकर-सूर्य आपल्या पुष्कळ कडक उन्हानें सर्व दिशांना भरून टाकितो व जग ज्यांना नमरकार करितें असे आपले किरण कमल-समूहावर टाकितो त्याप्रमाणें भूरिप्रतापपरिपूरितसर्वदिकः अर्थात् आपल्या अतिशय पराक्रमानें सर्व दिशा भरून टाकणारा, व पद्माकरापिंतजगत्प्रणताग्र पादः अर्थात् जग ज्याला नमस्कार करिते असा, ज्याचें पाय लक्ष्मी हातानें चुरीत आहे असा हा दिवाकर रागाने लाल भडक होऊन जणु जगाचा शीघ्र क्षय करणारा असा होत्साता दिवाकर झाला अर्थात् सूर्यासारखा झाला. ३५ धनुष्याच्या दोरीच्या आघातानें उत्पन्न झालेल्या लहानका अनेक घट्टचांनी ज्याच्या हाताचे तळवे उंच सखल झाले आहेत अशा सभेंत

वसलेल्या कामदेव नांवाच्या विद्याधर राजानें शत्रूरूपी कुलाचलपर्वतांचा चुराडा करणाच्या आपल्या दोन हातांनीं आपल्या वक्षःस्थलावर असलेल्या रत्नमालेचा चुरा करून तिचें सूत देखिल वाकी टेविलें नाहीं.

३६ म्यानांतून वाहेर काढलेल्या तेजस्वी तरवारीच्या किरणरूपी उगवलेल्या अंकुरांनीं ज्यांचे उजवे वाहुदंड तेजस्वी दिसतात असे ईश्वर व वज्रदंष्ट्र नांवाचे दोन विद्याघर राजे शत्र्व्यीं लढण्यासाठीं आकाशमागींनें जात असतां त्यांना समेंत असलेल्या इतर विद्याघर राजांनीं मोठ्या कष्टानें भरून ठेविलें. ३७ पुष्कल दिवसांनीं आज मला याच्या ठिकाणीं उत्पन्न व्हावयास संधि मिलाली असतांही यानें माझा स्वीकार केला नाहीं ह्मणून जणु रूसल्याप्रमाणें अकंपन या यथार्थ नांवाला धारण करणाऱ्या या अकंपन राजापासून कोप दृर झाला. वरोवरच आहे कीं, सभेमध्यें चंचल बुद्धीचीं माणसें तेव्हांच रागावतात. पण धीर मनुष्य शांत असती. हा अकंपन राजा स्थिरबुद्धीचा असल्यामुळें खरोखरच अकंपन होता ह्मणून त्यानें आपलें मन कोधाविष्ट होऊं दिलें नाहीं. ३८ ज्याचा श्वनीसारखा पराक्रम आहे. ज्यानें वेगानें निर्दय होऊन आपला सुंदर ओठ चावला आहे, अशा वालि राजानें ज्याचीं भूषणे वाजत आहेत अशा आपल्या उजव्या हातानें जमीनीवर जोरानें प्रहार केले. त्यावेळीं जमीन शद्धयुक्त झाली व तिच्या प्रतिध्वनीनें आकाश भरून गेलें.

रं९ उघडलेल्या मुखांत्न निघालेल्या धुरानें ज्यानें दिशा ज्याप्त करून टाकिल्या आहेत असा अभिमानशाली उद्धट भूमशिख नांवाचा विद्याधर राजा समेला पाहून कोपानें आरक्त झालेल्या आपल्या दोन डोळ्यांनीं जणु तिची आरती करणारा होत्साता अश्वग्रीव राजाला याप्रमाणें बोल्ला सभेमध्यें त्यानें चोहोंकडे आपले लालभडक डीळे वळवृन पाहिलें तेव्हां तो जणु सभेची आरती करीत आहे असा लोकांना मासू लागला. ४० हे अश्वग्रीव राजा! यावेळेस व्यर्थ गण्य कां वसतोस १ दुष्ट लोकांकडून पराभव होण्याची वेळ आली असतां बुद्धि अपेक्षारहित असावी अर्थात् कोणाची जरूर न वाळगतां दुष्टांचा नाश करण्याचा प्रयत्न करावा. त्यावेळीं स्वस्थ वस्ं नयं. मला आज्ञा कर. डाव्या हातानें भूमिगोचरी लोकांचा सगळा प्रदेश हे चक्रधरा! उचलुन समुद्रांत फेकुन देखं काय ?

लोकाधिकां निमकुलप्रवरस्य पुत्रीं कंठे कृतामसदशा मनुजेन तेन। को वा सहत्यसहनो न विधेर्मनीषी हुष्टा शुनो गल इवोज्ज्वलरत्नमालां ॥ ४१ ॥ एतेषु कश्चिदपि यः खचराधिपेषु भ्रूविभ्रमेण भवताभिहितः स एव । आकस्मिकं नमिकुलपलयं विधत्ते काकेषु नाथ मनुजेषु च तस्य कास्या ॥ ४२ ॥ कुछे यमे त्वयि च जीवति कः क्षणं वा लोके प्रसिद्धमिति वाक्यमिदं न जानन्। इत्थं विरोधमकरोत्स कथं पुनस्ते सीदत्यहो मतिमतां मतिरप्यभावे ॥ ४३ ॥ अत्रात्मबंधुनिवहैः सह नागपारौर्वद्ध्वा वधूवरयुगं सहसानयामः। इत्युत्थिताननुनयन्खचरान्कथंचित् मंत्री निवार्य हयकंधरिमत्यवादीत् ॥ ४४ ॥ निष्कारणं किमिति कुप्यसि नाथ! बद्धियाता कते सकलनीतिपथप्रवीणा। कोपान्न शत्रुरपरोऽस्ति शरीरभाजां लोकद्रयेऽपि विपदां ननु हेतुभूतः ॥ ४५ ॥ तृष्णां विवर्धयति धैर्यमपाकरोति प्रज्ञां विनाशयति संजनयत्यवाच्यं । संतापयेत्स्ववपुरिंद्रियवर्गमुगः पिताज्वरप्रतिनिधिः पुरुषस्य कापः ॥ ४६ ॥ रागं हशोर्वपुषि कंपमनेकरूपं चित्ते विवेकरहितानि विचितितानि ।

पुंसाममार्गगमनं श्रमदुःखजातं

कोपः करोति सहसा मदिरा मदश्च ॥ ४७ ॥ यः कुप्यति प्रतिपदं भुवि निर्निमित्त-

माप्तोऽपि नेच्छति जनः सह तेन सख्यं।

मंदानिलोलसितपुष्पभरानतोऽपि

र्कि सेन्यते विषतरुर्मधुपत्रजेन ॥ ४८ ॥

आलंबनः प्रतिभये सति मान्भाजां

वंशोन्नतः प्रथितसारग्रेणेविद्यदः।

श्रीमानसाधुपरिवारतिरोहितात्मा

प्राप्तोति मानद ! कलंकमसिश्च सद्यः ॥ ४९ ॥

४१ निमक्क होतील श्रेष्ठ विद्याधराची - ज्वलन जटीची कन्या स्वयंप्रभा ही लोकोत्तर सुदरी आहे. परंतु अशा अनुपम सुंदर कन्येला त्या क्षुद्र मनुष्याने अर्थात् त्रिपृष्टानें आपल्या गळ्यांत धारण केलें आहे. हें कुऱ्यानें आपल्या गळ्यांत उज्ज्वल रत्नमाला धारण करण्यासारखें झाले आहे. विधात्याचें हें अयोग्य कृत्य कोणता बुद्धिमान मनुष्य सहन करू शकतो वरें <sup>१</sup> अर्थात् त्या क्षुद्र मनुष्यापामुन ही अनुपम कन्या हिरावृन आणिली पाहिजेच. ४२ हा सर्व विद्याधरांचा समृह येथे वसला आहे यापैकी आपण सुवईच्या संकेतानें ज्या कोणालाही आजा द्याल तो एकदम नामिकुलाचा सत्यनाग करण्यास समर्थ आहे. मग हे प्रभो ! कावळ्यासारखे हीनवल मनुष्यांची त्याला काय किंमत आहे? ४३ यम अथवा आपण रागावला असतां या जगांत कोण जगण्यास समर्थ आहे? अजी जी आपल्याविपर्यी हे पभो ! ह्मण प्रसिद्ध आहे, ती माहीत न झाल्यामुळें ज्वलनजटीनें असलें अयोग्य कार्य केलें आहे. अर्थात् आपल्याणी विरोध केला आहे. हें भक्य नाहीं, अथवा बुद्धिमान लोकांचीही बुद्धि विनाशकाल समीप आला असतां नाग पावतें असें ह्मणावयास हर्कत नाही. ४४ यास्तव या सभेत वराम आणि चप्रुस त्यांच्या आप्तनानलगासह नागपाशांनी चद्ध करून आसी एकदम आणतो असे ह्मणून तसें करण्यासाठी उठलेल्या विद्याधगांना अखग्रीवाच्या मंत्र्यानें प्रार्थना वैगरं करून यांविवलें. तो अखग्रीवाला पुढे

लिहिल्याप्रमाणें वालं लागला. ४५ " हे प्रभो, आपण व्यर्थ कां बरें कुछ होत आहांत ? हे नाथा, सर्व नीतिमार्गामध्य प्रवीण असलेली आपली बुद्धि आज कोटें गेली ? महाराज! संसारी जीवांना कोपाहून दुसरा शत्रु नाहीं. हा कोपरूपी शत्रु या लोकीं व परलोकीही खात्रीनें विपत्तीलाच कारण आहे. ४६ पित्तज्वर आला असतां ज्या गोष्टी घड़न येतात त्या गोष्टी कोपापासूनही घट्टन येतात ह्मणून तो पित्तज्वराचा प्रतिनिधि आहे असे स्मणतां येतं. पित्तज्वरानें तहान वाढतें, धैर्य नष्ट होतें, बुद्धीचा नाश होतो व न बोलण्यायोग्य देखिल गोष्ट मनुष्य बोलून जातो. हा उग्र मनुष्याची इंद्रियें व शरीर यामध्य दाह उत्पन्न करितो. याच गोष्टी कापाच्या-ह्रागेंही अवश्य घडून यतात. ४७ कोप आणि दारुची धुंदी यापासून समानच कार्ये घडून येतात. तीं अशीं:— डोळे लाल होतात, शरीर अनेक प्रकार कंप पावतें, मनामध्यें विवेकरहित नाना प्रकारचे विचार येतात, वाइंट मार्गानें गमन होतें व श्रम झाल्यानें दुःख उत्पन्न होतें. या गोष्टी या की पानें व टारूच्या धुंदीनें एकटंम प्राप्त होतात. ४८ जो भनुष्य पावलोपावलीं विनाकारण रागावतो, जगामध्ये आप्तनातलग देखिलही त्याच्याशीं मैत्री करूं इच्छित नाहीत. यास उदाहरण अमें पहा कीं, मंद वाऱ्यानें हालणाऱ्या पुप्पसमूहाच्या भारानें छवलेलाही विषर्ध मुंग्यांच्या समृहांकडून सेविला जातो काय ? केव्हांही नाहीं. ४९ भय उत्पन्न झालें असतां स्वाभिमानी पुरुपांना आश्रय देणारा, उत्तम कुलामध्यें जन्मून उन्नतावरथेला पोहोंचलेला, प्रसिद्ध अजा उत्कृष्ट्र सत्य, औदार्थ वगैरे गुणांनी विशुद्ध झालेला, संपत्तिमान् मनुष्य दुष्ट परिवाराकडून त्याचे स्वरूप झाकले गेलें असतां तो कलंकयुक्तं होतो. अर्थात् जगांत त्याची अपकीर्ति होते. तरवारीचें दुष्ट पुरुषांनीं घेरलेल्या श्रीगंत मनुष्यांशी असेच साम्य आहे. तें यापाणे: — शत्रूपास्न भय उत्पन्ना झार्फे असता स्वाभिमानी माणसांना तस्वार आधारभूत आहे. तिच्या योगान भय नाहींसें कन्तां येतं. मध्यें तिला वांक जाल्यामुळें ती उन्नात दिसते. मसिद्ध उत्कृष्ट गुण तीक्ष्णता वगैरे असतात. आणि ती अतिशय स्वच्छ असते. जशी ती कलंक युक्त होते तसेंच शत्रूंचा अभिमान तोहून टाकणाऱ्या हे चक्रवतीं अश्वग्रीवा! दुष्ट पुरुषाच्या महदामानें तुझें खरें स्वरूप झांक्रन तुला तत्काल कलक लामेल.

रक्षापरा समिभगंछितकार्यसिद्धेः

सिद्धांजनैक्गुलिका तिमिरस्य दृष्टेः।

लक्षीलतावलयवर्धनवारिधारा

क्षांतिः सतामभिमता अवि केन नास्तु ॥ ५० ॥

न श्रेयसे भवति विक्रमशालिनोऽपि कापः परेष्वतिबलस्य समुन्नतेषु।

अंभोधरान्समभिलंघ्य स्गाधिराजी

निष्कारण स्वयं प्रेपित न किं प्रयासम् ॥ ५१ ॥

युक्तात्मपक्षवलगार्वतयेव मृदः

स्वस्येतरस्य च समीध्य न शक्तिसारं॥

उद्यञ्जिगीषुरभिवन्हि पतत्पतंगप्राप्यां दशामनुभवत्यचिरादचित्यां॥ ५२॥

तुल्ये रिपौ जगित दैवपराक्रमाभ्यां

सिंधः प्रभोर्रामहितो नयशास्त्रविद्धिः।

अभ्युन्नतो अवति पूज्यतमश्च ताभ्यां

हीनोऽपि सन्मतिमतां सहसा न दंखाः ॥ ५३ ॥ अंतर्मदं करिपतेरिव बृंहितानि

अतमद कारपतारव शृहितान प्रातःकरा इव दिनेशपुदीयमानं ।

लोकाधिपत्यमपि सावि विनांतरा्य्

अख्यापयन्ति पुरुषस्य विचेष्टितानि ॥ ५४ ॥

यस्ताह्यं मृग्पतिं मृगराज-

राजकोटीवल नवमृणालिमवांगुर्लाभः।

स्वरं व्यदारयद्यैककरेण द्वे येनातपत्रीमव कोटिशिला व्युद्स्य ॥ ५५ ॥ यं च रवयं ज्वलनजरग्रगस्य विद्वात् कन्याप्रदानविविधूर्वमुणास्त धीरः । तेजोनिधिः स कथमद्य त्वाभियोध्यो यातव्य इत्यपि वदामि वद त्रिगृष्ठः,॥ ५६॥ चक्रिया परिगतोऽहमिति स्वकीये गर्व पृथा मनमि मानद ! माक्रपास्त्वं।

किं वा विमृहमनसामजितोंद्रियाणां गंपत्सुखाय सुचिरं परिणामकाले ॥ ५७॥

५० हे मभो, क्षमा ही इन्छित कार्याच्या सिद्धीचे रक्षण करणारी आहे, दर्शनोन्ड निमिररोग काढन टाफण्यास जसे ि ज्ञांजन समर्थ असतें त्याप्रमाणें सम्यम्दर्भनांत दोपाचा प्रवेश झाल्यास तो काट्न टाफण्यास ही क्षमा सिद्धांजन गुटिकेमनाणें आहे. संपनीरूपी लतेची बाढ होण्यास ही पाण्याच्या धारेप्रमाणे आहे. ही अमा मत्पुरुपांना गान्य अमन्यामुळे कोपास वे मान्य होणार नाहीं ? सर्वाम मान्य होईन. ५१ पराक्रमयुक्त व विकिशाली अना वतुष्यांनीही जे उन्नतावर्थेला पोहोचले आहेत अशावर कोप करूं नथे. कारण तो त्यांच्या कल्याणाला काम्ण होत नाही. यास उदाहम्ण असे पहा कीं, मेघांना पकडण्या-साठी निंह पुष्कळ उड्या माग्तो; परतु तो व्यर्थ श्रमच पावतो. तसे समर्थ माणसायर कोप केल्याने विकामशाली पाणरगमही अहिनःशिवाय दुसर्पे फळ मिळत नाही. ५२ म्वत ची माज्च योग्य आहे व तिचेंच पुष्कळ सामध्ये आहे अर्घा ज्याला घर्षेड उत्पन्न झाली आहे तो मनुष्य खगेखर स्वतःच्या व इतगंच्या शक्तीचें महत्व जाणीत राहीं असे ह्मणावें जागते। जनूना अविचागने जिंरण्यास तयार झालेला तो गर्वयुक्त मनुष्य लौकरच अक्षिकडे थारून त्यावर उडी मारणाऱ्या पतंगाला जी अवस्था प्राप्त होते त्या अचित्य अवस्थेची प्राप्ति ऋरून निचा अनुभव घेतो. ५३ हे राजन, जो अत्रु सुदैव व पराव्रम यानी आपल्या लोडीचा आहे त्याच्याशीं राजानें संयीच करावा असे नीतिज्ञ ठोक ह्मणतात. हीन मनुष्य देखिल दैव व पराक्रमाच्या जोरावर उन्नत व पूज्य वनतो. यारतव हीन मनुष्यासही बुद्धिमान लोकानी विचार न करितां दह नये.

५४ जर्से हत्तीच्या बारंबार होणाऱ्या गर्जना त्याच्या आंत उत्पन्न झालेल्या उन्मत्तपणाच्या सूचक आहेत. मातःकाळीं नुकर्तेच वाहेर पडलेलें सूर्यकिण जसे उदित होणाऱ्या सूर्याचे ज्ञान करून देतात त्याप्रमाणे पुरुषाचे त्याला पुढे विघ्नराहित जगाचें साम्राज्य मिळेल मुचक असतात. ५५-५६ जो सिंह अनेक सिंहांचा स्वामि व कोट्यावधि सिंहापेक्षांही अधिक बलवान होता; त्यालाही ज्याने सहज आपल्या वोटानी कोमल वमलांच्या दांड्यापपाणें फाडून टाकिलें व ज्यानें एका हातानें छत्राप्रमाणें कोटि शिले ठा उचलून आपल्या मस्तकावर धारण केलें व रवतः विद्वान ज्वलनजदीनें जाऊन आपली कन्या देऊन ज्याची उपासना केली; त्या धीर तेजांचा साठा अशा त्रिपृष्ट कुमाराबरोवर आज तुत्सी लढण्यास कर्से योग्य आहात व त्याच्यावर आज चालून जाणें तरी कर्से योग्य आहे ? हे प्रभो आपण विचार करून सांगा बरें? ५७ शत्रूंची अभिमान नष्ट करणाच्या हे अश्वप्रीवा, मी चक्रवर्तीच्या लक्ष्मीने युक्त आहे असा मनांत व्यर्थ गर्व धारण करू नकोस. कारण असे की, ज्यांचें पन मोहित झालें आहे व ज्यांनीं आपलीं इंद्रियें ताब्यांत ठेविली नाहीत अज्ञांची संपत्ति पुष्कळ दिवस टिकत नाहीं व परिणामीं सुखकरही होत नाही पाराव आपण युद्धाच्या भानगडींत पडूं नये.

तस्मान कार्यमभियानमनात्मनानमेतत्तव प्रतिनरेश्वरमीश्वरस्य। इत्थं निगद्य सचिवः परिणामपृथ्यं

तूष्णीं बभूव मतिमान्न हि वक्त्यकार्यं ॥ ५८ ॥ तत्वावलोकन करेर्जगदेकदिप्रीर्घमंद्यतेरिव मयूरवचयेरुळ्कः । वाक्येः स तस्य तमसि प्रतिबद्धबुद्धिदुष्टः प्रबोधमगमन्न तुरंगकंठः ५९ दुःशिक्षितेरनवलोकितकार्यपाकैः कैश्चित्समेत्य निजवुद्धिवलाविष्ठि उत्तेजितः सचिवमित्यवदत्स कोपाद्भूमंगमंगुरिततुंगललाटपट्टः ६० नोपेक्षते परिणतावथ पथ्यमिच्छन्नल्पीयसीमपि रिपोरिभवृद्धिमिद्धां

<sup>\*</sup> टिप्पणी:— उपेक्षितः क्षीणवलोऽपि शत्रु प्रमाददोपात्पुरुपेर्मदावे ॥ सान्योऽपि भृत्वा प्रथम ततोऽसावमान्यता न्याधिरिव प्रयाति ॥ समानार्थकोऽय स्टोकः॥

अरवंतको ननु भवत्यचिरादरातिः काले गदश्च सहसा परिवर्द्धमानः ॥ ६१ ॥

पद्माकरं समवलंब्य स राजहंसः पक्षान्वितोऽपि कुरुते भवि न प्रतिष्ठां। एकत्र शत्रुजलदेऽपि ननु स्वकाले

गर्जत्युपात्तनिशितासितिङिकराले ॥ ६२ ॥

भूरिप्रतापसिहतैरिविभिन्नदेहैस्तेजोमयैरगणितैः सिहतः सहायैः।
उद्यन्न साधयति किं भुवनं जिगीषु—
भीस्वान्करैरिव गृहीतसमस्तदिकैः॥ ६३॥

दानांबुसेकसुरभीकृतगंडभित्तीन्संचारिणोंऽजनगिरीनिव तुंगकायाच् ।

हन्त्यूर्जितः शयुसमानकराननेकान् – कस्योपदेशमधिगम्य गजानगजारिः । ६४॥

इत्थं हरिश्मश्रुमुदारबोधं प्रमाणभूतं प्रविलंध्य वाग्भिः॥ स्वातंत्र्यमत्यंतमवाप कोपादाधोरणं मत्त इव द्विपेन्द्रः॥ ६५॥

५८ यास्तव हे राजन्! त्रिपृष्ट नरपाहावर आपण चालून जाऊं नये. हें आपल्याल। हितकर होणार नाहीं. 'याप्रमाणें, मंत्र्याने ज्याचा परिणाम हितकर आहे असें भाषण करून मौन धारण केलें. वरोवरच आहे की, सुज्ञ मनुष्य अयोग्य कार्य करण्यास सांगत नसतो. ५९ जसे सूर्याचें कि णसमूह सत्य पदार्थ दाखविणारे, जगांत अद्वितीय कांति धारण करणारे असे असूनिह अंधारांवरच ज्याच्या बुद्धिचें पेम जडलें आहे असें घुवह त्यापासून पदार्थीना जाणूं शकत नाहीं. अंधागंतच त्याची बुद्धि चालत असते त्याप्रमाणें खरी परिस्थिति ढाखवन ढणाच्या खद्धि अज्ञानांधकाराने ग्रस्त झाली होती. ६०-६१ स्वतःच्या बुद्धिसामर्थ्याचा ज्याला गर्व आला आहे व भुवया वर चढविल्यामुलें ज्याचें उच कपाल आल्यांनीं व्यास झालें अश्चा त्या अश्वग्रीवाला कुशिक्षित व पुढील परिणामाकडे

लक्ष न देणाच्या अशा लोकांनीं उत्तेजन दिल्यामुळें तो पुढें लिहिल्याप्रमाणे कुंद्ध होऊन बोलूं लागला. " ज्याला आपला शेवट चांगला व्हावा असें वाटतें असा मनुष्य शत्रूची परिणाम करणारी अल्प देखिल उन्नति सहन करूं शकत नाहीं. अर्थात् तिच्याि प्रयी उपेक्षा धारण करीत नाही त्याची उन्नति हाणून पाडण्याचा तो प्रयत्न करितो. उपेक्षा केली तर योग्यकालीं सहसा उन्नतावरथेला पोहोचलेला शत्रु व रोग हे शीघ्र परिणाभीं दुःख देणारे होतात. ६२ मेत्रक्षी शत्रु योग्यकालीं तीक्ष्ण विद्युत् रूपी तरवार हातांत येऊन गर्नना कर्क लागला असतां प्रशान्वित - पंखांनीं युक्त अमूनही राजहंम कमलवनाचा आश्रय करूनहि या जगांत स्थिरत प्राप्त करून येऊं शकत नाहीं. तसें शत्रुक्षेपी मेत्र विजेसात्स्वी तीक्ष्ण चमरुणारी तरवार हातांत येऊन योग्यकालीं गर्नना कर्क लागला असतां आपल्या वाज्ञच्या राजांनीं युक्त व लक्ष्मीच्या हाताचा आश्रय येतलेला असतां आपल्या वाज्ञच्या राजांनीं युक्त व लक्ष्मीच्या हाताचा आश्रय येतलेला असाहि एखादा बलिष्ठ श्रेष्ठ राजा या भूतलावर स्थिर राहूं शकत नाहीं. त्याचेंहि आसन बल्मळतें.

६३ पुष्कळ तीक्ष्ण प्रकाशाने युक्त, सूर्यापामून अभिन्न देहाला धारण करणारे तेजस्वी, अगणित. सर्व दिशामध्ये पसरलेले व सहायक अशा रवतःच्या किरणांच्या मदतीने उगवणारा सूर्य सगळ्या भूतलाला जिंकीत नाहीं काय ? तो जसें हे जग जिंकितो त्याप्रमाणें अतिशय पराक्रमी, तेजस्वी, सर्व दिशांना प्राप्त करू। घेण्यास समर्थ अशा आपल्या जणु हाताप्रमाणें स्वतःपासून अभिन्न देहाचे असलेल्या अगणित वीर पुरुषांच्या सहाय्यानें दिग्विजय करण्याची इच्छा करणारा राजा हे जगत जिंकीत नाहीं काय ?

६४ मदजर नेहमी वाहत असल्यामुळें ज्यांचें गंहस्थळ सुगंधित झालें आहे, जे जणु संचार करणारा अंजनिगरीच आहे असे भासतान, ज्यांच्या सोंडी अजगराप्रमाणें लट्ट आहेत अजा लट्ट शरीराचे धारक हत्तींना विष्ष्र मिंह कोणान्या उपदेशानें मारीत असतो काय ? अर्थात् हत्तीचा नाश करणें हे जमे सिंह आपलें कर्तव्य समजतो तसें मी मार्झे कर्तव्य समज्जन त्रिषृष्टाशी युद्ध करणारच व त्याला ठार मारणार ! ६५ याप्रमाणें प्रमाण मृत-। श्वास पात्र व महाजानी अजा हरिष्ठमथु मंत्र्याचें आपल्या भाषणानें अव्यानीं उल्लंग केलें व जसा उन्मत्त झालेला हत्ती महाताला न जुमानता अत्यंत स्वच्छंदीपणानें वागतो तसें अर्थचक्रवर्ती अन्यंत स्वच्छंदीनें वागं लागला.

उत्तस्थावथ विलंघ्य सद्यो दुर्वारस्तुरगगलः प्रतीतसत्वः । कछोलैरिव जलिधर्युगांतकाले आच्छन्नो गगनतलं बलैरसंख्येः ६६ प्रतिलोममारुतविकंपितध्वजां ध्वजिनीं निवेश्य रुचितोपकार्यके। तृणकाष्ठतोयसुलभे नगे स्थितः प्रतिपालयन्य परान्परैक्षत ॥६७॥ इति स्फुटं तुरगगलस्य चेष्टितं निरंकुशं सदिस चरेण धीमता। उदीरितं ज्वलनजरी निशम्य तत्प्रजापर्ति सविनयमित्यवोचत ६८ रौप्ये गिरौ धनदरक्षितादिग्विभागे नानासम्बद्धिरलकानगरी रराज । यस्यां वभूव विभवेन मयूरकंठनीलांजनातनुरुहोश्वगलोऽईचकी ६९ अश्वश्रीवे दुर्निवारोरुवीर्ये संभूयान्यैः खेचरैरुत्थितेऽस्मिन् । यत्कर्तव्यं तद्रइस्यात्मनीनैः सभ्यैः सार्धं कार्यमालोचयामः ॥७०॥ ज्वलनजिटनः श्रुत्वा वाणीमिति क्षितिनायके। सचिवपिगितिं भूयो भूयो विवृत्य विपश्यति ॥ स्वयमुद्चलिच्चतं ज्ञात्वा तदा परिषत्प्रभो-

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते अश्वश्रीवसभाक्षोभा नाम षष्टः सर्गः ॥ ६ ॥

रवसररामावृत्तिर्नृणां फलं मतिसंपदः॥ ७१॥

६६ ज्याच्या सामध्यांची सर्वत्र प्रसिद्धि झाली आहे, व रोकण्यास अप्रक्य अशा अश्वप्रीवानें जसे समुद्र कल्पांतकालीं आपल्या असंख्य लहरींनी आकाशांस ओलांडून त्यास भक्त टाकितो त्याप्रमाणें आपल्या असंख्यात सैन्यासह तत्काल प्रयाण केलें वे त्याच्या द्वारें त्याने आकाश भरून टाकिलें.

६७ उलट वाऱ्यानें जिच्या ध्वना हालत आहेत अगा सेनेला नेथे गवत, लाकडें व पाणी विपुल आहे अगा पर्वतावर त्याने आणुन ठेविल व या पर्वतावर राहण्यासाठी पुष्कल रःहुंट्या, तंव वंगरेची व्यवस्था केली होती. अज्ञा ठिकाणीं अतिगय ईर्पेने शत्रूंची वाट पाहात तो अश्वग्रीव अर्थचकी राहिला

६८ याप्रमाणें अश्वग्रीवाच्या स्वच्छंदपर्साची हकीकत वृद्धिमान अशा एका द्नाने सभेत येऊन सांगितळी. ती ऐक्चन ज्वलनजटीनें मोठ्या विनयाने प्रजापतिला पुढे लिहिल्याप्रमाणें सांगितली.

६९ " विजयार्थ पर्वतावर कुवेरानें जिचें रक्षण केलें आहे अशा उत्तर दिशेच्या एका भागांत अनेक संपत्तीनें समृद्ध असे अलका नांवाचें नगर शोभत आहे. या नगनांत मयूरकंठ अर्थात् नीलकंठ विद्याधर राजा व त्याची राणी नीलांजना उक्त कनकमाला यांचा अश्वग्रीव नांवाचा मुलगा अर्थचक्रवर्ती आहे व तो या नगरींचें पालन करीत आहे.

७० अश्वग्रीवाचा पराक्रम गोकण्यास अशक्य आहे व पुष्कळ विद्यायर राजांना एकत्र करून आपणांवरावर लढण्यास तो तयार झाला आहे. याकरितां यावेळीं आपण काय केले पाहिजे याचा एकांत स्थानी हितकर अशा मंत्रीमंडळाला आपल्यावरोवर घेऊन विचार करूं या."

७१ ज्वलनजटी राजाचें हें भाषण ऐकून राजा प्रजापर्तानें आपल्या मंत्रीमंडलाकडे वळून पाहिन्छें. तेव्हां महाराजांचा अभिप्राय प्रधान मंडलीच्या ध्यानांत येऊन पुढील कार्याचा विचार करण्यासाठीं ती उठली. वरोवर आहे कीं, योग्य वेल जाणून वागणे हेंच मनुष्यांना प्राप्त झालेल्या बुद्धि हपी संपत्तीचें फल आहे.

याप्रमाणें असग महाकिनकृत श्रोवर्धमान चिरतांतील अश्वग्रीवाच्या सभेच्या क्षोभाचें दर्णन करणाग सहावा सर्ग सपन्नाः



॥ हर्तण क्ररणामा असा तेमायत हसीड्या सांमायर स्थापन कर्तन आ हाद्यामाति नेले



अथ मंत्रविदासुपव्हरे गणमाहूय स खेचराधिपः। उभयं विजयेन संगतो निजगादेति वचः प्रजापतिः ॥ १ ॥ भवतामनुभावतो हि नः सकला संपद्भृत्समीहिता। ऋतुभिस्तरवो चिना स्वयं न तु पौष्पीं श्रियमुद्रहन्ति किं ? ॥२॥ निजमुग्धतया समन्वितान्विधुराद्रक्षति नः समंततः। पृथुकान् जननीव नो मितः कुराला कृत्यविधौ च वत्सला ॥ ३॥ गुणिनां भवति प्रसंगतो गुणहीनोऽपि गुणी धरातले । सुरभीकुरुतेऽथ कर्पर सिल्हं पाटलपुष्पवासितं॥ ४॥ अविचितितमप्ययत्नतः स्वयमुत्पादयति प्रयोजनं । विधिरेकपदे निरंकुशः कुशलं वाऽकुशलं च देहिनां ॥ ५॥ वलवान्हगदंघरःपरं सहसा चक्रघरः मगुत्थितः॥ अपरैः सह खेचरेश्वरेर्वदतास्मान्प्रति कोऽस्य सवयः ?॥६॥ इति वाक्यसुदीर्य सूरती दिरते दर्शितसूरिकारणं। सिचेंवैः परिवोक्षितो दुहुर्वचनं सुश्रुत इत्यवोचत ॥ ७ ॥ अववोधविधौ विद्युद्धतां वयगाप्ता अवतः प्रमादनः। अपि नाम जडात्मकाः सदा मुदि पद्मा इव निगमदीधिनः॥८॥ समुपेत्य निसर्गतः शुचिं ननु यिकिचिद्पि प्रकाशन ॥

तुहिनद्यीतिविवसंश्रितो मलिनोऽपि यतिभायने नृगः॥ १.॥

## उपयाति जडोऽपि पाटवं सहसोपन्नविशेषतः परं । करवालगतः पयोलवः करिणां किं न भिनत्ति मस्तकं ? ॥१०॥

१ अश्वग्रीवाने क्षुत्र्य होऊन युद्धाची तयारी केली आहे असे एका द्ताने सांगितल्यानंतर विजयवलभद्र व ज्वलनजटी विद्याधर राजासह प्रजापित महाराजांनी आपल्या व ज्वलनजटी विद्याधर राजाच्या प्रधान मंदलीय एकांत स्थानी वोलाऊन घेतलें व ते पुढे लिहिल्याप्रमाणें बोलूं लागले.

२ "अहो मंत्रियणांना तुमच्या प्रभावांनेंच आह्याला इच्छित संपत्ति प्राप्त प्राली आहे. बरोवरच आहे कीं, वसंतादिक ऋतुंचा आश्रय घेतल्या वांचून हक्ष पुष्पांची शोभा धारण करतात काय श अर्थात् ऋतुंच्या आश्रयानेंच ते पानें, फुलें व फलें यांनीं शोभूं लागतात. ३ जसें प्रमेल व मुलांचें संगोपन करण्यांत चतुर अशी माता अज्ञ वालकांचें सर्व रीतीनें संकटापासून रक्षण करिते, तसें हे मंत्रियणहो ! साम, दाम, दंद व भेट या नीतीमध्यें कुशल अमलेली आपली बुद्धि प्रेपानें अज्ञ अशा आमचें सर्वप्रकारें संकटापासून रक्षण करीत असते. ४ गुणी पुरुषांच्या सहवासानें गुणहीन मनुष्यही गुणी वनतो. याम उटाहरण असे कीं, पाहळीच्या फुलांनीं सुगंधित शालें पाणी ज्या महत्र्यांत असतें त्यालाही तें सुगंधित बनवितें।

५ स्वच्छंद्रपणाने वागणारें दैव प्राण्यांच्या ध्यानीं मनीं नसतांहि त्यांचें कन्याण किंवा अरुह्याणाचें कार्य स्वतः प्रयत्नावांचून एकद्म उत्पन्न करीत असतें. ६ वलवान अध्यप्नीव चक्रवर्ती त्याचा आह्मी कांही अपराध्य केला नसतांहि इतर विद्याधर राजांना वरोवर येऊन आमच्याकीं युद्ध करण्यास उठला आहे. हें न्याचें करणें सत्य नीतीला धरून आहे काय ? सांगा वरें ? '' ७ याप्रमाणें आणखी पुष्कलक्षीं कारणें टाखवून प्रजापित महाराजांनीं आपले भाषण संपविन्यानतर मंत्रिपंदलाकइन वारवार पाहिला गेलेला सुश्रुत नांवाचा सचिव पुढें लिहिन्याममाणें वोलं लागला.

८ " हे राजत ! आर्ह्या आपन्याच चरणकुपैने ज्ञानापध्ये निर्मलता-चतुरना माप्त करून यनली आहे. जमें जलात्मक-पाण्यामध्ये असलेली अर्थात् जडात्मक-ज्ञानहीन कमळें सूर्यापासून विकास पावतात स्यापमाणें जडात्मक-अज्ञानी असे आधी आपल्या कृपेनेंच चतुर झाळों आहोतं.

९ स्वाभाविकपणें निर्मल व कांतिमंपन्न पदार्थाच्या आश्रयानं कांति प्रित पदार्थिह प्रकाश्ं लागतो. तोहि प्रकाश्युक्त दिसता. यास उदाहरण असे कीं, पिलन असाहि हरिण थड किरणांनी युक्त भन्ना चंद्रान्या आश्रयानें प्रकाशयुक्त दिसं लागतो तसें आझीहि जानी अन्ना आपल्या आश्रयानें प्रकाशयुक्त दिसं लागतो तसें आझीहि जानी अन्ना आपल्या आश्रयानें जानयुक्त झालों आहोंत. १० अज पनुष्य उपाधिविशेषानें अर्थात् विद्वानांच्या सहवासानें नियुणपणाला प्राप्त होतो. तरवारीच्या आश्रयानें तिखा दिले के पाणी हत्तीचें गंहस्थल फोडूं जकत नाहीं काय ? अर्थात् तरवारीच्या सहवासानें तरवारीचें पाणी हत्तीची गंहरथलें फोडण्यास समर्थ होतें. त्याप्रवाणें विद्वान् अन्ना आपल्या सहवासानें आझी विद्वान् यनलें आहोते.

भवतामिष वाग्मिनां पुरो यदहं विच्य तदस्य चापछं।
अधिकारपदस्य कोऽन्यथा गिदतुं प्रारमते सचेतनः ? ॥११॥
त्रिभिरेव भवद्भिरू जितैर्नयशास्त्रं प्रतिमान्त्रिर्मृतम् ।
भुवनं सचराचरं यथा पवनैरुत्रतसंहतात्मकैः ॥ १२ ॥
ननु सर्वविदोऽपि राजते न वचः श्रोतिर वोधवर्जिते ।
परिणेतिर नष्टलोचने सकलः किं नु कलत्रविभ्रमः ॥ १३ ॥
पुरुषस्य परं विभूषणं परमार्थं श्रुतमेव नापरं ।
प्रशमो विनयश्च तत्फलं प्रकटं नीतिविदः प्रचक्षते ॥ १४ ॥
शिनयप्रशमान्वितं सदा स्वयमेवोपनमंति साधवः ।
स च साधुसमागमो जगत्यनुरागं विद्धाति केवलं ॥ १५ ॥
अनुरागपरार्जितं जगत्सकलं किंकरतां प्रपद्यते ।
स्वयमेव महीपतेरतो विनयं च प्रशमं च मा सुनः ॥ १६ ॥

हरिणानि वेगशालिनो ननु गृण्हंति वने वनेचराः। निजगेयश्रणेन किं गुणः कुरुतं कस्य न कार्यगाननं ?॥१७॥ परुषाच्च मृदुः सुखानहः परिमत्त्रुक्तमुपायबेदिभिः। परितापयति क्षितिं रिवनेनु निर्वापयति क्षपाकरः॥१८॥ सुवशीकरणं शरीरिणां प्रियबाक्यादपरं न विद्यते। मधुरं च रुवन् यथोचितं परपुष्टोऽपि जनस्य ब्रह्मः॥ १९॥

१८ आत्मकल्याण करणारें जान हेच एउपाच उत्हृष्ट भूपण आहे. दुमरें नाहीं या जानाची जांतपणा व विनय ही प्रमूद फळे आहेत अमें नीति जाणणारे विहान ह्मणनात १५ जो विनय व ज्ञातपणानें युक्त आहे न्याला सन्प्रपिह नेहमी नयस्कार करितात. व सत्प्रपाचा समागम हा फक्त जगामध्यें सर्वत प्रमुभाव उत्पन्न करित असतो.

१६ या प्रेमभावानेंच सगळ्या जगाळा जिंकिले असतां तें-आपोओपच राजाचा दास वन्त राहते. यास्तव हे राजत्! आपण विनय व पशम [ कपायाचा मंद्पणा ] यांचा त्याग करूं नये. १७ हारण जरी अतिशय वेगाने धांवत असतात तथापि त्यांनाहि भिल्लेटाक वनामध्यें स्वतःच्या गांयनगुणानें पकडतात. यास्तव गुण कोणत्या मनुष्याचें इष्टकार्थ सिद्ध करून देत नाहींत वरें ? यास्तव गुण प्राप्त करून घेणें हे राजाचें मुख्य कर्तन्य आहे. १८ कटोर भाषणापेक्षां मृदु भाषण हें अतिशय मुख देणारे अते असे उपाय जाणणारें विद्वान ह्मणतात. यास उदाह ण असे कीं, अधे असे उपाय जाणणारें विद्वान ह्मणतात. यास उदाह ण असे कीं, पृथ्वीला सूर्य संतप्त करितो परंतु चंद्र तिहा आपल्या शांत किरणानी आल्हाटित करीत असतो. अर्थात् मधुर च मृदु भाषण हें लोकाना वश्च करिते. पण कटोर भाषण त्यांना शत्रु बनिवते. १२ पिय भाषण हेंच प्राण्यांना वश्च करण्याचें मुख्य कारण आहे. याशिवाय दुसऱ्या भाषणानें शाण्यांना वश्च करण्याचें मुख्य कारण आहे. याशिवाय दुसऱ्या भाषणानें लीक वश्च होऊ शक्त नाहींत. कोकिलपक्षी योग्यकालीं मधुर शत्र करितो हमणून तो लोकांना पिय झालेला आहे.

अशितं हृदयप्रवेशकं निरपेक्षं सकलाथंसाधकं ।
विजयाय न सामतः परं मतमस्त्रं दधते क्षमाभृतः ॥ २० ॥
कुपितस्य रिपोः प्रशांतये प्रथमं साप विधीयते हुँधैः ।
कतकेन विना प्रसन्नतां सिललं कर्दमितं प्रयाति किं ॥ २१ ॥
वचसा परुषेण वर्धते मृदुना शाम्यित कोप उद्धतः ।
पवनेन यथा दवानलो घनमुक्तेन च सूरिवारिणा ॥ २२ ॥
उपशान्यति मार्दवेन यो निह शस्त्रं गुरु तत्र पात्यते ।
अहिते वद सामसाध्यके किमुपायैरितरैः प्रयोजनं १॥ २३ ॥
उपयाति न विकियां परः परिणामेऽपि च सान्त्वसाधितः ।
सिललेन तु भस्मसात्कृतो ज्वलनः प्रज्वित्तुं किमीहते १॥२४॥

विकृतिं भजते न जातुचित्कुपितस्यापि मनो महात्मनः। परितापियतुं न शक्यते साठिलं वारिनिधेस्तृणोल्कया ॥२५॥ नयवर्त्मानि यः सुनिश्चितं यतते तस्य न विद्यते रिपुः। ननु पथ्यभुजं किमामयः प्रभवत्यल्पमपि प्रवाधितुं ?॥ २६॥ अयथाभिनिवोशितः फलं किमुपायः कुरुते समीहितं ?। दिधभावसुपैति किं पयः सहसा न्यस्तमथामभाजने ?॥ २७॥ मृदुनैव विभिद्यते क्रमात्परिपूणींऽपि रिपुः पुरःस्थितः। प्रतिवत्सरमापगारयः सकलं किं न भिनत्ति भूधरं ?॥ २८॥

२० हे महाराज ! सामनीति नांबाचें हें शस्त्र तीक्षण नसतांहि हृद्यांत तेव्हांच प्रवेश्व करितें. निरपेश्व असूनहि संपूर्ण कार्यें सिद्ध करून देतें. या सामरूपी श्वझानेंच विजय प्राप्त होतों. याश्विवाय विजय प्राप्ति करून देणारें अधिक उत्तम दुसरें शक्त नाहीं. हाणूनच राज छोक हेंच शस्त्र धारण करीत असतात. २१ रागावछेत्या अत्रूढा शांत करण्यासाठीं विद्वान छोक प्रथमतः सामनीतीचा उपयोग करीत असतात. निवळीच्या वियांच्या चूर्णानिवाय गढ्ळ झाळे थें पाणी निर्मळ होऊं शक्ते काय ! अर्थात् तें जसें त्याविवाय स्वच्छ होत नाहीं तसें सामोपचाराशिवाय शत्रु बच्च होत नाहीं हम्पून हांच उपाय उत्तम आहे. २२ तीक्षण भाषणांने कोप उद्धट बन्त बाहू छागतों. परंतु मृदु भाषणांने तो श्वांत होतों. यास उदाहरण असे पाहा कीं, वाच्यांनें जंगकांत अप्ती बेगानें पेट घेतो परंतु मेघानें सोढकेल्या पुष्कळ पाण्याच्या हृष्टीनें तो बांत होतों. २३ जो अत्रु सामोपचारानेंच दवतो त्याच्यावर अस्त्रवहार करण्यांचें अर्थात् त्याच्याशीं छढाई करण्याची कांहीं जरूरी नसतें. शत्रु जर सामोपचारानेंच वत्र होण्यासारखा असेक तर इतर उपायंची तेथे काय जरूरत आहे वरें ? २४ सामोपचारानें वत्र

<sup>\*</sup> टिप्पणी:— साथो प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विकिया॥ न हि तापिबद्ध शक्य सागराम्भस्तृणोस्कया॥

केलेला अतु योग्यवेळींहि विकृत होत नाहीं. पाण्याने भस्ममय केलेला अग्नि पुनः पेटण्याची इच्छा करील काय ? २५ जें सत्पुरूप असतात त्यांचें मन ते गगावले असतांहि विकारयुक्त होत नाहीं. समुद्राचें पाणी गवताच्या ठिणगीनें तापविणें अवय असतें काय ?

२६ जो मनुष्य अथवा राजा नीतिमार्गामध्ये निश्चकपणे राहत असतो.
त्याका अनु जास देऊँ शकत नाहीं. यास उदाहरण असें कीं, नेहमीं
पश्यसेवन करणाच्या मनुष्याला रोग थोडीशीं टोकिक पीका देऊं जकत नाहीं.
त्याच्या रोगाचें सामध्ये चालूं अकत नाहीं, २७ ज्या दिकाणीं जो उपाय
योजावयास पाहिजे तेथें त्याची योजना न केकी तर त्यापासून इच्छित
पदार्थाची-फकाची प्राप्ति होऊं अकत नाहीं. जर आपण द्य कच्च्या भांक्यांत
देविलें तर त्यांत तें दक्षाचें स्वरूपानें परिणमेल काय १ उत्तम पक्क्या
भांक्यांत देवल्यानेंच तें न गळनां दही बनेल. २८ वृद्धें आलेका अनु
सामध्यांनें परिपूर्ण असला तरी कमा क्रमानें मृदु मृदु सामोपचारानेंच त्याचा
नाश कराता. प्रत्येक वर्षा नदीवेग पर्वताला फोडीत फोडीत एकादे वर्षा
त्याचें पूर्ण भेदन करितो त्याप्रपाणें अनुला सामोपचारानेंच जिंकावें.

मृदुना सहितं सनातनं भुवि तेजोऽपि भवत्यसंशयं । दशयाथ विना संतेलया ननु निर्वाति न किं प्रदीपकः?॥९९॥ अत एव च तत्र सामतः प्रविधेयं कलयामि नापरं । ध्रुवमित्यभिधाय सुश्रुतो विररामान्यमतानि वेदितुं ॥ ३० ॥ अथ तस्य निशम्य भारतीं कुपितांतःकरणः परंतपः । विजयो विजयश्रियः पतिर्निजगादेति वचो विचक्षणः ॥ ३१॥ पठितं न शुकोऽपि किं वदेदिभसंवंधविवर्जिताक्षरं ?। नयवित्स इधेः प्रशस्यते कुरुते यस्य वचोऽर्थसाधनं ॥ ३२ ॥ परिकुप्यति यः सकारणं नितरां सोऽनुनयेन शाम्यति । अनिमित्तरुषः प्रतिकिया कियते केन नयेन कथ्यतां ?॥३३॥ अतिरोपवतो हितं प्रियं वचनं प्रत्युत कोपदीपकं। शिखितमतमे हि स्पिपि प्रपत्तोयमुपैति वन्हितां॥ ३४॥ अभिमानिनमाईचेतमं पुरुषं प्रव्हयित प्रियं वचः। ननु तिद्वपरीतचेष्टितः किम्रु साम्नित खलोऽनुक्लतां १॥३५॥ मृदुतामुपयाति वन्हिना खरतामेति जलेन चायसं। इति वरिनिपीडितस्तथा विनिर्ति वाति खलो न चान्यथा॥३६॥ द्वयमेव विधीयते मतं द्वितये नीतिविदां महात्मनां। विनयो महति स्ववांधवे प्रतिपक्षे च पराक्रमो महान्॥ ३७॥ द्वयमेव खुखावहं परं पुरुष्ट्याभिमतं स्तामि। अभयत्वमरौ पुरःरिधने वियनारीमृद्धृद्यौ च भीरुता॥ ३८॥

व अही महाराज! जो शत्रु सकारण रागावती त्याची पुष्कळ प्रार्थना केली असतां तो शांतही होणें शक्य आहे. परंतु कारणावांचून रागावलेल्या शत्रूचा राग घाळविण्याचा उपाय कोणता आहे सांगा पाहूं बरे ? ३४ अतिशय रागावलेल्या मनुष्याच्यापुढें केलेलें हितकर व प्रिय असें भाषण त्यास ज्ञांत करण्यास समर्थ न होतां तें उलट त्यास ज्यास्ती क़ुद्ध वनविण्यास सहायक होतें. अग्नीनें अतिशय कढत असलेल्या तुपांत पडणारें पाणी तुपाचा कढ शांत करण्यास कारण न होतां उल्रट अप्नि वनतें ३५ स्वाभिमानी पण दयाळ अंतःकरणाच्या मनुष्याला पिय भाषण नम्रं वनितें. परंतु विरुद्ध स्वभावाचा दुष्ट मनुष्य सामोपचारानें अनुकूल होतो काय ? ३६ लोखंड अग्रीनें मृदु बनतें पण तेंच पाण्याचा संयोग झाला असतां कठिण होतें. याचपमाणें दुष्ट मनुष्य रात्रूंनीं त्रस्त झाला असतां नम्न होतो. दुसऱ्या उपायानें-सामोपचारानें नम्न होत नाहीं. ३७ नीतिज्ञ महापुरुप आपले हितकतें वांधव व आपले शत्रु यांच्या विकाणीं क्रमानें दोन गोष्टी करतात. त्या ह्याः— आपलें हित करणाऱ्या मोठ्या वांभवाविषयीं ते विनय धारण करतात व शत्रूवर पराक्रम गाजवितात. याच दोन गोष्टी सत्पुरुपांना त्रिय असतात. ३८ शत्रु पुढें आला असतां निर्भय राहणें व आपल्या प्रिय स्त्रीनें आपल्या भ्रुवया वांकड्या केल्या असतां भयभीत होणें याच दोन नोष्टी मनुष्यांना पसंत असान्यात असें सत्पुरुषांचेंही ह्मणणें आहे. अशा रीतीने वागणें हेंच मनुष्यांना सुखदायक आहे.

अपि नाम तृणं च दुर्वलं प्रतिकूलस्य न मातिरश्वनः ।
प्रणतिं प्रतिपद्यते वरं पुरुपात्त्रमतः स्वयं रिपुं ॥ ३९ ॥
गुरुतामुपयाति यन्मृतः पुरुपस्तिद्विदितं मयाधुना ।
ननु लाघवहेतुरर्थना न मृते तिष्ठति सा मनागिप ॥ ४० ॥
सहसैव परं क्षमाधरो ननु तुंगोऽपि जनेन लंद्यते ।
न भवत्यथ कस्य वा सतः परिभूतेरिह कारणं क्षमा ॥ ४१ ॥
परमस्तमुपैति भानुमानाप तेजोविरहाहिनात्यये ।
अत एव च धाम भागुरं न जहाति क्षणमप्युदारधीः ॥ ४२ ॥

उपगच्छिति सामिभिः शमं महतो नैच निसर्गशात्रवः।
भजत च स तैः प्रचंडतां सालिछैरौर्वशिखीव वारिधेः॥ ४३॥
अभिगर्जित तावदुद्धतो मदिनश्चेतनधीरनेकपः।
पुरतः प्रतिभीपणाऋतिं न हिरं यावदुदीक्षते रिषुं॥ ४४॥
असुहत्त्वविधाद्यपस्थितं सुवि दुर्नामकमात्त्रविक्रियं।
समये मितमान्महोदयं सहसा च्छेदनमंतरेण कः॥ ४५॥
दिरदं विनिहन्ति केसरी स्वयमन्विष्य च यः समंततः।
निजवासगुहासुपागतं स च तं सुंचिति किं युयुत्सया॥ ४६॥
भवतां प्रविलंघ्य भारतीमविलंघ्यामिष किं ममानुजः।
न हिनिस्त तमश्वकंधरं कलभं गंधगजो यथार्गलां॥ ४७॥
अहमेव हि वेश्चि केवलं न विजानाति परोऽस्य पौरुषं।
अपि दैवममानुपाश्रयं भवतां मौनमतो विभूषणं॥ ४८॥

३९ गवत दुर्वल आहे; परंतु तेंही प्रतिकूल वाऱ्याशीं नम्रता धारण करीत नाही ह्मणून तें स्वतः रिपूला-शत्रूला पाहून नम्न होणाऱ्या पुरुषा-पेक्षां श्रेष्ठ आहे असे मला वाटतें. ४० ज्या अर्था मेलेला पुरुष गुरु त्वाला-मोटेपणाला प्राप्त होतो त्याअर्थी त्याचे कारण मला आज समजले आहे. इलकेपणाला कारण याचना ही आहे त्या अर्थी मला जर याचनाच करावयाची नाही तर मी हलकेपणा को धारण करीन ? मी वजनदारपणाच धारण करीनः अशा हेतृनेच जणु त्याने वजनटारपणा धारण केला असावाः अभिपाय हा की, टीनवृत्ति धारण करून शत्रृशी नम्रता धारण करणे हें मोटेपणाला शोभन नाही. ४१ जसें क्षमावर-पर्वत हा मोटा असला तरीही त्याला लाक सहज उल्लंघन जातात तस क्षमाधर-क्षमा धारण करणारा राजा त्याच्या प्रजाजनाकह्नही उल्लंघिला जातो. अर्थात् प्रजा देखिल त्याची आजा मानीन नाहीं, इतर शत्रु वंगरे कशी मानतील? यास्तव क्षमा कोणाच्या पराभवाला कारण होणार नाहीं वरें ? ४२ सूर्य देखिल मं याकाळी आपल्या नेजाचा त्याग करतो स्रणून त्याला अस्ताला जाण भाग पटनें. ही पिन्चियित नित्य होळ्याचा दिसते त्यणूनच उदारबुद्धींचे त्योक एक अणपर्यतिह आपल्या तेजस्वीपणाचा त्याग करीत नाहींत ४२ मोट्या पुन्यांचा न्याभाविकपणे शत्रु अस्लेला मनुष्य सामोपायाच्या

द्वारें कथींही शांत होत नाहीं. यास उदाहरण असें कीं, समुद्राचा शत्रू असलेला वडवानल समुद्रापासून पुष्कळ पाणी मिळत असताहि तो शांत न होतां प्रचंडताच धारण करीत असतो. ४४ मदानें ज्याची बुद्धि निर्विचार आली आहे असा उदात्त हत्ती जोपर्यंत भयंकर आकृतीचा सिंह दत्त ह्मणून पुढें येऊन उभा राहिलेला पाहात नाहीं तोपर्यतच गर्जना करीत असती. त्याप्रमाणें गर्वानें अविवेकी बनलेला अश्वग्रीवरूपी हत्ती त्रिपृष्टरूपी भयंकर सिंहाला आपल्यापुढें उभा राहिलेला पाहात नाहीं तापर्यंतच गर्जना करीत आहे. ४५ जो रात्र्तवाला प्राप्त झाला आहे, ज्याचें वाईट नांव आहे अर्थात् अश्वग्रीय या वाईट नांवाला जो धारण करीत आहे, अश्व-घोडा व प्रीवा-गळा-घोड्याचा गळा असा ज्याच्या नांवाचा अर्थ आहे व जो विकारयुक्त व मोठ्या ऐश्वर्याला प्राप्त झाला आहे अज्ञा त्या अर्धचक्रवर्तीचें छेदन होणार नाहीं तोपर्यंत तो शांत होत नाहीं, अथवा जसें मूळव्याध शत्रुपमाणें चास देऊं लागली व ती विकारयुक्त झाली अर्थात् तिला कोव फुटलें च ती योग्यवलीं चांगलीच वाहली असतां जसें ती कापल्याशिवाय गत्यंतर नसतें त्याचप्रमाणें अश्वश्रीवाचा आतां छेद केल्याशिवाय गत्यंतर नाहीं. ४६ जो सिंह स्वतः चोहीकडे हुडकून हत्तीचा ग्रोध करून त्यास ठार मारितो तो आपल्या राहत्या गुहेजवळ युद्धाच्या इच्छेने आलेल्या हत्तीला टार मारल्याशिवाय राहील काय ? राहणार नाहींच. ४७ जसा उन्मत्त झालेला हत्ती जिचें उल्लंघन करणें किंटण आहे अशी आगल मोइन टाकिता त्रां साझा भाऊ त्रिपृष्ट नारायण तुझा मंत्रिगणांचे न उछंघण्यासारखेंही भाषण उछंघन हत्तीच्या छान्याप्रमाणे अश्वग्रीवाला ठार मारणार नाहीं काय? अवश्य ठार मारीलच. ४८ त्रिपृष्टाच्या ठिकाणीं जे मनुष्यामध्यें न आढळ्न येणारें दैविक वछ आहे, जो पराक्रम आहे त्याचें खरें रवरूप मीच जाणूं शकतों. हुसऱ्याला त्याची कल्पना येऊं शकणारी नाहीं. यास्तव आपण याविषयीं मौन धारण करणे हेंच भूषण आहे."

इति पौरुषसाधनं परं विजये कार्यमुदीर्य हुर्जये ॥ विरते मितसागरो गिरं मितमान्नीतिविदित्यदाहरत्॥ ४९॥ इति कृत्यविधौ विदा सता विजयेनेह परिस्फुटीकृते । अपि देव तथापि शंकते प्रविधातुं जडधीरयं जनः॥ ५०॥ किमिदं कथितं न तत्वतः सकलं ज्योतिषिकेण नः पुरा। अहमस्य तथाप्यमानुषीं श्रियमिच्छामि परां परीक्षितुं॥ ५१॥ सुविचार्य कृताद्धि कर्मणः परिणामेऽपि भयं न जायते।
अत एव विवेकवान् कियामविचार्यारभते न जातुचित्।। ५२॥
सहसा विद्धीत न कियामविवेकः परमापदां पदं।
वृणते ही विस्वृत्यकारिणं गुणलुव्धाः स्वयमेव संपदः॥ ५३॥
समरे ननु चक्रवर्तिनः खलु जेता भवि यस्तु साधयेत्।
इह सप्तमिरेव वासरेरथ विद्याः सकलाः स केशवः॥ ५४॥
इति ते निकपोपलायितं वचनं तस्य विधेयवस्तुनः।
अवगम्य तथेति मेनिरे करणीयं सुनिरम्तसंशयं॥ ५५॥

४९ या प्रमाणे पराक्रमाची सिद्धि करून देणारें भाषण बोल्न शत्रूंना अजिंच्य असा तो विजय वलभट्ट थांवला असतां मतिसागर नांवाचा नीतिज विद्वान मैती पुढें लिहिल्याप्रमाणें वोल् लागला. ५० " तो महणाला अन्तप्री-वाशीं युद्धाचा प्रसंग आला आहे अशा वेळी आपण काय केलें पाहिने याचा खुलासा विजयवलभद्रांनी चांगला केला आहे. तरी हे प्रभो ! तें कार्य (युद्ध ) करण्याची आम्हा बुद्धिमंदांना भीति वाटते. अर्थात् युद्धामध्ये आम्हांला विजय मिळेल किंवा नाही याविषयी आमचें मन सार्शक आहे. ५१ पूर्वी ज्योतिपानें सर्व खरी अशी हकीकत- [ त्रिपृष्टकुमार अर्थचक्रवर्ति होईल अशी हकीकत ] सांगितली नाही काय ? अर्थात् सांगितली आहे. परंतु या तिपृष्टकुमाराच्या उत्तम अमानुष लक्ष्मीची मला परीक्षा करावीशी वाटत आहे. ५२ चांगला विचार करून काम केले असतां परिणामींही त्या विपर्या भीति राहात नाही म्हणूनच विवेकी माणसें न विचार करतांच कोणतेंही कार्य आरंभित नाहींत. ५३ विचार न करतां कोणतेंही कार्य करूं नये. कारण अविचार हा दु:खट अझा संकटांचे स्थान आहे. अर्थात् अविचारानें संकटें येतात. जी माणसें विचार करून कार्य करितात त्यांच्या गुणावर लुव्ध झालेल्या संपत्ति आपण होऊन त्यांचा आश्रय घेतात. ५४ जो सात दिवसांत सर्व विद्या साध्य करून घेईल तो या भूतलावर नारायण मानला जाईल व निःसंगय तो या अर्द्धचक्रवर्तीला (अश्वग्रीवाला) युद्धांत जिंकणारा होईल. ५५ याप्रमाणे मतिसागरानें भाषण केलें असतां तें त्यांचें भाषण करण्याला योग्य अशा कामाची कसोटी आहे असे सर्वीनीं जाणून करण्याला योग्य अना कार्यान आतां कांहीं संशय उरला नाहीं असे माानिलें. ५६ अथ तस्य परीक्षितुं श्रियं विजयस्यापि समादिशन्मिथः।
जवलनोपपदो जटी परं पुरुविद्यागणसाधनाविधि ॥ ५६॥
अपरे न च साधयंति यां विधिना द्वादशवत्सरेरिप ।
महती स्वयमेव रोहिणी सहसा प्रादुरभूत्पुराऽस्य सा ॥ ५०॥
अपराः पतदीशवाहिनीप्रमुखास्तं सकलाश्च देवताः।
उपतस्थुरहो महात्मनः किमसाध्यं पुरुपुण्यसंपदः॥ ५८॥
विजयस्य च सिंहवाहिनी विजया वेगवती प्रमंकरी॥
इति पंचशतं वशं ययुवरविद्या दिवसेषु सप्तसु ॥ ५९॥
दिवसेरिति संमितैर्वशिकृतविद्यं विजयानुजं ततः॥
धरि तो नृपखेचराधिपौ जगतोऽतिष्ठिपतां सुनिश्चितं॥ ६०॥
अथ तस्य यियासतो रिपूनिभहंतु समरे जयश्चियं॥
कथयन्निव रोदसीं समं परितस्तार सृदंगिनस्वनः॥ ६१॥

यानंतर त्रिपृष्ट कुमाराच्या अलौकिक लक्ष्मीची परीक्षा करण्याकारितां त्रिपृष्ट राजपुत्राला व विजयवलभद्राला ज्वलनजटीनें एकांतस्थानीं महाविद्यांचा समृह कसा साध्य करावा याचा उत्तम उपाय सांगितला ५७ जी विद्या सामान्य लोकांना वारा वर्पातही सिद्ध होऊं शकत नाहीं अशी रोहिणी नांवाची विद्या एकदम यांच्यापुढे पगट झाली ५८ याचप्रमाणे या महात्मा त्रिपृष्टकुमाराला गरुड वाहिनी विद्या ज्यांच्यांत प्रमुख आहे अशा सगळ्या विद्या देवता सिद्ध होऊन पुढें उभ्या राहिल्या. वरोवरच आहे कीं, ज्यांची पुण्यरूपी संपत्ति फार मोटी आहे अशा महात्म्यांना या जगांत असाध्य अशा कोणत्या गोष्टी आहेन? अर्थात पुण्यवान लोकांना असाध्य गोटीही सिद्ध ५९ विजयविक्षभद्राला सिंहवारहिनी, विजया, वेगवती, प्रभंकरी अशा पांचरें उत्कृष्ट विद्या देवता सात दिवसांत सिद्ध झाल्या. ६० याप्रमाणे थोडक्या दिवसांत ज्यानें सर्व विचा स्वाधीन करून घेतल्या आहेत अञा विषृष्टकुमाराला प्रजापति महाराज व ज्वलनजटी विद्याधर राजा या दोघांनी निश्चित रूपाने जगाचा भार अर्पण कला. ६१ या नंतर युद्धामध्ये शत्रृला टार मारण्यासाटी प्रयाण करण्याची इच्छा करणाऱ्या तिष्ट्रकुमाराच्या जयलक्ष्मीच जणु वर्णन करणारा असा मृदंगध्वनि आकाश व जमीन यामध्ये समानरूपाने एकदम

निरगादाधिरुद्यं वारणं स पुरादुच्छिततोरणध्वजात् ॥ जयमंगळशंसिभिः शुभैः शकुनैस्तेपितसर्वसैनिकः ॥ ६२ ॥ सदनायगतोंऽगनाजनः सह लाजांजालमात्मलोचनैः ॥ परितस्तमवाकिरिन्थतौ प्रथयन्कीर्तिमिवास्य निर्मलां ॥ ६३ ॥ अतिदुःसहमन्यभूमिपैः सकलं धाम च चक्रवार्तिनः ॥ ६४ ॥ रथवाजिखुराभिघातजः क्षितिरेणः खररोमधूसरः ॥ सकलं न जगन्मलीमसं विद्ये शञ्चयश्र्य तत्क्षणं ॥ ६५ ॥ न चवाल धरैव केवलं गुरुसेनाभरपीडिता तदा ॥ इरसः कमलिप विद्रिपः पवनोद्दतलतेव मूलतः ॥ ६६ ॥

पसरला. ६२ जय व कल्याण यांचें स्चक अज्ञा शुभ शक्तुनांनीं आनंदित झालेल्या सर्व सैन्यासह तिपृष्टकुमार गुट्या व तारणें जेथे उभारलीं आहेत अज्ञा आपल्या शहरांतृन हत्तीवर आरोहण करून निघाला. ६३ वाड्यांच्या गचीवर चढलेल्या स्त्रियांनी आपल्या नेत्रासह लाह्यांची ओंजल त्रिपृष्टकुमारावर फेकली. त्यांवर्ली त्या जणु या कुमाराची कीर्ति चोहीकडे पसरीत आहेत असें लोकांना वाटलें. ६४ हत्तीवर असलेल्या पताका व ध्वजांच्या समूहांनीं फक्त आकाशच आच्छादित केले असे नाहीं. तर इतर राजे लोकांना असहा असलेले चक्रवर्ती अन्वग्रीवाचें सगलें तेज देखिल आच्छादित करून टाकिलें ६५ रथाला खंपले— ल्या घोड्यांच्या टापांच्या आघातांनीं उत्पन्न झालेली, गाढवांच्या केसा— प्रमाणें धुरकट रंगाची असलेली, जमीनिवरील धूल, चोहीकडे पसरून तिनें सगल्या जगालाच मलकट वनविले असे नाहीं तर तत्काल शत्रेंचें यशही मलिन केलें. ६६ अफाट सैन्याच्या ओझ्यानें दुःखित झालेली पृथ्वीच फक्त त्यावेलीं कंप पावली असे नाही तर वाच्याने लता कंप पाउन जशी-मुलासकट उत्मळून पडते तशी

दिप्पणी:—सैन्यव्यक्तैरप्रतिकूलवातव्याधृननप्रोल्लिसितैस्तर्दायै.—
नान्तर्द्धे केवल्मेव सूर्य . शब्रुप्रभावश्च महाप्रभावैः।।
समानार्थकोय न्हांकः चद्रप्रभविते चतुर्थसर्गे ॥

विगलन्मद्वारिनिर्झरा अपि दूरीकृतरोषवृत्तयः॥
अभिनेतृवदेान लीलया लिलतं गंघगजाः प्रतास्थिर॥ ६०॥
तिडिंदुज्ज्वलरुक्ममंडनांस्तुरगांश्रंचलकंठचामरान्॥
दुतमध्यिवलंबितक्रमानिषरुद्ध प्रययुस्तुरांगिणः॥ ६८॥
अधिरुद्ध यथेष्टवाहनं घवल्छत्रनिवारितातपाः॥
गमनोचितवेषधारिणः परचक्रक्षितिपास्तमन्वयुः॥ ६९॥
बलरेणुभयेन भृतलं प्रविहायोत्पतितं वियत्यिप॥
पिद्धे रजसा परीत्य तत्प्रथमं खेचरसैन्यमाकुलं॥ ७०॥
इतरेतररूपभूषणस्थितियानादिनिरीक्षणोत्सुकं॥ ७०॥
अभवत्तद्धोमुखोन्मुखं चिरकालं गमने बलद्वयं॥ ७१॥
जवनिश्वलकेतनोत्करं वरमास्थाय विमानमुन्नतं॥
खचराधिपतिर्विलोकयन्सस्तुतः सैन्यमगादिहायसा॥ ७२॥

शत्रूच्या वक्षःस्थलावर निवास करणारी लक्ष्मी ही तेथून खाली घाडकन् पडली. ६० ज्यांच्या गंडस्थलांतून मदाचे प्रवाह वाहात असूनहीं ज्यांनीं कोषाला आपल्यापासून दूर केलें आहे असे उन्मत्त झालेले हत्ती अभिनय शिकविणारा महात जसे सांगेल त्याप्रमाणें सुंदर अभिनय करीत लीलेंने चाल् लागले. ६८ विजेप्रमाणें लखलखणाच्या सोन्याच्या अलंकारांनीं सजलेले, ज्यांच्या गळ्याजवल चंचलचामर वांथले आहेत व जे शीघ्रगति, मध्यमगित व मंदगति अजा चालींनीं चालत आहेत अशा घोड्यावर वसून घोडेस्वार चालू लागले. ६९ आपणांस आवडत्या वाहनावर वसून घोडेस्वार चालू लागले. ६९ आपणांस आवडत्या वाहनावर वसून अर्थात् हत्ती, घोडे, रथ, पालखी इत्यादिकावर वसून व ज्यांनीं धवलच्छताने सूर्याच्या उन्हांचें निराकरण केलें आहे असे इतर देशाचे राजे प्रवासाच्या वेलच्या पोपाकाला धारण करून या त्रिष्ट कुमाराला अनुसरूं लागले अर्थात् त्याच्यावरोचर तहीं ानियाले ७० सैन्याच्या चालण्याने उत्पन्न झालेल्या धुळीने पृथ्वीचा त्याग केला आणि ती आक्षांत उडून गेली व तेथे तिन विद्यावराचे सैन्य चेळन त्याला प्रथम व्याक्षल करून सोडिलें व आच्छाविले ७१ विद्यावराचे सैन्य च तिपृष्टि कुमाराचे सैन्य ही दोन्हीं सैन्ये चालत असतां एकमेकाचे रूप, अलंकार, उभे रहाणे, बाहनें सैन्य ही दोन्हीं सैन्यें चालत असतां एकमेकाचे रूप, अलंकार, उभे रहाणे, बाहनें सैन्य ही दोन्हीं सैन्यें चालत असतां एकमेकाचें रूप, अलंकार, उभे रहाणे, बाहनें

मुतयोः पुरतः प्रजापितः पिथ गच्छन्नितसोम्यभीमयोः ॥
नयिकमयोरिप स्वयं प्रशमः प्रष्ठ इव व्यराजत ॥ ७३ ॥
दहशे विनताजनैः समं खचरैः स्मेरमुखैः क्रमेलकः ॥
कुरुते प्रियतामपूर्वता ननु कांत्या रहितेऽपि वस्तुनि ॥ ७४ ॥
किरणां पततां विहायसा प्रतिविं विमलोपलस्थले ॥
अभिभूय निपादिनं नमन् रुरुधे वर्त्मीन मत्तवारणः ॥ ७५ ॥
पथि विस्मयनीयमंडनं शिविकारूढमुद्रप्रसोविदं ॥
भयकौतुकिमश्रमेश्चत क्षितिपानामवरोधनं जनः ॥ ७६ ॥
अवगाहकटाहकर्करीकलशादीन्द्धतः परिच्छदान् ॥

विशेरे गोष्टी पाहण्यांत उत्सुक होऊन वराच वेळ पर्थत खार्टी व वर तें हैं करून पाह लागर्टी. विद्याधरांच्या सैन्याने खार्टी पाहिले व जिमनीवरून चालणाच्या सैन्याने वर पाहिले ७२ अतिशय वेगामुलें ज्याच्या वरील पताकांचा समूह निश्चल झाला आहे अजा उत्ताम विमानांत विद्याधरांचा राजा ज्वलनजटी पुतासहित आरोहण करन सैन्याचे निरीक्षण करीत करीत आकाशमार्गानें चालूं लागला. ७३ अनिशय सीरय व अतिशय भीम अशा आपल्या ढोन मुलांच्या पुढें रस्त्यांत प्रयाण करणारे प्रजापति महाराज त्यावेळी रवतः नीति व पराक्रम या ढोयांच्या पुढें श्रेष्ट असा प्रश्नम (कपायांचा शांतपणा) जण् चालला आहे असे शोभूं लागले. ७४ विद्याध्यांनी आपल्या स्त्रियासह मार्गात उंटाचा समुदाय पाढिला तेव्हां त्यांना फार हम् येऊं लागलें वरेवरच आहे की, कांतीनें रहित अशी जरी वस्तु असली निर्म की पूर्वी पाहिलेली नसेल तर निन्या पिपर्या आवड उत्पन्न होत अमने ७५ आकाशमार्गने जाणारे विद्यायगंच्या हत्तींचें जमीनीवरील निर्म रत्नमय पाषणामत्य पहलेले प्रतिविद्याकडे वाङ्गन पादात उभा राणिले परनमय पाषणामत्य पहलेले प्रतिविद्याकडे वाङ्गन पादात उभा राणिले या हतींने न्यावेळी आपल्या महातांनाही जुमानेल नाहीं ७६

अतिभारिववर्जिता इव त्वरितं वैविधिकाः प्रतिस्थिरे ॥ ७७ ॥ वसुनंदक्रपाणपाणिभिस्तरसोलंधितगर्तगुल्मकेः ॥ पुरतो निजनाथवाजिनां चटुलं चारुभेटरधाव्यत ॥ पुरतः प्रविलोक्य दिन्तनं सहसैवाश्वतरेण पुष्ठवे ॥ तुरगः समगादशंकितं ननु जातेः सहशं हि चेष्टितम् ॥७८॥ नवकंदुमिवाश्ववारकं मुहुरुत्खुत्य हयोऽतिदुर्मुखः ॥ विणतांगमपातयत्परं ननु दुःशिक्षितमापदां पदं ॥७९॥ उपदीकृतभूरिगोरसैर्दहरो मिईतसस्यधारिभिः ॥ पथि भूमिपतिः कृषीवलैः कुरु रक्षामिति वल्गुवादि भिः ॥८०॥ अवरोधनमेतदंचितं समदानां करिणामियं घटा ॥ अयमश्रतुरंगमः प्रभोः करभोऽयं गणिकेयमुज्ज्वला ॥८१॥ पथि राजककोटिबेष्टितः क्षितिपोऽयं ससुतःप्रजापितः ॥

जणू काय आपण मोठ्या ओझ्यानें रहित असल्याप्रमाणें कावडीवाले त्वरेनें चालं लागले. ७८ वसुनद ( शस्त्र विशेष ) व तरवार हीं शस्त्रं ज्यांच्या हातांत आहेत व ज्यांचीं शीघ्र खाचखळगे आणि झाँडें झुडपे ओलांडलीं आहेत असे सुंदर योदे आपल्या मालकांच्या घोड्यांच्या पुढें चपलतेनें धावत असत.

७९ आपल्यापुढें आलेल्या हत्तीला पाहून खेचर घाबरून उड्या मारूं लागलें. परंतु घोडा न भितां पुढें निवृन गेला. वरोवरच आहे कीं, आपल्या जातीला—स्वभावाला अनुसरूनच पत्थेक प्राण्याची वागणुक असते. ८० व्यानें आपल्या तोंडाची आकृति भीति वाटेल अशी वनविली आहे अशा एका वाईट घोड्यानें वारंवार उड्या मारून आपल्यावर यसलेल्या घाडेरवाराला नवीन चेह्ममाणे दूर फेकून दिले व त्याला जखमी केलें. वगेवरच आहे कीं, खोटें शिक्षण हैं विपत्तीचे ठिकाण आहे. ८१ दूध, तूप, दही यांचा ज्यांनीं नजराणा अर्पण केला आहे व कुटलेल सडलेले तांदूल, दाल वगेरे पटार्थ ज्यांनीं आपल्यावरोवर आणिले आहेत व हे प्रभो ! आमचें रक्षण कर असे मधुर भाषण जे करीन आहेत अचा शेतकच्यांकहन मार्गामध्ये प्रजापित महाराज पाहिले गेले. ८२ डागिन्यांनीं भूपित झालेल्या हत्तींचीं पंक्ति, हा महाराजांचा बसावयाचा मुख्य घोडा,

इति तत्करकं सर्विस्मयं दहशुर्जानपदाः समंततः ॥ ८२ ॥

धतिर्झरवारिसीकरःकरिभमागुरुगंधवासितः ॥

तदसेवत पार्वतो मरुक्करकं कंपितकेतनावितः ॥ ८३ ॥

बहुमिर्गजदंतचामरेधतकस्तूरिकुरंगकरिप ॥

अरवीपतयो वनांतरे तमुपत्यादरतः सिपेविरे ॥ ८४ ॥

दिलतांजनपुंजरोचिपो वलमालोक्य भयेन नस्यतः ॥

प्रतिभूधरमैक्षत क्षणं तिमिरोधानिव जंगमानगजान् ॥ ८५ ॥

अवलाकनमात्रसत्फला दधतीः पोनपयाधरित्रयं ॥

शवरीरिप पत्रवाससो गिरिसिंधूश्च विलोक्य पिप्रिये ॥ ८६ ॥

हा उंट, ही मुंदर बेठ्या, अनेक राजांनी वेधिलेले व आपल्या विजय व शिष्ष या दोन पुत्रासिहन असलेले है प्रजापति महाराज, है त्याचे सन्य असे वर्णन करीत त्या देशांतील लोक दा सर्व देखावा आश्चर्यचिकत होऊन पाहं लागले. ८३ झऱ्यांतून बाहणाऱ्या पाण्यांचे तुपार धारण करणारा, हत्तींनीं मोडलेल्या अगरवृक्षांच्या सुगंधानें सुवासयुक्त झालेला, व ज्यांन ध्वजांचा समृह हालविला आहे असा पर्वतावरून वाहणारा वारा, महाराजांच्या सेनेची सेवा करूं लागला. ८४पुष्कळसे हत्तींचे ढांत, व चवऱ्या आणि पकडलेले कस्तूरीमृग यांचा नजराणा महाराजांना अर्पण करून जंगलाचे राज भिल्ल वगैरे जवल येऊन त्यांची आढरान जंगलांत सेवा करू लागले. ८५ मत्येक पर्वतावर फुटलेल्या अंजनाममाणे कालेकुट्ट असलेले व सैन्य पाइन भीतीने पलत सुटलेले अशा हत्तींना चालते फिरते अंधाराचे समृहच आहेत अंशा भावनेन प्रजापति महाराजांनी एक अणवर्यत पाहिलं. ८६ ज्यांना पाहणे एवढेंच फल ओहे व ज्या उंच व मोठ्या स्तनांच्या गोभेला धारण करीत आहेत, झाहांच्या पानांची वस्त्रे ज्यांनी धारण केली आहेन अभा भिछांच्या सियांना पाहन प्रजापिन महाराज आनादित आले. तमेंच नुरानें पदान अमनांच ज्या मनोहर दिसतात पुष्कळ मेचामुळ व प्यांना शोमा प्राप्त झाली आहे व ज्यांच्यावर झाढांची पाने पसरली आहेत अशा परेतारमन बाहणाच्या नद्यांनाही महाराजांनी णहुन संतोष मानिला. पर्वतावरील नगांचें पाणी पाने वंगर कुजन पिण्याला अयोग्य होते महणून त्यांना पाहणें हेंच फल आहे. त्यांच्या उपभोगानें आरोग्य विघडतें. तसेंच भिल्लांच्या स्त्रियांना पाहणें हेंच फल आहे. त्यांच्या उपभोगरूपी फलाची अपेक्षा करणें योग्य नाहीं, त्यांच्या उपभोगानें मनुष्य पतित होतो.

दलयन्महतोऽपि भूभृतः सरिदुचुंगत्रटानि पात्यन्॥ विपिनानि परं प्रकाशयन्सरसां कर्दसयञ्जलिशयं॥ ८७॥ रथचक्रचयस्य चित्कृतैर्व्यथयन्कर्णपुटानि देहिनां ॥ ककुभां विवराणि पूरयन्रजसा छादितवायुवर्मना ॥ ८८ ॥ सत्रंगमिवाश्वसंपदा सतडिच्छेदमिवायुघतिवषा ॥ सजलाभ्रमिव क्षरनमदैः करिभिः संचरदद्रिभासुरैः ॥ ८९ ॥ इति भूरिबलं पुरो वितन्वन्हरिराद्यः प्रिसंम्यितैः प्रयाणैः॥ प्रतिसैन्यनिविष्टसानुदेशं स स्थावर्तगिरिं समाससाद॥ ९०॥ अथ सरसनृणोलपावकीणीमविरलपादपराजिराजितां तां ॥ उपनदि बलमध्यवास पूर्वं बलपातिना प्रविलोकितां घरित्रीं ॥९१॥ विरचितपटमंडपोपकायो स्थलपरिभस्नमकारि सर्वतः सा ॥ प्रतिवसति समुच्छितात्मचिन्हा भृतकजनेन पुरोगतेन सद्यः। ९२। अपहतकुथकरंकध्वजादीन्विदितनयाः सिळळावगाहपूर्व॥ उपकटकमनेकपान्वबंधुस्तरुगहनेषु मदोष्मणाभितप्तान् ॥ ९३॥ श्रमजलकाणिकाचिताखिलांगा व्यपगतपल्ययनास्तुरंगवर्याः॥ क्षितितल्लुठितोत्थिताश्च पीत्वा जलमव्गाह्य विश्रभ्रम्-निबद्धाः ॥ ९४ ॥

परिजनधुततालगृंतवातप्रशमितघर्मजलाः क्षणं नरेंद्राः ॥ क्षितिनिहितकथासु शेरते स्म श्रममपनेतुमपेतवारवाणाः ॥९५॥ कुरु करममपेतयंत्रभारं मसृणय भूतलमानयां शितं ॥ उद्विसतसुदस्य राजकीयं विरचय कांडपटं समंततोऽपि॥९६॥

८७-८९ मोठमोठ्या पर्वतांचें टलन करणारां, नद्यांच्या उंच तटांना पाडणारा, दाट जंगलांना तोड्न तेथें प्रकाश इत्पन्न करणारा, व सरीवरांच्या पाण्याच्या शोभेला गृहल करणारा, ग्थांच्या चाकांच्या चीत्कारांनीं लोकांच्या कानठाळ्या वसविणारा, व दिशांच्या विभागोना आका-शाला झाकून टाकणाऱ्या धुळीनें आच्छाटणारा, तो तिपृष्ट नारायण, आपन्या, पुष्कळ सैन्याला पुढें करून योडक्या मुकामांनी जेथें शत्रूच्या सैन्याने तळ दिला आहे अशा रथावर्त पर्वताच्या परेशावर येछन प्राप्त झाला. तिपृष्ट नारायणाचे ने अफाट सेन्य पुष्कळ घोड्यांनी युक्त असल्यामुळे छहरींनी सिंहन असल्याप्रमाणे शोभत असे. शसासांच्या कांतीनें चमकणाऱ्या विजांनीं तें युक्त असल्याप्रमाणें भासत असे. ज्यांचा मद् गळत आहे व चालत असलेल्या पर्वताप्रमाणे शोभ-णाऱ्या अन्ना हर्नीानी युक्त असल्यामुळेते मेघसहिन असल्याप्रमाणे वाटत अस. ९१ त्या रथावर्त पर्वतावर सेनापातिनें प्रथमच जागा पाहून ठेविछी होती. ती जागा पाणी, गवत, शहरें यांनीं युक्त होती. व टाट झाडांच्या पंक्तींनीं जोभत होती. न्याठिकाणीं नदीच्या किनाऱ्यावर त्रिष्टाच्या सैन्याचा तळ पडला. ९२ त्या नटीच्या किनाऱ्यावर जागा साफ करून मजूर लोकांनीं नेथे राहुट्या, तंबु वगैरे डभा केले. व शीघ्र त्या प्रत्येकावर ओळखण्याची चिन्हें डभारली ९३ ज्यांना सैन्याच्या व्यवस्थेची माहिती आहे अशा लोकांनी हत्तीना पाण्यामध्यें स्नान कर-विण्याच्या पूर्वी त्यांच्या वरचें चिलखत, ध्वज, वगेरे काहृन घेनलें. व स्नान करविल्यानंतर मदाच्या उप्णतेने तप्त झालेल्या त्यांना टाट वृक्षांच्या जंगलामध्यें वांधृन टाकिलें. ९४ ज्यांच्या वरचें खोगीर काइन घेतलें आहे व ज्यांचे सारं अरीर श्रम झाल्यामुळें घामांने भरून गेळें आहे. असे घोडे जमीनीवर होव्हन उटस्यावर त्यांना पाणी पाजून व पाण्यामध्ये स्नान करवृन वांधृन टाकिल्यामुळें ते स्वस्थ विसावा घेत साहिले. ९५ नोकरांनीं पंख्याचा वारो घालून ज्यांचा सगळा घाम नाहीसा केला आहे अशा राजांनी आपल्या आंगातलें चिलखत कादून टाकिलें व अम नाहींसा करण्यासाटी जमिनीवर अंथ-रछेल्या गालिचावर थोडा वेळपर्यत झोप घेतली. ९६ अरे या उंटावरून हा सर्व यंवांचा भार काहन घे. ही जागा झाडून साफ कर. थंड पाणी आण. राजाचा द्या देश येथून काहृन या दिकाणीं सर्व वाजूने पडदे छात्र.

अपनय रथमत्र वध्यतेऽश्वो नय विषिनं वृषभांस्तृणाय गच्छ ॥ इति भृतकजनो महत्तरोक्तं इतमकरोत्र हि सेवकः स्वतंत्रः॥९७॥ परिचितपरिचारिकाकराग्रकृतपरिषीडननष्टयानरवेदाः ॥ दिनविधिमवनीश्वरेकभार्याःस्वयमनुतस्थुरनुक्रमेण सर्व ॥ ९८॥ इयमुरगरिषुश्वजेन लक्ष्या नृष्वसातिःसुनिस्वाततोरणश्रीः ॥ अयमिष गगनेचरेन्द्रवासो विविधविमानविदंकभिन्नमेघः॥९९॥ अयमुरुयुवसङ्जनेन पूर्णी विपणिपथः क्रयविक्रयाकुलेन॥ इयमनु कितवस्थलं निविष्टा ननु वसतिर्वरवारकामिनीनां ॥१००॥

इति कटकम्शेषमुद्दिशन्तः पतितजरद्भवभारमुद्धहन्तः ॥ कथमपि च विलोकयाम्बभुवुनिजवसति सुचिरं प्रयुक्तभृत्याः॥१०१॥

पाश्चात्यानथ निजसैनिकप्रधानान्व्याक्रोशन्पटहरवैश्च भेदवद्भिः॥ उत्थिप्तिर्दिशि दिशि केतनैश्च चित्रैरात्मीयान्कटकजनो मुहुर्जुहाव॥ १०२॥

आवासान्प्रतिगच्छतेति वचसा भूपान्विसर्ज्य स्वयं ॥
भूदेव्या घनपक्ष्मराजिषु रजोव्याजेन संचुम्बितः॥
आप्तरध्वपरिश्रमाधिकतया खंजं गतैःसेवकैः॥
अन्वीतःपुरुपोत्तमःस्ववसतिं सत्संपदं प्राविशत्॥१०३॥

## इत्यसगकृते श्रीवर्धमानचरिते सेनानिवेशो नाम सप्तमःसर्गः॥

९७ अरे येथून रथ दुसरीकडे ने. याठिकाणी घोडा वांधावयाचा आहे. या वैलांना जंगलांत ने. गवत आणण्यासाठी जा. याप्रमाणें वरच्या अधिकाच्यांनीं सांगितलेलीं कामें नोकरांनीं लोकर केलीं. बरोबरच आहे कीं, नोकर स्वतंत अस शकत नाहीं. ९८ नेहमींच्या परिचयाच्या दासीनीं राजांच्या मुख्य मुख्य स्त्रियांच्या अंगांचें हातांनीं जेव्हां चांगलें मर्दन केलें तेव्हां त्यांचा मवासाचा सर्व थकवा नाहींसा झाला. वमग त्या सर्व स्नानमोजन वैगरे दिवसाचा कार्यक्रम स्वतः करूलागल्या- ९९ हा गरुड चिन्हाचा ध्वल येथें दिसत आहे झणून ज्याच्या सभोवती तोरणांनीं शोमा आणिली आहे असे हें तिपृष्ट नारायणाचें निवासस्थान आहे. व नानाभकारच्या विमानांच्या सज्जांनीं मेघाचें विदारण करणारा, हा ज्वलनजटी विद्याधरराजाचा प्रासाद (राहाण्याचें ठिकाण ) आहे. १०० हा वाजार खरेदी व विक्रीमध्यें निमान झालेल्या पुष्कल तरुण व सज्जन पुरुषांनीं भरलेला आहेत. १०१ या प्रपाणें सर्व सैन्याच्या जागांचें वर्णन करणारे व पडलेल्या स्नाताच्या वैलांच्या पाठीवर लादलेलें ओहें वाहणारे असे नेमून दिलेलें काम करणारे कित्येक नोकर आपलें स्वतःचे राहण्याचे ठिकाण फार उशीरानें कसें तरी पाह शकले, १०२ सैन्यांतील

लोकांनी मागें राहिलेल्या आपल्या मुख्य सैनिकांना नानाप्रकारच्या वाद्यांच्या आवाजांनी व प्रत्येक दिशापध्ये उभारलेल्या चित्रविचित्र ध्वजांनी वोलाऊ लागले. १०३ आतां आपण आपल्या निवासस्थानी जा असे म्हणून सर्व राजांचे विसर्जन करून पृथ्वीदेवीन दाट पापण्याच्या पंक्तीच्या ठिकाणीं रजःकणांच्या मिपांने ज्याचे चुंवन घेतले आहे, जो रस्त्याच्या अधिक श्रमानें लंगडत असलेल्या विश्वरत सेवकांनी अनुसरलेला आहे अशा तिपृष्ट नारायणाने उत्कृष्ट संपत्तियुक्त अशा आपल्या निवासर्थानी प्रवेश केला.

याप्रमाणं असगकविकृत श्रीवर्धमान चरित्रांतील ' सेनेनें तळ ढिला'या विषयाचे वर्णन करणारा हा सातवा स्र्म संपन्ता.



एकदा सदिस केसरिद्धिषं कश्चिदेत्य विदितः कृतानितः ॥ इत्युवाच वचनं वचोहरः शासनात्खचरचऋवर्तिनः ॥ १ ॥ शृज्वतां गुणगणान्न केवलं सूचयन्ति विदुपां परोक्षतः॥ दिव्यतां तव वपुश्च पश्यतां दुर्लभं द्वयमिदं त्विय स्थितम् ॥॥ धैर्यमाकृतिरियं व्यनाक्ति नश्चेतसस्तव सदा समुन्नता॥ तोयधेरतिमहत्त्वमंभसः किं व्रवीति न तरंगसंहतिः॥३॥ पश्रयास्तव सुधारसच्छटाद्गीतलाः कठिनमप्यवान्तरे॥ द्रावयंति पुरुषं विशेषतश्चंद्रकांतिमिव चंद्ररूमयः ॥ ४॥ सिहाति त्विय गुणाधिके परं चक्रपाणिरतिसद्गुणप्रियः॥ स्वीक्रोति सुवि किं न साधतां साघवो ननु परोक्षवांधवाः ॥५॥ युक्तमेव भवतोरसंशयं संविधातुमितरेतरक्षमं॥ सौहदय्यमविनश्वरोदयं तोयराशिकुमुदेशयोरिव ॥ ६ ॥ जन्मनः खळु फलं गुणार्जनं प्रीणनं गुणफलं महात्मनां॥ इत्यूशंति कृतबद्धयः पृरं तत्फूलं स्कलसंपद्रां पदं ॥ ७ ॥ पूर्वमेव सुविचार्य कार्यवित्सर्वतो विमलबुद्धिसंपदा॥ श्रेयसे सृजित केवलं कियां सा किया विघटते न जातुचित् ॥८॥ यः प्रतीपमुपयाति वर्त्मनः सोऽधिगच्छति किमीप्सितां दिशं॥ किं प्रयात्यनुश्यं न तन्मनो वीक्ष्य दुर्णयविपाकमग्रतः॥ ९॥ स्वामिनं सुहद्मिष्टसेवकं वल्लभामनुजमात्मजं गुरुं॥ मातरं च पितरं च बांधवं दूषयन्ति न हि नीतिवेदिनः॥ १०॥

१ एके दिनशी विद्याधर चक्रवर्ती अश्वग्रीवाच्या आहेर्ने एक प्रासिद्ध दृत त्रिपृष्ट-नारायणाच्या समेत आला.व बलाव्य सिंहाचा वध प्याने केला होता अशा त्याला (त्रिपृष्टनारायणला) नमस्कार करून पुढें लिहिल्याप्रमाणें वोलूं लागला. २ हे प्रभो आपले गुण ऐकणाऱ्या विद्वान लोकांना ते आपली दिन्यता सूचित करीत असतात. व ज्यांनी आपल्याला पाहिले आहे अशा लोकांना आपलें शरीरही आपली दिन्यता सूचित करीत असते. दिन्य शरीर व त्याला अनुरूप गुण असणे या दोन गोष्टी दुर्लभ आहेत परंतु यांचा आपल्या ठिकाणीं संगम झाला आहे. ३ अतिशय भन्य दिसणारी ही आपळी आकृति आपल्या अंतः करणांतील धर्य गुणाला व्यक्त करीत आहे. वरोवरच आहे कीं, समुद्राच्या छहरींचा समूह त्याच्या विशाल गंभीरपणाचा परिचय करून देत नाहीं काय ? ४ अमृतरसाच्या छटेपमाणे अति शीतल-मनास आनंद करणारा आपला विनय पाहन कठोर मनाचा पुरुष देखिल विशेष रीतीनें द्रवतो-आपल्या विषयीं त्याचें मन प्रेमळ वनते. चंद्राचें किरण जसें कठिण अजाही चंद्रकांत मण्यासा द्रवयुक्त करितात तसें कठिण अंतःकरणाचा मनुष्यही आपला विनय, सौजन्य वगैरे गुण पाहृन प्रेमळ वनतो. ५ आमच्या चक्रवर्तीला सद्धुण अतिशय आवडतात हाणून तो गुणाधिक अशा आपल्यावर फार प्रेम करीत आहे. सज्जनपणा या जगांत सद्धुणांचा स्त्रीकार करीत नाहीत काय ? खरोखर सज्जन हे जगाचे परोक्ष बंधु आहेत. ६ जसे समुद्र व चंद्र यांची मित्रता जिचा उत्कर्प कथींही नाश पात्रत नाहीं अशी असते. तसे आपणा उभयतामध्येही कधी नाश न पात्रणारी व परस्परांना साजेल अशी उत्कर्षशाली मित्रता उत्पन्न व्हावयास पाहिजे. ७ सद्धुण प्राप्त करून धेणें हेंच जन्म घेण्याचें फल होय. सन्पुरुपांना संतुष्ट करणें हें गुण माप्तीचे फल होय. सत्पुरुपांना संतुष्ट करण्याचे फल सर्व संपर्ताची माप्ति होण हे आहे असे कुगलबुद्धीचे विद्वान लोक ह्मणतात. ८ कार्य करण्यात निपुण असलेले विद्वान् प्रथमतःच आपल्या निर्मल बुद्धिरूपी संपर्ताने चांगला विचार करून फक्त ज्यापासून कल्याण होईल असेंच कार्य करीत असतात. व असलेंच कार्य मजबूत असल्यामुळें चिरस्थायी होतें. तें कधींही नाम पावत नाहीं. ९ जो मनुष्य मार्गाच्या विरुद्ध जातो नो आपत्या डच्छित दिशेला पोहोंचु शकेल काय? खोट्या रस्त्याने चालले असतां त्यापासून आलेल्या कडु अनुभवानें त्याचें मन पश्चात्तापयुक्त होणार नाहीं काय? अवस्य होई इच. १० नीतिज माणसें, मालक, मित्र.

आवहता नोकर, पिय पत्नी, आपला धाकटा बंधु, गुरु, माता, पिता व नातलग यांच्यार्शी विरोध करीत नसतात.

न्यायवानभिनिवेशमात्मनो नानुरूपमकरोद्भवानर्सु ॥ प्रार्थिता ननु पुरा स्वयंप्रभा चिक्रणा स्वयमनन्यचेतसा॥ ११॥ नूनमेतद्धुनैव तावकं श्रोत्रगोचरमुपागतं वचः॥ चित्तरृत्तिमवयन्प्रभोः पुरा कः करोति विनयातिलंघनम् ॥ १२॥ एवमुक्तमथ चक्रवर्तिना तेन सा स्थितिमजानता मम ॥ म्बीकृता ननु परोक्षबंधना कोऽत्र दोष इति वीतमत्सरं ॥ १३ ॥ वहभं प्रणयिनामथांतरे मन्यते न खुळ जीवितं च यः॥ वाह्यवस्तुषु कथं नु जायते तस्य लोभकणिकापि चेतिस ॥ १८॥ । कन्यया स्विदनया प्रयोजनं धीमतस्तव पुरैव च त्वया ॥ प्रार्थितः किमिति नाश्वकंधरः किं न यच्छति परां च वांछितां १५ कि न संति बहवो मनोरमा योषितः सुरविलासिनीसमाः॥ तस्य केवलमतिकमं मनः सोढ्रमल्पमपि नो विचक्षणं॥ १६॥ चकपाणिमनुनीय यत्सुखं निर्विशस्यनुपमं त्वमक्षयं ॥ तत्कुतस्तव वद स्वयंप्रभालोललोचनविलासवीक्षितैः॥ १७॥-यः सदा भवति निर्जितेन्द्रियस्तस्य नास्ति परिभूतिरन्यतः। जीवितं ननु तदेव सम्मतं यिन्नकाररहितं मनस्विनां ॥ १८ ॥ तावदेव पुरुषः सचेतनस्तावदाकलयति क्रमाकमं । तावदुद्रहति मानमुन्नतं यावदिन्द्रियवशं न गच्छति ॥ १९॥ यः कुलत्रमयपारावेष्टितः सून्नतोऽपि स विलंघ्यते परैः। वल्रीवलयितं महातरं नाधिरोहति किमाशु वालकः ॥ २० ॥

११ हे प्रभो ! आपण न्यायी असूनही हा आग्रह-( स्त्रयंप्रभेला वर-ण्याचा ) धारण केला हे मात्र आपण अयोग्य केले. स्त्रयंप्रभेत आसक्त होउन-तम्पय होउन पूर्वी उवलनजटीला तिची अध्यमीवचक्रवतीन मागणी केली होती. १२ कटाचित् ही गोष्ट आतांच आपल्या कानीं आछी असेल हाणून आपल्या हातून उपर्युक्त गोष्ट घड्टन आली असाबी. नाहींतर चक्र-वर्ताची मनोवृत्ति जाणणारा कोणता मनुष्य विनयाचे उद्घंघन करील वरें ? १३ माझा अभिषाय न जाणतां त्या परोक्षवंध्रने मनामध्ये मतसम्भाव न धरतां स्वयंप्रथेचा स्वीकार केला असेल. यास्तव याविषया न्याचा कांही दोष नाहीं असे चक्रवर्तीने झटलें आहे. १४ या चक्रवर्तीच्या अंतःकरणांत ज्यांच्याविषयीं पेम आहे त्यांच्याकरिनां हा आपछें जीवित देखिल पिय मानीत नाही. अथीत् त्यांच्याकरितां हा आपले प्राण द्यावयासही तयार असनो. यास्तव अञ्चा त्या चक्रवर्तीच्या मनांन बाह्य त्रस्तुविषयीं अणुमात देखिल लोभ राहण्याचा संभव आहे काय ? १५ हे राजन्! जर या स्वयंप्रभा कन्येकीं बुद्धिमान अज्ञा आपन्छे प्रयोजन होते तर पूर्वीच अख-ब्रीवाची याविषयी प्रार्थना कां केली नाही ? प्रार्थना केल्यावर स्यान तीच काय इतर कन्याही दिल्या असत्या. १६ अभ्वग्रीवचकवर्ताला देवांगना-ममाणें सुंदर अशा पुष्कळ स्त्रिया नाहीत काय? आंहनच. फक्त, हा जो अन्याय यहन आला आहे तो मात्र सहन करण्यास तो समर्थ नाही. अर्थात, त्याची मागणी पहिली असतां आपण त्या रवर्थमभेशी लग्न लावले हा आएण अन्याय केला आहे. चक्रवतीचे मन थोडासा देखिल अन्याय सहन कर्ण्यास समर्थ नाही. व आपण तर मोटा अन्याय केला आहे नो त्याला कसा सहन होईल बरें ? १७ चक्रवर्तीचो पार्थना करून जे नाश न पावणार व निरुपम सुख आपणांस भोगावयास मिळेल. तसले सुख स्वयंप्रभन आपल्या चंचल डोल्यांच्या सविलास पाइण्यांनेही मिळणार नाई। कोटून मिळेल सांगा ? १८ च्याने आपर्ला इंद्रियें ताव्यांत टेविस्टीं आहेन त्याचा इतराकडून पराभव-अपमान होणें शत्रय नाईा. पुरुषांचे अपमान रहित जे जगणे आहे तेंच स्वाभिमानी माणसांना पसंत आहे. १९ जोवर्धत मनुष्य इंद्रियांच्या ताव्यांत जात नाही तो पर्यंतच तो ज्ञानी समजावा. तोपर्यंतच तो न्याय अन्याय समजतो व तोपर्यंतच तो उन्नत असा स्वाभिमान धारण करूं शकतो २० जो पुरुष भायीरूपी जाळ्याने नेष्टित झाला आहे तो अतिशय उन्नत दशेस पोहोचला असला तरी ही इतर लोक न्याला जिंक् शकतात. ज्याला वेलींनी वेटाकी घातली आहेत अशा मोठ्या दृक्षावर लहान मुलगाही चट्ट शकन नाहीं काय ?

इंद्रियार्थरतिरापदां पदं कस्य वा तनुमतो न जायते ॥ धीमताभिति वदिश्व श्रुतौ मुर्च्छति द्विरदिंडिमध्वनिः॥ २१॥ प्रीतिमल्पसुखकारणेन मा नीनशस्त्वमिषये नभःस्पृशां ॥ जायते तव कलत्रमीदृशं तादृशो न पुनरुजितः सुहृत् ॥ २२ ॥ त्वदिवाहमवगम्य दुर्जयं त्वा प्रहंतुमचिरेण खेचरान् ॥ उत्थितान्स्वयमवारयत्रभुस्तद्धि संगतफलं महात्मनां ॥ २३ ॥ प्रापयात्मसचिवैः स्वयंप्रभां प्रीतये सह मया तद्तिकं ॥ सर्वदान्यवनितासु निःस्पृहः स स्वयं दिशति ते न किं प्रियां ।२४। वाचमेवमभिधाय सस्फुरां जोषमासितमथ स्पशं रिपोः॥ नोदितो निगदति सम भारतीं विष्णुना सविनयं दशा बलः ॥२५॥ अर्थशास्त्रविहितेन वर्त्मना साथितेष्टीमदमन्यदुवचं ॥ ऊजितं गदितुमुत्सहेत कस्त्वत्परः मदिस वाक्यमीदृशं ॥२६॥ अश्वकंठमपहाय कः सतां वहःभो नयपरश्च कथ्यते ॥ तादशोऽपि खलु वेत्तिन क्रियां लोकिओं जगति कः समस्तवित्।। योऽवरिष्ट भवि कन्यकां नरस्तद्धरः खलु स एव किं भवेत्॥ हेतुरत्र ननु दैवामिष्यते तन्न लंघयति कोऽपि शक्तिमान् ॥ २८॥ यक्तिहीनमिति कर्त्रमुद्यतस्त्वत्पतिः किमु न साधुना त्वया ॥ वारितो मतिम्ता बुधोऽप्यहो निश्चिनोत्यसदिप प्रभोर्मतं ॥२९॥ कस्य वा बहुविधं मनोरमं वस्तु पूर्वसुकृताना जायते।। • • किं स एव बलिना नु नाध्यते संमता न हि सतामियं क्रिया।३०।

२१ कोणत्या शरीरधारी प्राण्याला पंचेंद्रियांच्या पदार्थावरील आसक्तीनें संकटोंचे माहेर घर बनावेलें नाहीं वरें? अर्थात् सर्व पंचेंद्रिय सुखांच्या पंजांत फर्मन दु खी होतातच. ही गोष्ट व्यक्त करण्याकरिनांच जणु हत्तीवरील नगांच्याचा ध्वानी विहानांच्या कानावर येळन आदलत असतो. २२ थोड्याशा सुखांचे कारण असलेल्या स्वयंत्रभेमुळें विद्याधरांचा अधिप—चक्रवर्ति अशा त्या अध्यप्रीवाच्या भीतीचा आपण नाश करूं नका, पुन: आपणास स्वयंत्रभेमारखी सुंदर पायको

मिळूं शकेल पण चक्रवर्तीसारखा तेजस्त्री मिल मात्र मिळणार नाहीं. २३ हे मभी! जेव्हों आपला त्रिवाह झाला ही गोष्ट ऐकण्यांत आली नेव्हां तत्काल दुर्जय अजा आपणाला ठार मारण्यासाठी उद्युक्त झालेल्या विद्याथरांना स्वतः चक्रवतीनं परा-वृत्त केले. हें सर्व महापुरुपांच्या संगतीचें फल आहे. अर्थात् चक्रवर्ती नेहमी सत्पु-रुपांच्या सहवासांत राहात असल्यामुळे त्याने आपणांस मास्त्र दिलें नाहीं. यास्तव हे राजन्! माझ्या वरोवर आपल्या सचिवासह स्वयंत्रभेला आपण चक्रवर्ताकडे पाठऊन द्या. ह्मणजे तो फार खुप होईल. चक्रवर्ती परित्वयांविषयीं पूर्ण निःस्पृह आहे हमणून तो स्वतः आपणांकडे आपली प्रिया पाठऊन देणार नाहीं काय ? २५ या प्रमाणे हृदयास स्फुरण आणणारं भाषण बोलून तो अश्वग्रीव चक्रवर्तीचा द्त मीन धारण करून वसला. नंतर त्रिषृष्ट नारायणानें मोठ्या विनयानें आप-ल्या नेत्र संकेताने सूचना केला गेलेल्या विजयवलभद्राने पृढे लिहिल्याप्रमाणे भाषण केलें. २६ नीतिशास्त्रांत सांगितलेल्या मार्गानें –उपायानें ज्यांत आपली इष्ट वस्तु साध्य केली आहे असे जोरटार भाषण हे द्ता ! तुझ्या शिवाय दुसरा कोण वरें समेंत वोल शकेल? हें तुझे भाषण ' दुर्वच ें आहें अर्थात् दुम=याला बोलतां येण्यासारखें नाही. या श्रद्धाचा दुसरा अर्थ असा आहे की, हैं तुझे भाषण दुर्वच-अर्थात दुःखाला देणारं आहे व असाविष्ट अधीत या तुझ्या भापणांत इष्ट वस्तूची प्राप्ति होईल असा कांहीच अभिप्राय नाहीं अर्थात तूं मूर्खी-ममाण कांहीं तरी वडवडला आहेस. २७ अन्तग्रीवाशिवाय या जगांत सत्पुरुषांना प्रिय व नीतितत्पर कोण आहे. असे असताहि लोक व्यवहार काय आहे हैं तो जाणत नाहीं. अथवा जगांत-सर्व जाणणारा-कोण- आहे वर १ २८ या जगांत जो मनुष्य कन्येला वस्तो तोच तिचा पति होय. तोच तिचा पति कां व्हाचा याला उत्तर है आहे कीं, त्याचे दैवच या गोष्टीला कारण आहे. त्या दैवाचे उद्घंघन कोणताही शक्तिमान करूं शकत नाहीं. २९ परंतु तुझा मालक हैं अयोग्य कार्य करण्यास तयार झालेला आहे यारतव बुद्धिमान अम्रुनहीं तुं या अयोग्य कार्या-पास्न त्याला कां परावृत्त करीत नाहींस ? अथवा आश्चर्य हैं आहे कीं, विद्वान लोक ही मालकाचे अयोग्य कृत्य देखिल योग्यच आहे असे मानतात. ३० पूर्वी केलेल्या पुण्योदयाने कोणाला वरें नानाप्रकारच्या सुंदर वस्तु मिळत नाईांत? असे असनांही शक्तिमान मनुष्यांनी त्याच्या वस्तुंची कां उच्छा करावी वरें? असले अयोग्य कार्य सन्पुरुषांना मान्य असन नोहीं. इलकट माणसांचेंच असलें कार्य अमर्ते.

युक्तसंगममवेध्य दुर्जनः कुच्यति स्वयमकारणं परं ॥ चंद्रिकां नमसि वीक्ष्य निर्मलां कः परो भषति मंडलादिना ॥३१॥ यो विवेकरहितो यथेच्छया वर्तते पथि सतामसम्मते ॥ निस्नपः स खलु दंड्यते न कैस्तुंगशृंगशफवर्जितः पशुः ॥ ३२ ॥ प्रार्थनाधिगतजीवितास्थितिस्तार्क्ककोऽप्युचितमेव याचते ॥ ईदृशं जगति याचनाविधिं वेत्ति सप्तिगल एव नापरः ॥ ३३ ॥ श्रीः स्थिता मिय परातिशायिनी दुर्जयोऽहमिति गर्वमुद्धहन् ॥ यः परानिभवत्यकारणं सोऽत्र जीवति कियच्चिरं नृपः ॥३४॥ डौ सतामभिमतौ नरोत्तमौ जन्म संसदि तयोः प्रशस्यते ॥ यो न मुह्यति भये पुरःस्थिते यस्य संपदि मनो न याद्यति ॥३५॥ साधुरव्द इव भूतिसंगमान्धिर्भलो ननु सुवृत्ततां वहन् ॥ भीषणो भवति दुर्जनः खरः प्रेतधामनि निरवातशूलवत् ॥ ३६ ॥ सामजो भद्विचेतनोऽपि सन् पुष्करे क्षिपति नांत्रिमात्मनः॥ क्षेमहीनमदमत्तमानसः किं न चापयति तं भवत्पतिः ॥ ३७ ॥ लोचनोद्दतविषानलप्रभास्परीद्ग्यसाविधद्वमिश्रयः॥ को जिष्टक्षति यथेच्छया फणारत्नस्चिसुरगस्य दुर्मतिः ॥ ३८ ॥ क्षीववारणशिरोविदारणे क्रीडनस्थितिपटीयसो हरेः॥ निद्रया पिहितचक्षुषोऽपि किं जंबुकेन परिख्यते सदा ॥ ३९ ॥ न्यायहीनमिह यस्य वांछितं खेचरः स इति कथ्यते कथं॥ जातिमात्रमानि।मत्तंमुक्रतेः किं प्रयाति गगने न वायसः॥ ४०॥

३१ हे द्ता! योग्य पटार्थाचा परनपराशी संवध आकेला पाइन दुर्जन मनुष्य निष्कारण अतिशय रागावती. आकाशांत रवन्छ चांदण पाइन कुट्यावांचन विनाकारण काण बरं भुंकती? अर्थात् स्वयमभा व निष्षु नागयणाना अनुस्य संबंध पाइन चक्रवर्तींद्या पोटांत दुख् लागलें आहे.

३२, जो मनुष्य विवेक सोइन देऊन सज्जनांना पसंत नसलेख्या मार्गात स्वच्छंदपण निर्लंज वनून वागू लागतो. तो लांव शिंगें व ख़र यांनी रहित असलेला असा एक पश्च आहे असे समजून त्याला कोण वरें शिक्षा करणार नाहीत? सर्वच करतील.

३३ याचना करूनच जो आपले नेहमीं पोट भरतो असा याचक देखिल स्वतःला शोभेल अशीच याचना करितो. परतु अशा तव्हेची याचना [ त्रिपृष्ट नारायणाची पत्नी मला पाहिजे भ्हणून याचना करणारा — मला अश्वग्री-वच आढळून आला. दुसरा नाहीं. असली याचना करणे हैं यालाच समजते. इतरानां समजत नाही. ३४ माझ्याजवळ इतरापेक्षां अतिशय मंपत्ति आहे. मी दुर्जय आहे असा गर्व वाळगणारा राजा जर व्यर्थ दुसऱ्यांना त्राम देऊ लागेल तर किती दिवसपर्यंत तो या जगांन वाचेल वरें ? शेराला सन्वाशेर भेट्टन छौकरच त्याचा अवस्य नाश होतो. ३५ भय पुढें दत्त ह्मणून उभें राहिल असतांही जो घावकन जात नाही व संपतीच्या लाभामुळे ज्याचे मन उन्मत्त वनत नाही अशीं दोन उन्कृष्ट माणसेंच सत्पुरुषांना मान्य आहेत व त्या दोघांचाच जन्म समेंन प्रशंसिला जातो. ३५ सुद्दत्तता धारण करणरा– अर्थात् सदाचार धारण करणारा सज्जन भूतिसंगम झाला असतां-संपत्ति गाप्त झाली असतां मुद्दत्तपणाला-गोलपणाला धारण करणारा व भूतिमंगमाला-गावेच्या सहवासाला प्राप्ता आलेल्या दर्पणापमाणं निर्मलच होतो-निर्दोपच होतो. परंतु दृष्ट ब क्र मनुष्य उपशानांत पुरलेख्या तीक्षण सुळात्रमाणं भयंकर असतो. ३६ मदान अगर्दी उन्मत्त बनलेला असाही हत्ती आपल्या मोंडेच्या अग्रभावर स्वतः पाय देत नाहीं, मग पुण्यहीन व मदानें उन्महा वनलेल्या तुमच्या चक्रवर्तीला एवढी देखिल गोष्ट समजू नये काय ? ३७ डोळ्यांत्न निघालेल्या विषाग्नीच्या प्रभेनें ज्यान जवळच्या इक्षाच्या शोभेला जाळ्न खाक केलें आहे अशा भयंकर सपीच्या फणावरील मूणि सहज रीतीने कोण दुर्वेढि मनुष्य काद्न घेण्याची इच्छा करतो वरें? अर्थान् स्वयंप्रभा ही विषारी सर्पाच्या फणावरील मण्यामारखी आहे. तिला स्वीकारण्याची इच्छा करणारा चक्रवर्ता अवज्य मृत्युमुर्खा पडेल असे हे दृता ! तूं समज. ३९ उन्मत्ता हत्तीची गंडस्थळ फोडण्याच्या लीलेमध्य निपुण असलेल्या सिंहाने झोपेने जरी आपले डोले मिटले असले तरी अशा अवस्थेतही कोल्हा त्याच्या मानेचे केस कुरतह शकेल काय ? अर्थात् क्ररतह शक्णार नाई। याचपमाण सिंह सहग पराक्रमाँ अञा त्रिषृष्टनारायणाची पत्नी-स्वयंप्रभा अश्वग्री-वाकडून हरली जाणें शक्य नाही. ४० नीति मार्गीला सोडून असलेली परस्री हरणाची इन्छा ज्याच्या मनांत आहे त्याला खेचर-विद्याधर तरी कर्से साणांव चर्र १ फक्त विद्याधरांच्या कुलांत जन्म येणें हें उन्नतीस कारण नाहीं. कारण

कावळे देखिल आकाशांतून जात नाहींत काय ? अर्थात् आकाशांतून जातां येणें एवढेंच विद्याधरांचें लक्षण नन्हें. जो विद्याधर सदाचाराने युक्त आहे तोच विद्याधर होय.

इत्युदीर्य विरते वचः परं तेजसान्वितमनुत्तरं बले ॥ पीठिकामभिमुखं वचोहरः प्रेर्य वाचमिति धीरमाददे ॥ ४१ ॥ क्ष तन्न चित्रमिह बुद्धिदुर्विधो नात्मनीनमवग्रच्छति स्वयं॥ एतद द्वतमहो विचेतना यत्परोक्तमपि नाभिनंदति ॥ ४२ ॥ क्षीरमेव रसनावशीकृतः पातुमिच्छति बिडालशावकः॥ नेक्षते ह्यवधिदुःसहं घनं दंडपातम्बसादनक्षमं॥ ४३॥ स स्वयं कथमिवात्मपोरुषं स्मापयत्यनुचितं महात्मनां॥ यो न जातुचिद्रातिमाहवे वीक्षते विधुतखङ्गमासुरं॥ ४४॥ किं वचोऽनुसहशः पराक्रमः शक्यते महति कर्तुमाहवे ॥ गर्जित श्रुतिभयंकरं यथा किं तथा जलघरः प्रवर्षिति ॥ ४५॥ अन्यथा निजवधूजनालये कध्यते रणकथा यथेच्छया॥ अन्ययैव वरवीरवैरिणां स्थीयते ननु पुरो रणाजिरे ॥ ४६॥ कस्य वा भवति कः सखा रणे क्षीववारणघटाभिराकुले॥ हइयते जगित सर्वसंगतं प्राणसंगतमथैकम दुतं ॥ ४७॥ स्तब्धमुत्खनित किं न मूलतः पादपं तट्रहं नदीस्यः॥ येतसः प्रणमनाद्विवर्धते चाद्धरेव कुरुते हि जीवितं ॥ ४८ ॥ भूभृतामुपरि येन शात्रवः स्थापितः सुहृद्पि स्वतेजसा ॥ साधुतापदमधिष्ठिताबुभावुत्तमः खळु न ताह्यः परः॥ ४९॥ यस्य चापरग्रांकया रिपुस्नस्तधीः किमधुनापि सुहाति ॥ निष्ठुरं ध्वनति नृतने घर्ने नो दने हरिणशावकैः समं॥ ५०॥

अति स्वापित क्षेत्र क

४१ या प्रमाण- तेजस्त्री, व ज्याचे उत्तर काणी देख शकत नाहीं असे उत्कृष्ट भाषण करून विजयवलभद्र थांवले असतां सिंहासनाकडे तोंड करून व आपल्या वाणीला प्रेरणा करून दृतानें गंभीर्पणान पुढें लिहिल्याप्रमाण भापण केलें. ४२ बुद्धीचा दृष्काळ ज्याला आहे असा मनुष्य आपले हित कशांत आहे हे स्वतः जागीत नाई। यांत आश्रय नाई। परंतु है आश्रय आहे की, अज्ञानी माणूस दुसऱ्याचें वचन देखिल पर्संत करीत नाई। ४३ जिभेच्या स्वादाला वळी पहने मांजराचें विन्तं दुधच विष्याची इच्छा करीत असते परंतु अतिशय दुःखद् व नाश करण्यास समर्थ असलेला लष्ट वहंगा आपल्या अंगाडर पडन असलेला तें पाहात नाहीं ! ४४ ज्याला चमकणाऱ्या तरवारीनें तेजरवी दिसणारा शत्रु कथीं पाहण्याचा प्रसग आला नाहीं त्याने आपला त्रुरपणा महात्म्यांच्या पुढें स्वतःच्या तोंडानें सांगणें कसें योख्य आहे १४५ वोल-ण्याप्रमाणें महायुद्धामध्यें पराक्रम कर्णें शक्य आहे काय १ मेत्र कानाला भय उत्पन्न करणारी गर्जना करीत असती परंतु तितकीच जोराची जलवृष्टि करीत असतो काय ? ४६ युद्धामध्ये अतिशय वीर अशा शत्रूपुढे युद्ध करीत जभा राहण वेगळ व अंतःपुरांत आपल्या स्त्रियापुढे आपल्या पराक्रमाच्या स्वच्छंदपणे गप्पा झोडणे हं वेगळे असते ! ४७ उन्मत्त हत्तींच्या समृहांनी व्याप्त झालेल्या युद्धामध्ये कोण कुणाचा मित्र असतो वरें ? अशावेळी आपूळे पाण वचावले ह्मणजे आपण सर्व मिळविल्यासारखें होते ही गोष्ट जगांत सर्वत अशीच आढळ्न येते. अर्थात् आपण ज्या चऋवर्तीशीं आसी युद्ध करू सणून गप्पा झोडीत आहात त्या ज्यर्थ आहेत. ४८ तटावर उगवलेल्या व गर्वाने ताटपणा न सोडणाऱ्या वृक्षाला नदीचा वेग मुलापासून उपहून टाकीत नाहीं काय ? परंत वेत नदीच्या वेगापुढ नम्रता थारण करितो हाणून तो वाहूं लागतो. या जगांत खुशामत करणे, नम्रतन वागणे हाच जगण्याचा उपाय आहे. यास्तव चक्रवर्तीशी आपण नम्रन राहणें हेंच कल्याणकारक आहे. आमच्या चक्रवर्तीन शत्रला वश करून त्याला आपल्या तेजाने सर्व राजावर स्थापिलें. अर्थात् सर्व राजापेक्षां त्याला अधिक वैभवसंपन्न वनिलें। याचप्रमाण भित्रालाही वेभवसंपन्न करून या उभयतांना सज्जनांच्या पदवीवर चढविल. आमच्या चक्रवर्तास.ग्ला उत्तम मनुष्य या जगांत दुसरा नाहीं। असे असतां आपण त्याच्याशी युद्ध करण्याचा प्रसंग आणिला आहे हैं वर केलें नाहीं. ५० आमच्या चक्रवर्ताच्या धनुष्याच्या ध्वनीनें शत्रु इतके भयग्रन्त झाले आहेत की, ते अद्यापि देखिल जंगलामध्यें भयंकर मयग्रन्ता होत असतां हा चक्रवर्तीच्या धनुष्याचाच शब्द होत आहे अमें समज्ञन हिणांच्या पिलांवरोवर आतिशय थरथर कांपत असतान.

दर्भसूचिद्छितांगुलिक्षरद्रक्तयावकविराजितांवयः ॥ पूर्णवाष्पनयना भयाकुला भतृहस्त धतवामपाणयः ॥ ५१॥ संचरति परितो दवानलं तस्य राष्ट्रवनिताः स्खलस्पदं ॥ वेधसा पुनरपि प्रवर्तितोद्घाहसंपद इवाधुना वने ॥५२॥ युग्मं॥ रूढवंशगहनांधकारितं भग्नशालवलयं समन्ततः॥ वन्यनागपरिभग्नतोरणं स्तंभदंतुरितगोपुराजिंर् ॥ ५३॥ अञ्चकायितफणींद्रकंचुकच्छेदभासुरितशालभंजिकं ॥ सिंहशावकनखांकुशाहतिक्षुण्णचित्रगजराजमस्तकं ॥ ५४ ॥ कुहिमेषु सिललाभिशंकयोदन्यता मृगगणेन मर्दितं॥ वानरैः करतं छैरशंकितं वाद्यमानपरिभिन्नपुष्करं ॥ ५५॥ योवनोद्धतपुर्लिदसुंदरीसेवितैकशयनीयवेदिकं ॥ पंजरच्युतशुकैः ससारिकैः पट्यमाननरनाथमंगलं ॥ ५६॥ तस्य श्रामुभवनं विलोकयकीहरां पथिकपेटको वने ॥ त्रस्तचित्तमितरेतरं भयादप्रतीक्ष्य सहसातिगच्छति॥५७॥ कु. कांचनप्रधिविनिर्गतानलज्वालया ज्टिलिताष्टदिइ मुखं॥ गुह्यकैविहितरक्षमक्षयं वज्रतुंबिमनविवभासुरं ॥ ५८ ॥ उन्नतं दशशतारसंयुतं साधिताखिलनेरंद्रखेचरं ॥ तस्य चक्रमरिचक्रमर्दनं किं न वेत्सि पुरुपुण्यसंपदः ॥५९॥यु, व्याहरंतमिति दूतमुद्धतं तं निवार्य पुरुषोत्तमः स्वयं ॥ तस्य नोऽपि निकषो रणादृते नान्य इत्यसुचदाजिनिश्चयः।६०।

५१ दभीच्या अग्रभागांनीं फाटलेल्या वोटांत्न वाहणाऱ्या रक्तानें ज्यांचे पाय मेंदी लावल्याप्रमाणें शोभत आहेत: ज्यांच्या डोल्यांत्न पाणी वाहात असून ज्या भयभीत झाल्या आहेत, पतीच्या हाताकहन ज्यांचा डावा हात पकडला गेला आहे अशा शत्रुक्तिया अडखलणाऱ्या पावलांनी वनांत पेटलेल्या अग्नीच्या सभोवती फिरत असतां त्यावेळीं त्या वनामन्ये ब्रह्मदेवाकहन ज्यांचे पुन: जणु लग्न लावले जात आहे अज्ञा शोभतात. (विवाहाच्या वेळी वराचा हात धरून कन्येछा अग्नीच्या सभोवती सात पदक्षिणा घाळाच्या लागतात. तोच पकार पुनः या शत्रुक्षियांचा आज होत असल्यामुळे जणु पुनः यांचे लग्न होत असल्याप्रमाणे वाटते.) ५२-५७ वाटसरूंचा समृह भीर्ताने एक दुसऱ्याचो मार्ग प्रतीक्षा न करितां घावरून छाँकर लीकर जगलांत निघून जातो कारण अभाग्रीव चक्रवर्तान शब्रंच्या शहरांची केलेली भयंकर स्थिति पाहून त्यांना भय वाटत असे. शत्रु पळून गेल्यामुळं त्यांच्या शहरांत पुष्कल वेळ्चं वन उगवल होते त्यामुळे तेथं टाट अधार पडला होता, चोहीकडचा तट पडलेला होता. रानटी हत्ती शहरांत पृसून त्यांनी दर्वाज्यात्ररील तोरणे तोहून टाकिली होतीं, वेशीचा प्रदेश मोहन पडलेल्या खांवांनी भरून गला होता. पातळ वस्त्रायमाण भासणाऱ्या सार्पाच्या कांतीनी वेशीच्या वर असल्ल्या शोभत होत्या; तेथे सिंहाच्या वचांच्या अकुशांच्या आघातानें चित्रांतील हत्तीचीं मस्तकें तुट्रन पडलेली दिसत होती रत्नांच्या जमीनीत पाण्याच्या शंकेने तान्हेळेल्या पश्नुंनी पायांचा आघात केल्यामुळे ती सगळी उकरळी गेळी हाती. तेथे निर्भय होऊन आपल्या हातांनी वानरांनीं मृदंग वाजऊन ते फोडून टाकिले होते. तारुण्याने मत्त झालेल्या भिल्लिस्रिया जेथे बिछाना अंथरलेला आहे अशा ओट्यावर निजत असत. पिंज-यांत्न सुटून वाहेर अलिले पोपट व सारिका जेथें राजांची मंगलस्तुति गात आहेत अशा रीतींची शत्रूच्या नगरांची परिस्थिती पाहृन बाटसरांना भय वाटत असे ५८-५९ ज्याची पुण्यरूपी संपत्ति फार मोठी आहे अशा या अश्वग्रीवाच्या चक्र रत्नाचे यक्ष रक्षण करीत आहेत. हे रत्न सूर्याप्रमाणे तेजस्वी आहे, याला हजार आरे आहेत, याचा तुंबा वज्रमय आहे. याच्या मुवर्णमय तटांतून निघणाऱ्या अमीच्या टिणग्यांनी आठ ही दिशा प्रकाशित झाल्या आहेत. या रत्नाचा नाश होत् नाही. याच्या साह्याने अश्वग्रीवाने सर्व राजांना व विद्याधरांना जिंाकेलें आहे. शत्रु समृहाचे मुर्टन करणाऱ्या या त्याच्या चक्ररत्नाला तूं जाणत नाहीस काय? १६० याप्रमाणे उद्धटपणाने भाषण करणाऱ्या त्या दृताला आपले भाषण पुरें करावयास सांगृन त्रिष्षृष्ट नारायणानें रपष्ट त्याला सांगितले की, आतां त्याची न आमची परीक्षा युद्धावांचृन होण शक्य नाहीं व माझा त्याच्याशी लढ-ण्याचा पका निश्चय आहे मी तो सोडणार नाही असे तूं त्याला जाऊन कलव.

> तस्य सान्नहिनकोऽथ वारिजः शांखिकेन नदिति स्म पूरितः।। आज्ञया प्रतिनिनादिताखिलक्ष्माभृदीशकटकोरुगव्हरः॥६१॥

केकिनां जलभरानतां बुद्धानशंकिमनसां सुखावहः॥ व्यानशे समरपुष्करध्वनिर्दिङ्मुखानि सुभटान्प्रबोधयन् ॥६२॥ सर्वतो जयजयेति सैनिकास्तद्धार्नं समाभिनंदा वन्दिभिः॥ स्तूयमाननिजनामकीर्तयः प्रारमंत रमसेन दंशितुं॥ ६३॥ गच्छति प्रधनसंम्मदोदयात्स्फीततां वपुषि चेतसा समं॥ कश्चिदात्मकवचे न सम्ममी तानितेऽपि मुहुरात्मिकंकरैः॥६थ॥ लोहजालमलिनीलमुद्रहच् लालयन्नसिलतां स्फुरत्यभां॥ कश्चिदाप समतां तडिद्रतो भूगतस्य नववारिवाहिनः ॥६५॥ वारणे कलकलाकुलीकृते श्रीवतां दिशुणमुद्रहत्यपि॥ शारिमाशु नयविच्यवेशयत्संभ्रमेऽपि कुशलो न मुह्यति ॥६६॥ आवभौ गुणविनम्रमुन्नतं भंगवर्जितमनिंद्यवंशजं॥ कश्चिदेत्य धनुरात्मनः समं न श्चिये किमनुरूपसंगमः॥ ६०॥ सत्वरं जवमितानधिष्ठिता वर्मिता हरिणरंहसो हरीन ॥ प्रासभासुरकरा निपादिनो मेनिरे सफलमात्मदौहदम् ॥ ६८ ॥ युक्तयुग्यतुरगाः सकेतनाः स्यंदना विधतचित्रहेतयः ॥ धूर्गतैः कवचितैस्तु निन्यिरे स्वामिवासभवनाजिरं प्रति ।६९। अंगरागसुमनोंबरादिभिः पूर्वमेव निजसेवकान्नृपाः॥ आत्महस्तकमलैरपूजयंस्ति ह मारयित तान्न चापरम्॥७०॥

६१ त्रिपृष्ठ नारायणाच्या आजेनें शंख वाजविण्यासाठीं नेमिलेल्या मनुष्यानें युद्धाची तयारी करण्याची सूचना देणारा शंख फुंकला. त्यावेलीं त्याच्या ध्वनींन पर्वताचे समले कहे व दच्या प्रतिन्वनित झाल्या. ६२ पाण्याने खालीं लवलेल्या मेघांच्या गर्जनेची शंका घेणाच्या मोरांना मुखदायक असलेल्या नगाच्यांच्या ध्वनींने शूर् योध्याना युद्धाची मृचना देजन सर्व दिशांची तांहें घ्यापून टाकिलीं. अर्गात नगाच्यांचा ध्वनि सर्वत्र पसरला. ६३ भाट लोकांकहन नामोचारासह ज्यांची कीर्ति विणिली जात आहे प्रशा योद्धांनीं 'जय जय' असा शद्ध उचारून नगाच्याच्या ध्वनींचें न्वागन केलें व

गदबढीनें चिलखत घालण्यास प्रारंभ केला. अर्थात् युद्धाच्या तयासीला ते लागले. ६४ एका योद्धचाला युद्धाविषयीं अतिशय आनंद वाट्ट लागल्यामुळे त्याच्या अंतःकरणावरोवर त्याच शरीरही त्या आनंदाने भरुन तें अतिशय लट्ट झाले त्यामुळे नोकरांनीं त्याचे चिलखत ताणून घरले असतांही त्यांत तो माऊं शकला नाही. ६५ भुंग्याप्रमाणं काळ्या रंगाचे चिलखत आंगांत वालून हातानें चमचमणारी चंचल तरवार फिराविणारा कोणी एक योद्धा विजेन साहित होऊन नवीन पाण्याने छवछेल्या मेघाप्रमाणे भासू लागला. ६६ योद्धचांच्या गोंगाटानें गोंधळ्न जाऊन ज्यानें दुष्पट मस्ती करावयास सुरवात केली आहे अशा हत्तीवरही महातानें न घावरतां अंवारी चढविलीच. बरोबरच आहे कीं, जे निपुण असतात ते घावरण्याच्या प्रसंगींही गोंधळून जात नाहींत. त्यांचें चातुर्ये त्यावेळी व्यक्त होतेंच ६७कोणी एक योद्धा गुणविनम्र-वैर्थ औदार्थ वगैरे गुणांनीं नम्र, पर्क्षा दोरीनें नम्र, उन्नत-उंच, भंगवर्जित-अपमान रहित पर्धा न तुटलेलें, अनिद्य वंशज—उत्तम वंशांत उत्पन्न बालेला, पक्षी उत्तम वेळ्पासून उत्पन्न बालेले अशा स्वतःप्रमाणें असलेले धनुष्य प्राप्त करून चेऊन फार फार शोभू लागला. वरोवरच आहे की अनुरूप पटार्थाचा संयोग शोभेला कारण होत नाही काय ? अवश्य हांतोच. ६८ हरिणाप्रमाणें वेगानें, धात्रणाऱ्या घोड्यावर आरूढ आलेले, चिलखत अंगावर चढऊन, ज्यांनी चमकणारा भाला हातांत घेतला आहे असे घोडेस्वार आज आपली युद्धांची इच्छा सफल होणार असे मानू लागले. ६९ ज्यांच्या जोकडांना घोडे जुंपले आहत, नानापकारची हत्यारे ज्यांत ठेविली आहेत असे ध्वजांनीं युक्त असलेले रथ जूबर बसलेल्या व अंगावर चिलखत घात-लेल्या सैनिकांनी आपल्या मालकाच्या हेऱ्याकडे नेले. ७० उटी, फुलांचे हार, वस्त्रें वगैरेंनी प्रथमतः आपल्या शूर नोकरांचा त्यांच्या मण्टकांनीं–राजांनी आपल्या हातरूपी कमलांनी चांगला आटरसत्कार केला. खरोखर पाहिलें असतां हा सत्कारच मारतो. दुसरें कोणी मारीत नाहीं. अशीत अशा सन्मानानें शूर नोकर-स्वामिकार्यार्थ प्राण देण्यासही मार्गे पुढे पाहात नाहींत व कृतम्न वनत नाहींत.

आत्तिचत्रकवचा यशोधना विभ्रतोऽ भिमतमस्त्रमात्मनः ॥
भूभृतामभिमुखं त्वरावतां तस्थुराहवरसोद्धता भटाः ॥ ७१ ॥
निर्ययुर्वहलगैरिकारुणा संध्ययान्वित्वचनानुकरिणः ॥
दिन्तिनो धृतवधावधिक्रयैवीरयोधपुरुपैरिधिष्ठताः ॥ ७२ ॥
वद्धचारुकवचेर्भहाभटैवेष्टितः प्रहतसामरानकः ॥
आरुरोह करिणं प्रजापितः काल्पतं सपदि सर्वमंगलं ॥ ७३ ॥

खेचरैः कवचितैरुदायुधैरन्वितो धृततनुत्रभासुरः॥ सार्वभौममधिरुह्य निर्ययावत्रतः शिखिजटी मदच्युतं ॥ ७४ ॥ दानिनं विपुलवंशमूर्जितं शिक्षया पटुमभीरुमुन्नतं॥ अर्ककीर्तिरिभमात्मनः समं दंशितो व्यलगदाजिलंपटः ॥७५॥ वजसारामिद्मेव मद्रपुर्दशनेन किभिति प्रतिक्षणं॥ वर्म नीतमपि सत्पुरोधसा निर्भयेन विजयेन नाददे ॥ ७६ ॥ कुंद्वीध्रतनुरंजनिवषं कालमेघमिभमुन्मदं बलः॥ राजाति स्म नितरामधिष्ठितः कालमेघामेव पूर्णचंद्रमाः ॥७७॥ रक्षितुर्भवनमंडलस्य मे रक्षणे सति कथं नु पौरुषं॥ इत्यभीरुर्भिमानगौरवादामुचत्कवचमादिकेशवः॥ ७८॥ शारदांवरसमद्यतिर्महावारणं हिमगिरिं हिमत्विषं॥ अध्यतिष्ठदुरगारिकेतनो राजताद्रिभिव नीलनीरदः॥ ७९॥ तं परीत्य सकलाः समंततो देवताविधतचित्रहेतयः॥ तस्थुरंबरतले परंतपं प्रातरकिमिव दीप्तिसंपदः॥ ८०॥ उच्चचाल बलमाज्ञया ततस्तस्य केतनविचुंबितांबरं॥ प्रत्यनीकरणतूर्यनिःस्वनैराहवार्थमिव शब्दितं तदा ॥ ८१ ॥

9१ कीर्तालाच धन समजणारे, नानाप्रकारची चिलखने ज्यांनी अंगांत धातली आहेत असे व आपणास आवडणारी भाला, तरवार वगैरे असे धारण करणारे अनेक जूर योद्धे त्वरेने निघालेल्या राजांच्या पुढें वीररसानें उद्धन झालेल असे होत्साते उमे राहिले. ७२ पुष्कळशा गेक्नें तांवडे दिसन असलेले हत्ती संध्येनें युक्त असलेल्या मेघाप्रमाणें दिसत असत. वधिकया व अवधिकया करणारे वीर योद्धे ज्यावर बसलेले होते असे ते हत्तीही युद्धामाठीं निघाले ७३ ज्यांनी युद्धाचा नगारा वाजविला आहे असे पाजपाति महाराजही सर्व मंगल नांवाच्या शंगारलेल्या नगारा वाजविला आहे असे पाजपाति महाराजही सर्व मंगल नांवाच्या शंगारलेल्या हत्तीवर चढले व कवच ज्यांनी आंगांत घातलें आहे अशा महाशूर योद्ध्यांनी वेष्टित होऊन युद्धासाठीं तत्काल निघाले. ७४ चिलखत घातलेल्या व ज्यांनी आपलीं शर्व वर धरलीं आहेत अशा विद्याधर योद्ध्यांनी वेष्टिलेले, धारण केलेल्या चिल्लानों

उड्डिक दिसणारे ड्वलनजटी महाराज ड्यापासून मद बाहात आहे अशा सार्वभौम नांवाच्या इत्तीवर चढून युद्धासाठीं पुढें निवाले. ७५ ज्वलनजटी महाराजांचा पुत्र अर्ककीर्तिही स्वतः प्रमाणेच टानी-टान देणारा-पक्षी मस्तीचे पाणी ज्यापास्न वाहात आहे असा उन्नत वंशामध्यें उत्पन्न झालेला, पक्षीं ज्याच्या पाठीचा कणा उंच आहे असा, ऊर्जित-वैभवशाली, शिक्षणानें निपुण, निर्भय, व उन्नतावरथेला पोहोचळेल्या असा हत्तीवर चढून व चिळखत आंगांत युद्धासाठीं निघाला. ७६ माझे हें शरीर वज्राप्रमाणें वलकट आहे यास्तव मला नेहमीं चिललताची काय अवज्यकता आहे असा विचार करून पुरोहितान चिल-खत आणिलें असतांही निर्भय अशा विजय वलिभद्राने त्याचा स्वीकार केला नाहीं. ७७ क़ुंदपुष्पाप्रमाणें गुभ्र शरीराचा धारक वलभद्राने अंजनाप्रमाणे काळ्या कांतीच्या उन्मत्त हत्तीवर अरोहण केले. त्यावेळी तो काळ्या मेघावर आरोहण केलेल्या पूर्ण चंद्राप्रमाणें फार शोभूं लागला. या सगळ्या जगांचे रक्षण करणाऱ्या माझें चिलखताक इन जर रक्षण होत असेल तर मग माझा पराक्रम तो काय? अशा विषुल अभिमानानें निर्भय अशा आदिनारायण विषृष्ट कुमारानें चिलखताचा त्याग केला.७९ ज्याच्या ध्वजेवर गरुडाचे चिन्ह आहे असा, शरत्कालच्या आकाशा-प्रमाणं नीलवर्णाचा आदिनारायण शुभ्रकांनांच्या हिमागिर नांवाच्या हत्तीवर चहला. त्यावेळी चांदीच्या पर्वतावर (विजयार्ध पर्वतावर) चढछेल्या जील मेघाप्रमाणे नो शोभू लागला. ८०नाना प्रकारचीं शस्त्रे धारण केलेल्या या नारायणान्या सभोवती मर्व देवता आकागांत उभा गाहिल्या. त्यावेळी त्या प्रात काळी सूर्याच्या समावनीं असलेल्या त्याच्या किरण संपत्ति जशा शोभनात नशा शोभू लागल्या. ८१ नंतर आदिनागयणाच्या आजेनं आपल्या ध्वजांनीं ज्यांनीं आकाशास्या स्पर्श वेला आहे असे तें सैन्य युद्धासाठीं चालूं लागले. त्यावेळीं तें सर्व मैह्य शत्रुच्या वाद्यांच्या ध्वनींनीं जण बोलावलें गेल्याप्रमाणे शोभ लानलें.

प्रेपिता प्रतिनियाचितुं तदा विष्णुना प्रथममेव देवता ॥ प्रांजििः प्रतिनिवृत्य तत्क्षणादित्युवाच विदितावलोकनी ॥८२॥ तेनाथ काल्पितसमस्तवलेन वेगादभ्युत्थितं वलवता हयकंथरेण ॥ अंगीकृतप्रतिभटेः खचराधिनाथरामुक्तरत्नकवचैः सह विविद्यांकं ॥८३॥ छिन्नाः समस्ता भवतो महिम्रा प्रागेव विद्याः खचरेश्वराणां।। तान् छनपक्षानिव पक्षिराजान्को वान गृण्हाति रणे मनुष्यः।८४। उपकर्णमरातिसैन्यवार्तां विररामेत्यभिधाय तस्य विद्या।। स्वकरिक्तयेन पृष्पवृष्टिं विकिरंती शिरिस अमन्मदार्लि॥ ८५॥

अमोघमुखमुन्नतं मुशलमहुतं चंद्रिकां ॥
गदां च युधि विदिषां भयविधायिनी देवता ॥
हलेन सह बिभ्रताऽभजत भूरिदिव्यिश्रयं ॥
जयाय विजयं स्वयं तमपराजितेनार्जितं ॥ ८६ ॥
आमंद्रध्वनि पांचजन्यममलं शंखं गदा कौमुदी ॥
दिव्यामोघमुखी च शक्तिरन्धं शाई धनुर्नदकः ॥
खङ्गः कौस्तुभरत्नमंशुजिदलं यक्षाधिषे रिक्षिते—॥
रेभिः श्रीजयसंपदां पदमभूदग्रेसरेरच्युतः ॥ ८७ ॥

इत्यसगकृते श्रीवर्धमानचरिते दिव्यायुधागमनो नामाष्टमः सर्गः ।

८२ श्री तिष्ठष्ट नारायणाने शत्रुकडील सैन्याची परिस्थित पाइण्याकरितां प्रथमतःच अवलोकनी नांवाची प्रसिद्ध विद्या पाठिविली होती. तिनें तत्क्ष-णात् परत येऊन हात जोडून याप्रमाण हकीकत सांगितली. हें नार्थ, वलवान अन्ध्रीवानें मोठ्या जोरांत आपल्या सैन्याची तयारी केली आहे. व क्यांनीं शत्रंचा स्वीकार केला आहे अर्थात् शत्रुशी दोन हात करावयास जे नेहर्भी तयार असतात अशा रत्नमय चिखलताला धारण करणाऱ्या अनेक विद्याधर राजांना वरेश्वर घेऊन तो युद्धासाठीं तयार झाला आहे. ८४ हे प्रभो ी आपल्या पुण्यप्रभावानें विद्याधर राजांच्या सर्व विद्यांचा पूर्वीच नाश होऊन चुकला आहे. ज्याचे पंख तुटले आहेत अशा पिक्षराजाप्रमाणे—गरुडाप्रमाणें त्यांची आतां रिधित झाली आहे. यास्तव कोणता मनुष्य त्यांना रणामध्ये पकडू शक्षणार नार्हा वरें ? ८५ याप्रमाणें त्या अवलोकनी विद्येने तिषुष्ट नारायणाच्या कानाजवळ येऊन शत्रुसैन्याची हकीकत सांगितली व जिच्या सभोवती उन्मित्त भ्रंगे फिरत आहेत अशी पुष्पद्यष्टि आपल्या दोन हातांनीं नारायणाच्या मस्तकावर करून ती विद्या विराम पावली. ८६ अपराजित मंत्रोंने प्राप्त करून घेनलेल्या विजय वन्त

भद्राला जय मिलावा ह्मणून ती देवता विषुल दिन्य संपत्तीला घारण करणाच्या हल्लावाच्या दिन्य आयुधावरावर उंच व आश्चर्यकारक असे अमाधमुख नांवाचं मुसल रतन, चंद्रिका नांवाचा रतनहार, व युद्धांत शत्रुंना भय दाखविणारी गटा यांची सवा करूं लागली अर्थात मुशल, गदा, गन्नमाला व इल ही चार रतें त्या देवतेन विजयवलभद्राला दिली ८७ गंभीर वानि करणारा, अतिशय निर्मल पांचजन्य नांवाचा शंख, कौमुदी नांवाची गढा, अपोधमुखी नांवाची शक्ति, शाई नावाच उत्तम यनुप्य, नंदक नांवाचा खद्भ, किरण समृहांनी व्याप्त असे कौत्तुभ गन्न यांच रक्षण यक्ष करीन असतात. या मुख्य दिन्य रत्नांनी श्री मिष्ट नारायण लक्ष्मी, जय व राज्यसंपत्ति यांच स्थान वनला.

याप्रमाणे श्री असग कविकृत श्रीवर्धमानचरितामध्ये दिव्यायुधागमन नांवाचा आठवा परिच्छेद संपला.



अथैक्षत ध्मारजसा परीतां चकीवदंगेरुहधूसेरण ॥ पताकिनीमश्वगलस्य विष्णुः स्वतेजसा तां मलिनीकृतां वा ॥१॥ गजा जगर्जुः पटहाः प्रणेदुर्बलद्रयस्यापि जिहेषुरश्वाः॥ निवृत्य यातेत्यभिधाय भीतान्धीरान्रणायेव तदाह्वयंतः॥ २॥ खुराभिघातप्रभवो हयानां पांशुर्नवांभोधरजालसांद्रः॥ अग्रेऽभवत्तद्धलयोर्भहीयानिवास्यन्युद्धमिव स्वधाम्ना ॥ ३॥ मौर्वीनिनादानितरेतराणां वित्रासितेभाश्वविभीतपत्तीन्॥ 'आकर्ण्य हृष्टांगरुहैविर्द्धे योधैः परो वीररसानुरागः ॥ ४ ॥ पत्तिं पदातिस्तुरगं तुरंगो रथं रथस्थो बिरदं मृदेभः अवाप कोपेन विनापि हन्तुं सेवामतो नेच्छति पापभीरुः ॥ ५॥ रजोवितानैर्नवकाशशुभैः शुभीकृताः समश्रुशिरोरुहेषु॥ मृत्योरिदं योग्यमितीः मत्वा वृद्धत्वमीयुर्युधिनो युवानः॥६॥ धनुर्विमुक्ता निारीताः पृषत्का दूरास्थितानामपि वार्मितेषु ॥ अंगेषु तस्थुर्न महीतले वा गुणच्युतः को लभते प्रतिष्ठाम् ॥ ७ ॥ अन्योन्यमाहूय विनापि वैरं भटा भटाञ्जब्नुरुद्रारसत्वाः॥ स्वामिप्रसादस्य विनिःकयाय प्राणव्ययं वांछति को न धीरः॥८॥ अनंतरंगः स्वनृपस्य कश्चिद्दाह चित्तं निजवल्लभानां॥ अग्रेसरत्वं प्रतिपद्य धावन्नरातिशस्त्रेरवदारितोऽपि ॥ ९ ॥

१ या नंतर गाढवाच्या केसाप्रमाणं मळकट असळेल्या जमीनीच्या धुराळ्यानें व्याप्त झालेली अख्य्रीव चक्रवर्ताची सेना जण स्वतःच्या तेजानें ती मालिन झाली आहे अशी त्रिपृष्ट नारायणानें पाहिली. २ युद्धाच्या प्राग्मी दोन्ही वाजंच्या सैन्याचे ह्त्ती गर्जना कहं लागले. नगारे वाजं लागले, योटे खिकालं लागले: जण काय ते स्याह लोकांना 'तुम्ही आतां येथून परतृन जा'व ग्र्र लोकांना 'तुम्ही युद्धासाठीं या' असे सांगत होते! ३ पावसाल्यांनील मेयसमृहाप्रमाणें टाट, योड्यांच्या टापांच्या आवातापासून उत्पन्न झालेला मोठा धुलीचा लोट आपल्या सामर्थ्यानं टोन्ही सैन्याचे होणारें युद्ध वंद करण्याकारितां जण त्यांच्या पुढें झाला. ४ हत्ती, योडे व पायदल यांना भय उत्पन्न करणारा एकमेकांच्या धनुष्याच्या दारीचा टंकार ऐकृन योद्धयांचीं अंगे आनंदानें स्पुरण पाऊन त्यांवर रोमांच उभे राहिले व त्यांनीं या चिन्होंने आपली वीररसावर उत्कट पीति धारण केली. अर्थात् व्यक्त केली.

५ पायदळ-पायदळाळा, घोटे-घोड्याळा, अर्थात घोटेस्वार-घोटेस्वाराळा रथीं-रथीळा व उन्मत्त हत्ती उन्मत्त हत्तीळा क्राध न येनांही एकमेकांना ठार मारण्यासाठी जाऊन भिडळे. म्हण्यनच पापापामून भिणारे लाऊ नाकरीची इच्छा करीत नसतात कारण मालकाच्या आजेमुळें नोकरांना चांगळी व वाईट सर्व भकारची कार्य करावी लागतात. ६ नवीन काश पुष्पाप्रमाणें पांढच्या धुळीच्या समुदायानें वीर पुरुपांची टाढी, मिशा व डोक्यावरचे केस हे सर्व पांढरे दिस्ं लागळें. मरणाला हीच अवस्था येग्य आहे असें जाणून त्या वीर पुरुपांनी जण दूर असळेल्या धारण केली होती! ७. धनुष्यापासून सुटलेले तीक्षण वाण दूर असलेल्या वीर पुरुपांच्या चिलखतानें युक्त असलेल्या अवयनांवर घुसून वसले नाहीत व जिमनीवरही रुतून वसले नाहीत अर्थात ते पडले. वरोवरच आहे की जो गुणच्युत झाला म्हणजे सम्यजानादि गुणरिहत झाला त्याची प्रतिष्ठा—आटर सत्कार कसा होणारी याच प्रमाणे गुणच्युत—धनुष्याच्या ढोरीपासून सुटलेला वाणही स्थिर कसा राहं शकेल ?

८. आतिशय पराक्रमी वीर पुरुप वैर नसतांही एकमेकांना वोलाऊन युद्धांत टार मारुं लागले. वरावरच आहे कीं, आपल्या मालकांने आपल्यावर खुश व्हांवें म्हणून केाणता धीर मनुष्य आपल्या प्राणांचा व्यय करेंण इच्छीत नाही वरें? ९. व्याच्यावरून राजाची मनीं उतरली आहे असा केाणी एक वीर शत्रुंनी शस्तांनी व्याचा देह विदीण केला आहे असा होऊनही आपल्या आवडत्या माणसांचा पुढारी बनून शत्रुवर लढण्यासाठी धावला. त्यामुळे त्याच्या पिय माणसांचे वित्त फार दु.खी झालें.

छिन्नोऽपि जंघादितये परेण खङ्गप्रहारैर्न पपात शूरः॥ अखंडितं चापमिवात्मसत्वमालम्ब्य तस्थौ घनवंशजातम् ॥ १०॥ आकर्णमाकृष्य धनुनिशातो योधेन बाणो घनमुष्टिमुक्तः॥ विभिद्य वर्मापि भटं जघान न साधयेर्तिक खळु सुप्रयुक्तः ॥ ११ ॥ यावान्निषादी मदवारणस्य दंतच्छदं नाक्षिपति क्षणेन ॥ तावत्पृषत्कैः प्रभिदंति योधास्तमेकपातैर्नितरामसीव्यन् ॥ १२ ॥ मदानिलाय प्रतिसामजस्य ऋध्यत्करेण स्वयमेव नागः॥ अपास्य वक्रावरणं प्रयातः प्रोहंध्य यंतारमपि प्रचंडः ॥ १३ ॥ कुंभेषु ममैर्निजबईवर्ज्येविरेजिरे शंकुचयैरिभेंद्राः ॥ आरावहींनैः शिखिनां समूहैरारूढकुटा इव गंडशैलाः ॥ १४ ॥ श्वेतातपत्राणि नरेश्वराणां नामाक्षरांकैर्विशिखैरनेकैः॥ योधप्रधाना लुलुवुः परे स्वं शिक्षाविशेषं युधि दर्शयन्तः ॥ १५॥ ध्त्वा चिरं युद्धधुरां मृतानां तेजस्विनां क्षत्रियपुंगवानां ॥ अश्रावयनामकुलं च नमा न्यावृत्य ग्रेरेरवलोकितानां ॥ १६॥ खङ्गपहारैर्दछितादिभानां कुंभस्थलादुच्छलितैः समन्तात्॥ मुक्ताफलौधैर्निचिता दिवापि तारांकितेवाभवदम्बरश्रीः॥ १७॥ समीपगैरप्यविभाव्यमानसंधानमोश्चातिशया विरेजः॥ आलेख्ययोधा इव योधमुख्याः सदावकृष्टोन्नतचारुचापाः ॥ १८ ॥

१० एका शूर पुरुषाच्या दोन्ही पिंड-या शत्रुनें कापून टाकिल्या तरी तो खालीं पडला नाहीं. तो घनवंशजात-उत्तम वंशांन उत्पन्न झालेलें आपल्या अखंडित धैर्याचा उत्तम वेळू पासून जन्मलेल्या व न तुटलेल्या अशा धनुष्याप्रमाणें आश्रय येजन तसाच उभा राहिला। ११ धनुष्य कानापर्यंत ओहून योद्धचानें आपल्या दृढ

हेप्पणीः— भट्टैः प्रतिद्धिरदम्ह्यनुविभृक्तैः कुभेषु मन्नशिखरेट्येल्सन्गर्जेटा ॥ आरावहीनवटनैः शिखिना समूहेरारुद्धनुगशिखरा इव शिल्वर्गाः ॥१८॥ जीवैधरचम्प्वा दशमा छेवे । हा स्ट्रीन सगानार्यक आहे.

मुठीपासून सोडलेल्या वाणांनी शब्चें चिलखत तोइन त्याला ट्राग्मारलें. वरोवरच आहे कीं, जी गेष्ट आपण कालजी पुगःसर करितो ती कोणत कार्य सिद्ध करून देत नाहीं वरें १ १२ एक महात आपल्या हत्तीच्या तांडाला शब्चे वाण लागू नयेत म्हणून त्याच्यावर अञ्छादन घालीत आहे ताच योद्ध्यांनीं वाण फंक्रन ते । तोइन टाकिलें व त्यालाही एक सारखें वाण फेक्रन अगटी खिळन टाकिलें।

१३. शत्रूपक्षाकडील उन्मत्त हत्तीन्या महात्या वाऱ्यांन ज्याचे मन क्षुव्ध झाले आहे अशा एका हत्तीने आपल्या सोंडेन स्वतःच आपल्या ताडा-वर्षे अच्छादन काहृन फेक्न दिले व महातालाही न जुमानतां कुद्ध होऊन तो धांवत सुटला. १४. गंडस्थलांत युडालेल्या व ड्यांच्या मागें पिसे नाहीत अशा वाणांनीं मोठे हत्ती ज्यांच्या अग्रभागावर शह न करणारे मयूरसमृह चढेले आहेत अशा पर्वताच्या लहान टेकड्याप्रमाणें शोभू लागले. १५ युद्धांत आपलें विशिष्ठ चातुर्य दाखद्रन शत्रुपक्षीय मुख्य योद्ध्यानीं आपल्या नांवाची अक्षरें ज्यावर खोढलेली आहेत अशा वाणांनी राजे लोकांचीं पांहरीं छतें तोहन टाकिलीं.

१६ युद्धाची जवावटारी पुष्कळ वेळपर्यंत धारण करून जे छढले अशा धिनियामध्यें श्रेष्ठ असलेल्या तेजस्वी पुरुषांना ते मरत असतां ग्रूर पुरुषांनी वळ्न पाहिलें. अर्थात् अशा पुरुषांविषयी ग्रूर शत्रूच्या मनांतही आटर उत्पन्न झाला. व भाट लोकांनीही त्यांच्या नांवाचें व वंग्नांचें वर्णन सर्वांना ऐकविलें.

१७ तरवारीच्या प्रहारांनीं फुटलेल्या हत्तींच्या गंडम्थलात्न चोंहीकडे वर उडालेल्या मोत्यांच्या समुदायाने दिवसा देखिल आकाश नक्षत्रांनी युक्त असल्याप्रमाणें शोभू लागलें. १८ जेव्हां मुख्य मुख्य योद्धे लहुं लागले तेव्हां ते धनुष्याला वाण केव्हां जोडतात व केव्हां सोडनात हें जवल असलेल्या लोकांना देखिल समजेनासें झाले. त्यामुळें ताणलें आहे उंच व सुंदर धनुष्य ज्यांनीं असे ते शूर पुरुष नेहमी चित्रांत काढलेल्या योद्ध्याप्रमाणे दिसूं लागले व शोभूं लागले.

छिन्नेऽपि हस्ते सुभटासिघातैर्विहस्ततामाप तथा न दंती ॥ अदंतचेष्टान्निजदंतयुग्मे भमे यथा शत्रुगजं जिघांसुः ॥ १९॥ कुंदावदातस्तुरगोऽश्ववारे प्रासप्रहारैः पतितेऽपि तिष्टन् ॥ तदंतिके तस्य पराक्रमेण पुंजीकृतो वर्ण इव व्यराजत् ॥ २०॥ मर्मप्रहाराकुलितोऽपि कश्चित्प्राणान्दघौ तावदनूनसत्वः ॥ शक्नोषि किं प्राणितुमाईभावाद्यावन्न वाणीमिति वक्ति नाथः ॥ २१॥

छिन्नं च चक्रेण शिरः केरण वामेन संधार्य रुषा परितः॥
स्वसंमुखं कश्चिद्दिं जघान कोपो हि शौर्यस्य परः सहायः॥२२॥
परेण भल्लेन विल्हगनव्यां धनुर्लतां स्वाभिमतां हि कश्चित्॥
मुमोच जायामिव चारुवंशां कृताभियोगां विग्रुणो हि हेय ॥२३॥
घनाम्नपंकेषु निमग्नचक्रान्त्थांस्तुरंगाः शरदारितांगाः॥
ऊहुःकथचिद्दिगुणीकृतांत्रिभेरवद्धला धुर्धुरशद्धघोणाः॥ २४॥ '
गृद्धो भुजं कस्य चिदाजिरंगादाम्ललूनं गगने गृहीत्वा॥
कृतावदानस्य जयध्वजं वा वीरस्य बभ्राम समंततोऽपि॥२५॥
वामांत्रिमादाय करेण गाढमाक्रम्य पादेन च दक्षिणांत्रिं॥
विपाटयामास भटं मदेभः कृद्धः पुरस्थं सहसा निपात्य॥ २६॥
अ आदाय हस्तेन भटो गजेन श्चिसोऽपि खे खेलरुचिः कृपाण्या॥
तत्कुंभपीठं प्रहरन्विरेजे ततःपतन्संभ्रमहीनचित्तः॥२७॥

१९ शत्रूच्या हत्तीला ठार मारण्याची इत्ला करणारा एक हत्ती वीर पुर-पाच्या तरवारीच्या महाराने आपली सोंड तुटली असतांही खिन्न झाला नाहीं पण आपले दोनही दांत तुटून गेल्यामुळें दांतांनीं ठार मारण्याचें कामच बंद पडलें महणून अगदीं खिन्न झाला. २० एक घोडेस्वार वर्चीच्या महारांनीं खालीं पडला असतांही त्याचा कुंदपुष्पाप्रमाणें पांढरा असलेला घोडा त्याच्या जवळ्न हालला नाहीं. तो घोडा त्यावेलीं घोडेस्वाराच्या पराक्रमानें एकत्र केलेल्या त्याच्या कीर्ती-प्रमाणें शोमू लागला! २१ मर्गरथलीं लागलेल्या महारानें व्याकुल होऊन ही एका अतिशय शूर योद्ध्यानें त्याच्या मालकानें दयाळ होऊन 'अरे वीरा! तूं अद्यापि जगण्यास समर्थ आहेस काय ? असें जोपर्यंत महटलें नाहीं तोपर्यंत प्राण धारण केलें. २२ शत्रूनें वापलेलें डोकें आपल्या डाव्या हातानें धरून रागानें लालबंद झालेल्या कोणी एका योद्ध्यानें आपल्या समोर असलेल्या शत्रूला ठार मारलें.वरो-

<sup>श्विष्णि:-- कश्चिद्रजः प्रतिभटं चरणे गृहीत्वा सभ्रामयन्दिवि रुपा परुपप्रचारः ॥
चिक्षेप दूरतरम्ध्विमयं च मानी डागेत्य कुभ्युगलीमसिना विभेद ॥४९॥
जीवंधरचंप्ता दशमो लवः। समानार्थक न्होक.</sup> 

मुठीपासून सोडलेल्या वाणांनी अञ्चे चिलखत तो इन त्याला टार मारलें. वरोवरच आहे कीं, जी गेष्ट आपण कालजी पुर:सर करितो ती कोणतें कार्य सिद्ध करून देत नाहीं वरे ? १२ एक महात आपल्या हत्तीच्या तींडाला अर्चूच वाण लागूं नयेत म्हणून त्याच्यावर अञ्छाद्न घालीत आहे तोंच योद्ध्यांनी वाण फक्न तें तोइन टाकिलें व त्यालाही एक सारखे वाण फेक्न अगर्टी खिळ्न टाकिलें.

१३. शत्रूपक्षाकडील उन्मत्त हत्तीन्या महाच्या वाच्यान ज्याचे मन क्षुट्य झालें आहे अशा एका हत्तीनें आपल्या सोडेन स्वतःच आपल्या तोडा-वर्षे अच्छादन काहून फेकून दिले व महातालाही न जुमानतां कुद्ध होऊन तो यांवत सुदला. १४. गंडस्थलांत बुडालेल्या व ज्यांच्या मागें पिसे नाहींन अशा वाणांनीं मोठे हत्ती ज्यांच्या अग्रभागावर शह न करणारे मयूरसमृह चढलेले आहेत अशा पर्वताच्या लहान टेकड्याप्रमाणें शोभू लागले. १५ युद्धांत आपलें विशिष्ट चार्त्य दाखदन शत्रुपक्षीय मुख्य योद्ध्यांनीं आपल्या नांवाचीं अक्षरें ज्यावर खोढलेली आहेत अशा वाणांनीं राजे लोकांचीं पांदरीं छले तोइन टाकिली.

१६ युद्धाची जवावदारी पुष्कळ वेळपर्यत धारण करून जे छढछे अजा क्षित्रियामध्ये श्रेष्ठ असलेल्या तेजस्वी पुरुषांना ते मरत असतां ज्र पुरुषांनी वळ्न पाहिले. अर्थात् अज्ञा पुरुषांविषयी ज्रूर जञ्च्या मनांतही आदर उत्पन्न झाला. व भाट लोकांनीही त्यांच्या नांवाचें व वंशांचें वर्णन सर्वीना ऐकविले

१७ तरवारीच्या प्रहारांनी फुटलेल्या हत्तींच्या गंडस्थलांत्न चोंहीकडे वर उडालेल्या मोत्यांच्या समुदायाने दिवसा देखिल आकाश नक्षत्रांनी युक्त असल्याप्रमाणें शोभू लागलें. १८ जेव्हां मुख्य मुख्य योद्धे लहूं लागले तेव्हां ते धनुष्याला वाण केव्हां जोडतात व केव्हां सोडनात हें जवल असलेल्या लोकांना देखिल समजेनासे झाले. त्यामुळें ताणले आहे उंच व सुंद्र धनुष्य ज्यांनीं असे ते शूर पुरुष नेहमी चित्रांत काढलेल्या योद्धचाप्रमाणे दिसूं लागले व शोभूं लागले.

छिन्नेऽपि हस्ते सुभटासिघातैर्विहस्ततामाप तथा न दंती ॥ अदंतचेष्टान्निजदंतयुग्मे शमे यथा शत्रुगजं जिघांसुः ॥ १९ ॥ कुंदावदातस्तुरगोऽश्ववारे प्रासप्रहारैः पतितेऽपि तिष्टम् ॥ तदंतिके तस्य पराक्रमेण पुंजीकृतो वर्ण इव व्यराजत् ॥ २० ॥ मर्मप्रहाराकुलितोऽपि कश्चित्पाणान्दभौ तावदनूनसत्वः ॥ शमनोषि किं प्राणितुमार्द्रभावाद्यावन्न वाणीमिति वक्ति नाथः ॥ २१॥

छिन्नं च चकेण शिरः केरण वामेन संधार्य रुषा परितः॥
स्वसंमुखं कश्चिद्रिं जघान कोपो हि शौर्यस्य परः सहायः॥२२॥
परेण महोन विद्धगनव्यां धनुर्ह्यतां स्वाभिमतां हि कश्चित्॥
मुमोच जायामिव चारुवंशां कृताभियोगां विग्रुणो हि हेय॥२३॥
घनास्चपंकेपु निमग्नचकान्रथांस्तुरंगाः शरदारितांगाः॥
ऊहुःकथचिद्द्रिगुणीकृतांत्रिशेरवद्धला घुर्घुरशद्ध्योणाः॥ २४॥
गृद्धो भुजं कस्य चिदाजिरंगादाम्लळूनं गगने गृहीत्वा॥
कृतावदानस्य जयध्वजं वा वीरस्य बभाम समंततोऽपि॥२५॥
वामांत्रिमादाय करेण गाढमाकम्य पादेन च दक्षिणांत्रिं॥
विपाटयामास भटं मदेभः कुद्धः पुरस्थं सहसा निपात्य॥ २६॥
अादाय हस्तेन भटो गजेन क्षिप्तोऽपि खे खेलरुचिः कृपाण्या॥
तत्कुंभपीठं प्रहरन्विरेजे ततःपतन्संभ्रमहीनचित्तः॥२०॥

१९ शत्रूच्या हत्तीला ठार मारण्याची इन्छा करणारा एक हत्ती वीर पुर-पाच्या तरवारीच्या प्रहाराने आपली सोंड तुटली असतांही खिन्न झाला नाहीं पण आपले दोनही ढांत तुटून गेल्यामुळें दांतांनीं ठार मारण्याचें कामच बंद पडलें म्हणून अगदीं खिन्न झाला. २० एक घोडेस्वार वर्चीच्या प्रहारांनीं खालीं पडला असतांही त्याचा कुंद्पुप्पाप्रमाणें पांढरा असलेला घोडा त्याच्या जवळ्न हालला नाहीं. तो घोडा त्यावेलीं घोडेस्वाराच्या पराक्रमानें एकत्र केलेल्या त्याच्या कीर्ती-प्रमाणे शोभू लागला। २१ मर्भरथलीं लागलेल्या प्रहारानें व्याकुल होऊन ही एका अतिश्वय शूर योद्ध्यानें त्याच्या मालकानें दयाळ होऊन 'अरे वीरा! तुं अद्यापि जगण्यास समर्थ आहेस काय श असें जोपर्यंत म्हटलें नाहीं तोपर्यंत प्राण धारण केलें. २२ शत्रूनें वापलेलें डोकें आपल्या डाव्या हातानें घरून रागानें लालखंद झालेल्या कोणी एका योद्ध्याने आपल्या समोर असलेल्या शत्रूला ठार मारलें.वरो-

<sup>श्विष्णि:-- कश्चिद्गनः प्रतिभटं चरणे गृहीत्वा सम्रामयन्दिवि रुपा परुपप्रचारः ।।

चिक्षेप दूरतरमूर्ध्वमयं च मानी डागेत्यकुभ्युगलीमसिना विभेद ॥४९॥

जीवंधरचंप्ता दशमो लवः। समानार्थक श्लोक.</sup> 

बरच आहे कीं, क्रोध हाच पराक्रमाला मुख्य मदत करीत असनो. २३ जस एखादा मनुष्य चारुवंशा-उत्तम वंशामध्यें जन्मलेली परंतु परपुरुपाशी जिचा संयोग झाला आहे अशा स्त्रीचा त्याग करितो तसे एका योद्धचाने शत्रूने जिची टोरी भार्यानें तोहून टाकली आहे अशी धनुर्छता स्वतःला पिय व चारुवंशा-उत्तम वेळ्पासून बनलेली असतांही टाकून टिली.वरोवरच आहे कीं,टुर्गुणी मनुष्य जसा त्यागण्या योग्य असतो तसें विगुण-दोरीनें राहित धनुष्य टाकणेंच योग्य होय ,२४ ज्यांचें श्वरीर बाणांनीं जखमी झाले आहे.ज्यांच्या पायांतली शक्ति नष्ट झाल्यामुर्ले लटपटणारे व ज्यांची मान थरथर कांपत असून ज्यांच्या नाकांतून घुरघुर शह एकसारखा होत आहे अशा घोड्यांनीं ज्यांचीं चार्के रक्ताच्या टाट चिखलांत रुतलीं आहेत असे रथ त्यांतून मोट्या कष्टांने ओहून नेले. २५ युद्धभूपीमध्यें एका वीराचा हात मुळापासून तुदून पडलेला होता. तो घेऊन एक गिधाड आकाशांत चोहींकडे फिरूं छागलें. त्यावेळीं मर्दुमकीचें काम करणाऱ्या समोर असलेल्या योद्धचाला खालीं पाइन त्याची जयपताका घेऊन जणु तें सर्वत्र फिरू लागलें आहे असे दिसत होतें! २६ एका उन्मत्त व रागावलेल्या इत्तीनें एका वीराचा डावा पाय आपल्या सोंडेने मजवृत धरून व उजवा पाय आपल्या पायाखाङी टावृन टेऊन त्याला खालीं पाडून फाडून टाकिलें.

२७ एका हत्तीने आपल्या सोंडेने एका ग्रूर पुरुपाला आकाशांत फेंकून दिलें असतां क्रीडेमध्यें प्रेम असेलला तो ग्रूर आकाशांतून खालीं पडतांना विल-कुल घावरला नाहीं. उलट तो हत्तीच्या गंडस्थलावर पडून तेथें तरवारीनें प्रहार करूं लागल्यामुळें जास्ती शोभूं लागला.

विवृत्तहस्तोज्ञितशीकरौँघैरिभा निरासुः शरदारितानां॥
आघोरणानां त्रणमोहखेदं को निर्दयः संश्रायणां विपत्तौ ॥२८॥
योधा विरेजुः शरपूरितांगाः सुनिश्वलानामुपरि द्विपानां॥
तापेन विश्लेषितपत्रशोभास्त्वनसारगुल्मा इव पर्वताग्रे॥ २९॥
आमूलखनायतहस्तदेशास्त्रयोततत्कदुष्णास्त्रमहाप्रवाहः॥
रेजे गजम्तुंग इवांजनाद्रिः सानोः पतद्गिरकिनिर्झरांकः॥ ३०॥
मूर्च्छामपास्य त्रणदुःखजातां हंतुं प्रवृत्ताः पुनरप्यरातीन्॥
महाभटास्ताञ्जगृहुः कथंचित्तत्संग्रहं को न करोति धीरः॥ ३९॥

निरीक्ष्य ग्र्रं त्रणविव्हळांगं तेजिस्वनं हन्तुमपीहमानं ॥
जघान कश्चित्कृपया न साधुर्न दुःखितं हन्ति महानुभावः ॥३२॥
ग्ढप्रहाराकुिलतो मुखेन कश्चिद्धमन्संततमस्रधारां ॥
मध्येरणं शिक्षितिमंद्रजालं नराधिपानां प्रथयात्रवासीत् ॥ ३३ ॥
उरःस्थलं कस्य चिद्प्यसद्या शक्तिः पतंती न जहार शक्तिं ॥
मनिस्वनामाहवलालसानां तन्नास्ति यहपीविनाशहेतुः ॥ ३४ ॥
इंदीवरश्यामरुचिः पतंती दंतोज्ज्वला चारुपयोधरोरूः ॥
वक्षस्यहो खङ्गलता चकार प्रियेव धीरं सुखमीलिताक्षं ॥ ३५ ॥
अरातिना प्रत्युरसं विभिन्नः कुंतन कश्चित्तदनु प्रधावन् ॥
ददंश तं दुःसहमग्रकण्ठे वंशानुगः कुद्ध इव द्विजिव्हः ॥ ३६ ॥

२८ ज्यांचे अवयव बाणांनीं जखमी झाले आहेत असे महात जखमांच्या वेदनेनें मुर्छित झाले असतां वर केलेल्या सोंडपासून सोडलेल्या वारीक जलविंदु संमुहांनीं हत्तींनीं त्यांचा खेद दूर केला. बरावरच आहे कीं, विपत्तीच्या वेळीं अश्रियाला आलेल्या विषयीं कोणाचें अंतःकरण निर्देयी बनेल बरें ? २९ जसें उन्हाळ्यांत ज्यांचीं पानें गळ्न गेळीं आहेत अशीं बांबूंचीं बेंटें पर्वतांच्या शिख-रावर जशीं शोभतात तसे ज्यांचे सर्व शरीर वाणांनी भरून गेले आहे असे योद्धे निश्रल अशा हत्तींच्या वर शोभू लागले! ३० लांव सोंड मूलभागापासून तुटून पडल्यामुळें ज्याच्या देहांतून कोमट रक्ताचा महाप्रवाह बाहू लागला आहे असा एक उंच हत्ती ज्याच्या शिखरावरून कावेचा झरा खाळीं पडत आहे अञ्चा अंजन पर्वताप्रमाणें शोभू लागला! ३१ जखमेच्या वेदनांनीं आलेली मुच्छी दूर सारून कित्येक महायोद्धे पुनः शत्रूंना मारण्यासाठीं प्रवृत्त झाले. तें पाहून त्यांना कित्येकांनीं मोठ्या कष्टानें आवरून धरिलें. वरोवर आहे कीं अशा कार्यासाठीं प्राण देणाऱ्या मनुष्यांचा कोण वरें संग्रह करीत नाहीं ? ३२ जख-मांनीं ज्याचें सर्वे अंग भरलें आहे असा कोणी एक शूर तेजस्वी मनुष्य आपल्या शत्रुला मारण्याच्या विचारांत होता. परंतु शत्रूनें हें जाणून देखिल द्याईभावानें त्याला मारिलें नाहीं. बरोबरच आहे कीं, जे महापुरुष असतात ते दुःखितांचा नाश करीत नसतात. ३३ गुप्त मारानें व्याकुळ होऊन कोणी एक बीर प्ररूप

तोंडाने एक सारखी रक्ताची धारा ओकूं लागला. तेव्हा तो स्वतः शिकलेली इंद्रजाल विद्या जणु युद्धभूमीमध्यें सर्व राजा समक्ष प्रगट करीत आहे असा भास् लागला! ३४ एका वीराच्या छातीवर शक्ति नांवाच्या शस्त्राचा मोटा असह आघात झाला. तथापि ती शक्ती त्याच्या शक्तीचा नाश करू शकली नाहीं. वरी-वरच आहे कीं, युद्धाविषयीं ज्यांच्या मनांत अदम्य उत्साह असतो अशा तेजस्वी वीरांचा गर्व नाश करण्यास या जगांत कोणताही पदार्थ समर्थ नाहीं. ३५ नील कमछाप्रमाणें जिच्या देहाची कांति आहे, जिचें दांत अतिशय निर्मेख आहेत व जिचे स्तन आणि मांड्या सुंदर आहत अशी स्त्री आपल्या पतीच्या छातीवर पहन त्याला जशी सुखानें डोळे मिटाचयास लाविते त्याममाणे निळ्या कमलाप्रमाणे निळ-सर कांतीची,हस्तिदंताच्या मुठीची,मुंटर पाण्याला-तेजस्वी पणाला धारण करणारी मोठी खड़लता—तरवार शत्रूच्या छातीवर पहन तिने त्याला सुखाने डोळे मिटाव-यास लाविले अर्थात तिनें त्याला टार मारिलें. एका शत्रुने एका वीर पुरुपांचे वक्षःस्थल आपरया भारयाने विदर्शि केले तेव्हां जसा रागावलेला सर्प आपरया पूर्वजांचे अनुसरण करून दंश करितो तसे शशूच्या पाठीमागें लागलेल्या त्या वीरानें क्रुद्ध होऊन आपल्या वंशाचे अनुसरण करून त्याचा गळा पकहून अति-शय तीत्र असा चावा घेतला. अधीत् त्याने त्याचे नरडे फोडलें !

परेण सद्यो निजकौशलेन हस्तीकृता संयति खड़िथेतः॥

सत्योरभूकारणमात्मभर्तुर्दुष्टेव वेश्या धनमुष्टिबाह्या॥ ३०॥

पपात कश्चिद्धिवशो न वाणेरयोमयैः कीलितरागवंधः॥

तुरंगमादुत्पततोऽपि सादी दौस्थ्यं न हि स्थेमपरिष्कृतानां॥३८॥

छिन्ने परो दक्षिणबाहुदंडे घत्वा परेणासिलतां करेण॥

जधान शत्रुं प्रहरंतमथे विपत्सु वामोऽप्युपयोगमेति॥ ३९॥

शरक्षतांगोऽपि तुरंगवर्यो जवं न पूर्व विजहो न शिक्षां॥

ॐ टिप्पणी: छिन्नेपि दक्षिणमुने करवालवहीं वामे करे विचलचिरपुमा मादी॥ वीरस्य तस्य रिपुर्लंडन केलिकायां मिशाणिशाक्तिरगमत्माहि दक्षिणत्वं ॥५५॥ जीवंथरचम्प्वा दशमो लंब. समानार्थक रहोक ।

नैवाश्ववारस्य विधेयतां च समो हि जात्यो विधुरे सुखे वा १४०। कंठे निबद्धारुणचामरोघः ग्रून्यासनः सम्मुखमाग्रु धावन् ॥ विभ्रंशयन्दन्तिघटां न नाम्ना हरिस्तदासीकिययापि वाजी ॥४१॥ इतस्ततोऽधावत लोहबाणैर्विदारितांगोऽपि हयो जवेन ॥ विजाधिनाथस्य मृतस्य सद्यः प्रकाशयन्शौर्यमिवाजिरंगे ॥ ४२॥ अरातिना मूर्धनि मुद्गरेण प्रताडितो लोहमयेन कश्चित् ॥ भुमोच भूमौ विवशोऽपि नांगमहार्यधैर्यप्रसरो हि धीरः ॥ ४३॥ अभेद्यमप्यावरणं विभिद्य प्राणान्भटस्याशु जहार बाणः ॥ अभेद्यमप्यावरणं विभिद्य प्राणान्भटस्याशु जहार बाणः ॥ ५०० शातेन विवर्जितोऽपि पूर्णे दिने को न हिनस्ति सत्वान् ४४ रक्षन् शरेभ्यः पतिमात्मगान्नैः कश्चित्समतादसमानसत्वः॥ भस्मीचकारात्मतनुं क्षणेन सुनिश्चितः किं न करोति ग्रूरः॥ ४५॥

३७ पूर्वीच्या मालकानें लहानशी तरवार मुठींत आवळून न धरल्यामुळे तन्काल ती शत्रूनें स्वतःच्या चातुर्यानें आपल्या हस्तगत करून घेतली. त्यामुळें ती पहिल्या मालकाच्या मुठीत न राहिल्यामुळें दुसऱ्याच्या स्वाधीन झालेली दुष्ट वेभ्या जशी आपल्या पहिल्या मालकाच्या मृत्युला कारण होते तशी युद्धामध्ये पहिल्या वीराच्या नाशाला कारण झाली ३८ कोणी एक घोडेस्वार घोड्यावर सर्पासनानें मजबूत बसला होता. लोखंडाच्या बाणांचा शत्रूकडून वर्षाव होत अस-तांही व घोडा उड्या मारीत असतांनाही घावरून तो त्यावरून पडला नाहीं. वरोबरच आहे कीं, जे दृढतेनें युक्त असतात त्यांच्या ठिकाणीं घाबरेपणा कसा असू शकेल बरें १ ३९ एका वीराचा उजवा हात कापला गेला तरी त्यानें आपल्या दुसऱ्या हातांत-डाच्या हातांत तरवार धारण केली व प्रहार करीत असलेल्या शत्रुला ठार मारिले. विपत्तीच्या वेळी डावा हातही उपयोगी पडतो अथवा प्रतिकूल माणसेंहि विपत्तीच्या वेळी अनुकूल होतातचः ४० एक श्रेष्ट घोडा बाणांनीं जखमी झाला होता तरीही त्यानें आपला पूर्वीचा वेग व आपलें शिक्षण सोडले नाहीं व तो आपल्या घोडेस्वराच्या ताव्यांत पूर्वीप्रमाणेंच राहिला. बरोबर आहे की, उत्तम जातीचे प्राणी सुखाच्या व दु.खाच्या प्रसंगी समानच असतात. विकार पावत नाहींत. ४१ ज्याच्या गळ्यांत लाल रंगाच्या पुष्कळ चवऱ्या बांधलेल्या आहेत व घोडेस्वरानें जो रहित झाला आहे असा एक घोडा मोट्या वेगानें समोर धावत गेला व त्यानें हत्तीच्या समुदायाला ही बोहोकडे पळिवलें. त्यावेळीं नांवानेच हिर अमलेला तो घोडा आपल्या कर्नव्यानं ही हिर आला. तात्पर्यः— हिर शहाचे सिंह व घोडा असे टोन अर्थ आहेत. या घोड्याच्या गळ्यांत लाल चापर वांघले असल्यामुळें व मोळ्या वेगानं हा धावत सुटला होता म्हणून त्याला पाहून हर्ताना हा सिंह आहे अजी खांति उत्पन्न आली व ते पळत सुटले.यामुळें घोड्याला कोजांत हिर असे नांच आहे ते अन्वर्थक आलें. ४२ लोखंडाच्या वाणांनीं ज्याचे अवयव विदीण झाले आहेत असाही एक घोडा मोट्या वेगानें इकडून तिकडे थाऊ लागला. जण नुकतेंच मरून पडलेल्या माल काचा श्रूपणा प्रगट करण्याकारतांच तो युद्धभूमीमध्य पळत होता! ४३ जवूने लोखंडाच्या सुद्धराने ज्याच्या मस्तकावर आधात केला आहे अजा एका वीरानं दुःखी होऊनही आपलें अंग जमीनीवर टाकिले नाहीं. वरोवरच आहे की, धीर पुरुषाचे धेर्य कोणाकहनही हरण केले जात नाहीं. किंवा त्याचे धेर्य कृतिम नसते. ते स्वाभाविकच असते. ४४ तीक्ष्ण अग्राने रहित अजा ही वाणाने एका वीराच्या अभेद्य चिळखताला तोहन त्याचे तत्काल प्राण घेतले. वरोवरच आहे की, ज्याचे आसुद्धाचे दिवस भरले आहेत अजा प्राण्यास कोण मारूं शकत नाही वरें?

कुलाभिमानं विपुलं च लज्जां स्वामिप्रसादं निजपौरुपं च ॥
मत्वा व्रणेराचितमूर्तयोऽपि निपेतुरन्योन्यमवेक्ष्य श्रूराः॥ ४६ ॥
दंतैश्र गात्रेः करिणां करेश्र छिन्नेरनेकैः पतितेर्व्वजेश्र ॥
रथेश्र भग्नाक्षधुरैर्निकीणं वस्र्व दुर्गं समराजिरं तत्॥ ४७ ॥
प्रपीय रक्तासवमाश्र मत्ता नरांत्रमालाकुलकंठदेशाः ॥
परं क्वंधैः सह यातुधानाःशवान्वहंतो ननृतुर्यथेष्ट्य ॥ ४८ ॥
नदान्छवास्यारणिलव्यजन्मा ददाह वीराञ्शरपंजरस्थान् ॥
मतान्समस्तान्कृपयेव वन्हिः को वा न गृण्हाति कृतावदानान्।४९।
तयोर्ष्वजिन्योरतिद्र्पमाजामिभाश्वपादात्रयोत्कराणां ॥
अन्योन्यमुद्दिश्य रणः समंतादासीत्कृतांतोद्रपूरणाय ॥ ५० ॥
मंत्री हरिश्मश्रुरथेकवीरो वलस्य नेता रथमंडलस्थः ॥
धन्वी प्रतिद्रविशेषकं वियन्च संछाद्यामास समं शरीवैः ॥ ५१॥
ललाव मौर्वीभिरमा शिरांसि महीभेदामार यथांवु ॥ ५२ ॥
महारथन्यूहविशेषवं समं विभेदामघटं यथांवु ॥ ५२ ॥

ध्वजा निपेतुः सममातपत्रैवितत्रषुः ग्रून्यह्याश्च नागैः॥ तिमिन्वसुंचत्युरुवाणवृष्टिं नेशुर्दिशो सास्करदीप्तिभिश्च॥ ५३॥ नितांतशुद्धरितशुद्धवृत्तः शरैरनेकैः स बलानि विष्णोः॥ करैरिवेंदुः कमलानि नक्तं निनाय संकोचिमतस्ततोऽपि॥ ५४॥

४५ आपल्या मालकाचें सर्व वाजूंनीं शत्रूंच्या बाणापासून रक्षण करणाऱ्या कोणा एका उपमा गहित पराक्रमी पुरुषाने आपले शरीर क्षणांत नष्ट केलें. अर्थात मालकाच्या रक्षणार्थ त्यानें आपला देह क्रबंच्या वाणांना बली दिला. बरोबरच आहे कीं, दहनिश्चर्या ग्रूर मनुष्य काय करूं शकत नाहीं बरें ? ४६ वंशाभिमान, मोठी अब्रू, मालकाची कुपादाष्ट्र, व स्वतःचा पराक्रम, या सर्व गोष्टीचा विचार करून जखमांनी आपलें सर्व शरीर भरून गेलें असतांही शूर पुरुष एकमेकांना पाहून लहू लागले. ४७ हत्तींच्या दातांनीं, शरीरांनीं, व सोडांनीं तुटलेल्या अनेक पताकांनीं, ज्यांचीं जोकडें व कणे मोडून पडले आहेत अशा रथांनीं व्यापून गेळेळे तें रणांगण जाण्या येण्याला अडचणीचें होऊन बसलें. ४८ ज्यांनीं आपल्या गळ्यांत मनुष्यांचीं आंतडीं घातलीं आहेत, रक्तरूपी मद्य पाशन करून जे उन्मत्त वनले आहेत, असे राक्षस मढीं घेऊन रुंडासह यथेष्ट कीडा करू लागले. अर्थात नाचू लागले. ४९ ओरडणाऱ्या कोल्हाच्या मुखरूपी अरणीपासून उत्पन्न झालेल्या अग्नीने शरशय्येवर पडलेल्या सर्व वीर पुरुषांना जणु दयाई होऊन जाळून टाकिलें. बरोबरच आहे कीं, ज्यांनीं उत्तम कार्ये केलीं आहेत अशांचा कोण संग्रह करीत नाहीं वरें ? ५० त्या दोन सैन्यामधील अत्यंत उन्मत्त बनलेले हत्ती, घोडे, पायदळ आणि रथ यांच्या समुदायांचे एकमेकांना उदेशून सर्व वार्जुनीं यमांचे पोट भरावें ह्मणून भयंकर युद्ध झालें! ५१ यानंतर रथसमूहाच्या मध्यभागीं सैन्यांचा नेता अर्थात् सेनापति, उत्तमं धनुर्धारी अद्वितीय वीर अशा हरिक्मश्रु नांवाच्या अश्वग्रीवाच्या प्रधानानें शत्रु अशा त्रिपृष्ट नारायणाचें सर्व सैन्य व आकाश यांना एकदम आपल्या नाणसमूहांनीं न्यापून टाकिले ५२ या हारिज्मश्र सेनापतीने आपल्या भाल्याच्या साह्यानें शूरोंच्या धनुष्यांच्या दोरीसह त्यांची मस्तकें तोइन टाकिलीं. हा फार जोरांनें बाणदृष्टि करीत असतां छत्रासह ध्वज पडले. हत्ती-सह घोडेस्वारांनीं रहित असलेले घोडे भीतीनें पलत सुटले व सूर्याच्या किरणांसह दिशा युंद झाल्या. अर्थात् त्यानें इतकी वाणहाष्टि केली की, चोहींकडे अंधार पडला! ५४ अतिशय स्वच्छ व गोलाकृति चंद्र आपल्या निर्मल किरणांनी रात्री चोहीकडे कमले संकुचित करितो त्याप्रमाणें उज्ज्वल अनेक वाणांनी निर्मल आचरणांचा धारक अज्ञा सेनापतीनें शत्रूंचे पुष्कळ सैन्य संकृचित केलें. अर्थात् टार मारिलें.

तन्वंतिमत्थं निजवाह्वीर्यं तं वीक्ष्य भीमं प्रधनाय भीमः॥ निरस्तभीराजुइवे शरेण त्रिपृष्टसेनापतिरुद्धतेन ॥ ५५ ॥ रथेन तस्याभिमुखं स गत्वा जवानिलायामितकेतनेन ॥ मनोजवाश्वेन तमाञ्च वाणैर्विच्याध् चापध्वनिनादिताशः॥ ५५॥ शिलीमुखांस्तस्य छुलाव भीमःशरैधनुर्वेदाविदंतराले॥ अलक्ष्यसंघानविमोक्षकालः सदावतंसीकृतचारुमौर्वी ॥ ५७ ॥ चिच्छेद वेगात्सह केतुयश्चा सितार्द्धचंद्रेण शरासनं सः॥ ततः स मंत्री कणयेन भीमं शक्त्या च वक्षस्यदयं जघान ॥५८॥ चापं विहायासिलतां गृहीत्वा रथात्समुल्लुत्य रथं तदीयं ॥ ललाटपट्टेडिसवरं प्रपात्य जग्राह भीमस्तमुदारसत्वः॥ ५९॥ शतायुधः शत्रुशतायुधौषैर्विपाटितोरःस्थललक्ष्यदेहः॥ जित्वा रणे धूमशिखं विरेजे प्रसाधनं भूमिभृतां हि शौर्यं ॥ ६०॥ अनन्यसाधारणबाहुवीर्यं व्यजेष्ट युद्धेऽशनिघोषमुत्रं॥ यथार्थतां राञ्जित्त्रत्मनाम प्रतापवानेतुमिव क्षणेन् ॥ ६१ ॥ अकंपनं कंपितसर्वसैन्यं निपातयामास जयः शरौधेः॥ तुरंगकंठस्य जयध्वजं वा पुरस्तरं संयति खेचराणां ॥ ६२ ॥ जित्वार्ककीतें:सकलां च सेनां पुरो वभूवे हरिकंधरेण॥ विमुंचताकृष्टशरासनेन नाराचावृष्टें पिहितांतरिक्षां ॥ ६३ ॥ सावज्ञभालोक्य तमकेकीर्तिरादाय चापं हदमप्यभीरः॥ आरोपयामास विना प्रयत्नान्न संभ्रमत्याजिमुखे हि शूरः ॥ ६४ ॥

५५ आपल्या वाहूंच्या द्वारें याप्रमाणे भयंकर पराक्रम करणाऱ्या त्या हाँ न्यानुन काढलेल्या वाणांच्या द्वारे युद्ध करण्यासाठी बोलाविलें ५६ मनाच्या वेगापेक्षां ही अधिक वेगाचे योडे ज्याला जुंपले आहेत, वेगाच्या वाण्यांन ज्यांच्या ध्वजार्च वस्त्र लांवट झालें आहे अज्ञा रथाच्या द्वारे भीम सनापतिच्या जवल जालन हरिश्मश्रेन यनुष्याच्या टंकाराने सर्व दिशा जल्लमय केल्या व वाणांनीं त्याला तत्हाल विद्ध केले ५७ ज्याची वाण जोडण्याची व सोडण्याची वेल समजत नाहीं, ज्याच्या यनुष्याची सुंदर दारी नेहणी सुन्नोभितच असते (अर्थात् जी ताणलेली

दिसत नाहीं ) धनुर्विद्येची ज्याला चांगली माहिती झाली आहे अशा भीम सेना पतीनें हारेश्मश्रु सेनापतीचें बाण येत असतांना आपल्या बाणांनीं मध्येंच तोडून टाकिले. ५८ यानंतर त्या भीम सेनापतीनें तीक्ष्ण अर्द्धचंद्र वाणानें अश्वग्री-वाच्या सेनापतीच्या जयध्वजासह त्याचें धनुष्य वेगानें तोहून टाकिलें यामुले रागावलेल्या हरिश्मश्रूने बाणानें व शक्ति नांवाच्या शस्त्रानें निर्दयपणें त्यास छातीवर आघात केले. ५९ त्यावेळीं उढार पराक्रमी भीमाने धनुष्य सोडून हातांत तरवार घेतली. आपल्या रथांतून त्याच्या रथांत उडी मारली व त्याच्या कपाळावर आपल्या तरवारीचा आघात करून त्याला पकडलें. ६० शेंकडो शत्रंच्या शस्त्रसमृहांनीं जखमा झालेल्या छातीबक्रन ज्यांचा देह ओलखला जात आहे अशा शतायुध राजानें रणांत धूमाशिख विद्याधराला जिकिलें ह्मणून तो फार शोभू लागला वरावरच आहे कीं, क्षात्रियांचा शौर्यच अलंकार होय ६१ ज्याच्या ठिका-णीं इतरामध्यें आढळ्न न येणारें असामान्य वाहुवल आहे अशा उग्र अशनि-घोष विद्याधराला शत्रुजित या नांवाला जणुँ सार्थक करणारा पराक्रमी रात्रुजित् राजानें तत्काल युद्धामध्यें जिंकिलें. ६२ युद्धामध्यें सर्व विद्या-धरांचा पुढारी, जेणु अश्वग्रीवाचा जयध्वज, ज्याने सर्व शत्रुसैन्याला भीतीनें कंप उत्पन्न केला आहे अशा अकंपन विद्याधर राजाला जय या नांवाच्या राजानें बाणांच्या समुदायांनीं ठार मारले. ६३ धनुष्य ताणुन आकाशास्त्रा अच्छाद्न टाक-णारी बाणदृष्टि करणाऱ्या हरिकंधर विद्याधराने अर्ककीर्तींचे सर्व सैन्य जिंकिलें व अर्ककीर्तीच्या पुढें येऊन तो उभा राहिला ६ शनिर्भय अशा अर्ककीर्तीने त्याच्याकडे तुच्छ दृष्टीनें पाहिले व दृढ असें हि धनुष्य घेऊन त त्यानें लिलेनें सज्य बरोबरच आहे कीं, युद्धाचें तोंड लागलें असतां श्र् पुरुष भीतीनें वावरून नाहीं. त्यावेळीं तो अवश्य शौर्य दाखवितोच.

संधाय वेगेन शरं प्रभावादाकृष्य चापं तरसा मुमोच॥
एको यथापंक्तिगुणक्रमेण प्राप्तोत्यसंख्यानिमषुस्तथासो॥ ६५॥
तस्यालुनात्केतनवंशयिष्टं सद्धंशलक्ष्मीलतया स सार्द्धम्॥
आमूलतःसंततपक्षवाणविणिः स्वनामाक्षरमुद्रितांगेः॥ ६६॥
कुधा तदीये हरिकंधरोऽपि लीलोपधाने दिजयैकलक्ष्म्याः॥
मुजे निशातं निचखान रोपं वामेतरं चंचलकंकपक्षं॥ ६७॥
एकेन तस्यायतमार्गणेन छित्वातपत्रं कदलीध्वजं च॥
अन्येन चूडामणिमुन्मयूखमुन्मूलयामास किरीटकूटात्॥ ६८॥

तस्यार्ककीर्तिर्धनुषोऽप्रकोटिं चिच्छेद भछेन वलो खतस्य ॥ विहाय तत्सोऽपि निरस्तभीतिः प्रासेन तं प्राहरदाजिशोंडं ॥६९॥ विदार्थ नाराचपरंपराभिवेंगेन तं सन्नहनेन सार्द्ध ॥ तदार्ककीर्तिः शुशुभे नितांतं हत्वा रिपुं को न विभाति युद्धे ॥७०॥ अन्येरजयं युधि कामदेवं प्रजापतिर्वीतभयो विजिग्ये ॥ पुरा तपस्यन्भुवि कामदेवं प्रजापतिर्सतीर्थकृतामिवाद्यः ॥ ७९ ॥ वभंज दर्पं शाशिशेखरस्य स्वबाहुवीर्यातिशयेन युद्धे ॥ जयाशयामा हयकंथरस्य विना प्रयासेन पितार्ककीर्तिः ॥ ७२ ॥ नभश्चरान्सप्तशतं विजित्य चित्रांगदादीन्विजयो विराजन् ॥ पुरःस्थितं नीलर्थं मदांधमालोकयामास हरिर्यथेमं ॥ ७३ ॥ अभीयतुस्तौ प्रधनाय वीरावन्योन्यमत्यूर्जिसत्वयुक्तौ ॥ पूर्वापरौ वारिनिधीयथांते कल्पस्य कल्पामरनाथकल्पौ ॥ ७४ ॥

६५ आपल्या सामर्थ्यानें अर्ककीर्तीने धनुष्याला वाण जोड्त तो वेगान सोडून दिला असतां पंक्तिनें गुणित क्रम होऊन असंख्यातपणाला पावला. अर्था तृ विद्येच्या प्रभावानें एका वाणाची दोन, चार, आठ, सोळा अशी संख्या वाढत ती असंख्याता पर्यंत पोहोचली ! ६६ या अर्ककीर्ति राजपुत्रानें हरिकंठाच्या सदंशलक्ष्मी रूपी वेलीवरोवरच उत्तम वेळ् पासून वनलेल्या त्याच्या जयपता. केळाही ज्यांना पंख लाविले आहेत व ज्यांच्यावर आपलें नांव खोदले आहे अशा वाणांनी मूळासगट उपटून टाकिलें ६७ विजयक्ष्मी अद्वितीय लक्ष्मीला लीलेन मान टेक्न निजण्याच्या उशीप्रमाणें असलेल्या त्या राजपुत्राच्या उजन्या वाह्न कंकपक्षाच्या चंचल पंखानें युक्त असलेला तीक्ष्म वाण हरिकंधराने रागान मारला ६८ एका लांव वाणाने अर्ककीर्तीचे कत्र व जयध्वज त्यान तोह्न. टाकिलें व दुसन्या वाणाने किरीटाच्या शिखरांतून ज्याचे किरण चोहीकडे पसरले आहेत असा चुडामाणे त्यानें उपटून काढिला ६९ अर्ककीर्तानें हि सामर्थ्यानें उद्दर वनलेल्या हरिकंटाच्या वनुष्याचा अग्र भाग भाला फेक्न मोहन टाकिला तेथा हरिकंटाच्या वनुष्याचा अग्र भाग भाला फेक्न मोहन टाकिला तेथा हरिकंटाचे हि निर्भय होऊन त अनुष्य टाक्न दिले व युद्धामध्ये प्रवीण

भसलेल्या त्या अर्ककीर्तीवर भाल्यानें प्रहार केला. ७० त्यावेळीं अर्ककीर्तीने बाणांची खूप द्याप्टि करून हरिकंटाचें अंग त्याच्या चिळखतासह विदारिळें त्यामु-ळें तो पार शोधू लागला बरोबरच आहे कीं, कोणता शूर पुरुष युद्धामध्यें शत्रूला मारून शोभत नाहीं वरे ? ७१ या पथ्वीतलावर प्राचीन कालीं तीर्थकरामध्यें प्रथम असलेले सर्वपंजांचे नाथ अशा आदिनाथ भगवंतांनीं जरें तपश्चरणाच्या हारें इतगंना अजिंक्य कामदेवाला — मदनाला जिंकिलें होतें तसें प्रजापति राजानें ही निर्भय होऊन इतर राजाकडून जिंकला जाण्यास अशक्य अशा कामदेव नांचाच्या विद्याधराला युद्धामध्यें जिंाकिलें ७२ अर्ककीर्ति राजपुताच्या पित्यानें अर्थात् ज्वलनजटी राजाने प्रयासावांचून युद्धामध्ये आपल्या बाहूच्या विपुद्ध समध्यनिं अश्वयीव चऋवर्तीच्या विजयेच्छे वरोवरच शशिशेखर विद्याधर राजाचा गर्व नष्ट केळा ७३ चित्रांगद वगैरे सातशे विद्याधर राजांना जिंकून शोभ-णाऱ्या विजय बिलभद्रानें पुढें आलेल्या उन्मत्त हत्तीला जसा सिंह क्रूर दृष्टीनें पाहतो तसें पुढें आलेल्या उन्मत्ता नीलरथ विद्याधराला पाहिलें ७४ जसे कल्पक-लाच्या शेवटीं अत्यूर्जितसत्व युक्त अर्थात् विपुल शक्तीचे धारक अशा जलचर प्राण्यांनी युक्त असलेले पूर्व समुद्र व पश्चिम समुद्र एकभेकावर उसलतात तसे अतिशय उत्कृष्ट पराक्रमानें युक्त असलेले व स्वर्गीय देवांच्या इंद्राप्रमाणे भासणारे ते नीलरथ व विजय बलभद्र हे दोघे वीर एक में नावर लढण्यासाठीं हला कहं लागले.

वलाधिकस्यापि बलस्य पूर्वं वक्षो विशालं गदया जधान ॥ शिक्षाविशेषं प्रथयन्ननेकं विद्याधरः स्वं करणाक्रियाभिः ॥ ७५ ॥ गदाप्रहारेण बलोऽपि तस्य प्रपद्य रन्ध्रं मुक्ठटं शिरस्तः ॥ निपातयामास रुषा प्रगर्जित्ररम्मदेनेव घनोऽद्रिक्टटं ॥ ७६ ॥ अपरिच्युतस्तनमुक्कटादनेकेर्मुक्ताफलेगाजिधरारराज ॥ कीर्णेव विद्याधरराजलक्ष्म्या बाष्पाम्बुर्विदुप्रकरैः क्षणार्द्धं॥ ७७ ॥

कल्चिगवसुधापतिप्रथितराजलक्ष्म्यास्तदा विकीणीमव

विस्तृतैर्नयनवाष्पविंदूत्करै. ॥ ७६ ॥

जीवंधरचम्प्वाः द्शमःसर्गः, समानार्थेकः श्लोकोऽयं॥

बलद्रयं वीक्ष्य तयोरिंचेत्यं बलं च धेर्यं खिध कौशलं च ॥ कश्चानयोर्जेष्यति नेति ताम्यन्संदेहदोलां मनसा रुरोह ॥ ७८ ॥ प्रादुर्वभूव स्वसमानसत्वे वलस्य तत्रैव बलं च शौर्य ॥ विजेतुरप्यन्यनमश्चराणां प्रतिद्विपे धीर इवेममर्तुः ॥ ७९ ॥ खसाध्यमन्यस्य बलेन युद्धे हलायुधो नीलरथं हलेन ॥ निनाय तं गोचरमाशु मृत्योर्मत्तद्विपं ऋद्ध इव द्विपारिः ॥ ८० ॥ इति प्रधानान्प्रहतानथान्यैर्नभश्चरान्वीक्ष्य तुरंगकंठः ॥ करेण सारं धनुराललंबे नामेन शौर्यं मनसा च धीरः ॥ ८१ ॥ विहाय सर्वानितरान्बल।दीन् क स क स प्राज्यबलिस्त्रपृष्टः॥ पृच्छन्निति प्राक्तनजन्मकोपात्तस्थौ पुरस्तस्य गजाधिरूढः ॥८२॥ अमानवाकारमुदीक्ष्य लक्ष्म्या योग्यो ममायं रिपुरेव नान्यः॥ अमन्यतेत्यश्वगलिस्त्रपृष्टं गुणाधिके कस्य न पक्षपातः ॥ ८३ ॥ सुदुनिवारान्विविधान्विधिज्ञो विद्यामयान्वज्ञफलान्समंतात्॥ शराननेकान्विससर्जं चक्री चक्रीकृतोत्तुंगधनुर्शुणेन ॥ ८४ ॥

७५ स्वतः हा अनेकरूप करण्याच्या कियांनी आप हो विशिष्ट शिक्षण प्रगट करणाऱ्या निलस्थाने आपण्या पेक्षां सामध्यीने अधिक असलेल्या अशा ही बलभ द्राच्या विशाल वक्षः स्थलावर गदेने प्रथम प्रहार केला. ७६ जरें गर्जना करणारा मेघ विजेच्या कडकडाटाने पर्वतांचें शिलर पाडता तरें विजय बलभद्राने गर्जना करून कोघानें संधि साधृन नीलरथाच्या मस्तकावरील मुकुट गढेच्या आघाताने खाली पाडला. ७७ त्यावेली त्या मुकुटापासून गळालेल्या अनेक मोत्यांच्या सम्हांनीं नी रणभूमि क्षणार्घ पर्यत विद्याप्यरराजलक्ष्मीच्या डोल्यांतून निघालेल्या अञ्चलसमूहांनीं व्याप्त झाल्याप्रमाणें शोभू लागली. १८ या उभयतांचे विचार करण्यास अशक्य असे युद्ध चातुर्य, बल व धेर्य पाहृन या उभयतामध्यें कोणाचा तरी जय होईल का नाहीं याचा विचार करण्यांत थकलेलें तें टोन्ही वाजुचें सैन्य आपल्या मनाच्या द्वारे संशय रूपी झोक्यावर चढलें ७९ आपल्या बरोवरींचे सामध्ये धारण करणाच्या त्या नीलरथावर इतर विद्या

धरांना जिंकणाऱ्या विजय वलभद्रानें आपलें सामध्ये व पराक्रम प्रगट केले. जसें मोठा हत्ती शत्रुशूत धैर्यवान हत्तीवर आपले सामर्थ्य व पराऋम प्रगट करितो ८० जसा रागावलेला सिंह मत्त हत्तीला तत्काल मृत्युमुखीं टाकितो त्या प्रमाणं इतरांना अजिंक्य असलेल्या निलर्थाला क्रुद्ध बलभद्रानें युद्धामध्यें हल नांवाच्या दिव्यापुधानें शीघ्र मारून टाकिलें. ८१ या प्रमाणे शत्रूंनी आपले मुख्य मुख्य विद्याधर राजे मारून टाकिलेले पाहून घीर अश्वग्रीवानें आपल्या डान्या हातानें सार्युक्त धनुष्य धारण केलें व मनानें उत्कृष्ट धैर्य धारण केलें. ८२ वरुभद्र, ज्वलनजर्टी, प्रजापति वगैरे राजांना वगळ्न 'तो उत्कृष्ट शक्तीला धारण करणारा त्रिष्टूष्ट कोठे आहे कोठे आहे? ' असे पूर्व जन्माच्या कोपानें विचारीत इसीवर आरूढ होऊन लिपृष्ठाच्या पुढें येऊन उमा राहिला ८३ त्या दिन्य आकृतीला धारण करणाऱ्या चिष्णाला पाहून हाच माझा शत्रु लक्ष्मीला योग्य आहे, अन्य नाहीं असे अश्वग्रीवानें मनांत पानिलें. बरोवर आहे गुणांनीं अधिक , असलेल्या मनुष्यावर कोणाचा पक्षपात होत नाहीं वरें १८४ रोकण्यास अशक्य असलेले, वज्राच्या अग्रभागांनीं युक्त असलेले विद्यामय नाना प्रकारचे अनेक बाण ते सोडण्याची विधि जाणणाऱ्या चऋवर्तीनें चक्राप्रमाणें गोल वाकविलेख्या मोठ्या धनुष्याच्या दोरीनें साह्य घेऊन चोहींकडे सोडले.

अथांतराले पुरुषोत्तमेन ते खंडिताः शार्ङ्गधनुर्विमुक्तैः ॥
शराःशरैः पुष्पमया वसृवर्भणाय भंगोऽपि सतः परेषां ॥ ८५ ॥
एकिकृतक्ष्मातलवायुमार्गा विनिर्ममे चक्रुभृता तिमस्रा ॥
चिच्छेद तां कोस्तुमग्त्नदीप्तिर्विष्णोर्जितोष्मां मुक्तिः ॥८६॥
समंततो दृष्टिविषासिरेपाकल्मापिताशान्त्रिमुक्तन्स सपीन् ॥
पक्षानिलेन्मूलितापादपेन निराकरोत्तान्गरुडेन कृष्णः ॥ ८७ ॥
गर्जिन्मृगेन्द्रैः स्थिरतंगशृंगैः शैलैरसौ न्योम रुरोध कृत्म्नं ॥
विभेद वेगेन हिरः क्रुधा तान्त्वल्लेण वज्जायुधसन्निमश्रीः ॥ ८८ ॥
अनिधनेन ज्वलनेन धीरस्तस्तार स न्योम धरातलं च॥
निर्वापयामास तमाशु विष्णुविद्यामयांभोदिवसृष्टतोयैः ॥८९॥

उत्कासहस्र ज्वितांति रक्षां सुदुर्निवाराम सुचत्स शक्ति ॥ उरःस्थले सा पुरुषोत्तमस्य स्फुरत्करा हारलता वस्व ॥ ९० ॥ इत्येवं विफलितसर्वशस्त्रसारो दुर्वारस्तुरगगलः करेण चक्रं ॥ आदाय ज्वलनशिखापरीतधारं स्मेरास्यो हरिधिति

निभयं वभापे ॥ ९१ ॥

विफलयति मनोरथांस्तवेदं कुलिशधरोऽपि सहो न पालुमस्मात्।।
निजमतिमथवा मम प्रणामे कुरु परमात्मिन वा परत्र हेतौ ॥९२॥
भीरोभीतिकरं त्वदीयवचनं नैवोन्नतानामिदं॥
वन्येभध्वनितं परं मृगशिशोः संत्रासकं किं हरेः ?॥
चकं तेन कुलालचकसहशं मन्येत कः सत्ववान्॥
शौर्यं वाचि न कर्मणि स्थितमिति प्रत्याह तं केशवः॥ ९३॥

८५ यानंतर अश्वर्ग्रावानें सोडलेले सर्व वाण नारायणाने आपल्या शार्क्ष नांवाच्या धनुष्यापाम्चन सोडलेल्या वाणांनी मध्येच तोइन टाकिले. ते सर्व वाण नारायणास पुष्पासारले वाटले. वरीवरच आहे की दुसऱ्यांचा मंग टेखिल सत्पुरुपांच्या हितासच कारण होतो अर्थात् कोणी जर सज्जनाचा कोणत्या रीतीन अपमानादिक केला तर त्यापाम्चन त्यांचेनुकमान न होतां फायटाच होतो. ८६ नंतर चक्रवर्तानें पृथ्वी व आकाश यांना एकरूप करून सोडणारी अंधारी रात्र उत्पन्न केली. परंतु सूर्याच्या कठोर किरणास जिंकणाच्या विष्ट्र नारायणाच्या कौन्तुम रत्नाच्या कांतीनें ती रात्र तत्काल नाहींकी केली ८७ या अश्वर्ग्रावाने ज्यांच्या हर्षितृन निघालेल्या विषाशीच्या ज्वालांनी सगले आकाश च्याप्त झाले होते असे सर्प चोहीकडे उत्पन्न केले परंतु आपल्या पंखाच्या वाच्यानें ज्यानें दक्ष उपट्टन टाकिले आहेत अशा गरुडाच्याद्वारें त्रिष्ट्रणनारायणानें त्यांना नाहींसे कहन टाकिले ८८ ज्यांच्यावर सिंह गर्जना करीत आहेत अशा रियर व उंच शिखरांनी युक्त अमलेल्या पर्वतांनीं या चक्रवर्तीनें सर्व आकाश व्याप्तन टाकिलें परंतु इंद्राप्तमाणें ज्याचे ऐश्वर्य आहे अशा या त्रिष्ट्रण नारायणानें कुद्ध हो उन वज्ञाच्या

साह्यानें त्यांचा शीघ्र नाश करून टाकिला ८९ लांकडांच्या अभावीं ही उत्पन्न केलेल्या अर्शानें घीर अशा चक्रवर्तीनें आकाश व पृथ्वीतल दोन्ही व्यापून टािकलें। त्यविन्धीं नारायणाने मायागयी मेघ उत्पन्न करून त्यांच्या पाण्यांनीं तो अग्नि शांत केलाः ९० निघणाऱ्या हजारो स्फुलिंगांनीं जिनें सर्व आकाश प्रकाशमय करून सोडलें आहे च निवारण करण्यास अशक्य असलेली अशी शाक्तिविद्या चक्रवर्तीनें नारायणाच्या अंगावर सोडली परंतु ती त्याच्या वक्षःस्थलावर ज्यांच्यातून किरण निघत आहेत असा हार बनली. ९१ या प्रमाणे ज्याच्या सर्व शस्त्रास्त्रांचे सामर्थ्य न्यर्थ झाले आहे अज्ञा त्या रोकण्यास अज्ञक्य असलेल्या अश्वग्रीवाने अग्नीच्या ज्वालांनी ज्याची धार वेढलेली आहे असे चक्र हातांत घेतलें व थोडेसें हंसरें तोंड करून निर्भय रीतीने तो विष्णुला पुढें लिहिल्याप्रमाणें बोलला. ९२ ''हे त्रिपृष्टा! हें चक्ररत्न तुझ्या सर्व मनोरथांना आज न्यर्थ करीत आहे. इंद्र देखिल तुझें यापासून रक्षण करण्यास समर्थ नाहीं. यास्तव मला नमरकार करण्यांत तूं आपली बुद्धि लाव किंवा परलोकीं कल्याण व्हावें अशी इच्छा असेल तर श्रीजिनेश्वराच्या ठिकाणी आपल्या बुद्धिचा उपयोग करून घे." ९३ हें त्याचें भाषण ऐकून नारायण त्यास हमणाला कीं, ''हे शत्रो! तुझें हें भाषण भ्याड लोकांना भय उत्पन्न करणारें आहे उन्नतांना यापासून कांहींच भय वाटत नाहीं. रानटी हत्तीची गर्जना ही हरिणाच्या पाइसास भीति दाखिवते सिंहाला ती भय दाखिवते काय? तुझें हें चक्रे क्वंभाराच्या चाकाप्रमाणे आहे याच्या योगानें कोणता मनुष्य स्वतःला पराक्रमी समजेल ? पराक्रम हा बोलण्यांत नसतो तो कृतींत असतो."

श्रुत्वा तदीयवचनं सभयावनीशैरालोक्यमानममुचत्तरसा स चर्कं ॥ तत्प्राप दक्षिणकरं मृगराजशत्रोराज्ञापयेति निगदन्मुहुरुद्यदर्चिः ९४

एतत्ते चक्रमुश्रं प्रथितिरिपुशिरॐछेदरक्तारुणांगं ॥
विद्धन्यस्य प्रतापादिखिलमहितले पूर्णकामा ह्यभूस्त्वं ॥
तत्प्राप्तं से कराश्रं कृतसुकृतवशात्तरकलं चेह मत्वा ॥
पूज्यं ते मेंऽि व्युग्मं भटिनवहतया तिष्ठ वाग्रेऽस्य धैर्यात् ॥९५॥
हृष्ट्वा तिन्नजहस्तसंस्थितमुरुज्वालोलसन्नोमिकं
निर्धूमज्वलनं यथा ह्यगलं तं विष्णुक्तचे पुनः॥

सप्तिग्रीव! ममाशु पादपतने शिष्यत्वमालम्बय 'श्रेयोर्थं मुनिपुंगवस्य तव नो वीक्षेऽन्यथा जीवितं ॥९६॥ ऊचे तं तु विहस्य नीरिधमना जिष्णुं हयग्रीवकः चक्रेण त्वमनेन गर्वितमतिर्नालातचक्रेण वा भूतो नालयमायुधेरविवरं पूर्णं न मे किं महत्॥ नीचा वाथ न कुर्वते खलु खलं लब्बा धृतिं किंतनां ॥९७॥ तिष्ठांग्रे किमु भाषितेन वहुना त्वं याहि मृत्योर्मुखं॥ ह्यन्यस्त्रीसुरताभिलापजफलं सुक्त्वाद्य सूढांतरे किंवा ये परदारसंगमसुखन्यासक्तवित्तास्तु ते जीवांति क्षितिपे प्रसाधितारिपौ सत्येव कालं चिरं । १९८॥ भुकोत्सृष्टं मदीयं क्रमयुगलरजस्तुल्यमत्यंतरागात्॥ प्राप्येदं लोष्टखंडं खलदलसदशं गर्वितस्त्वं विसूदः॥ क्षुद्राणां वातितुष्टिर्भवति भ्रुवि परा सिक्थमात्रेऽपि लब्धे ॥ काचिच्चेद्धास्ति शक्तिस्तव खलु हृदये शीष्रमेतिस्थिप त्वं ॥९९॥

९४ हें नारायणाचे भाषण ऐक्कन भयभीत झालेल्या सर्व राजाकडून पाहिलें जाणारें व ज्याच्यांतून ज्वाला निघत आहे असे तें चक्र चक्रवर्तीने मोठ्या वेगानें नारायणावर फेकिलें. तें नारायणाच्या उजन्या हातावर जणु मला आएण आजा करा असे म्हणत येऊन बसले.त्यावेली नारायणान्तर्त्यास म्हणाला की, ''हे बुद्धिमंता प्रासिद्ध शत्रुंच्या मस्तकाला लेंदून त्याच्या रक्ताने ज्याचे आरे लाल झाले आहेत असे हें भयंकर चक्र माह्या हातांत आज आलें आहे. या चक्राच्या सामध्यांनें तूं या भूतलावर सर्व इच्लांनी पूर्ण झाला आहेत. अर्थात् तुझ्या सर्व इच्ला या चक्रानें तुला पूर्ण करून येता आल्या आहेत. मला माझ्या पूर्व पुण्याचे फल म्हणून हें चक्र प्राप्त झालें आहे असे मानून तू शूर पुरुपासह माझ्या पायांची पूजा कर अथवा या चक्राच्या पुढे धेर्यानें जमा रहा. ९६ ज्याची थाव मोठ्या ज्वालांनी गोभत आहे व धुरानें रहित असलेल्या अग्रीप्रमाण उज्लबल असे ते चक्र

आपरया हातांत आलेलें पाहून पुनः नारायणानें अश्वग्रीवाला याप्रमाणें ह्मटलें:-"हे अश्वय्रीवा, तूं माझ्या पाया पडून माझा नोकर हो अथवा कल्याणाक्षरितां धानिश्रेष्टांचा शिष्य हो. या शिवाय तुला जगण्याचा दुसरा उपाय मला दिसत नाहीं." ९७ हें नारायणाचें भाषण ऐकून समुद्राप्रमाणे गंभीर असा अश्वप्रीव त्याला हसून याप्रमाणे वोललाः—"अग्नीच्या वकायमांण असलेल्या या चकानें तुला गर्व उत्पन्न झाला आहे. माझें मोठें शस्त्रगृह अनेक प्रकारच्या शस्त्रांनीं अगदी पूर्ण भरून गेलें आहे. अथवा जे नीच, दिस्त्री असतात ते पेडी सारखा तुच्छ पढार्थ मिळाला असतांही संतुष्ट होत नाहींत काय?" ९८ ' हे अव्वय्रीवा ! पुष्कळ वडवड करू नको, पुढें उभा रहा. आज या युद्धांत परस्त्रीच्या संभोगाचा अभिलाप करण्यापासून जें फल विलतें त्याचा उपभोग घेऊन नियमानें मृत्यूच्या तोडी जाऊन पड. जे पुरुष परस्त्रीच्या सहवाससुखांत आसक्त झालेले आहेत ते ज्यानें सर्व शत्रूंना जिंकिले आहे असा राजा जिवंत असतां पुष्कळ काळापर्यत कसे जीवंत राहू शकतील ? " ९९ या भाषणानंतर अश्वग्रीव पुनः नारायणास या प्रमाणं बोलला. "हे नारायणा, हें माझें चक्रमी भोगून त्यागलें आहे. हें माझ्या दोन पायाच्या धुळीप्रमाण मी तुच्छ समजतों. परंतु तुं मूढ आहेस. तृं अतिशय लुट्ध होऊन हेकळाममाण किंवा पेडीच्या तुकड्याप्रमाणे हे प्राप्त करून घेऊन गर्विष्ठ वनला आहेस. वरोवरच आहे कीं, भाताचें एक शीत मिलालें तरी ही क्षुद्र माणसांना फार आनंद होत असतो. अरे नारायणा, जर तुझें हृदयांत कांहीं सामर्थ्य असेल तरं हे चक्र तूं लौकर फेक." चकं प्राप्य स विष्णुरेवमवदन्मत्पादयोस्तवं नमः प्राग्वते विभवं करोमि कुमुदं जह्या वृथा मानसं ॥

चकं प्राप्य स विष्णुरेवमवदन्मत्पादयोस्तं नमः
प्राग्वते विभवं करोमि कुमुदं जह्या वृथा मानसं ॥
इत्युक्ते हयकंघरेण परुषं निर्भार्तितस्तत्क्षणात्
तत्कुद्ध्वास्य शिरो गृहाण स इति क्षिप्रं हिरः प्रैक्षिपत्॥ १००॥
अवलंब्य हरेस्तदा तदाज्ञां विनिवृत्त्याशु रथांगमाजिरंगे॥
समपातयदश्वकंघरस्य स्फुरदर्चिर्मुकुटं शिरः शिरोधेः॥ १०१॥
हत्वैतं हयकंघरं निजरिषु चकेण घारानल—
ज्वालापछिवितेन तेन न तथा रेजे पुरोवर्तिना॥

## वैराशंसनसंपदं सह नृपैः पश्यन्नभोलंघिना-माबद्धाभययाचनांजलिभृतां चकेण विष्णुर्धधा ।। १०२ ॥ इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरित्रे महाकाव्ये त्रिष्टघविजयो नाम नवमः सर्गः ॥

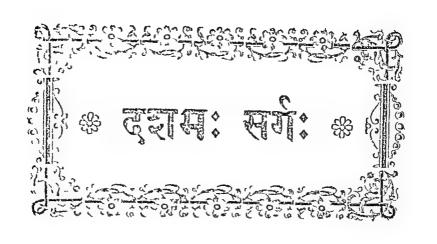
१०० चकरत्नाची प्राप्ति झाल्यानें युनः नारायण अख्यीवाला याप्रधाणे महणालाः—"हे अख्यीवा, तुं न्यथं अंतःकरणांतील खांटा गर्व सोड्न दे. माड्या पायांना नमरकार कर. महणजे पूर्वीप्रमाण मी तुला वैभवसंपद्म वनवीन." असे भाषण केल्या वरोवर अख्यीवाने त्याची फार निर्भत्तेना केली. त्यामुले नारायणाला फार क्रोध आला व त्याने या अख्यीवाचे मस्तक ग्रहण कर महणून ते चक्ररत्न शीघ्र त्याच्यावर फेकिलें.

१०१ नारायणाच्या आजेचे अवलंबन करून ते चक्ररत्न युद्धभूभीमध्ये पुन शीघ्र परतृत त्याने ज्याच्यातृन किरण दाहेर पडत आहेत अशा सुकुटान युक्त असलेले अवग्रीवाचे मरतक त्याच्या मानेबरून तत्काळ खाळी पाडले.

१०२ अभयदान मागण्यासाठी ज्यांनी ठात जोडले आहेत अश विद्याधरांच्या राष्ट्रदायाने वैर सूचित करणाऱ्या संपत्तीला पाहात असतांना जसा तो त्रिष्ट शोभला तसा आपला शत्रु जो अश्वप्रीच त्याला युद्धामध्यें टार भारून धारेपासून नियालेख्या अग्निज्वालेन पालवी फ़टल्याममाणे दिसणाऱ्या चक्र रत्नाने शोभला नाही.

या अमाणें असग कवीनें र्चिछेल्या श्रीवद्धेमान चरित नांवाच्या महाकाच्यांत त्रिपृष्ट विनय नांवाचा नववा सर्ग समाप्त झाछा.





अथाभिपिक्तो विजयेन केरावः समं नरेन्द्रैः सक्लैश्च खेचरैः॥ पुरा समभ्यच्ये जिनं सपर्यया स चक्रमानचे यथोक्तया पुनः॥१॥ प्रणामतुष्टेर्युरुभिः ससंभ्रमेरुदीरिताशीरभिषूज्य राजकम् ॥ पुरसरीभूतरथांगमंगलो हरिःप्रतस्थे द्रादिग्जिगीपया ॥ २॥ दिशं महेंद्रस्य महेंद्रसन्निभः पुरा वशीऋत्य निजेन तेजसा ॥ रराज देवं विनमस्य मागधं पराईतहत्तविचित्रभूषणैः ॥ ३ ॥ ततो वरादिं तनुमच्युतो नतं सुरं प्रभासं च परानिप क्रमात ॥ उपागतान्द्रीपपतीनुपायनैरतिष्टिपत्तान्निज एव धामनि ॥ ४ ॥ स भारतार्छ परिसम्मिते दिने विधाय सर्व करदं यथे च्छया ॥ ततः पुरं पोदनसुच्छितध्वजं विवेश पौरैः परिवार्य पूरितः॥ ५॥ हरेरुदीचीयवसवानायकां प्रसादतः श्रेणिमवाप्य वांछितां॥ अस्त्कृतार्थो रथनूपुरेश्वरो न वर्धते कः पुरुषोत्तमाश्रितः॥ ६॥ अयं पतिवीं विजयार्द्धवासिनां वह ध्वमस्यैव निदेशमादरात्॥ इतीरियत्वा सह तेन खेचरान्धुमोच सम्मान्य यथाक्रमं विभः॥७॥ यथावदापृछय ततः प्रजापतिं नभश्चरेंद्रस्य पुरैव पादयेः॥ पपात सम्राट् सह सीरपाणिना सतां हि लक्ष्मा दिनयो वितीर्यते।८। भणामपर्यस्तिकरीटकोटिना निपीडयंतं शिरसा पदद्रये ॥ युदार्ककीति परिरम्य तावुभी स्वचेतसा तं विससर्जतुः समं॥९॥

## ययौ तनूजामनुशिष्य पद्धतिं परां सतीनां सह वाखेवगया॥ प्रमृज्य तच्चक्षुरुद्धु पाणिना नभश्चरेंद्रो मुहुराहानोऽप्यसौ॥१०॥

१ यानंतर सर्व मांडलिक राजे व सर्व विद्यायर यांनी विजय वलभट्रासह नेशवाचा-त्रिपृष्ट नारायणाचा राज्याभिषेक केला. अभिषेक विवीनंतर श्रीजिनेहार्ची केशवानें प्रथम पूजा करून नंतर शास्त्रोक्त पद्धतीने चक्ररत्नाची पूजा केली. २ केशवानें जेव्हां वडील माणसांना नमस्कार केला तेव्हां त्यानी मोठ्या आदराने त्यास आशीर्वाद ढिला. यानंतर केशवानें सर्व राजसमूराचा आदर सत्कार केला. ज्याला चक्रवाक पक्षाचा शुभशकुन झाला आहे अथवा कल्याणपट चक्ररत्न ज्याच्यापुढॅ झालें आहे असा तो केशव दहादिशा जिंकण्याच्या इच्छेन निघाला. ३ इंद्रासारखें ऐश्वर्य ज्याचे आहे. अशा त्या केशवाने प्रथमतः आपल्या पराक्रमाने इंद्राची दिशा अर्थात् पूर्व दिशा जिंकून मागध नांवाच्या ढेवाला त्यानें नम्र केले अर्थात् नमस्कार करावयास लाविलें व त्यानें दिलेल्या अमृल्य नाना प्रकारच्या अलंकारांनी तो शोभू लागला ४ यानंतर क्रमानें वरतनु, द प्रभास नांवाच्या देवांसही त्याने नम्र केले व नजराणा घेऊन आलेल्या सर्व द्वीपांच्या राजांना आपल्या पराक्रमाच्या स्वाधीन केलें ५ थोडक्याच दिवसांनीं केजवाने अर्थे भरत क्षेत्र कर देणारे केलें व ज्यामध्ये चोहोकडे जयध्वजा उभा केल्या आहेत अज्ञा आपल्या नगरांत नगरवासी लोकांनी वेष्टिलेला होऊन इच्छानुसार पोद्नपुर शहरांत प्रवेश केला. ६ जिचा अधिपति मरण पावला आहे अशा इच्छिलेल्या उत्तर श्रेंभीचे राज्य केशवाच्या कृपेने रथनूषुर शहराचा राजा जो ज्वलनज़टी त्याला मिळालें त्यामुळे तो कृतार्थ झाला. वरोवरच आहे की ज्याने पुरुषोत्तमाचा-केशवाचा आश्रय घेतला आहे असा कोणता मनुष्य उन्नता-वस्थेंला पोहोचणार नृहिं। वरें १ ७ " हे विद्याधरांनो ! हा ज्वलनजटी विजयार्ध पर्वतावर राहणाच्या तुम्हा विद्याधरांचा पति आहे. याचीच आज्ञा तुम्ही आढराने आपल्या पस्तकावर धारण करा" असे वोल्हन त्या ज्वलनजटीसह त्या विद्याधरांचा - यथाक्रम आदर करून त्यांचें त्यानें विसर्जन केलें. ८ प्रजापित महाराजांना जाण्यावद्दल परवानगी विचारणाऱ्या विद्याधरांचा अधिपती अज्ञा ज्वलनजटी राजाच्या चरणांना अर्ध चक्रवर्ती केशवाने वलभद्रासह नमस्कार केला. वरोवर आहे. सत्पुरुपांना लक्ष्मी विनय अर्पण करीत असते ९ वाकते वेळीं नम्र



३ संगम नांवाच्या देवाने हजार फणांनी भयंकर दिस्णारे असे सर्गाचे रूप विकित्य थेने घरण करून वहाचा बुधा त्याच्या सर्व फांदासह धेदून टाफिला, न्यायेने त्या भयंकर सर्पाला पाहून सर्व लहान मुलें पटापट खाली पड़े नागली नेद्या प्रमु नीने भयंकर सर्पाला पाहून सर्व लहान मुलें पटापट खाली पड़े नागली नेद्या प्रमु नीने पर उत्तर सर्पाच्या मस्तकावर आपले दोन पाय ठेऊन निर्भयपण यादावरून जिम्मीय पर पर पर पर सर्पाद वर्षावरच आहे की, बीर पुरुपाला जगांन भय उत्पक्त करणार फांटी फांटी पर पर पर नाही प्रभूचा निर्भयपणा पाहून देवाचे अनःकरण आनंदिन झालें न्यान आपलें हम दगट करून व सुवर्णकलशाच्या पाण्याने प्रभूचा समियेक फलन न्याचे महाबीर प्रमें नांव ठेविलें. पृष्ठ. ३५६.

झालेल्या किरीटाच्या अग्रभागानें युक्त अशा आपल्या परतकानें चरणद्वयास पीडित करणाऱ्या अर्थात् नमस्कार करणाऱ्या अर्ककीतींला बलभद्र आणि केशव यांनीं अन्तः करणपूर्वक आनंदानें आलिंगन देऊन विसर्जन केलें १०नभश्चरेंद्र अर्थात् विद्याधर-पित ज्वलनजटा राजानें आपलें व आपल्या कन्येचें रवयप्रभेचें पाण्यानें भरलेले दोन होले आपल्या हातांनीं पुसून व तिला पतित्रता स्त्रियांच्या वागण्याच्या पद्धतींचा उत्कृष्ट उपदेश करून आपल्या वायुवेगाराणीसह आपल्या रथनूपुर शहरास प्रयाण केलें.

नरेश्वरैः षोडशभिः समन्वितो हरिः सहस्रैः कमनीयसूर्तिभिः॥ वधूभिरप्यष्टसहस्रसाम्मतैः सुरैश्च नित्यं विरराज किंकरैः ॥११॥ निरीक्ष्य साम्राज्यमिति प्रजापतिः सुतस्य तस्य स्वमनोऽनुवार्तिनः॥ स्वबंधवर्गेः सह पित्रिये परं मनोरशेभ्योऽप्यतिरिक्तभूतिभिः॥१२॥ स भूपतीनां च नभोविलंबिनां नखप्रभालीं मुकुटेषु पादयोः॥ दिगंतरेष्विद्मरीचिनिर्मलां निधाय कीर्तिं च शशास मेदिनीं॥१३।, स्वपादानम्रान्सचिवस्य शिक्षया सपत्नबालानवलोक्य केशवः॥ परानुकंपामकरोद्दयार्द्रधीर्दयालवो हि प्रणतेषु साधवः॥ १४॥ अकालमृत्युर्न बभूव देहिनां मनोरथानामगतिर्न कश्चन॥ अकृष्टपच्यांचितशस्यशालिनी तदीयपुण्येन धरापि सा सदा॥१५॥ सुखाय सर्वत्र सदा शरीरिणां ववौ तदिच्छामनुर्वतयन्मरुत्॥ महीरजः श्रालनमात्रमं बुदाः सुगां धितोयं ववृषु दिने ।। १६॥ उपास्त सर्वर्तुगणो निरंतरं निजदुमाणां प्रसवैश्च वीरुधां ॥ समंतमन्योऽन्यावरोधवानीप प्रभुत्वमाश्चर्यकरं हि चिक्रणः॥१७॥

सुराज्ञि यस्मिन्परिपाति मेदिनीमन्नवृत्तेषु समुनातात्मसु ॥ मगेक्षणानामुरुयोवनिश्रयां कुचेषु काठिन्यमभूच्च सोप्मता ॥१८॥ अवाप्तसाधुश्रवणेषु सायतिं द्घत्मु कान्ति धवलेषु केवलं॥ परिप्लवत्वं नयनेषु योषितामलक्ष्यतान्तर्मिलनत्वमप्यलं॥ १९॥

११ हा तिपृष्ट केशव सोळा हजार गांडालिक राजे व सोळा हजार सुंटर स्त्रिया व नोकर असल्लेखा आठ हजार देवांनीं नेहमी फार शोधू लागला. ११ आपल्या मनाला अनुक्रल अशा रीतीनें वानणाऱ्या आपल्या मुलांचं हें उत्कृष्ट राज्य पाहून व मनांत इच्छिल्या पेक्षांही अधिक शाप्त झालेलें पृश्वर्य बघुन प्रजा-पित महाराज आपल्या वंधुवर्गासह फार खुप झाले. १३ त्रिपृष्टकेशव आकार्शात्न गमन करणाऱ्या विद्याधरांच्या मुकुटावर आपल्या दोन पायांन्या नखकांतीचा समूह ठेवून व दहा दिशांच्या मध्यभागांत चंद्राप्रमाणें निर्मेळ अशी कीर्ति टेवून र्सव पृथ्वीचे राज्य करूं छागला. १४ प्रधानजीच्या उपदेशाने आपल्या चरणास नमस्कार करणाऱ्या शत्रूंच्या मुलांना पाहृन द्येन ज्याची बुढ़ि ओली आली आहे अशा त्रिपृष्टानें त्यांच्यावर फार दया केली. वरीवरच आहे कीं, सज्जन नम्र झालेल्यावर दयाच करीत असतात. त्रिपृष्ठाच्या राज्यांत अकाली मरण नव्हतें व सर्वोचें मनोस्थ पूर्ण होत असत. याच्या पुण्यानें सर्व पृथ्वी न नांगरतांच पिकणाच्या धान्यांनीं नेहभीं भरछेछी होती. १६ या राजाच्या इच्छेछा अनुसरून वागणारा वारा सर्वे टिकाणी नेहमीं प्राण्यांना सुख देणारा असा वाहात होता. व दररोज मेघ जमीनीवरचा धुराळा उडविण्या पुरत्या सुंगंधित पाण्याची दृष्टि करीत असत. १७ परस्परांशी विरोध ठेवणारे असेही सर्व ऋतु आपल्या द्रक्षांच्या व वेलींच्या पुष्पांनी नेहमी सर्ववाजून त्या चक्रवर्ती तिपृष्टाची सेवा करू लागले. यावरूच चक्रवर्तीचें प्रभुत्व आश्चर्यकारक होते. १८ उत्तम राजा असळेळा हा चऋवर्ती पृथ्विचे पाळन करीत असतां भर नारुण्याने शोभत असळेल्या स्त्रियांच्या गोल पूर्ण भरलेले, उंच अर्थात् पुष्ट असलेले, अशा स्तनांच्या ठिकाणींच काठिणपणा व उप्णपणा होता. परतु अनूनवृत्त-सटाचार परिपूर्ण व समुन्नत अशा सज्जनांच्या ठिकाणीं कठिणपणा-अथीत् अंत.करणें कठोर असणे, व सोष्मता-उताविळपणा किंवा क्रोध असणे या गोष्टी नव्हत्या। ं१९ उत्तम अञ्चा कानापर्यंत पाप्त झाछेछे, दीर्घपणासह उज्वलपणा घारण कर-णारं अशा स्त्रियांच्या पांढच्या डोळ्यामध्येंच फक्त चचलपणा व आंत अधिक काळेपणा होता. परंतु जे अवाप्तसाधुअवण अर्थात् मिळविळी आहे उत्ताम मुनींची संगति ज्यांनीं अशा धवल-उत्तम सत्पुरुपाच्या ठिकाणी-निर्मल मनांच्या सज्जनांच्या ठिकाणीं परिष्ठवत्व-चचळपणा अन्तर्मछिनन्व म्हणजे आंतून काळेपणा-ऋपटी स्वभाव हे दुर्गुण मुळींच नसत.

सदांतराईं घरास वर्षणाद्रजोविकारप्रसरापहारिषु ॥ अजायताश्रेषु विचित्ररूपता निरर्थकं गर्जितमप्यकारणं ॥ २० ॥ अलंघनीयस्थितिमत्स भृतले प्रशस्तवंशेषु वहत्स तुंगतां ॥ धराधरेष्वेव सदा विपक्षिता नभ्व दुर्मार्गगितिश्च निश्चिता ॥२१॥ अनूनसत्वा बहुरत्नशालिनो महाशया धीरतया समन्विताः ॥ सदुःप्रवेशां स्थितिम्हुरर्थिनां प्रसिद्धदुर्गाहतयां बुराशयः ॥ २२ ॥ कलाधरेषु क्षणदाकरेऽभवत्प्रदोषसंगक्षयग्रद्धिवकता ॥ महोत्पले श्रीनिलयेषु च क्षितौ जलस्थितिमित्रवलादिनुंभणं ॥२३॥ सुविपियश्चारुषलेषु पादपो मधुप्रियोऽलिः सुमनोऽनुवर्तिषु ॥ दुरासदोऽभूदिहरेव भोगिषु स्फुरद्दिजिव्हात्मतया मनीपिभिः २४

२० सदांतराई म्हणजे नेहमी पाण्याने ओथंबलेले व धरासु वर्षण अर्थात् पृथ्वीवर पाण्याची दृष्टि करून रजोविकारप्रसरापहार करणारे अर्थात् सर्व धूळ व अस्वच्छ पणा दूर करणाऱ्या अञ्चा मेघामध्येच फक्त त्या ठिकाणीं विचित्ररूपता, निरर्थक व निष्कारण गर्जना करणे ह्या गोष्टो आढळ्न येत असत. लोक देखील नेहमी अंत-राई होते-दयाछ होते. गरीव लोकांना सुवर्षण करीत होते-दान देत होते रजो-विकारांचा अर्थात् पापाचे विकार जे रागद्वेष त्यांचा अपहार-नाश करीत होत. परत ते विचित्ररूपाचे नव्हते अथीत् एक रूपाचे निष्कपटी होते. निरर्थक व विनाकारण-गर्जना करीत नव्हते म्हणजे कार्यशंसगीं योग्य शौर्य व भाषण करीत असत. २१ या अतलावर पर्वतच अलंघनीयस्थितिमान् होते-उल्लंघता न येण्याजोगे होते व प्रशस्तवंश होते अर्थात् उन्नत वेळ्ंच्या वेटांनीं युक्त होते. व तुंगता त्यांनी धारण केली होती अर्थात् अतिशय उंच होते. त्यांन्या विकाणींच विपक्षिता पंत-रहित पणा व दुर्मोर्गगित वाईट मार्गाचा खाच खळग्यांच्या मार्गाचा प्रवेश होता. या त्रिपृष्ट चक्रवर्तीच्या राज्यांतील लोक अलघनीयस्थितीचे होते-मर्याटा न उल्लंघणारे होते. प्रशस्तवंशामध्यें-कुलामध्ये जन्मलेले होते व ते आपली तुंगता मोठेपणा कायम ठेवीत असत. पण ते विपक्षतेला विशिष्ट पक्षाला-उत्तम वाजला धारण करीत असून दुर्मार्गगतिचे नव्हते पापमार्गाने वागणारे नव्हते. २२ या राजाऱ्या राज्यातील समुद्र अन्नसत्य- विषुठ जठवर पाण्यांना धारण करणार

बहुरत्नशाली व महाशय-विस्तीर्ण आणि धीरतया-गंभीरपणाने युक्त होते परंतु प्रसिद्ध असे दुर्ग्राह-क्रूर मगर वैगेरनी युक्त असन्यामुळी अधी लोकांना व्यापारी सुदुष्पवेश्य होते परंतु या राज्यांतील श्रीमंत लोक अन्नसन्य-पुष्कल आदार्य गुणधारक, पुष्कळ रत्नांनी युक्त, महाशय-उत्तम विचाराचे व घीरपणाने युक्त होते.परंतु दुग्रोही दुराग्रही नसल्यामुळे याचक लोक तेथे प्रवेश करीन असन.२३कला धारण करणाऱ्यांपेकी चंद्रामध्यंच मदोप संसर्ग-रात्रीचा संसर्ग होणें, क्षय, हाद्धि वांकडेपणा है दोष होते. तेथील कला जाणणारे लोकांत हे दोप नव्हतं तसंच तेथे रुक्ष्मीचे निवासस्थान वनलेल्यामध्ये कपलच फक्त या भृतलावर जलस्थिती युक्त-पाण्यामध्यें राहणारे, च मित्रवलाद्विजूंभण अर्थात् सूर्यापामून विकास पावणें या स्वभावांनीं युक्त होते. तेथील लोक जडिस्थती-मृखिरया संवंधाने युक्त व मित्राच्या सामध्यींने उच्छूंबल वनेलेल नन्हते. २४ चारुफलविपर्या-सुंदर फलाविषयौँ सुविभिय-अगदीं प्रतिकुल फक्त वृत्तच होता. अर्थात् तो सु-उत्तपरीतीनें-विभिय-पश्यांना आवडता होता. झाडाळा उत्तम फळे आळी असतां तो पक्षांचा आवडता वनतो. तेथील लोक सुंद्र असे जे पुण्यकल त्याविषयीं सुविषिय-प्रतिक्र्ल नन्हते. सुमनोनुवर्ती अर्थात् विद्वानांचे अनुसरण करणाऱ्यामध्यें कोणी मधुप्रिय-दारू ज्याला पिय आहे असा नन्हता. फक्त सुमनोनुवर्ता-फुलांना अनुसरणान्यामध्यें मधुपिय -मकरद ज्याला आवडतो असा फक्त अलि-भ्रंगा शोता. भोगि लोकांत--विलासी लोकांत विद्वान लोकांना कोणीही द्विजिन्हात्मतया दोन जिभांनी युक्त अधीत् चहाडखोर आढळून आछा नाहीं परतु भोगि स्रोकांत-सर्पसमृहांत माल द्विजिन्हता दोन जिमांनी युक्त असणे ही अवस्था विद्वान छोकांना आढळून आछी.

वभार हारो गुणवत्सु केवलं सुवृत्तमुक्तात्मकतामनारतं ॥
सदा परेषां मणिमेखलागुणः सुजातरूपेषु कलत्रमग्रहीत् ॥ २५ ॥
प्रियावियोगव्यथया कृशीकृतो निशासु कोको भुवि कामुकेष्वभूत्।
ननाम मध्यः कुचभारपीडितो नितंबिनीनां न च दुर्वलःपरः ।२६।
इति प्रजासु प्रतिवासरं परां स्थितिं वितन्वन्विगतोरुसंभ्रमः ॥
ररक्ष रत्नाकरवारिमेखलां वसुंधरामेकपुरीमिवाच्युतः ॥ २७ ॥

असूत कालेन यथाक्रमं सुतो स्वयंप्रभा कन्यकया सहैकया॥ स्वा स्वे तस्य प्रमदाय वल्लभा॥ स्व ॥ परंतपः श्रीविजयोऽग्रजः सुतस्ततः कनीयान्विजयो यशोधनः॥ प्रभोत्तरज्योतिराभिल्यया सती सुता च रेजे सगशावलोचना। १९। पितुर्गुणांस्तावनुचक्रतुः सुतो वपुर्विशेषेण समं समंततः॥ विजित्य कांत्या तनुजा स्वमातरं बभूव शिलेन समा च केवलं ३० नरेंद्रविद्यासु गजाधिरोहणे तुरंगपृष्ट च समस्तहेतिषु॥ अवापतुस्तो नितरां च कौशलं कलासु सर्वासु च सापि कन्यका ३१ अथैकदा दृतसुखान्नभःस्पृशां निशम्य नाथं तपिस प्रतिष्ठितं॥ प्रजापातिस्तत्क्षणिमत्यचित्रयिद्धाय बुद्धं विषयेषु निस्पृहाम । ३२। स एव धन्यो रथनूपुरेश्वरो मतिश्च तस्यैव हितानुवंधिनी॥ सुखेन तृष्णामयवज्यपंजरादिनिर्ययो यो दुरितक्रमादिप॥ ३३॥

२५ गुणवानामध्यें फक्त हारच नेहमीं सुवृत्तात्मक होता अर्यात गोल व मोत्यांच्या समूहांनीं युक्त होता. इतर कोणी तेथे सुवृत्तमुक्तात्मक अर्थात् उत्तम अचरणानें रहित नव्हता. सुजातरूप—अर्थात नम्ररूप धारण करणाच्या सुनिमध्यें फक्त मेखलागुण अर्थात् कंचरपट्टा तोच नेहमीं उत्कृष्ट सियांची कंचर ग्रहण करीत असें अर्थात् सुजातरूप सोन्याच्या दागिन्यामध्यें फक्त रत्नाचा वनलेला कंचर पट्टा स्त्रिया आपल्या कंचरेत घालीत इ.सत. २६ कामुक लोकामध्यें फक्त रात्रीं कोकपश्लीच प्रिया वियोग व्यथेनें युक्त होता अर्थात् त्यालाच फक्त आपल्या मादीचा विरह रात्रीं होजन कृशपणा प्राप्त होत असें. या राजाच्या मादीचा विरह रात्रीं होजन कृशपणा प्राप्त होत असें. या राजाच्या पाज्यांत दुसरा कोणी दुर्वल झाला नव्हता. २७ याप्रमाणें राज्यांत दुसरा कोणी दुर्वल झाला नव्हता. २७ याप्रमाणें पाज्यांत दुसरा कोणी दुर्वल झाला नव्हता. २७ याप्रमाणें पाज्यां प्रत्येक दिवशीं उत्कृष्ट स्थिति करणारा व शत्रूच्या मोठ्या भूमापासून रहित असलेला तो त्रिपृष्ट नारायण समुद्राचें पाणी हेच जिचा कमरपट्टा आहे अशा संपूर्ण पृथ्वीचें एका नगराप्रमाणें रक्षण कल कमरपट्टा आहे अशा संपूर्ण पृथ्वीचें एका नगराप्रमाणें रक्षण कल लगाला. २८ स्वयंप्रमेला काहीं काल लोटल्यावर दोन मुलगे व एक कन्या झालीं लणा पृथ्वीनें राजाला आनंदित करण्याकारितां विपुल लक्ष्मीसह कोश व इंड

**उत्पन्न केले. २९ राजाच्या वा**डिल मुलाचें नांव श्री विजय असें होते व तो परंतप इहणजे जर्त्रुना तस्त करून सोडणारा होता. धाकट्या धुलाचे विजय अर्से नांव होते व तो यशरूपी धनानें युक्त होता. मुर्लीचे ज्योतिः प्रभा असे नांव होते व हरिणाप्रमार्गे तिचे डोळे असल्यामुळें ती फार शोभत असे. ३० शरीराच्या सौदर्यासह त्या उभय पुत्रांनी आपल्या वापाच्या गुणांचे पूर्ण अनुकरण केले. द सौंडर्याच्या वावतीत ज्योति:मभेने आपत्या मातेला जिंकिलें होतें. पण शीलानें मात्र ती आईच्या वरोवरीची होती. ३१ राजविचेत-नीतिवास्नांत, हत्तीवर् चढणें, घोड्यादर चढणें, व सर्व प्रकारच्या गलास्त्रामध्यें त्या दोन मुलर्निं। पूर्ण पाविण्य पिळाबिळें होते. व कन्येन हि सर्व प्रकारच्या कलामव्यें चातुर्य प्राप्त करून चेतल होते. ३२ एकेवेळी दृताच्या तोहून विद्याधराचा अधिपति ज्वलन-जटी हा दीक्षा घेऊन नपश्चरणामध्ये लीन झाला आहे ही हकीकत ऐकून प्रजा-पति महाराजांची बुद्धि पंचेद्रिय विषयामध्ये निःस्पृह झाली तेव्हां याप्रमाण ते विचार करू लागले. ३३ सहज रीतीनें ज्यांतून निघणे फार काठिण आहे अशा आगारूपी पिगऱ्यांतृन ज्या अथीं रथनृषुराधिपति ज्वलनजटी मुक्त झाला त्या अर्थी तोच खरेाखर धन्य झाला असे मी समजतो व त्याचीच बुद्धि हिताला अनुसरणारी आहे असे मी मानितो.

अशेषभावाः क्षणभंगुरा न किं किमस्ति लेशोऽपि सुखस्य संसृतौ। तथापि जीवः स्वहित न वर्तते करोत्यकार्य बत बोधहुर्विधः ।३४। यथा यथायुर्गलति प्रतिक्षणं तथा तथा प्राणितुसेव वांछति ॥ असक्तमात्मा विपयैर्वशीकृतो न जायते तृप्तिरथास्य तैरपि॥३५॥

नदीसहस्रेरिव यादसांपतिस्तनूनपादिंधनसंचयैरिव ॥
 चिराय संतुष्यित कामयस्यरो न कामगोगैः पुरुषो हि जातुचित् ।३६।

हिप्पणी:—दहनम्नृणकाष्ठसंचयैगिष नृप्येदुद्विर्नदीशतः ॥
 न तु कामसुख पुमानहो चलवता खलु काषि कर्मणः ॥ ७२ ॥

चडप्रभवरिते प्रथमरागं —समानायगः स्होक. ॥

इमे मम प्राणसमाः सनाभयः सुतोऽयिमष्टः सुहदेप न्छयः ॥ इयं च भायी धनमेतदित्यहो विचेतनस्ताम्यति चिंतयनस्या ॥३०॥ शुभाशुभं कर्मफलं समश्ते धुवं पुमान्याक्तनमेक एव हि॥ अतःस्वतोऽन्यःस्वजनःपरोऽपि वा न विद्यते कश्चन देहवारिणाय३८ किमिंद्रियार्थैः पुरुषो न विस्ता महीयते कालवशाहुपागतः॥ इदं तु चित्रं न जहाति तान्स्वयं समुज्झितोऽपि प्रसमं जरातुरः॥३९॥ असक्तमादौ मधुरं मनोहरं विपाककाले बहुदुःखकारणं॥ उशन्ति सन्तो विषयोद्धवं सुखं सुपक्वकिंपाकफलाशनं यथा।।४०॥ सचेतनः स्थातुमिहोत्सहेत को वृथैग ताम्यन् विषयेच्छया गृहे ॥ मुदुस्तरस्यापि जिनेंद्रशासने अवांबुधेरुत्तरणप्रवे सति ॥ ४९ ॥ निवृत्तरागप्रसरस्य यत्सुखं रामात्मकं शाश्वतमात्मनि स्थितं ॥ दुरंतमोहानलतप्तचेतसः किमस्ति तस्यैकलवोऽपि रागिणः ॥४२॥ जिनोदितं धर्ममवेत्य तत्वतः समीहते यो विषयात्रिपेवितुं ॥ पिबत्यसौ जीविततृष्णया विषं विहाय पाणावसृतं विचेतनः । १२।

३४ जगांतील सर्व पदार्थ क्षणांत नाश पावणारे नाहींत कार्या या संसागत वारतिक विचार करून पाहिला असतां सुखाचा लेश देखील आह कार्य शतरी देखील जानहीन जीव आपल्या हिताकडे वलत नाहीं, मात्र अकार्य करीत आहे, हें आश्चर्य आहें, ३५ हा आत्मा प्रत्येक क्षणीं जसें जसे पाचें आयुष्य क्यी होत चाललें आहे, तसें तसे जगण्याचीच इच्छा करीत आहे, हा पंचेद्रियांच्या विषयांनी—स्त्री वगैरे पदार्थीनी अधिक पराधीन करून सोडला आहे, या पदार्थीचा हा नेहमी उपभोग घेत आहे, तथापि याची तृप्ति होतच नाहीं, जगा समुद्र हजारो नद्यांच्या पाण्यांनी तृप्त होत नाहीं, लांकडांच्या समुदायानी जशी अग्रीची तृप्ति होत नाहीं तशी कामपीडित झालेल्या या आत्म्याला केदांही कामभोगांनी तृप्ति होत नाहीं, ३७ हे माझे वंधु पाणासारख प्रिय अहित, हा माझा मुलगा मला फार आवडतो, हा माझा आवडता भित्र आहे. ही माझी वायको, हे माझे धन आहे, असा विचार करणारा टा मूर्ख आत्मा व्यर्थ प्रदेश वायको, हे माझे धन आहे, असा विचार करणारा टा मूर्ख आत्मा व्यर्थ प्रदेश

पावत आहे. ३८ या आत्म्यानें पूर्व जन्मां जें शुभ किंवा अशुभ कर्म केलेंहें असतें त्याचें फल या एकट्यालाचे अवश्य भोगात्रे लागतें. यास्तव या द्हेधारक आत्म्याला रवतःपेक्षां दुसरा रवजन-वंधु नाहीं व रवतःपेक्षां पर-शत्रु ही नाहीं. स्वतः हा आत्मा आपलें धर्माचरणाने कल्याण करून घेईल तर हा आत्माच स्वतःच बंधु आहे. व अधर्माचरण करील-विषयी वनेल तर हाच स्वतःचा शत्रु आहे. ३९ कालवश होऊन हे इंद्रियभोग्य पदार्थ आपण होऊन या आत्म्याचा स्वाभाविक रीतीनें त्याग करीत नाहींत काय? अवध्य त्याग करितातच, परंतु दृद्धावस्थेने अगदीं विकळ झालेला असा ही हा आत्मा त्यावि-षयाकडून सोडला गेला असतांही त्यांना सो इचिलत नाहीं. हें पात्र आश्चर्य आहे. ४० पंचेंद्रियांच्या विषयापासून उत्पन्न झालेलें सुख प्रथमतः अधिक मनोहर व मधुर वाटतें परंतु परिणामीं पुष्कळ दुःखाला कारण आहे. यारतव या सुखाला सत्पुरुप किंपाक फळाच्या भक्षणाची उपमा देतात. तें फळ नयन मनो-हर व गोड असते. परंतु त्याचा परिणाम प्राणहारक असतो. ४१ संसारसमुद्र अगाध असल्यामुळे तरून जाण्यास कठिण आहे. परंतु जिनशासन-जिनाची उपदेशरूपी नौका हीच यांतून तरून जाण्याचा उपाय आहे. असें असतां या विषयेच्छेला बळी पहून व्यर्थच दुःखी वनृन घरामध्यें राहाण्याला कोण बुद्धिः मान मनुष्य उत्सुक होईल वरें ? ४२ ज्यांचे रागद्वेप नष्ट झाले आहेत आत्म्याच्या ठिकाणीं शांति स्वरूपाचें जें अविनाशी सुख उत्पन्न त्या सुखाचा एक थेव देखिल दुःखदायक मोहरूपी अशीर्ने ज्याचें मन सदैव होरपळत आहे अशा सराग पुरुपाला प्राप्त होत असतो काय? केव्हांही नाहीं. ४३ श्रीजिनेंश्वराच्या धर्माचें परमार्थ रीतीनें स्वरूप जाणून जो आत्मा पुनः विषयांचा उपभोग घेण्याची इच्छा ठेवितो तो मूर्ख मनुष्य हातांतील अमृताचा त्याग करून जगण्याच्या इच्छेर्ने विषशाशन करितो असे समजावे.

जरागृहीतं नवयौवनं यथा निवर्तते नैव पुनः कदाचन॥ तथायुरारोग्यमपि प्रतिक्षणं विलुप्यमानं नियतेन मृत्युना॥४४॥

अवाप्य सम्यक्तमतीव दुर्लभं पुनर्भवक्केशविनाशनक्षमं ॥ वहेत कोऽन्योऽहमिव प्रमत्तधीः सुनिः फलं जन्म विना तपस्यया४५ ं निराकरोत्यक्षबलं बलीयसी जरा न यावत्सकलं च देहतः॥ करोमि तावत्परिशेषमायुषस्तपस्ययाहं सफलं यथोक्तया ॥ ४६ ॥ .चिरं विचित्यैवसुदारधीरतः सुतौ समाहूय तदा प्रजापतिः॥ मुदावबादः क इति ? स्वपादयोर्नताववादीदिति रामकेशवौ॥४७॥ इयं भवद्भिः स्थितिराजवंजवी पुरःसरैः किं विदिता न धीमताम ॥ उषः सुरेंद्रायुधमेघविद्यतां विनश्वरी श्रीरिव तत्क्षणांतरे ॥ ४८ ॥ समागमाः सापगमा विस्तृतयो विपन्निमित्ता वपुरामयात्मकं ॥ सुदुःखमूलं सुखमाशु यौवनं विलीयते जन्म च मृत्युकारणं ।४९ अनात्मनीने कुशलः क्रियाविधौ निसर्गतोऽयं स्वहिते जडः प्रमान॥ द्धयं यदीयं विपरीतमात्मनो भवेत्तदा मुक्तिरवाप्यते न कैः ॥५०॥ अनेकसंख्यासु कुर्यानिषु भ्रमन्ननादिकालं कथमप्यदश्चिरात्॥ अयं जनः प्राप्य नृजन्म दुर्लभं प्रधानमिक्ष्वाकुकुलं समासदत्॥५१ समग्रपंचेंद्रियशा किसंयुतः कुलाग्रणीस्तत्र कुशाग्रधीरहं ॥ हिताहितज्ञः समभूवमीशिता वसुंघरायाश्च ससुद्रवाससः ॥५२॥ महात्मनां सीररथांगधारिणां सदा वशी पाष्ट्री च मे सुती ।। युवामभूतां खलु जन्मनः फलं किमस्त्यतोऽन्यद्भवि पुण्यशालिनः ५३

४४ ह्यातारपणानें पछाडछेछें नवयौवन जसें पुनः केव्हांही परतत नाहीं तसें प्रत्येकक्षणीं मृत्यूकडून आरोग्य व आयुष्य हैं निश्रयानें छुटछें जात आहे. हैं परत पिळण्याची आज्ञा केव्हां ही करणे योग्य नाहीं. ४५ संसाराचें दुःख नाहींसें करण्यांत समर्थ असें अतिशय दुर्छभ सम्यग्दर्शन प्राप्त करून घेळन उन्मत्त बुद्धीचा माह्या सारखा दुसरा कोणता मनुष्य हा जन्म तपश्चरणा वांच्न निष्कळ धारण करीछ वरें १ ४६ जोपर्यंत या देहापासून जवरदरत असें म्हाता-रपण इंद्रियांच्या शक्तीला हांकालून देत नाहीं तोपर्यंतच उरछेलें आयुष्य शास्त्रीक्त पद्धतीने मी तपश्चरण करून सफळ करीन अर्थात मोक्षलाभ वरून घेईन, याप्रमाणें वराच वेळ विचार करून उदार दुद्धीच्या भजापति महाराजांनी दर्शनें ही हकीकत सांगण्याच्या इच्छेने आपह्या दोन गृष्टांना बोलापिट . दहभद्र व वेइ य

या दौन मुलांनीं महाराजांच्या चरणांना नगस्कार केल्यावर ते त्या ढोन पुतांना पुढें लिहिल्याप्रमाणें बोलू लागले. ४८"पातःकालचा लालिमा, इन्द्रधनुष्य, मेघ व वीज याममाणें ही सर्व संसारांतील संपत्तीची रिथाते आहे. ही तत्लणांत नाश पावतें. आपण दोघे विद्वानामध्यें अग्रेसर आहात. आपणास हें माहीत नाहीं असे नाहीं. ४९ प्रत्र, मित्र, भार्या वगैरेचा संयोग नाश पावणारा आहे. संपत्ति ही त्रिपत्तींचं कारण आहे. शरीर हें रोगाचें घर आहे. सांसारिक सौख्य हैं दु:खाचें पूळ आहे. यौवन नाशवंत आहे व जन्म हा मृत्युला कारण आहे. ५० हा मूर्खि आत्मा ज्या कार्याच्या करण्याने याचे अकल्याण होते असेच कार्य करीत असती व याचें करणें स्वाभाविक होऊन वसळें आहे. स्वहिताच्या कार्यामध्यें याची युद्धि अगदीं जड होऊन बसली आहे. हिताहितानिपयीं असा विपरातपणा होऊन बसरपामुळें त्याला मुक्ति कोणत्या कारणामुळें होईछ ? अधीत् हा वल्याणकारक कामें करील व आयोग्य कामें सोडून देईल तर त्याला चांगल्या कारणांनीं मुक्ति को भाप्त होणार नाहीं ? अवस्य होईछ. ५१ मी अनादिकाछापासून असंख्यात कुयोनींत फिरकों आहे. मला मनुष्यमनम् फार दिवसांनीं माप्त होऊन त्यांत श्रेष्ठ अशा ह्या इक्ष्वाकु वंशाची माप्ति झाळी आहे. ५२ पांच इंद्रियांच्या शक्तीनें परिपूर्ण इक्ष्वाकु वंशांचा पुढारी पुरुष, तीव बुद्धियुक्त आणि हिताहित जाणणारा झालों आहे. व'समुद्ररूपी वह्न जिनें धारण केलें आहे अशा या पृथ्वीचा अप्रिपति झालों आहे. ५३ महात्मा असे वलभद्र व नारायण यांच्या पैकीं पाहिले, कोणाच्याही स्वाधीन न राहाणारे असे तुम्ही ढोघे माझे पुत्र आहात यास्तव पुण्यशाली अशा माझ्या जन्माचे या भूतलावर या शिवाय वेगळें आणखी कोणतें फळ आहे सांगा बरें ?

अपत्यवक्रां इजवीक्षणावाधिश्चिरंतनानां गृहवासवासिनां ॥
ननु प्रसिद्धादिजिनेंद्रसंततेः कुलिस्थितिःसा विफलीकृता मया ५४
अतोऽनुगच्छाम्यधुनापि पावनीं दिगंबराणां पदवीं यथाक्रमं ॥
विम्रक्तिसीख्यस्पृहयेव वामहं निराकरोपि प्रणयं च दुस्त्यजं॥५५॥
निगद्य पुत्राविति पुत्रवत्सलः प्रजापतिस्तनमुकुटां शुरुज्जुभि :॥
निबद्धपादोऽपि यथौ तपोवनं निबंधनं नास्ति हि भव्यचेतसां ५६

प्रणम्य पादो वशिनामधीशितुर्यथार्थनामः पिहितासवस्य सः॥ नरेश्वरेः सप्तरातेः परां दघो घुरं मुनीनां सह शांतमानसैः॥५७॥ यथोक्तमार्गेण सुदुश्वरं परं त्रे विधायाप्रतिमं प्रजापतिः॥ निरस्य कर्माष्टकपाशवंधनं जगाम सिद्धिं निरुपद्रविश्रयं ॥५८॥ अथान्यदा योवनसंपदा छतां विगाह्यमानामवलोक्य माधवः॥ तताम कोऽरयाः सदृशो भवेदुचा वरो वरीयानिति चिंतयन्मुहुः ५९ स्वयं परिच्छेतुमपारयन्नयं नयप्रवीणैः सचिवैः समन्वितः ॥ उपव्हरे कृत्यविनिश्चयेच्छया प्रणम्य संकर्षणियसाषत ॥ ६० ॥ पितुः समक्षेऽपि भवान्धुरंधरः कुलस्य नस्तद्धिगमे विशेषतः॥ करोति लोकस्य रविष्रभेव ते तमोपहा धीः सकलार्थद्शिनी॥६१॥ अतः समाचक्ष्व विचित्य तत्त्वतो भवत्सुतायाः सहशं ममार्थ तं ॥ कुलेन रूपेण कलागुणादिभिः पतिं नरेंद्रेपु नमश्चरेषु च ॥६२॥ उदीरितायामिति वाचि चाकिणा ततो हलीत्यं निजगाद भारतीं मरीचिभिः ईद्सितैर्द्धिजन्मनां प्रवृद्धहारांशुपिनद्धकंधरः ॥६३

५४ श्रीआदिनाथ भगवंताच्या वंशपरंपरेंत उत्पन्न झालेले जे प्राचीन गृहवासी श्रावक राजे होते ते मुंळाच्या मुखकमलाचे दर्शनापर्यंतच घरांमध्यें राहत होते अश्री या इक्ष्वाकु वंशाची आजपर्यंत प्रसिद्धी आहे. परंतु या पद्धतीला मी विफल केलें अर्थात् मोइन टाकिलें ५५ यास्तव आतां कां होईना मी दिगंबर मुनींच्या पविल्ल मार्गोचे क्रमानुसार अनुसरण करितो. तुमच्या दोघांविपयीं माझ्या अंतःकरणांत न तुटणारा असा रनेह आहे पण मोक्षमुखाच्या इच्लेनें तुमचा तो स्नेह आज मी सोइन देत आहे. "५६ पुत्राविपयीं प्रेमल अशा मजापित महाराजांनीं याप्रमाणें भाषण केलें वत्यांच्या मुकुटांच्या किरणक्षी दोरखंडांनीं ज्यांचे पाय बांधले गेले आहेत असेहि ते प्रजापित महाराज ल्योवनाला निघून गेले. बरोबरच आहे कीं, ज्यांना मोक्षप्राप्ति लौकरच होणार आहे अशा मन्यजी-वांच्या मनःप्रहर्तीला कोण वरें रोक् शकतों? कोणी ही रोक शकत नाहीं. ५७ वनामध्यें जितेद्रिय मुनिसम्रदायांत पुढारी व पिहितास्त्रव कर्माच्या शुभ व अशुभ

आस्रवास रोकणारे अरों येथार्थ नांव धारण करणाऱ्या मुनीश्वराच्या दोन पायास वंदन करून शांत अंतःकरणाच्या७०० शे राजांसह मुनीश्वरांच्या अग्रपद्वीस प्रजापति महाराजाने घारण केलें ५८ आगमांत सांगितलेल्या एद्धतीस अनुसङ्न आतिशय कठिण व उपमारहित असें तपश्चरण प्रजापित महाराजांनीं करून ज्ञानावरणादि आठही कर्मीच्या जाळ्याचे वंधन तोडून टाकिलें व दु खाचा लेशही जिच्चांत नाहीं, ज्ञानादि संपत्तीने युक्त असलेल्या मुक्तीस ते पाप्त झाले. ५९ इकडे कांही दिवस गेल्यावर ज्थोतिः प्रभा कन्या तारुण्याच्या संपत्तीने युक्त झालेली आहे असे त्रिपृष्ट नारायणाच्या दृष्टीस पडले. तेन्हां कांतीने हिच्या जोडीचा श्रेष्ट असा पति होण्यास कोणता राजपुत्र योग्य आहे. असा वारंवार तो विचार करू लागला, या विचाराने त्याच्या अंतः करणांत खिन्नता उत्पन्न झाली. ६८ जेव्हां रवतःच्या बुद्धीने निर्णय करण्यास त्रिपृष्ट नारायण असमर्थ झाळा तेव्हां राजनी-तीमध्यें प्रवीण असलेल्या प्रधानांसह एकांत ठिकाणी या कृत्याचा निर्णय करून घेण्याच्या इच्छेने बलभद्राला नमस्कार करून तो या प्रमाणें वोलला ६१-अ।पले वाडिल प्रजापति पहाराजांच्या समझही आपणच सर्व वंशाचा भार धारण केला होता व त्यांच्या अभावीं ही आवणच विशेष रीतीनें वंशाचें ओंझें धारण करीत आहात. जसं सूर्याची कांति अंयाराचा नाश करिते. तसे आपली बुद्धि सूर्यकांति प्रपाणे अज्ञान रूपी अंधाराचा नाश करून सर्व पदार्थीच्या स्वरूपाचा परमार्थरीतीने निर्णय करून देत असते. ६२ यारतव हे आर्या! हे पूज्या! परमार्थ रीतीनें विचार करून विद्याधर राजे व भूमिगोचरी राजे यामध्ये कुलानें गुण व ऐश्वर्य वंगैरेंनीं आपस्या ज्योति प्रभा कन्येला योग्य असा पति कोण आहे. हें मला सागा" ६३ याप्रमाणे त्रिपृष्ट नारायणाने भाषण केल्यानंतर कुंद्युष्पाप्रमाणें पांढऱ्या दंत किरणांनी ज्याचे किरण अधिक चाढले आहेत अज्ञा हारांच्या कांतीने ज्याने आपला गला आच्छादित केला आहे अशा वसमद्रानें पुढे लिहिस्या बोलण्यास सुरवात केली

पतिः कनीयानिष यः श्रियाधिको महात्मनां नात्र वयः समीक्ष्यते॥ भवाहशानामत एव नो भवान् गतिश्र चक्षुश्र कुलप्रदीपकः ॥६४॥ यया न नक्षत्रपुदीक्ष्यते परं नभस्तले चंद्रकलासमाकृति ॥ तथेव न क्षत्रपषीह भारते भवत्मुताया न समास्ति रूपतः॥ ६५॥

चिरं स्वबुद्धचा परिचिंत्य यत्नतो वयं दिशामो यदि तामिनिदिताम्॥ नृषेषु कस्मैचिद्तोऽपि किं तयोः समोऽनुरागो भवतीति निश्चयः ।६६। न रूपमात्रं न कला न यौवनं भवेन्न सौभाग्यनिमित्तमाऋतिः ॥ ियेषु यत्त्रेमनिबंधनोचितं गुणांतरं तत्पृथगेव योषितां ॥ ६७ ॥ अतोऽनुरूपं स्वयमेव कन्यका वरं वृणीतां स्वधिया स्वयंवरे॥ चिरं प्रवृत्तो नितरामयं विभिविधिश्च साफल्यमुपैतु तत्कृतः॥६८॥ विचार्य कार्यातरीमत्युदारधीरुदीर्य रामो विरराम मंत्रिभिः॥ समं तथेति प्रतिपद्य ति इक्षः स्वयंवरं दिक्ष चरैरघोषयत् ॥ ६९ ॥ अथार्ककीर्तिः स्वमतं निशम्य तत्पुतं गृहीत्वामिततेजसं स तं ॥ सुतां सुतारां च मनोरमाऋतिं सहाययौ पोदनमंबरेचरैः॥ ७०॥ अवाप्य राज्ञां शिबिरैः समंततः प्रवेशवेशेषु परिष्कृतं पुरं ॥ स्वयंवरोद्धाहसमुच्छितैर्ध्वजैः स संकुलं राजकुलं समासदत् ॥७१॥ ससंभ्रमं प्रत्युदितौ बलाच्युतौ विलोक्य कक्षावलितोरणाब्दहिः॥ ननाम साम्राज्यकृतोः क्रमद्भयं पुरा स ताभ्यां परिरंभणाचितः।७२। तमर्ककतिर्स्तनयं निरक्षिय तौ स्वपादनम्रं कमनीयतावधिं॥ सुतां च कांत्या जितनागकन्यकां बभूवतुर्विसमयनिश्वलेक्षणो ।७३।

६४ जो वयानें छहान असूनही संपत्तीनें अधिक आहे तोच कुलाचा-वंशाचा मुख्य पुरुष मानला जातो. जे आपल्या सारखे महान पुरुष असतात त्यांच्या वयाकडे पहाण्याचें कारण नाहीं. यारतव तुंच आमचा आधार आहेस, नेत्र आहेस व कुलामध्यें दीपासारखा आहे. ६५ जसे आकाशांत चंद्राच्या कलेसारखें दुसरें नक्षत्र आढळून येत नाही तसें हे बंधो! तुझ्या मुलीला तिच्या रूपास योग्य असा एकही राजकुमार या भरतक्षेत्रांत आढळून येत नाहीं. ६६ पुष्कल वेलपर्यंत आपल्या बुद्धीने विचार करूनहीं मोठ्या प्रयत्नानें या निदोंष कन्येला आम्ही राजससूहामध्ये एखाद्याला अर्पण केली तरी त्या पतिपत्नीमध्यें समान प्रेम होईल असा निश्चय करतां येणे शक्य नाहीं. ६७ सीभाग्याला निमित्तकारण फक्त रूपच किंवा कला अवना तारुण्य किंवा उत्तम आकृति असरें असे नार्टाः स्थिपांचें पतीमध्यें प्रेमाला कारण योग्य असे जे दुसरे गुण सांगिनले आहेत अर्थात् ज्या मुणांनीं पतीवर प्रेम उत्पन्न होतें ते गुण रूप, तारुण्य, वगरेपेक्षां भिन्नाच आहेत. ६८ यारतव रवयवरामध्यें ही कन्या अ।पल्या बुद्धीला अनुसरून स्वतःला अनुरूप अशा वराला वरो. ही स्वयंवराची पद्धित चिरदालापाइन चालन आली आहे. यास्तत्र त्या स्वयंवराचा विधि आज सफल होनो. ६९ याप्रमाणें याचा व इतर कार्याचा विचार करून व तद्विपयक भाषण वोल्पन उटारवुद्धीन्या वलभद्राने स्तव्ध-पणा धारण केला. मंत्रिगणासह त्रिपृष्टनारायणाने ही आपली गोष्ट टीक आहे असे म्हणून स्वीकारली व सर्व दिशाम यें रवयंवराची हकीकत दृतांच्या द्वारें प्रसिद्ध कराविली. ७० ही स्वयंवराची हकीकत अर्ककीर्तीच्याही कानी पहली तेव्हां अमिततेज नांवाच्या आपल्या गुळाळा व सुतारा नांवाच्या सुंदर आकृतीच्या आपरया मुळीळा बरोबर घेऊन विद्याधरासह तो पोदनपुर जहरास आला, ७१ राजे लोकांच्या शिविरासह शहरांत प्रवेश करण्याच्या ठिकाणी सर्वत शोभा केली होती. स्वयंवरोत्सवासाठीं चोहीकडे ध्वजा उभा केल्या होत्या अजा उत्सवानें युक्त असलेल्या शहराला प्रथम प्राप्त होछन नंतर उंच अशा ध्दर्जांनी न्याप्त झालेल्य राजवाड्याकडे तो अर्ककीर्ति पाप्त झाला. ७२ राजवाड्याला अनेक चाँक होते व रयांना तोरणें लावलेलीं होतीं. या चौकाच्या वाहेर आदराने ालेल्या ऐध्वर्यशा-की वलभद्र व नारायणाला पाहून आद्राने साम्राज्य चालविणाऱ्यांच्या या दोघां च्या चरणाला अर्ककीर्तीन त्यांनी आलिंगन देऊन आदर करण्याच्या पूर्वी नर्म स्कार केला. ७३ आपल्या पायांना नमस्कार करणाऱ्या आणि सौद्यीच्या शव<sub>ा</sub> टच्या सीमेला पोद्वोंचलेल्या अमिततेज नांवाच्या अर्ककीर्ताच्या हुलाला व आपल्या कांतीनें नाग कन्यकेला जिक्कणाऱ्या त्याच्या भुलीला पाहून वलभद्र व लिपृष्ट आश्रयांने निश्वल झाले आहेत हो ले ज्यांचे असे झाले अर्थात् अर्द्धकीर्ताच्या या मुलगा व मुलीच्या रूपाला पाहून त्यांना फार आश्चर्य दाटले.

कुल्चजः श्रीविजयः स्वमातुलं समं ववंदे विजयेन तस्थणं ॥ विलोक्य तो सोप्यभवन्मुदाकुलः सुलं किमन्याभिजवंधुदर्शनात्।७४। पुरस्तरीयृतवलाच्युतस्ततः प्रविज्य राजालययुत्सवाकुलं॥ स्वयंप्रभां पादनतां च सस्तुपां यथोचिताशीर्वचनेरपूजयत् ॥७५। तदा स्ताराधिततेजसो समं निरीक्ष्य पादावनतो स्वयंप्रभा॥ मनोरथेनात्मछुतद्रये तो नियोजयामास विना स्वयंवरं॥ ७६॥ स्वनातृरांवरूपवशीकृतेव सा निषद्भावाभिततेजसि घुवं॥ अभूत्वता चक्रधरस्य योषितां मनो विजानाति हि पूर्ववस्रमं ७०। खुतारया श्रीविजयस्य मानसं समाददे तेन तद्यिमप्यलं॥ विजीहितापांगनिरीक्षितैर्धुहुर्भवांतरस्नेहरसो हि ताह्यः ॥७८॥ अथान्हि शुद्धे सुविशुद्धलक्षणैः सखीजनैः कल्पितसर्वमंगला ॥ स्वयंवरस्थानमगादुड्डप्रमा मनोरथान्व्यर्थयितुं महीसुजां ॥ ७९ ॥ अतीत्य सवीन्विधिना वयस्यया निवेदितान्राजसुतान् क्रमेण सा॥ िहया परावृत्य सुखं व्यसंजयिचराय कंठेऽभिततेजसःस्वयं॥८०॥ ततः सुतारा प्रविहाय पार्थिवान्स्वयंवरे श्रीविजयस्य बंधुरं ॥ ववंध गाढं कुसुमसजा गलं मनोजपाशेन मनोऽप्यलाक्षतं ॥ ८१॥ कृत्वा यथोचितमथात्गजयोविवाहमन्योन्यगृंखलितवंधुतयातितुष्टः। स्वसा वलेन हरिणा च नभऋरेंद्रो पुक्तिश्विरात्कथमपि स्वपुरं जगाम॥ साम्राज्यभित्थमनुभूय चिरं निजेष्टैराकृष्ट्यीरतितरां विषयेर्मनोज्ञे ॥ शाङ्गांयुधो निजानिदानवरोन रौद्रध्यानेन जीवितविपर्ययमाप सुप्तः॥

७४ इक्ष्वाक्चरंबाला ध्वजासारखा असलेल्या श्रीविजय नांवाच्या त्रिपृष्टनारा यणाच्या विल्ल मुलानं आपल्या विजय नांवाच्या धाकव्या भावासह तत्काल आपल्या गामाला ( अर्ककीर्तीला ) नमस्कार केला. त्या उभयतांना पादून अर्क कितिला फार आनंद झाला. बरोवरच आहे कीं, आपल्या प्रेमल नातेवाईकांच्या दर्भनापेक्षां या जगांत दुसरें सुखकारक काय आहे ? कांहींच नाहीं. ज्याच्या पुढें वलभद्र व नारायण जात आहेत अशा त्या अर्ककीर्तिनें उत्सवानें युक्त असलेल्या राजवाद्यांत प्रवेश करून तेथें पाया पडलेल्या रवयंप्रभेला व आपल्या भावी स्तुपेला (सुनेला) अर्थात् ज्योतिःप्रभेला आशीर्वादाच्या शहांनीं आदिरलें. ७६ त्यावेलीं सुतारा व अपिततेज या उभयतांनीं स्वयंप्रभेच्या चरणांना नगस्कार

केला. या उभयतांना पाहून तिनें आपछा मुछगा व मुछगी या उभयतांना है दोघेजण पत्नी व पति होण्याला योग्य आहेत असें रवयंवर विधि झाला नाहीं तोच ातिनें मनाच्या विचारांनीं ठरऊन टाकिलें. ७७ आपल्या मातेच्या विचाराच्या जणु आधीन झाल्याप्रमाणे त्रिपृष्ट नारायणाची कन्या ज्योानिःप्रभाही अमित तेजावर अतिशय अनुरक्त झाली. बरोबरच आहे कीं, ख्रियाचें मन पूर्वजन्मी आपला पति कोण होता हैं ओळखीत असतें. ७८ एकमेकांकडे वारवार कटाक्षपातांनी पाहणे हीच किंमन देऊन सुतारेने श्रीविजयाचें मन व श्रीविजयाने सुतारेचें मन ग्रहण वं छें. वरोवरच आहे कीं, पूर्वजन्माचा प्रेमरस असाच अनिर्वचनीय असतो. ७९ या नंतर उत्तम दिवशीं उत्तम लक्षणांनीं युक्त असलेल्या मैतिणीनीं जिचा सर्व मंगलविधि केलेला आहे अशी ती ज्योति:पभा राजकन्या सर्व राजे लोकांच्या मनोरथांना व्यर्थ करण्यासाठीं स्वयंवरस्थानीं गेली. ८० विधिपूर्वक मैत्रिणीनं ज्यांचीं नांवें सांगितली आहेत अशा सर्व राजपुतांना ऋमाने ओलाइन व लाजेनें आपळें मुख फिरऊन ज्योतिः प्रभेनें कायमचीच अमिततेजाच्या गळ्यांत माळ घातली. ८१ यानंतर स्वयंवर मंडपांत सुतारेनें राजाना सोडून श्रीविजय राजाचा सुंदर गळा पुष्पमाळेने बांधला. अथीत् त्याच्या गळ्यांत माला घातली. व मदनाच्या पाजानें न दिसणारें मन देखिल त्याचे तिनें बांधून टाकिलें. ८२ याप्रमाणे आपल्या दोन्हीं गुलागुलीचें योग्यरीतीनें लग्न करून एकमेकांचें नातें दढ झाल्यागुलें आनंदित झालेल्या त्या अर्ककीर्तीला बलभद्र नारायण व रवयंपभा यांनीं फार दिवसांनी मोट्या कष्टाने परवानगी दिली. तंन्हां तो आपल्या नगरास ( रथनृषुरास ) गेला. ८३ याप्रमाणें दीर्धकाल-पर्यंत साम्राज्याचा उपभोग घेऊन मनोमोहक अशा आवडत्या विषयांनीं ज्याची बुद्धि आकर्षित झाळी आहे असा तो ज्ञार्ड्घयुप्यधारक त्रिपृष्ट निदानवश होऊन रौद्रध्यानानें निजलेला असा होत्साता जगण्याच्या विपरीत अवरथेला ६ ला अथीत् मरण पावला.

अथ तत्क्षणमेव पीतवासा नरकं सप्तममध्युवास पापात्।। अविचित्यदुरंतघोरदुःखं त्रिगुणैकादशसागरोपमायुः॥ ८४॥ तर्दी १य यशोऽवशेषमात्रं वलदेवः सुचिरं विमुक्तकंटः॥ दिहह। प तथा प्रतिर्द्हियोऽपि प्रगाप्तवा निशस्य॥८५॥ सजलनयनैर्वृद्धन्नातैर्भवस्थितिशंसिभः स्थविरक्षचिवैः सार्द्धं कृच्छ्राच्चिरं प्रतिबोधितः॥ कथमपि जही शोकं यत्वा स्वयं च हलायुधः॥ स्थितिमरारणां संसारस्य प्रतिक्षणभंगुरां ॥ ८६ ॥ स्वयंप्रसामनुभरणार्थमुचतां बलस्तदा स्वयमुपसांत्वनोदितैः॥ इदं पुनर्भवशतहेतुरात्मनो निर्थकं व्यवसितमित्यवारयत्। ८७। प्रसाधनमपश्चिमं कुशलिशालेपभिः कालेपतं ॥ प्रमुज्य नयनद्वयं विगलदश्चलेशं मुहुः॥ अरोत हरिरुद्धहन्बहिरबोधनिद्रावशाद् ॥ विभावसुशिखाकलापनवपल्लवसस्तरे ॥ ८८ ॥ राज्याश्रयं श्रीविजयाय दत्वा हलायुधः संसृतिदुःखभीरुः॥ सुवर्णकुंभं प्रणिपत्य दीक्षां नृपैः सहस्रैः सहितः प्रपेदे ॥ ८९ ॥ हत्वा घातिचतुष्टयं हलधरो रत्नत्रयास्त्रश्रिया ॥ पश्यन्कवललोचनेन युगपेत्रेलोच्यवस्तुस्थिति ॥ भव्यानामभयप्रदानरसिको भूत्वा पुनानेष्टितः॥ सिद्धानां सुखसंपदः मधजत स्थानं परं शाश्वतं ॥ ९०॥ इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते बलदेवसिद्धिगमनो नाम दशमःसर्गः

८४ यानंतर जेथें तेहतीस सागरोपम आयुष्य आहे व जेथील दु:स्वांचा विचार करता येत नाहीं व ज्यांचा सेवट फार दु:स्वाचह आहे अशा सानव्या नरकापध्यें पापोदयानें त्रिपृष्ट नारायण तत्काल उत्पन्न झाला. ८५ तिपृष्ट आतां फक्त ज्यांच यशन वाकी उरलें आहे अशा अवस्थेला पोहोचला आहे असे जाणून लक्ष्यांत घेऊन वलदेवान पुष्कल दिवसपर्यंत कंट मोकला करून फार शांक केला त्याचा तो शोंक ऐक्त समता—रागद्देपरिनावरथेला माप्त झालेले गुानि टेक्निल हलहलु लागले ८५ संसागचे रवरूप दाखऊन देणारे व ज्यांच्या दोल्यांत पाणी आलें आहे अशा हल्द लोकांनीं हन्द मंत्रिगणांना वरोंचर घेऊन मोट्या कष्टानें ज्याला फार

वेळ उपदेश केला आहे अशा वलभद्र विजयानें वस्तुरवरूप जाणून व संसाराची प्रत्येक क्षणीं नाज्ञ पावणारी व जिचा कोणीही रक्षक नाहीं अज्ञी परिस्थित जाणून कष्टानें शोक त्यागिला. ८६ स्वयंप्रभा जेव्हां आपल्या पतिच्या यरणानंतर परावयास तयार झाली तेव्हां ' हैं परणें-सती जाणे आत्म्याचें शेकडों भवाला बाढविणारें व्यर्थ कार्य आहे, असें सांत्वनपर उपदेशाच्या वचनांनीं वलभद्रानें सांगितलें व तिला या कार्यापासन त्यानें रोाकिले. ८८ ज्य. पासून थोडेंथोंडें अश्रु वाहात आहे असे दोन डोळे वारंवार पुसून कुशल कारा। गिराकडून तयार कराविला गेलेला उत्कृष्ट वेप धारण करून अज्ञानरूपी झोंपेच्या अर्थात् मृत्यूच्या स्वाधीन झाल्यामुळें ज्याला बाह्यपटार्थीचें विलकुल ज्ञान होत नाहीं असा हरि अशीच्या ज्वालासम्हरूपी पानांच्या विछान्यावर निद्रा घेऊ लागला ८९ सांसारिक दु:खापासून भयभीत झालेल्या विजयवलभद्रानें श्रीविजयाला राज्यह्रक्षी अर्पण केली. रवतः त्यानें सुवर्ण कुंभमुनीश्वराला नमस्कार करून हजारो राजांनीं साहित होऊन दक्षिचा स्वीकार केला. ९० रत्नत्रयरूप हत्याराच्या कांतीनें अर्थात् धारेनें ज्ञानावरणादिक चार घातिकर्माचा घात करून व केवल ज्ञानरूपी डोळ्यानें एकदम सर्व तीन्ही लोकांच्या वरत्चें स्वरूप पाहून-जाणून वलभद्रांनीं भव्यांना अभयदान देण्याचे कार्य- अर्थात् संसारदुः खांतून सोडाविण्याचें काम आवडीने केलें व शेवटीं सर्व योगांचा नाश करून सिद्धांचें सुखसपत्तीचें कायमचें उत्कृष्ट विकाण असलेला मोक्ष प्राप्त करून घेतला.

अया प्रमाणें असगकविकृत श्रीवर्धमानचरित कान्यांतील वलदेव सिदि-गमनाचे वर्णनाचा हा दहावा सर्ग समाप्त झालं अ





अथ नरकभवे विचित्रदुःखं चिरमनुभूय विनिर्गतः कथंचित्॥ पुनिरेह भरते रथांगपाणिः सुमहति सिंहगिरौ बभूव सिंहः॥१॥ शमविरहितमानसो निसर्गात्प्रथमकषायकषायरंजनेन ॥ यम इव कुपितो विना निमित्तं समदगजानवधीत्सुधाविहीनः॥२॥ प्रतिरवपरिपूरिताद्रिरंधं करिकलभा ध्वनितं निशम्य तस्य॥ विदलितहृदयाः प्रियेरकांडे सममसुभिश्च निरासिरे स्वयूथैः॥३॥ मृगकुलमपहाय तं नगेंद्रं सकलमगादपरं वनं विवाधं॥ कारिरिपुनखकोटिल्प्रशेषं व्रजति सदा निरुपद्रवं हि सर्वः॥ १॥

१ यानंतर नरकभवांत फार दिवसपर्यत नानाप्रकारचीं दुःखें भोगून मोठ्या कष्टानें कसा तरी निघालेला तो त्रिपृष्ट नारायण या भरतक्षेत्रांत सिंहगिरि नांवाच्या मोठ्या पर्वतावर पुनः सिंह होऊन जन्मला २ या सिंहाच्या ठिकाणीं अनंतानुबंधि कषायांचा तेल्या रंग गाढ बसल्याभुळें याचें अंतःकरण शांतभावानें विलक्षल रहित झालें होतें. भूक नसतांही हा यमाप्रमाणें क्रुद्ध होऊन विनाकारण उन्मत्त हत्तींचा वध करीत असे. ३ प्रतिष्वनीनें पर्वताच्या गुहा भरून टाकणारी त्याची गर्जना ऐक्त्न हत्तींच्या लहान लहान पिलांचें हृदय फुटून जात असे व तीं आपला कळप सोडून पळत असत. एवढेंच नव्हे तर त्यांना आपले प्राण देखिल गमवृन वसावे लात असे. ४ या सिंहाच्या नखाग्रांनीं नाश पाऊन उरलेले सर्व पाणी त्या सिंहागिरि पर्वताचा त्याग करून वाधाराहित अशा दुसऱ्या जंगलांत निघून गेले. वरोवरच आहे कीं, सर्वपाणी निरुपद्रवस्थानींच जात असतात. ९ नेहमी पाप

अविरतदुरिताशयानुवंधादिगतदयो निजजीवितव्यपाये ॥
पुनरिप नरकं जगाम सिंहो प्रथममसत्फलमेतदेव जन्तोः ॥ ५॥
नरकगतिमुपागतो हरियः स हि सृगनाथ ! भधानिति प्रतीहि ॥
अथ नरकमवे यदुप्रदुःखं श्रृणु तनुमान्ससुंपेति तत्प्रवक्ष्ये ॥ ६ ॥
सपिद वपुरवाप्य हुंडसंस्थं कृषिकुलजालिति च पृतिगंधि ॥
पतित दुरुपपादकप्रदेशान्छर्वदधोवदनः स वज्रवन्ही ॥ ७॥
अतिनिशितविचित्रहेतिहस्तो भयतरलं प्रविलोक्य नारकीधः ॥
दह पच विशसोद्धधान नानाविधमिति विक्त करोत्यरं तथेव ॥
शहिपपि क इति क्षणं विचित्य तदनु विभंगसवाप्य वित्ति सर्वं ॥
हत्युजि परितापयंति चंडा मुखमवदार्य च पाययान्ते धूमं ॥
वहाविधमथ पीलयंति यंत्रैश्राटिति परिस्फुटिताास्थिघोररावं ॥ १०॥

क रण्याच्याच विचारामुळें त्याच्या मनांतून दयेने पलायन केलें होतें असा तो सिंह आयुष्य संपल्यावर पुनः पहिल्या नरकाला गेला. प्राण्याला वाईट कृत्याचे हेच फल मिळत असतें. ६ हे सिंहा, जो प्रथम नरकांत जन्मलेला होता तोच सिंह तूं आहेस हें ध्यानांन आण. हे सिंहा, नरकभावायध्ये जें उम्र दुःख प्राण्याला भोगांवें लागते त्याचें वर्णन मी करितो तें तुं ऐक ७ नरकामध्यें जन्म माल्यावर तत्काल हुंडक संस्थानाचें, किल्लांच्या समुदायांनीं अतिशय भरलेलें, अतिशय घाणेरडें, अने शरीर प्राप्त करून घेऊन उत्पन्न होण्याच्या चाईट प्रदेशांतून वाणाप्रमाणें खाली तोंड करून वन्नाच्या अमींत जाऊन पडतो. ८ अत्यंत तीक्ष्ण व नानाप्रकारचीं गेलें उपाच्या जवल आहेत असा नारकी लोकांचा समूह मीतीन थरथर कांपत असल ज्या नारकी जीवास पाहून याला जाला, जिजना, ठार मारा, वांचा अभी नाना प्रकारची कटुनावये वोलतात व तसेच करतातहीं. ९ तथें उत्पन्न झालेला नारकी प्रथमतः ही अति अग्रुभटायक अशी कोणती गती कांडे भी पूर्वी कोणते आति उपापप केले होतें? न मी देखील कोण आहे असा धणपर्यंत विचार करितो. व नंतर विमंगाविधेनान प्राप्त करून येऊन सर्व पूर्व पारिस्थिति जाणूत येतो. तथें निर्दयना विमंगाविधेनान प्राप्त करून येऊन सर्व पूर्व पारिस्थिति जाणूत येतो. तथें निर्दयना विमंगाविधेनान प्राप्त करून येऊन सर्व पूर्व पारिस्थिति जाणूत येतो. तथें निर्दयना

विल्पात करणं कृतात्नादः करजनिवाशितशातवन्नस्वः॥
वक्तानिवहाविल्प्यमानदेहो वजित विचेतनतामनेकवारस्॥ ११ ॥
तरपविसिक्ताविभिन्नप'दः सहजत्पा परिशुष्कतालुकंटः ॥
करिमकरकरासिखंडितोऽपि प्रविशति वैतरणीं विषां पातुं॥१२॥
वस्यतर्यनिविष्टनारकोधेर्धुहुरुपरुष्य स तत्र गाह्यमानः ॥
कथमपि समवाप्य रंप्रभातीं गिरिमाधेरोहति वज्रदावदीप्तं ॥१३॥
हरिकरिशयुपुंडरीककं इप्रभृतिभिरत्य विलुप्यमानदेहः ॥
भृशमसुल्यवाप्य तत्र विश्रं तरुगहनं प्रतियाति विश्रमार्थं ॥१४॥
बहुविधिनिशितास्त्रदत्रमोक्षेस्तरुनिवहैः प्रविदारितं तदंगं ॥
भणशतिवद्याचितं दशंति असरगणैःसह दुष्टचंडकीराः ॥१५॥

रकी आग्निमध्यें नारक्याला संतप्त करितात. मुख फाइन धूर प्यावयास लावितात, नानामकारें यंत्रांनीं पिळ्न काढितात. त्यावेळीं फुटत असलेल्या हाडकांचा घोर शब्द होत असतो. ११ त्या नारवयाच्या हातांच्या नखांत इतर नारकी वज्जाच्या सुया टोचित असतात. त्यावेळीं तो दीन नारको जीव करुणा येईल अशा रितीनें दुःखानें रवर काहन रडत असतो. लांडमे त्याचा देह खाऊन टाकीत असतां तो वारवार मुर्चिळत होतो.

१२ नदीच्या किनाऱ्याला असलेल्या वजाच्या वाळ्ने ज्याचे पाय फाटून गेले आहेत, रवाभाविक तहानेंने ज्याचा गला व टाळ् सुकून गेलीं आहेत; जो हत्ती, मगर यांनी व नारकी यांच्या हातांतील तरवारीनें विदीर्ण केला गला आहे असा तो नारकी जीव वैतरणीनदीयध्यें पाणी पिण्यासाठीं मनेश कारितो. १३ त्याबेली त्या नदीच्या दोन्ही किनाऱ्यावर वसलेल्या नारकी जीवांच्या समुदायाकटून तो अडिवला जातो व नदीयध्यें बलात्कारानें तो बुडाविला जातो. त्यावेलीं कशी तरी संपि साधून तो हु:खी नारकी तेथून सुटून वजायीनें तम झालेल्या पर्वतावर चहतो. १४ तेथेंही सिंह, हत्ती, अनगर व वाय, गिधाड वगैरे प्राणी येक्षन त्याचा देह खाक्षन टाकिनात. त्या ठिकाणीं त्याला फार त्रास होतो क्हणून तो विसावा घेण्यासाठीं नानापकारच्या दाट झाडांच्या समूहाकडे धांवत जातो. १५ तेथें नानापकारच्या तीक्ष्णश्रह्णाप्याणें असलेल्या पानांचा वर्णव करून

अतिपरुपरवैः श्वितिं तुदंतो दहनशिखाविहिदग्धपक्ष्ममालं ॥ असितविहिभुजः रवनित तुंडैः क्वाहिशमयेनियनद्रयं तदीयं ॥१६॥ विदाहितवदनं तम्पिकांति पृतिविष्यारिचये निवेश्य केचित् ॥ वनशितमुखमुद्गरप्रहारेरजरदवेन पचंति चूर्णयंतः ॥ १७ ॥ वहुविधपरिवर्तनिक्रियाभिः स्थपुटिशहास निपात्य चूर्णयन्ति ॥ प्रातितनुकरपत्रकेण यंत्रे महति निधाय विदारयंति केचित् ॥१८॥ धनदहनप्रीतवज्रम्षाच्युत्परितप्तमयोरसं प्रपाय ॥ विगिहितरभने विभिन्नतालु स्मरति स मद्यरतः फलानि तत्र।१९॥ सरमसपरिरंभणेन समो धनमुरसि स्तनवज्रमुद्गराग्रेः ॥ ज्वलदनलमयीभिरंगना भिर्धृवमवगच्छति तत्र कामदोपान् ॥२०॥

- आडांचे समुदाय त्याचे सर्व अवयव फाडतात. शॅकडो जखमांनी युक्त झालेल्या त्याच्या अंगावर सुंगे व दुष्ट असें अचंड किडे धाऊन येतात आणि ते त्यास चादतातः १६ आतिशय कठोर शन्दांनी कानाला दु ख देणारे, असे काळे कावळे आपल्या दज्राच्या मुखानीं त्या नारक्याचे दोन डोळे जेव्हां तोडण्याचा प्रयत्न करितात त्यावेळी त्याच्या डोळ्यांतून निवालंख्या अग्नीच्या ज्वालांनीं त्यांचे पंखही जळ्न जातात. १७ ज्याचे मुख विदीर्ण झालें आहे अशा त्या नारक्याला जिच्यांत विपारी पाणी भरळें आहे अशा कढईमध्यें वसऊन अतिशय तक्ष्ण ज्यांचीं तोंडें आहेत अशा मुद्ररांनी पहार करून इतर नारकी त्याचा चुरा करून टाकितात व तीत्र अर्शने त्याला शिजवितात. १८ तसेंच ओवडधोवड शिलेवर आपटून कुस्क-रणें, दर उचलणें, फिरविणें वगैरे क्रियांनी कित्येक नारकी त्या दीन नारक्यार्चे चूर्ण कारितात. व मोठ्या यंत्रामध्यें त्याला ठेऊन त्याचे सर्व अवयव करवतार्ने कापतात. १९ तीत्र अग्नीनें वेढळेल्या मुशीत तयार झाळेळा छोखंडाचा गरम रस त्याला कित्येक नारकी पाजनात त्यावेळी त्याची जीभ गळ्न पडते व टाळ फुटून जाते. तेव्हां मद्यासक्तीच्या फलांची त्याला तेथें आउदण होतें.२० जळत असले-ल्या अग्नींनी ज्याप्त झालेल्या स्नीच्या आकृतीच्या पुतळ्याची जीव्र आलिगन देण्यापा-सून व वहस्थर्छी स्तनाच्या ऐवजीं वजाच्या मुद्गराच्या आचातांनी आतिशय विदीर्ण झालेला तो नारकी जीव कामविकागच्या ढोपांचें स्वरूप त्यावेळीं अविमहिपमदेमकुकुटानां सपिद वहन्वपुर्श्रतोऽसुराणां ॥
अरुणितनयनो रुषा सहान्यैः श्रम्विवशोऽपि सं युध्यते प्रकामं ।२१।
करचरणयुगैविवार्जतोऽपि दुत्मियरोहित शाल्मलं भिया सः ॥
विधिरतहृदयोम्बरीष्यायाययकरतर्जनिकाश्रतर्जनेन ॥ २२ ॥
सुखामदिमिति यद्यदात्मबुद्ध्या श्रुवमवधार्य करोति तत्तदाशु ॥
जनयति खलुतस्य भूरिदुःखं न हि कणिकापि सुखस्य नारकाणां २३
इति नरकमवाद्विचित्रदुःखात्पुनरमवस्त्विमह द्विपारिरेत्य॥
अधिवसति विरं कुयोनिमध्यं ननु तनुमान् वनबद्धदृष्टिमोहः॥२१॥
इति परिकथिता भवावित्रस्ते विदित्रभवस्य सृगेद्र!सप्रपंचा ॥
प्रकटमथ मयामिधास्ययानं विगलधिया हित्यात्मनः शृणु त्वं॥२५॥

जाणतो अर्थात् पूर्वजन्मीं मी वेश्या किंवा परस्ती यांच्याशीं गमन केलें होतें त्याचेंच हें फळ आहे असें त्याला चांगलें समजतें. त्याची खात्री होतें. २१ वकरा, रेडा, मत्त हत्ती, कोंवडा वगैरेंचीं आकृति धारण करून अपुरांच्या पुढें रागानें डोळे लाल करून इतर नारक्यावरोबर आतिशय थकून गेला तरी तो नारकी पुष्कळ वेळपर्यंत युद्ध करतो. २२ अंवरीष जातीच्या असुरांच्या मायामयी हाताच्या अंगळ्या जवळच्या बोटानें निर्भत्सना केल्यामुळें उत्पन्न झालेल्या भीतीनें तो नारकी हातापायांनीं रहितही असून शीघ्र सावरीच्या दक्षावर चढतो.

२३ तो नारकी जीव जी जी गोष्ट सुखदायक समजून करितो ती ती गोष्ट त्याला निश्चयानें पुष्कळ दुःखच उत्पन्न करीत असते. खरोखर नारक्यांना सुखाचा लेशही मिळत नसतो २४ याममाणें जेथें विचित्र दुःखें भरलेलीं आहेत अशा नरकभरापास्न सुक्त होऊन तू येथें सिंह झाला आहेस. वरोबरच आहे. कीं, ज्याला दर्शन मोहनीय कर्माचा अर्थात मिथ्यात्वकर्माचा तीव्र वंध पडला आहे असा प्राणी चिरकालपर्यंत क्रयोनीमध्यें भ्रमण करीत फिरत असतो. २५ याप्रमाण हे मृगेंद्रा! ज्याला पूर्वभवाचे ज्ञान जातिरमरणानें झालें आहे अशा तुला विस्तारानें मी तुं अनेक जन्माचें वर्णन सांगितले आहे. आतां मी निर्मल सुद्धीनें तुंसे हित कशानें होईल तें सांगतों. तुं रपष्ट रीतीनें ऐक. २६ हा आत्मा अविरित

अविरतिसिहतैः इपाययोगेरिवमलहिष्टतया प्रमादद्विः परिणमित निरंतरं सहात्मा स्वति ततः परिणामताऽस्य वंधः । १६। गतिषु गतिमुपेति वंधदोषाद्भवित गतेर्वपुरिद्रियाणि तस्मात् ॥ मनु विषयरातिश्चिराय तेभ्यो विषयरतेः पुनरेव सर्वदोषाः ॥ २०॥ स्वसल्लिनेथौ पुनः पुनश्च स्रमणिविधः पुरुषस्य जायतेऽयं ॥ इति परिकथितो जिनेरनादिर्व्ययरिहतोऽन्ययसंयुतोऽस्य वंधः॥ २०॥ इति परिकथितो जिनेरनादिर्व्ययरिहतोऽन्ययसंयुतोऽस्य वंधः॥ २०॥ इति परिकथितो किरुष्व प्रणयमपास्य च कापथानुवंधं॥ २०॥ जिनपतिविहिते मते कुरुष्व प्रणयमपास्य च कापथानुवंधं॥ २०॥ स्वसद्यानवगम्य सर्वसत्वान् जिहिह वधाभिरितिस्चितिस्वप्रिष्ठाः॥ । जनयित स कथं परोपतापं भ्रवसवयन्नभिपंगमात्मनो यः॥ २०॥ जनयित स कथं परोपतापं भ्रवसवयन्नभिपंगमात्मनो यः॥ २०॥

क्षाय, प्रमाद व योग यांच्यासह व मिथ्याद्र्यन।सह हा आन्मा नेहमी प्रिणत होत असतो ह्मणून त्या परिणामामुळे याला वंध होत असतो. २७ या कर्मवधा-मुळें या आतम्याला एका गर्नापासून दुसऱ्या गर्तीत जावें लागते. गतिकर्मापासून शरीराची रचना होते व त्यापासून इंद्रिये उत्पन्न होतात. व इंद्रियापासून विषया-विषयीं प्रेम बाढतें व या प्रेमापासून पुनः सर्व डोपांची उत्पत्ति होत असते २७ या संसारसमुद्रांत पुनः पुन या दोपामुळे आत्म्याचे भ्रमण होत असते. ह्या संसारांत जीवाला कर्मवंध अनादि व सांत असा दोन तन्हेचा आहे असे जिनांनी सांगितलें थाहे. कर्म वृक्षवीज न्यायाने सतत जीवाच्या मार्गे हागहे आहे हाणून अनादिवय आहे. व एक कर्म जीवाशी वंध पावतें त्याच्या दृष्टीनें सादिवंध आहे. २९ हें सिंहा, तू गनापासून कषायांचे दोप संदूर्णपण कारून टाक व पूर्णपण राग-हेपरहित अगा अवस्थेत लीन हो जुमार्गाचा संवंध सोडून दे व जिने वरांनी सागि-तलेल्या मतामध्ये प्रेम कर. २० हे मृगराज ! सर्व प्राणिमालांना तू आपल्यासार-मेच समन अर्थात तुला जस दुःख व्हावेसें वाटन नाहीं तसंच त्यांनाही दुःख होऊ नये असेंच बाटतें. यान्तव आपल्या प्रमाणंच इतरांनांही मान्न आपले मन, वचन १ शरीर ही नाव्यांत देव आणि त्यांचा वध करण्याची लालसा संहिन दे. जो प्राणी स्वतःच्या दुःखाची खालीनें जाणीद देवतो तो दुसऱ्याहा कसा वर त्रास देईल.

अनियतमध बंधकारणं रवपरमवं विषयं सदा सबाधं॥
हरिवर! समवासिंद्रियेर्यसुखमवगच्छ तदेव दुःखमुश्रं॥ ३१॥
नविवरसमन्वितं निसर्गादशुचि सदार्तवशुक्रसंमवत्वात्॥
विविधमलयुतं क्षिय त्रिदोपं विविधशिरावालिजालकेन नद्धं॥३२।
निजतनुतरचर्मवर्मगृढं बहुविधरोगसहस्रवासगेहं॥
छामिकुलनिचितं च पूतिगंधि स्थिरविकटास्थिकृतकयंत्रकल्पं॥३३॥
बहुविधपरितापहेनुसूतं वपुरिदमीहशामित्यवेत्य तस्मात्॥
अपनय नितरां ममत्वनुद्धं कथमवयन्न निजे मतिं विधत्ते॥त्रिकलं॥
शिवसुखमपुनर्भवं विवाधं निरुपममात्ममवं निरक्षमाष्ठं॥
यदि तव मतिरस्ति सन्धगारे! त्यज खलु बाह्यमवांतरं च संगं।३५।

दे१ हे सिंहश्रेष्ठा, इंद्रियांच्या द्वारें प्राण्यास में सुख मिळतें तें अनिश्वित आहे. ह्मणने एकसारखें एक रूपाचें असत नाहीं. कमीनास्त होत असतें,
कर्मवंधाला कारण आहे; स्वतः घ इतर अन्नादिक पदार्थ यापासून उत्पन्न होते. तें
विषम आहे व त्यामध्यें पुष्कळ अडथळे उत्पन्न होतात. व परिणामीं नरकादिगतीचें
दु:ख यापासून उत्पन्न होतें ह्मणून अतिशय उग्र आहे. ३२ हें शरीर नऊ छिद्रांनी
सिहत आहे, रवाभाविकपणेंच अपवित्र आहे. कारण हें रक्त व वीर्य यापासून
उत्पन्न होत असते. रक्त, पू, मज्जा वगैरे मलांनीं हें भरलेंलें आहे, नाशवत आहे.
वात, पित्त आणि कफ या दोषांनीं सिहत असून नानाप्रकारच्या शिरा व स्नायु
यांच्या जाळगानें हें मढविलेंलें आहे.

३३ हें शरीर स्वतःच्या अधिक पातळ अशा कातडेंरूपी चिललतानें आच्छादिलें आहे. नानाप्रकारच्या हजारो रोगांचें हें राहण्याचें ठिकाण आहे.

<sup>ऋषिणणीः

सपर बाधासिहयं विच्छिणं वंधकारणं विसमं ।।

ज इंदियेहिं लद्धं तं सोक्लं दुक्लेमव तहा ॥ ७६ ॥

सपरं बाधासिहतं विच्छिलं वंधकारणं विषम ॥

यदिंद्रियेर्ल्वं तत्सौख्य दुःखनेव तथा ॥ ७६ ॥

प्रवचनसारे समानार्थकक्षोकः</sup> 

गृहधनवपुरादिकः समग्रो भवति स वाह्यपरिग्रहो दुरंतः॥
वहुविधमथ रागलोभकोपप्रभृतिमवांतरसंगमित्यवैहि॥ ३६॥
इति कुरुमनिस त्वमक्षयश्रीरवगमद्श्वनलक्षणोऽहमात्मा॥
मम पुनरितरे च सर्वभावा विदितसमागमलक्षणा विभिन्नाः॥३०॥
यदि निवसिस संयमोन्नताद्रौ प्रविमलहिगुहोदरे परिन्नन्॥
उपशमनखरैः कपायनागांस्त्वमिस तदा खलु सिंह! भव्यसिंहः।३०।
हिततरिमह नास्ति किंचिदन्यिजनवचनादिति विद्धि निश्चयेन॥
वहुविधयनकर्मपाशमोक्षो स्वति यतः पुरुपस्य तेन सर्वः॥ ३९॥
जिनवचनरसायनं दुरापं श्रुतियुगलांजिलना निपीयमानं॥
विपयविषतृपामपास्य दूरं कामिह करोत्यजरामरं न भव्यस्॥१०॥

हैं कि ड्यांच्या समृहाने नेहमीं भरलेलें असतें. घाणेरडें असन रिधर व वाकड्या तिक ख्या हाढांनीं वनाविछेले, एका यंत्रासार से आहे. ३४ असले हे शरीर नानाप-कारच्या संतापाटा कारण आहे अस जाणून याच्यावरील ममत्ववुद्धि पूर्णपण काइन टाक. ज्याला है शरीर कसे आहे हैं चांगलें समजलें आहे तो आपल्या आत्म्याकडे आपल्या बुद्धीला योजीत नाहीं काय ? अधीत् अवस्य योजितोच. ३५ हे उत्तम सिंहा! तुला मोक्षाचें वाधारिहत, आत्म्यापासूनच उत्पन्न झालेलें, अतीद्रिय सुख मिळावें अशी जर इच्छा असेल तर तू अंतरंग व वहिरंग अजा दोन्ही प्रकारच्या परिग्रहांचा त्याग कर. ३६ घर, धन, शरीर वगैरे सगळ्या पढा-थीं वाह्य परिग्रह न्हणतात. हा परिग्रह शेवटीं दुःख देणारा आहे. व राग, लोभ, कोप, माया, मिथ्यात्व, हारय वगैरे पुष्कळ प्रकारचा अंतरंग परिग्रह आहे असे दं जाण- ३७ त्याचममाणें माझा आत्मा अनंत संपत्तीनें युक्त, अनंतज्ञान व द्शेन या छक्षणांचा धारक आहे असे तूं मनांत समज. इतर सर्व शरीर वगैरे पदार्थ मला संयोगाने प्राप्त झाले आहेत. अर्थात् क्रमीद्याष्टुळे शरीरादिकांशी माझा संवंध यहन आला आहे. वास्ताविक पाहिले असतां हे पदार्थ माझ्यापासून अगढीं वेगले आहेत. ३८ हे सिंहा ! संयम रूपी उंच पर्वतावरील निर्मलसम्यग्दर्शन रूपी गुहेंत शांत परिणामरूपी तीत्र नखांनी कपायरूपी हत्तीना ठार मारणारा होऊन तूं जर राहशील तर तृं खरोखरच भव्यसिंह होशील. अर्थात् सर्व भव्यामध्यें अतिशय

शक्लय खलु मार्वनेन मानं हरिवर! कोपमिप क्षमाबलेन ॥
प्रतिसमयमथार्जनेन मायां प्रशमय शौचजलेन लोभवन्हिम्॥४१॥
शमरतहृदयः परेरजयाद्यदि न विभेषि परीषहृप्रपंचात् ॥
धवलयति तदा त्वदीयशौर्यं त्रिस्रुवनमेकपदे यशोमहिम्ना॥ ४२॥
अनुपमसुखसिद्धिहेतुस्तं गुरुषु सदा कुरु पंचसु प्रणामं ॥
भवसलिलिनिधेः सुदुस्तरस्य प्लव इति तं कृतबृद्धयो वदन्ति।४३॥
अपनय नितरां त्रिशल्यदोषान्खलु परिरक्ष सदा वतानि पंच ॥
त्यज वपुषि परां ममत्वबुद्धं कुरु करुणार्द्रमनारतं स्विचत्तं ॥४४॥

श्रेष्ठपणास पावशील. ३९ या जगांत जिनेश्वराच्या दिव्य उपदेशापेक्षां अधिक हित करणारा असा दुसरा कोणताही पदार्थ नाहीं हें तूं निश्चयानें समज कारण यानेंच आत्म्याची नानाप्रकाच्या दाट कमींच्या पाशापामून पूर्णपणें सुटका होते. ४० हें जिनेश्वराचें वचन अपूर्व रसायनौषध आहे व फार दुर्लभ आहे. हें रसायन कान-रूपी ओंजळींनीं पाशन केलें असतां विषयरूपी विपाच्या भक्षणानें उत्पन्न झालेल्या तहानेचा पूर्णनाश करून कोणत्या भच्य पाण्याला अजर व अमर अर्थात् सुक्त वनावित नाहीं वरें १ अवश्य वनावितेंच. ४१ हे श्रेष्ठ सिंहा १ तूं मनाच्या विनय पारिणामांनीं मान-गर्वाचा नाश कर. क्षमेच्या सामर्थ्यानें कोपास नाहीं के कर. परयेक समयीं कपटरहित परिणामांनीं माया काहून टाक व नि.स्पृहपणारूपी पाण्यानें लोभरूपी अग्नि विझवून टाक. ४२ हे सिंह श्रेष्ठा १ तूं आपलें हृदय शांत अवस्थेंत अर्थात् रागद्वेष रहित अशा अवस्थेंत लीन कर व इतरांकहन आर्जेक्य अशा कुषा तृषा वगैरे परीपाना तूं जर भिणार नाहींस तर तुझा हा पराक्रम तुझ्या विपुल कीर्तीनें हैं सर्व त्रैलोक्य धवल करून सोर्डाल अर्थात् तुझी कीर्ति सर्वत्र बाढेल, व तुं खरा पराक्रमी म्हणून तुझी गासीदि होईल.

४३ हे सिंहश्रेष्ठा ! तूं नेहमीं पंचपरमेष्टींना नमस्कार कर. हा नमस्कार दुस्तर असा संसार समुद्र तरून जाण्यास नांबेसारखा आहे व उपमारिहत अज्ञा सुखांची प्राप्ति करून देण्यास कारणीभूत आहे असे उत्तम कार्ये करण्यांत आपल्या बुद्धिचा उपयोग करणारे सज्जन लोक हाणतात. ४४ हे मृगराज ! तूं माया, मिथ्यात्व व निदान या तीन दोषांना त्यागृन नेहमी उत्तम रीतीनें पांच अणुत्र-

अवगमनमपाकरोत्यविद्यां क्षपपित कर्म तपो यमो रुणि ॥ समुदितमपवर्गहेतुभूतं त्रितयिमिति प्रतियाहि दर्शनेन ॥ ४५ ॥ तद भवित यथा परा विद्युद्धिमेनिस तथा नितरां कर प्रयत्नं ॥ अथ विदितहितैकमासमात्रं स्फुटमवगच्छ निजायुपः स्थितिं च ४६ त्रिकरणिविधिना स्वपापयोगं सकलमपोद्य स्थोद्र ! यावदायुः ॥ अनशनमुपलव्धवोधिलासा विमलसमाधिसमाप्तये विधत्स्व ॥ ४०॥ गतसय ! दशमे सवाद्भवेऽस्मात्त्विमहं सविष्यिस भारते जिनेंद्रः॥ इति परिकथितं जिनेशिना नः सकलिमहं कमलाधरेण नाम्ना । ४८॥ शमरत ! वयमागता सवंतं खळु परिवोधियतुं तदीयवाक्यात् ॥ ननु मुनिहद्यं सुनिःस्पृहं च स्पृह्यित भव्यजनप्रवोधनाय ॥ ४९॥

तांचें रक्षण कर. शरीरावरील तांत्र प्रेमबुद्धीचा नेहमीं त्याग कर व आपले अंत करण द्येच्या ओलाव्यानें नेहमी युक्त राहू देत जा. ४५ सम्यग्जान अज्ञान अर्थात् मिथ्या ज्ञानाचा नाश करितें. तपश्चरण कर्माचा नाश करितें. चारित्र कर्माला आतम्यामध्यें मवेश करू देत नाही. या तीन गोष्टी सम्यग्दर्शनानें युक्त झाल्या ह्मणजे मोक्षमाप्तिस कारण होतात असे समजा अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्जान, सम्यक्चारित्र व तप अशा चार गोर्ष्टींचं आराधन करण्यानें मोक्ष प्राप्त होतो असें समज. ४६ हे सृगेद्रा ! तुझ्या मनामध्यें ज्या जपायांनीं परिणामांची जन्कृष्ट निर्भः लता प्राप्त होईल त्या उपायांचें अवलंबन करण्यांत तूं आतिशय प्रयत्न कर. आ-पलें हित जाणलेल्या हे सिंहा! तूं आपल्या आयुप्याची स्थिति आतां एक महि-नाच उरलेली आहे असे स्पष्ट जाण. ४७ हे मृगेंद्रा! मन, वचन व शरीर यांच्या द्वारे सर्व पापांच्या संवंधाला सोइन दे अर्थीत् या तिहींच्या हारें तूं पापकार्य करणें सोइन दे. रत्नतयाचा लाभ ज्यास झाला आहे असा तृं निर्मलस्छेखनावत पूर्ण करण्याकरितां आहारांचा पूर्ण त्याग कर. अशीत् एक महिनापर्यत उपवास धारण करून शांतमनाने पाणत्याग कर. ४८ हे ानिर्भय सिंहा! या सिंहभवापासून द्हाच्या भवात तुं या भरतक्षेत्रांत तीर्थंकर ( महावीर तीर्थंकर ) होणार आहेस. हें सर्व वृत्त आह्यास कमलाधर नांवाच्या जिनेश्वरांनी सागितले आहे. ४९ शांत-भवानेंत रत असलेल्या हे सिंहा! आझी त्यांच्या उपदेशावरून तुला खरोखरच

इति चिरमनुशिष्य तत्वमार्गं मुनिरुदगाद्गमनाय निश्चितार्थं ॥
स्वचरणविनतं स्पृशन्कराग्रेः शिरिस मुहुर्मुहुरादरेण सिंहं ॥ ५० ॥
चिरिमभिरिपुणा निरीक्ष्यमाणौ प्रणयभवाश्चकणाविलेक्षणेन ॥
जलधरपदवीं समाश्रयेतां प्रतिपदवीं गमनाय चारणौ तौ ॥ ५१ ॥
अथ मुनियुगले व्यतीत्य तिस्मन्पवनरयेण गते स्वदृष्टिमार्गं ॥
मृशमरितिमयायराजसिंहो जनयित सिद्धरहो न कस्य वाधिं ॥५२॥
मृशमरितिमयायराजसिंहो जनयित सिद्धरहो न कस्य वाधिं ॥५२॥
मृशिविरहशुचा समं स्विचत्तादनितिचिरेण निरस्य सर्वसंगं ॥
तदमलचरणांकपावनायामनशनमास्त मृगाधिपः शिलायां ॥ ५३ ॥
निहितवपुरेकपार्श्ववृत्त्या दृषिद चवाल न दंडवन्मुगेंद्रः ॥
यतिगुणगणसावनासु सक्तः प्रतिसमयं च बसूव शुद्धलेक्ष्यः ॥५४॥

उपदेश द्यावयास येथें आलों आहोत. मुनीचें हृदय ।नी:स्पृह असतें परंतु तें भव्यज-नांना उपदेश देण्याविषयीं त्यांना सन्मार्गीत आणण्याविषयीं आतुर झाछेछे असतें. ५० या प्रमाणें आपल्या पायाजवळ नम्र होऊन बसलेल्या सिंहाला मस्तकावर मोट्या प्रेमानें वा रंवार स्पर्श करणारे ते मुनि (अमितकीर्ति नावाचे चारण मुनि) ज्या-मध्यें पदार्थनिर्णय झालेला आहे असा उपदेशमांग वराच वेळ सांगून जाण्यासाठीं <sup>[</sup>निघाले. ५१ प्रेमानें उत्पन्न झालेल्या अश्रुकणांनीं भरलेल्या नेत्रानें बराच वेळ-पर्थत सिंहाकहून पाहिले गेलेले दोघे चारण मुनि आपल्या स्थानीं जाण्यासाठीं आकाशांत निघृन गेले. ५२ तें मुनियुग्म वाच्याच्या वेगाप्रमाणें सिंहाच्या दृष्टीच्या मार्गीतून निघून गेले असतां सिंहाला फार खेद झाला. बरोबरच आहे कीं, सत्पुरुषांचा विरह कोणाला मानसिक व्यथा उत्पन्न करीत नाहीं बरें १ ५३ सिं-हानें आपल्या हृदयांतून मुनिविरहानें उत्पन्न झालेल्या शोकासह लौकरच सर्वसं-गाचा-परिग्रहांचाही त्याग केला. व मुनीश्वरांच्या निर्मल चरणांनी पवित्रा बनः छेल्या शि**छे**बर भोजनाचा त्याग करून शांताचित्तानें तो बसछा. ५४ तो सिंह मुनि जेथें बसले होते त्या शिलेवर काठीसारखा एका अंगांवर आपलें शरीर ठेऊन निश्वल पहून राहिला.मुनिवरांच्या गुण समृदायाचें चिंतन करण्यांत गहून गेला व प्रत्येक समयीं शुद्ध लेक्येचा होते चालला. अर्थात् उत्तरीत्तर त्याच्या परिणामांत निर्मलता वाढत चालली. ५५ आधिक गरम हवेच्या आघाताने त्याचे

खरतरपवनाभिघातरूक्षं रिविकरणोल्मुकतापतः समंतात् ॥
स्फुटितमपि वपुर्व्यथां न चके मनसि हरेः रवल ताहरो। हि धीरः॥५५॥
दवानि ममुखदंशमिक्षकौ धैर्मशकच येरिप ममसु प्रदृष्टः ॥
समभूत शमसंवरानुगगं दिगुणतरं मनसा व्यपेतकंपः ॥५६॥
मृतम्गपितशंकया मदांधेः करिपितिभिः प्रविल्लप्तकेशः ॥५७॥
अकृत स हदये परां तितिक्षां तदवगतेनेनु सत्फलं मुमुक्षोः ॥५७॥
श्रणमिप विवशस्तृपा श्रुधा वा दिरदिरपुर्न बभूव मुक्तदेहः ॥
धृतकवाचितधीरमानसस्य प्रशमरितने सुधायते किमका ॥ ५८ ॥
प्रतिदिवसमगात्तनुत्वमंगैः सह बहिरंतरविधितः कपायैः
हिद निहित्तिनेंद्रभिक्तभारादिव नितरां शिथिलीकृतप्रमादः॥५९॥

शरीर रूक्ष वनछे अथीत् पूर्वीची उज्ज्वछता शरीरावर राहिली नाही. सूर्यीच्या अभिन्वालेप्रमाणें असलेल्या किरणाच्या संतापानें त्याचें शरीर सर्वत्न फुटले होतें. तथापि त्यापासून त्याच्या मनांत कांहींच दुःख उत्पन्न झालें नाहीं. खरोखर तो सिंह अनिर्वचनीय धैर्यवान होता. ५६ अग्निममाणे लालभडक ज्यांचीं तोंडे आहेत असे डांस, मधमाशा व चिल्रटे यांच्या सम्रुदायांनीं ज्याला मर्मरथलीं दंश केला आहे असाही तो सिंह निश्रल झाला व त्याने आपल्या मनाने शांतभावना व संवर हे दुप्पट धारण केले ५७ मदोन्मत्ता अशा मोठ्या हत्तीनीं हा मेलेला सिंह असावा या शंकेनें याची आयाळ उपटून काहिली तरी देखिल या सिंहानें मनांत उत्कृष्ट क्षमा धारण केली. वरोवरच आहे की, मोक्षाची इच्छा करणाऱ्या जीवाच्या जानाचे क्षमा धारण करणे हेंच उत्ताम फल आहे. ५८ ज्यान देहावरचें प्रेम त्यागिलें आहे असा तो सिंह क्षणभर देखिल सुकेनें व तहानेनें न्याकुल झाला नाहीं. वरीवरच आहे कीं, धैर्यरूपी चिललत धारण करणाऱ्याच्या धीर मनाला अद्वितीय असे शांतभावनेचें पेम अमृतासारखें होत नाहीं काय ? ५९ हा सिंह प्रत्येक दिवशीं मनामध्यें असलेल्या कोबादि कपायासह आपल्या शरीराच्या वाह्य अवयवांनी कुश होत चालला. व हृदयात ठेविलेल्या जिनेश्वगच्या भक्तीच्या ओझ्यामुळं जणु न्याने प्रमादाला कायमची रजा दिली होती. ६० ज्ञातिरूपी दरीच्या मध्यभागी विराजमान झालेल्या या सिंहाला तीत्र असा थंडगार त्रारा रात्रीच्या वेळीं वाधा देत नसे. उप-

रजानेषु हिममारुतो बबाधे शयविवरोद वर्तिनं न चंडः॥
निरुपमधनसंवरस्य शितं न हि विद्धाति तनीयसीं च पीडां॥६०॥
खरनखदशनैः शिवाशृगालैर्मृतकिधया पिरमिक्षितो निशास ॥
क्षणमपि न जहो परं समाधि न हि विद्यरेऽपि विसुह्यति क्षमावान्॥६१॥
दिनकरकरजालतापयोगात्मतिदिवसं हिगपिंडवन्महीयान्॥
शशिकरधवलो विलीयते स्म दिरदिरिपुः प्रशमे निधाय चित्तं ॥६२॥
इति मासमेकमचलिकयया समुपोपितो मवभयाकुलितः॥
जिनशासनानुगतधीर्विजहे दुरितैः स दूरमद्यमिश्च हरिः ॥ ६३॥
सौधर्मकल्पमथ धर्मफलेन गत्वा सद्यो मनोरमवपुः स मनोहरेऽमूत।
देवो हरिष्वज इति प्रथितो विगाने सम्यवत्यद्याद्विरथवा न सुखाय
केषां॥ ६४॥

प्रत्युत्थितो जयजयेति वदद्धिरुचैरानंदवाद्यकुशलैः परिवारदेवैः॥

मारिहत व पुष्कळ अशा संवरानें युक्त असलेल्या या सिंहाला थंडी थोडीशीहि पीडा कशी दें शं शंकेले दि हा सिंह रात्रीं तीक्ष्ण नखें व दांत ज्यांना आहेत अशा कोल्हिणी व कोल्हे यांच्याकडून हें मेत आहे ाशा बुद्धीनें खाला जात असे. तथापि हा आपली शांतरृत्ति एक क्षणपर्यंत देखील कोडीत नसे. वरोवरच आहे कीं, संकट प्रसंगीं देखिल क्षमावान् व्यक्ति घावरत नसते. शांततेपासून श्रष्ट होत नसते. ६२ चंद्राच्या किरणापमाणें शुभ्रवणीचा, रतुर्तास पात्रा असा तो सिंह प्रत्येक दिवशीं शांतपिरणामांत आपलें पन लाजन सूर्याच्या किरणसमूहाच्या संतापासुळें वर्षाच्या गोळ्याभगाणें वितळ्न गेला ६३ श्री जिनेश्वराच्या जपदेशाकडे ज्याची वुद्धि लागली आहे व संसाराच्या भयापासून ज्याचें मन व्याकुल झालें आहे अशा त्या सिंहानें निश्चल होजन एक महिनापर्यंत जपवास केला व पापासहित प्राणत्याग केला.

६४ यानंतर तो सिंह धर्माचरणाच्या फलानें तत्काल सौधर्म स्वर्गीत जन्मून मनी-हर नांवाच्या विमानांत सुंदर शरीराचा धारक 'हरिध्वज ' नांवाचा प्रसिद्ध देव झाला. बरोबरच आहे कीं, सम्यक्त्वाची निर्मलता कोणाला बरें सुख देण्याला कारण होत नाहीं ? अथीत् सर्वीनाच होतें. ६५ मोठ्यानें जेथें जग्र जय असे शब्द दिन्यांगनाभिरभिमंगलघारिणाभिः कोऽहं किमतदिति चिंतयति स्म धीरः ॥ ६५ ॥

ज्ञात्वा क्षणादविधना सकलं स्ववृतं तस्मात्स तन्मुनियुगं सह तैः

समत्य ॥

अभ्यर्च्य हैमकलरीश्च मुहुः प्रणामीरित्यत्रवीक्षिमदिनिर्भरिवत्वर्शत्तः थोऽभ्युद्धतो दुरितखंजनतो भवद्भिर्बद्धा घनं हितकथोरुवरत्रि-

काभिः॥ सोऽहं हरिः सुरवरोऽस्मि सुरंद्रकल्पः कस्योन्नतिं न कुरुते भवि-साधुवाक्यं ॥ ६७ ॥

अनाप्तपूर्वं भवतां प्रसादात्सम्यक्तवमासाद्य यथावदेतत् ॥ त्रैलोक्यचूडामणिशेखरत्वं प्रयातवान्संप्रति निर्दतोऽस्मि ॥ ६८ ॥

बोछणारे, आनंद वाद्यें वाजविण्यांत कुशल असलेले अशा परिवार देवांनीं व मंगलवस्त हातांत धारण करणाऱ्या स्वर्गीय सुंदर देवांगनांनीं युक्त असा तो उठलेला धीरदेव ' मी काण व हें काय आहे, असा विचार कुरूं लागला. ६६ यानंतर शोड्याच वेळेनं अवधिज्ञानानं आपली पूर्वजन्माची सर्व हकीकत जाणून त्या सर्व परिवार देवासह तो हरिध्वज देव स्वर्गापासून त्या म्रानिद्वयाकडे (अमि-तकीर्तिं व अमितप्रभ ) येऊन सुवर्णकुंभांनीं व वारंवार नमरकार करण्यानें त्यांचें पूजन करून आनंदानें ज्याचें अंतः करण भरून गेर्छे आहे असा होत्साता पुढें लिहिल्याप्रमाणें बोलू लागला ६७ मुनिश्रेष्ठहो ! ज्याला आपण हितोपदेशरूपी जाड दोरखंडांनीं पापरूपी गाळांतून वर काढिलें तोच सिंह मी सध्या देवेंद्रतुल्य असा महार्दिक देव झालों आहे. वरोवर आहे कीं, सत्पुरुपांचा उपदेश कोणाची उन्नति करीत नाहीं बरें ? सर्वीची करितो. ६८ हे मुनिराज! आपल्या कृपेनें पूर्वी कधीं प्राप्त न झालेलें असें हैं सम्यग्दर्शन यथार्थ रीतीनें प्राप्त करून घेऊन मी तैलेक्यचूडामणींच्या किरीटपणाला प्राप्त होऊन आतां मुक्त झालों आहे. अर्थात् आतां मुक्तिलाभ होणें फार दुर नाहीं ६९ ज्यांत ह्यातारपणारूपी लाटा आहेत, जनमरूपी पाण्यानें भरलेला, मरणरूपी मगर ज्यामध्यें आहे असा,

जरावीचीभंगो जननसिललो मृत्युमकरो । महामोहावर्तो गदनिवहफेनैः शबलितः ॥ मया संसाराब्धिभवदमलवाक्यप्लवभृता ॥ समुत्तीर्णः किंचित्प्रभवनतटीशेषमचिरात् ॥ ६९ ॥

इत्यं निगद्य विद्यवःस पुनःपुनश्च संपूज्य तौ यतिवृषे। प्रययो स्वधाम॥ विन्यस्य मूर्धिन सुचिराय तदंघिघूिल रक्षार्थभूति।भव संसृतियातु-धान्याः॥ ७०॥

शरदुडुपतिरिंगश्रीसुषा हारयष्ट्या सह हृदयविभागे बद्धसम्यक्त्व-संपत्॥

अभिमतसुरसौख्यं निर्विशक्षप्रमत्तो जिनपतिपदपूजां तत्र कुर्वन्तु-

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचिरते सिंहप्रायोपगमनं नामैकादशः सर्गः

मोह हाच मोवरा ज्यांत आहे असा, नानामकारचे रोगरूपी फेसानें युक्त असलेला असा संसाररूपी समुद्र हे मुनिराज । आपल्या उपदेशरूपी नांवेचा आश्रय घेणाऱ्या मजन्कहन तरला गेला आहे. आतां कांडीं जन्म घेणें हाच कोणी किनारा तो मात्र उरला आहे. तोही मी लोकरच तरून जाईन. ७० याप्रमाणें बोलून व पुनः पुनः त्या दोन श्रेष्ठ चारण मुनिराजांची पूजा करून व संसाररूपी पिशाचापासून स्वतःचें पुष्कळवेळपर्यंत रक्षण करण्याकरितां जणु त्यांच्या चरणाची धूळ आपल्या मस्तकावर धारण करून तो देव आपल्या ठिकाणीं निघून गेला. ७१ शरत्काल्याचंद्र किरणाची शोभा हरण करणाऱ्या रत्नहारासह ज्यानें आपल्या हद-यावर सम्यक्तव संपत्ति धारण केली आहे असा व प्रमादराहित होजन दररोज जिनेश्वराच्या चरणांची पूजा करणारा तो देव आपल्याला आवडत्या अशा दिन्य सुखांचा अनुभव घेत तेथें—स्वर्गामध्यें राहूं लागला.

\* याप्रमाणें असगकविकृत श्रीवर्ङमान चरित्रामध्यें सिंहाच्या प्रायोपगमः नाचें वर्णन करणारा अकरावा सर्ग संपछा. \*



अथास्ति कच्छाविषयः प्रतीतो द्वीपे द्वितीये कुरुभूमिकल्पः ॥ प्राच्यां दिशि प्राच्यसुरालयस्य सीतापगोदक्तरमागलमः ॥ १ ॥ रोप्यो गिरिस्तत्र नमश्रराणां धाम स्वधाम्ना विजितान्यशैलः ॥ पंचाधिका विंशतिरूर्द्वमाना च्छतं च तिर्यखरयोजनानाम् ॥ २ ॥ यः काशशुभेः शिखरेरदभैरभंकपाभैर्द्दसतीव नाकं ॥ वाग्गोचरातीतसुरूपसंपद्विद्याधरावासमदावालिष्तः ॥ ३ ॥ यत्रात्तधीतसमयूखरेरवाश्यामायिताशेपशरीरशोभाः ॥ यत्रात्तिसमयूखरेरवाश्यामायिताशेपशरीरशोभाः ॥ इतस्ततो यान्त्यभिसारिकाः खे दिवा तिमस्रा इव सूर्तिमत्यः ॥ ४ ॥ कान्तोऽपि यत्कूरतरो निकामं न सेव्यते दिव्यवधूजनेन ॥

१ दुसऱ्या धातकीखंड नांवाच्या द्वीपांत देवकुरु भोगभूमीप्रमाण प्रसिद्धीस आहेला कच्छ नांवाचा देश आहे, हा देश पूर्व मेरपर्वताच्या पूर्व दिशेस सीता नदीच्या उत्तर किनाऱ्याच्या एका भागावर वसलेला आहे. २ या देशांत विद्याधरांचें निवासस्थान असलेला विश्वयार्थ या नांवाचा एक रूप्याचा पर्वत आहे. यानें आपल्या कांतीनें इतर पर्वतांच्या शोभेला जिंकिलें होते. हा पर्वत मोट्या योजर्नाच्या प्रमाणानें पंचविस योजने उंच व शंभर योजनें उंद असा आहे. ३ शब्दांनीं ज्याचें वर्णन करणों अशक्य आहे अशा रूपसंपत्तीला धारण करणाऱ्या विद्याधरांचें भी निवासस्थान आहे अशा गर्वानें फुगलेला हा पर्वत मेद्यांचे विदारण करणाऱ्या अग्रभागांना धारण करणारे व काश पुष्पापमाणें श्वेतवर्णाच्या अनेक मोट्या शिखरांनी जणु स्वर्गीला इंसतच्य आहे असें वादतें. ४ जेथें जवल घेतलेल्या स्वच्छ-पाणी

अनन्यसाम्यामवलोक्य कान्ति विद्याधरीणामतिलाज्जितेन ॥५॥ विद्यानुभावेन परेण केल्यास्तिरोहितांगीरिप यत्र रामाः॥ श्वासानिलामोदहता स्वनाथान्धृंगावली सूचयति प्रमूढाच् ॥६॥ न हीयते यत्र सरोवराणां विकाशसंपत्कुमुदोत्करेण॥ तीरस्थमुकोपलसांद्रदीप्तिज्योत्स्नापरीतेन सदा दिवापि ॥७॥ स्वधामिभः कुंददलावदातेरुत्सारयन्यः परितस्तिमस्रां॥ सृजान्नवाभाति सितेतरामु ज्योत्स्नामपूर्वीमिप शर्वरीषु॥८॥ श्रेण्यामपाच्यामथ तत्र हैमप्राकारहर्म्याङ्गविराजितत्वात्॥ अन्वर्थनामास्ति पुरं पुराणां ललामकं हेमपुरं पुराणं॥९॥

दिलेल्या तरवारीच्या किरणांच्या रेघांनीं ज्यांच्या सर्व शरीरांचें सौंदर्य निलसर दिसत आहे अशा अभिसारिका स्त्रिया ( जारार्ने बोल्लाविलेल्या टिकाणीं जाणाऱ्या स्त्रिया ) या पर्वतावर इकडे तिकडे आकाशांतून हिंडत असतांना त्या जणु दिवसा मूर्तिमत ह्या अंधारी रालीच आहेत अशा भासत असत. ५ या पर्वे-ताचा शिखरतट आतिशय रमणीय' असूनही त्याच्यावर देवांगना विहार करीत नसत. याचें कारण हें होतें कीं, तेथील विद्याधरिह्मयांचें ज्याची कोणीही बरी-वरी करू शंकणार नाहीं असें सौंदर्य पाहून त्या अतिशय लाजित झाल्या होत्या-६ विद्येच्या उत्कृष्ट प्रभावाने विद्याधर स्त्रिया क्रीडाप्रसंगी आपलें शरीर अह्रय करीत असत. परंतु त्यांच्या श्वासवायूच्या सुगधाने आक्विंछेछा सुंग्यांचा समुदाय गोंधळ्न गेलेल्या त्यांच्या पतींना त्या कोठें आहेत हें सूचित असत. ७ या पर्ततावरील सरोवरांच्या रात्रीं विकासपावणाऱ्या कमलसमृहानें दिवसा देखिल आपल्या विकास संपत्तीचा त्याग केला नाहीं. याचें कारण हें होतें की, तीरावर असलेल्या मौक्तिकपाषाणाच्या दाटकांतीरूपी ज्योत्स्गेने तीं कमलें ज्याप्त झालीं होतीं-मौक्तिकपाषाणांची कांति चंद्राकिरणाप्रमाणें असल्यागुळें नेहमीं तेथें तीं कमलें प्रफु-छित राद्दात असत. ८ कुंदपुष्पांच्या कळ्याप्रमाणे असळेल्या स्वतःच्या कांतींनीं चोहोंक इन दाट अज्ञा अंधारी रात्नींना हटविणारा हा पर्वत कृष्णपक्षाच्या रात्रीं. देखिल जणु अपूर्व चांदण्याची शोभा उत्पन्न करणारा असा शोभत असे. ९ या पर्वताच्या दक्षिण श्रेणीवर सोन्याचा तट, सोन्याची घरे व सज्जे यांनी शोभत

निस्रीवैमल्यगुणेषु यस्मिन् रत्नोपलेष्वेव परं खरत्वं॥ संलक्ष्यतेऽन्तर्मा छेनत्वर्मिदोः कलावतां पक्षवतां च मध्ये ॥ १०॥ त्यांगान्वितो यत्र सदा विरूपः परं इधानां कुलमप्रमाणं ॥ भवत्यनिष्टो यतिरेव योगिकियास दक्षः परलोक्सीरुः॥ १९॥ यत्रांगनानां वदनारविंदे निश्वासलोभेन पतन्यदालिः॥ कराहतो हस्तमपि प्रहृष्टो रक्तोत्पलाशंकिमनाः परैति॥ १२॥ तस्याभवत्पालियता विनीतो राजा प्रजापालनलव्धकीर्तिः॥ पुरस्य वीरः कनकाभनामा पुरःसरो नीतिविदां सतां च ॥ १३॥ असलेले, सर्व नगरामध्ये तिलकभूत असे हेमपुर या सार्थक नांवाचे प्राचीन शहर होतें. १० या शहरांत स्वाभाविक निर्मलगुण यारण करणाच्यामध्यें फक्त रत्नपा-पाणामध्येंच 'खरत्व ' कठोरता होती. कलावान-गायन नृत्यादिकला जाणणारं, पर्शी सोला कलांनी युक्त, पक्षवान् जाति, कुल वर्गरेंचा पक्ष धारण करणारे, पक्षीं शुक्ल व कृष्ण पक्ष यांनी युक्त अशामध्ये फक्त चंद्राच्या ठिकाणींच कलंक आहळून येत असे. ११ या हेमपुर शहरांन त्यागान्वित-दान देणारे लोक नेहमी विरूप असत ह्मणजे कुरूप होते. याचा विरोध परिहार असा:-नेहमीं टान देत असल्यामुळे तं विरूप अर्थात् द्रव्याने रहित होते. तसेंच तेथील विद्वानांचा समुद्राय अप्रमाण अर्थात् अविश्वरत होता. या विरोधाचा परिहार असा-तेथे विद्वानांचे प्रगाणच नव्हते अर्थात् तेथे अगणित विद्वान होते. तेथे अनिष्ट फक्त यतिराज्ञच होते अर्थात् इष्ट अगः पंचेद्रियांच्या विषयसुखापासून ते रहित होते परलोकापासून भिणोरच फक्त योगिकियेमव्यं -ध्यान करण्यामध्यें दक्ष होते अर्थान् ध्यानामध्यें दक्ष असणारे मुनिवर्यच फक्त परलोकभीरु नारकाडि जन्मापास्न भीत होते. तेथील मृहस्य वर्ग परलोक-शत्रुसमृह त्यापासून भय वालगीत नसे १२ येथे स्त्रियांच्या मुल-क्षमलावर सुगंपित्वासाच्या लोभाने आनंदयुक्त होऊन पडणाग सुंगा जेव्हां िचयांकड़न हातानें दूर केला जान असे तेव्हां हा हातच तांवडे कमल आहे अशी शंका त्याच्या मनांत उन्पन्न होऊन नो आनंदित होऊन त्याच्या सभावती विर्ट्या घाळीत असे १३ या हेमपुरशहराचें रक्षण करनारा, प्राक्रमी, सत्पुरुप व नीनिज लोकांचा पुढारी व प्रजेचें पालन करण्यानें ज्याला कीर्तिलाभ झालेला आहे सुनिश्रलातिष्ठदसी यदीय शरत्रभःश्यामरुची जयश्रीः॥
विदारयेन्मामिप संचलन्ती धारा शितास्येति भियेव खड्ने॥ १४॥
भयात्परिम्लानमुखानि पुंसां पश्यत्ययं शौर्यनिधिनं युद्धे॥
इतीव मत्वा पुरतो यदीयः प्रोत्सारयामास रिपून्प्रतापः॥ १५॥
नित्योदयो सूमियृतां शिरःस्छ विन्यस्तपादः कमलेकनाथः॥
यस्तिग्मरश्मेः सहशोऽपि धात्रीं प्रल्हादयामास करेरतिग्मैः॥१६॥
अन्नशीलामरणेकसूषा विश्रामसूमिः कमनीयतायाः॥
महीपतेस्तस्य वसूव देवी ख्यातान्वया या कनकादिमाला॥१०॥
सौधर्मकल्पादवतीर्य पुत्रः पित्रोस्तयोः संमदमादधानः॥
अनल्पकांतिद्यतिसत्वयुक्तो हरिध्वजोऽभूत्कनकध्वजारव्यः॥ १८॥

असा कनकाभ नांवाचा सुशिक्षित राजा होता. १४ या राजाच्या शरत्कालाच्या आकाशाममाणें नीलवणीच्या खङ्गामध्यें असलेली याची तीक्ष्ण धार "मी जर चंचल वनल्ये तर मला देखिल ती कापून काढील "ह्मणून जणू भीतीनें राजलक्ष्मी निश्रल हो-**ऊन राहिली. १५ हा शौर्याचा सांठा असलेला राजा भीती नें** ज्यांचीं तोंडें सुकून गेलीं आहेत अशा मनुष्यांचें युद्धामध्यें दर्शन घेत नसतो असें समजून जणू याचा नताप त्यांना या राजापासून दूर सारीत असे. १६ नेहमीं उदयाने युक्त, भूमिभृतांच्या-पर्वतांच्या यस्तकावर पाद-किरण ठेवणारा, राजाच्या पक्षींराजांच्या मस्तकावर आपले पाय टेवणारा, कमलैकनाथ-कमलांचा स्वामी, राजपक्षी कमलेचा-लक्ष्मीचा पति: असा तो राजा सूर्यासारखा असूनही आपल्या सौम्य अशा करांनीं प्रजेला आनंदित करीत होता. सूर्य आपल्या करांनीं-किरणांनीं पृथ्वीला संतप्त करीत असतो. परंतु हा कनकाभ राजा आपल्या करांनीं टॅक्स-राजग्राह्य भाग यानें आनंदित करीत असे १७ या राजाला प्रासिद्ध वशांत उत्पन्न झालेली कनकमाला नांवाची राणी होती. ही पूर्णीवरथेला पोहोंचलेल्या पातिव्रत्यरूपी अद्वितीय अलंकारांनी भूषित झालेकी व सौदर्थाचे विश्रांतिस्थान अशी होती. १८ विषुलकांति, मभाव व पराक्रम या गुणांनीं युक्त असा तो हरिध्वज नांवाचा देव सौधर्म स्वर्गातृन येऊन या उभय माता-पित्यांना आनंदित करणारा कनकध्वज नांवाच। मुलगा होऊन जन्मला.

अकारयच्चारुजिनाधिपानामनारतं गर्भगतोऽपि मातुः ॥
.यो दौहदायासपदेन पूजां सम्यक्त्वशुद्धि प्रथयन्निव स्वां ॥ १९ ॥
यस्मिन्प्रस्ते वृष्टे कुलश्रीश्रंद्रोदये प्रत्यहमंबुराशेः ॥
वेलेव चृतदुमपुष्पसंपत्पृष्पाकरस्येव च संनिधाने ॥ २० ॥
विगाह्यमाना युगपच्चतक्षो नरेंद्रविद्याः सहसा विरेजुः ॥
विशुद्धया तस्य थिया निसर्गाहिशोऽपि कीत्यी कमनीयमूर्तेः।२१।
यो यौवनश्रीनिलयैकपद्मोऽप्यनूनधेर्यः स्ववशं निनाय ॥
अरातिषद्भगमनन्यसाध्यं विद्यागणं च प्रथितप्रभावः ॥ २२ ॥

यद्दच्छया यांतसुद्धिय पौराः सुनिश्चलाक्षा इति यं प्रद्ध्यः॥ किं मूर्तिमानेष स चित्तजन्मा किं रूपकांतरविस्त्रिलाक्याः। १३।

१९ ज्यावेळीं हा मातेच्या गर्भामध्यें होता तेव्हां डोहाळ्याच्या पीडेच्या निमित्तानें आपल्या मातेकडून जिनेश्वराची नेहमी त्यांने पूजा करविछी. या त्याच्या कृतीवरून जण त्यांनें स्वतःच्या सम्यादर्शनाची प्रसिद्धी करिवछी. २० चंद्राच्या उदयांनें जसा समुद्राचा किनारा भरतींनें युक्त होतो अथवा वसंत ऋतूच्या आगमनानें जसा आम्र- हक्षाळा मोहोर येतो त्याप्रमाणें हा जेव्हां जन्माळा आला तेव्हां दररींज राजाच्या वंशाची छक्ष्मी-राजलक्ष्मी दृद्धिंगत होऊ लागळी.

२१ या कनकप्रभ राजपुताच्या निर्मलबुद्धीच्या द्वारें ज्यांचा अभ्यास केला गेला आहे अशा चार राजाविद्या एकदम फार शोभू लागल्या व रवा-भाविक मुंदर शरीराच्या या राजपुत्राच्या कीर्तानें दिशा देखिल फार मुंदर दिमूं लागल्या. २२ हा कनकप्रभ राजपुत्र तारुण्यक्ष्मी लक्ष्मीला राहण्यासाठीं अद्वितीय कमलासारखा होता. तथापि याचें दिकाणीं पूर्ण धेर्य वास करीत होतें. यानें इतरांना जिंकतां न येणाच्या अशा काम, कोध, लोभ, मद, मान व हर्ष या सहा शत्रृंना वश केलें होतें. तसेंच हा मोठा प्रभावशाली होता ह्मणून याला प्रजाप्ति चमैरे अनेक विद्याही सिद्ध झाल्या होत्या. २३ हा राजपुत्र जेल्हां कोठेंतरी साहाजिक रीतींनें याटमाट न करितां जाण्यास निघाला असतां नगरवासी लोकांचे नेत्र याच्याकडे टक लाऊन पाहात असत व त्यावेळीं लोक हा मूर्तिमंत मदन आहे काय ? किंवा त्रैलीन्याच्या रूपसींद्र्याची हा सीमाच वनला आहे काय ? असा

निपत्य यस्मिन्पुरसुंदरीणामिंदीवरश्रीरुचिश सतृष्णा ॥
कटाक्षसंपन्न चचाल मना सुदुर्वला गौरिव खंजनांत ॥ २४ ॥
आकृष्टवान्खेचरकन्यकानां चेतांसि यस्तासु निरादरोऽपि ॥
वपुर्विशेषेण निजेन राजन्नयांस्ययस्कांत इव प्रतितः ॥ २५ ॥
अमेयगंभीरगुणस्य दूरादिष्ठियचापः प्रतिपाल्य रंष्ट्रं ॥
यस्यास्त कंभूर्धनिनो निशीथे सुजाश्रतो भीरुरिवैकचौरः ॥ २६ ॥
पितुर्निदेशात्कनकप्रभायाः स्फुरत्प्रभायाः समवाप्य योगं ॥
रराज संतापहरः प्रजानां स विद्युता वा नववारिवाहः ॥ २७ ॥
परस्परं तौ स्ववशं निकामं वधूवरी निन्यतुरात्मकान्त्या ॥
प्रियेषु यत्प्रमरसावहत्त्वं तच्चारुताया हि फलं प्रधानं ॥ २८ ॥

विचार करीत असत. २४ जशी गाळामध्यें फसलेली अशक्त गाय तेथून हालूं-शकत नाही, त्याप्रमाणे या शहरांतील सुंदर स्त्रियांची नीलकमलाच्या कांतिप्रमाणें सुंदर असलेली व लुब्ध बनलेली कटाक्षसंपत्ति या राजपुत्रावर पडून तेथेंच ती निश्रल होत असे. तेथून निघण्यास ती असमर्थ होत असे. २५ स्वतःच्या विशिष्ट शरीराच्या कांतीने शोभणाऱ्या या राजपुत्रानें विद्याधरांच्या सुद्र कन्यामध्यें निरदर होऊन देखिल लोहचुंबकमणि जसें लोखंडास इच्छा नसतांही आकर्षण करितो त्याप्रमाणें त्यांचीं मनें आपल्याकडे ओढून घेतलीं. अर्थात् याला पाहिल्या वरोबर अनेक विद्याधर कन्यांना हा आपछा पति व्हावा असे वाटू छागछे २६ जसें अर्थरात्रीं एखादा चोर श्रीमंत मनुष्य जागा असेळ तर भीतियुक्त होऊन तो केव्हां निजेल याची वाट पाहात त्याच्यापासून दूर बसत असतो त्याप्रमाणें ज्याचे अपरिमित व गंभीर गुण आहेत अञ्चा या विवेकयुक्त राजपुत्रापासून दृर राहून व आपलें धनुष्य सज्ज करून मद्न स्वतःच्या प्रवेशाकरितां वाट पहात वसला होता. २७ जिच्या देहापासून सौंदर्यकांति वाहेर पडत आहे अशा कनकप्रभा नांवाच्या विद्या-धर कन्येशीं हा कनकध्वज राजपुत्रा बापाच्या परवानगीनें संबंध पाऊन अर्थीत् विवाह करून जसा लोकांचा संताप दूर करणारा नवीन मेघ विजेशी संयोग पाऊन शोभतो तसा प्रजेळा संताप रहित करणारा होत्साता शोभू लागला. २८ स्वतःच्या सौंदर्यानें त्या पतिपत्नींनीं एकमेकांस अगदीं वश करून घेतलें. वरोवरच आहे कीं आवडत्या

स्थातुं निमेपार्थमिप प्रतीतावन्योन्यसुन्सुच्य न शेकतुस्तौ ॥ अनूनलावण्यविशेपलक्ष्मीं वेलां ससुद्राविव धारयन्तौ ॥ २९ ॥ लतालये नंदनकाननांते प्रवालशय्यामधिशय्य कान्तां ॥ प्रसादयन्कोपविवर्तितांगीं रेमे मनाक्प्रस्फुरिताधरीष्ठीं ॥ ३० ॥ जवानिलाकृष्टपयोधरेण गत्वा विमानेन तया समेतः ॥ आनर्च माल्यादिभिराहतात्मा जिनालयान्मंदरसानुयाजः ॥ ३१ ॥ अथैकदा संस्तिवासभीतस्तस्मे स राज्यं कनकध्वजाय ॥ प्रदाय राजा सुमतेः समीपे जम्राह दीक्षां विजिताक्षद्यत्तिः ॥ ३२॥ अनन्यलभ्यामिष राज्यलक्ष्मीमवाप्य नौद्धत्यमवाप धीरः ॥ तथाहि लोके महतां विभूतिर्महीयसी नापि विकारहेतुः ॥ ३३ ॥

वस्त्वर नेहमीं प्रेम उत्पन्न करणे हैंच सैं।दर्शाचें गुरुय फल आहे. २९ जसे दोन समुद्र पूर्ण खारटपणाच्या विशेष शोभेला धारण करणाच्या आपल्या तटांचा क्षणमात्रही त्याग करीत नाहींत तसें परिपूर्ण सोटर्य लक्ष्मीला धारण करणारे हे प्रसिद्ध पतिपत्नी एकमेकाला सोहन अर्धाक्षणपर्यत देखिल वेगले राहू शक्त नसत ३० हा राजपुत्र नंदन बनामध्यें कोवल्या पल्लबांच्या शय्येवर निजक्त जिचा खालचा ओठ थोडासा स्फुरण पावत आहे व जिनें कोपान आपलें शरीर वळावेलें आहे अशा आपल्या पत्नीला प्रसन्न करून तिच्याशीं रममाण होत असे,

2१ वेगापासून उत्पन्न झालेल्या वाच्यान मेघांना आकर्षण करून घेणाच्या विमानांत आपल्या पत्नीसह वसून तो राजपुत्र मंदर पर्वतावर जात असे व तेथे असलेल्या जिनमांदिरांची पुष्प वगैरे अष्टद्रव्यांनी आदरयुक्त होऊन पूजा करीत असे. ३२ एके वेलीं संसार वासापासून भ्यालेल्या कनकाभ राजाने या कनक-ध्वजाला राज्य दिले व सुमित नांवाच्या सुनीश्वराजवल ज्याने आपलीं इदि-चें ताव्यांत टोविलीं आहेत असा होऊन दीक्षा घेतली. ३३ या कनकध्वजाला इत्रांना मिळण्यास अशक्य अशी राज्यलक्ष्मी मिलाली होती. तथापि हा गंभीर असल्यामुळे याच्या टिकाणी उद्धतपणा उत्पन्न झाला नाहीं. वरोवरच आहे कीं, सत्पुरुषांना मोठें वैभव मिलालें तरी तें त्यांना विकार उत्पन्न करण्यास कारण होत नाहीं ही गाष्टे जगामध्यें मिसद्ध आहे. २४ चंद्राच्या किरणाममालें शुभ्र अशा स्वतःच्या

चंद्रांशुशुभेरिष स प्रजास सदानुरागं म्वशुणेश्वकार ॥
निरत्ययं प्रत्यहमूर्जितश्रीरचित्यरूपा महतां हि वृत्तिः ॥ ३४ ॥
स चंदनस्थासकवत्स्रश्वाय प्रीत्योन्सुखानासभविवकामं ॥
दूरस्थितोऽिष प्रद्राह शत्रून् तपे विवस्वानिव सप्रतापः ॥ ३५ ॥
प्रजानुरागं विमलेव कीर्तिः सुयोजिता नीतिरिवेष्सितार्थं ॥
सस्यार्थवोधं धिषणेव सूनुमजीजनद्धेमरथं प्रियासौ ॥ ३६ ॥
हत्यं स सांसारिकसौष्यसारं पंचंद्रियेष्टं भुवि निर्विवेश ॥
इत्यं स सांसारिकसौष्यसारं पंचंद्रियेष्टं भुवि निर्विवेश ॥
अथान्यदा मत्तचकोरनेत्रां कातां स्वहस्तार्षितचारुसूषां ॥
आदाय विद्याथरराजसिंहः सुदर्शनोद्यानियाय रंतुस् ॥ ३८ ॥

गुणांनीं या राजाने मजेमध्यें आरक्तपणा [पक्षीं प्रेमळपणा उत्पन्न केला.] दररोज नाश न पावतां त्याची लक्ष्मी उत्कर्षाला पोहोंचत असे. वरीवरच आहे कीं, मोट्या लोकांचा स्वभाव अचिंत्य असतो. चंद्राचे किरण पांढरे असतात परंतु त्यांचें सौद्र्य दिवसा अस्ताला जाऊन राजीं वृद्धिंगत होत असते. परतु या राजाची लक्ष्मी नेहमी उदयरूप होती व वाढतच जात होती. तसेंच याचे गुण पांढरे असून तांवडेपणा उत्पन्न करीत असत. यामुळें कांचे मोठ्यांचा स्वभाव अचिंत्य असतो असें म्हणतो तें योग्य आहे. ३५ हा राजा प्रीतीनें याच्याकडे जे पाहात असत त्यांना चंदनाच्या उटिपमाणें अतिगय सुखदायक होता व प्रतापानें सिहत असलेला हा राजा शत्रूंना ग्रीष्मत्रहतूंतील सूर्याप्रमाणे दूर राहूनही काढीत असे. अर्थात् अनुक्ल लोकांना हा मुख देत असे. प्रतिकूलांना हा दुःखदायक होता. ३६ निर्मळ कीर्ति जशी प्राजापेमाला जन्म देते. उत्तम रीतीनें योजिलेली नीति इच्छित पदार्थास प्रसवते; वुद्धि जशी पदार्थ ज्ञानाला उत्पन्न कारिते तशी या नृपालाची पत्नी हेमरथ नांवाच्या मुलाला प्रसवली. ३७ प्रियपत्नीच्या उंच अशा स्तनाग्रांनीं ज्याच्या वक्षःस्थलावरची चंदनाच्या उटीची शोभा पुसली गेली आहे अज्ञा या राजानें या भूतलावर पंचेंद्रियांना आवडत्या अज्ञा सांसारिक सुखांच्या सारभागाचा याप्रमाणें बराच कालपर्यंत अनुभव घेतला. ३८ एकेवेलीं जिनें आप-ल्या हातांत उत्ताम रत्नालंकार घातले आहेत, जिचे मत्ता चकोरपक्षापमाणें डांळे तस्यैकदेशस्थितवालपिंडीद्रुमस्य मूले विपुलाश्मपट्टे ॥ वालातपश्रीमुपि रागमलं निपात्य तस्योपिर वा निपण्णम् ॥२९॥ कृशं निजांगैरकृशं तपोगिः स्थानं शमस्यैकपितं क्षमायाः ॥ परीपहाणामवशं वशाक्षं वासांद्यजं चारुचिरत्रलक्ष्म्याः ॥ ४० ॥ श्रुतस्य सारार्थिमवात्तरूपं स्वयं दयाया इव साधवादं ॥ दूरादपश्यन्मुनिमादृतात्मा स सुत्रतं सुत्रतनामध्येय्॥४१॥कुलई॥ निधानमासाद्य यथा दिरद्रो जात्यंधवन्नेत्रयुगस्य लाभात् ॥ यतिं तमालोक्य मुदा तदंगे निजेऽप्यमांत्याविव सो वभूव ॥४२॥ उपत्य हृष्टांगरुहैः समंतात्स स्वितान्तःकरणानुरागः ॥ पर्यस्तचूडामणिना ववंदे मूर्ध्ना सुनिं कुद्धालिताग्रहस्तः ॥ ४३ ॥

आहेत अज्ञा आपल्या कनकप्रभा राणीला वरोवर घेऊन विद्याधर गजामध्यें अष्ठ असलेला तो कनकध्वज राजा मेर पर्वतावराल वर्गावांत किंडा करण्यासाठीं गेला. ३९ त्या वर्गाच्याच्या एका भागामध्यें एका लहान अज्ञोक दृक्षाच्या खाली सूर्याच्या कोवल्या उन्हाच्या ज्ञोभेला हरण करणारा अर्थात् त्या रंगाचा एका लांव रंद पाषाण होता. त्या पाषाणावर वसलेले द्वाने अणु रागरूपी पहिल्यानाला खालीं पाडून त्यावर वसले आहेत असें भासत होते. अज्ञा मुनीला या राजानें पाहिलें ४० हे म्रान आपल्या अवयवांनीं कृज्ञ होते परंतु तपानें कृज नव्हतें. अर्थात् फार मोटे तपस्वी होते. ज्ञांतभावाचें स्थान होतें क्षमेचे ते आदृतीय पति होते. तेपरीपहांच्या स्वाधीन झालेले नसून इंद्रियांना त्यांनीं स्वाधीन केलें होतें, सुंदर निटींप चरित्र-रूपी लक्ष्मीचे ते निवासस्थान—कमलरूप होते

४१ हे मुनिराज जणु मूर्तिमंत द्वाद्जांगश्चत ज्ञानाचा उत्कृष्ट अर्थ होते जणु द्येचा हे साधुवाद होते. अर्थात् द्यागुणाच्या कीर्तीन या मुनिश्वराचें स्वरूप जणु यारण केलें होतें. उत्तम महाव्रतांचे धारक अशा या सुव्रत मुनिराजाला कनकथ्वज राजानें ज्याचें अंत.करण भक्तीनें भरून गेले आहे असा होऊन दुरून पोहिलें. ४२ खिजना सांपडला असतां जसा द्रिव्याच्या शरीरांत आनंद मावत नाहीं, किंवा अंधळ्याला गेलेले दोन डोले पुनः लाभले असतां जसा आनद होतो तसा त्या मुनीना पाहून राजाला इतका आनंद झाला कीं, नो त्याच्या देहामध्यें मावणें अश्वय झालें.

अघान्छदा शांतिविलोकितेन कर्मक्षयाशीर्वचसा च कामं॥
अनुग्रहं तस्य चकार साधुर्भव्ये सुसुक्षोर्न हि निःस्पृहा घीः॥४४॥
स्थित्वाग्रतस्तस्य सुनेरदूरे विद्याधरेन्द्रो निरवद्यभावः॥
सप्रश्रयं प्रांजिलरादरेण पप्रन्छ धर्मं तसुद्दारधर्मस् ॥ ४५॥
पृष्टो सुनिस्तेन स इत्युवाच श्रेयो वचो ध्वस्तिवकारवर्गं॥
मध्यादृशां चित्तमपि प्रसद्य प्रत्हाद्यन्दर्शनमोह्भाजास्॥४६॥
धर्मो जिनेंद्रैः सकलाववाधिरुक्तः परो जीवद्येकसूलः॥
स्वर्गापवर्गोरुसुखस्य हेतुः स द्विप्रकारो भवति प्रतीतः॥ ४०॥
सागारिकोऽणवतभेदिभन्नोऽनागारिकः रव्यातमहावतश्च॥
आद्यो गृहस्थैः परिपालनीयः परं परः संयमिभिविविक्तैः॥४८॥

४३ आनंद झाल्यामुळें सर्व शरीरभर उत्पन्न झालेल्या रोमांचांनी। ज्याने आपलें अंतःकरणांतलें प्रेम सूचित केलें आहे असा तो राजा जवळ आला. त्यानें आपले दोन हात कळीसारखे केले आणि जमीनीला टेकला आहे चूडामणि ज्याचा अशा अपल्या मस्तकाने मुनीस नमरकार केला. ४४ पापाचा नाश कर-णाऱ्या शांत दृष्टीने व कर्माचा क्षय करण्यास समर्थ असलेल्या अशीर्वादाने सुत्रत मुनिराजांनीं राजावर विपुळ अनुग्रह केला. बरोबरच आहे कीं, मुनीश्वराची ही भव्यजनावर निस्पृह बुद्धि असत नाहीं- ४५ पवित्र विचाराचा तो विद्याधर राना गोठ्या आदरानें ग्रुनी वराजवळ वराळा व विनयानें हात जोडून महा धर्मयुक्त असलेल्या त्या मुनीव्यरास धर्माचें स्वरूप विचारकं लागला. ४६ दर्शनमोह-नीय कर्पाच्या उद्यानें युक्त असलेले अर्थात् मिथ्यात्वी अशाही लोकांच्या अंतः करणाला पयत्नानें आनदयुक्त करणारे ते युनिराज जेव्हां राजाकडून विचारले गेले तेन्हां ते विकाररहित च कल्याणकारक असा उपदेश पुढें लिहिल्या-प्रमाणें करूं लागले, ४७ ' संपूर्ण परार्थीचें ज्ञान ज्यांना झालें आहे अशा जिनेश्वरांनीं जीवावर दया करणें हेंच ज्यांचें मूळ आहे, स्वर्ग व मोक्षाच्या मोट्या सुखाला हेतु असलेला असा उत्कृष्ट व प्रसिद्ध धर्म दोन प्रकारचा आहे असें सांगिनलें आहे. ४८ पहिला सागार धर्म आहे, तो गृहरथांनीं पाळण्याला योग्य आहे त्यास अणुत्रत धर्म असे ह्मणपात व दुसरा अनगार धर्म आहे तो गृहस्थापासून वेगळे

महानयोर्मृलसुदाहरित सहर्शनं सर्वविदो जिनेंद्राः॥
तत्त्रेषु सप्तर्भाय निश्चयेन श्रद्धानमेकं तदिति प्रतीहि॥ ४९॥
हिंसान्तरस्तयभ्यूव्यवायपरिश्रेहम्यो विरतियतीनां॥
सर्वात्मना तद्व्रतमित्युदीणं स्थूला निवृत्तिर्यहमेषिनां च॥ ५०॥
अनादिसांसारिकचित्रदुःस्वप्रवेकदावानलसंक्ष्याय॥
नान्योऽस्त्युपायो नितरामसुष्मादतोऽत्र यत्नः पुरुपेण कार्यः॥५१॥
मिथ्यात्वयोगाविरतिप्रमादैः कपायदोपेश्च वहुप्रकारैः॥
चन्नाति कर्माष्ट्रविधं सदात्मा संसारवासस्य हि कर्म हेतु ॥५२॥
सङ्घिसज्ज्ञानतपश्चरित्रैहन्मूल्यते कर्मवनं समूलात्॥
तेषु स्थितं स्राक्तिवधः पुमांसं ससुतसुकेव स्वयमभ्युपेति ॥५३॥
अज्ञानमृदः स्वपरोपतापानपीन्द्रियार्थानसुस्वमित्युपास्ते॥
सर्द्वःकृतानस्वात्सविद्भ्युपेतुं विभेति तान्दिष्टिविपानिवाहीन्॥५॥।

अशा संयमी लोकांचा-ध्रनीचा आहे. याला महात्रत धर्म ह्मणतात. ४९ हे भल्या यहस्या! या दोन्ही धर्माचे मृल सम्यग्दर्शन आहे असे सर्वज्ञ जिनेश्वर ह्मणतात. स-यग्दर्शनाशिवाय उपर्युक्त धर्माला धर्म हें नांव प्राप्त होत नाहीं. जीवादिक सात तत्वामध्य निश्चय करून दृढ श्रद्धान करणे हें सम्यग्दर्शन आहे असे तूं समज. ५० हिंसा, खोटें भापण, चोरी, ख्रीसेवन, व परिग्रह यांचा पूर्णपणें त्याग करणे हे ग्रुनीचें व्रत होय व रथूलपणें यांचा त्याग करणे हें ग्रुहस्थाचें व्रत होय असे शास्त्रांत सांगितलें आहे.

५१ अनादिकालापासून उत्पन्न झालेली जी सांसारिक नानापकारची दुःखे हीच जंगलांतील मोठ्या अग्निमारखीं आहेत. अजा दुःखांचा नाज करण्यासाठीं श्री जिनांनी सांगितलेल्या धर्मरूपी उपायाहृत दुसरा उपाय मुळीच नाहीं. यास्तय या धर्मामध्ये मनुष्याने अवव्य प्रयत्न करावां. ५२ मिध्यात्व, योग, अतिराति, प्रमाद व कपाय या अनेक सकारच्या दोषांनी हा आत्मा नेहमी आठ प्रकारचें कमें बांधून येन असते. व हीं कर्मच आत्म्याला संसागंत राहण्यास कारण होतात ५३ सम्यग्दर्जन, सम्यग्जान व सम्यचचारित्र आणि तप या उपयांनी हैं कमें इपी जंगल मुळापासून उपवृत्त टाकितां येतं. या उपायांत स्थिर झालेल्या पुरुपाकडे

न जन्मनोऽन्यत्परमस्ति दुःखं शरीरिणां मृत्युसमं भयं च ॥
कष्टं निकामं जरसोऽनुरूपं ज्ञात्वेति संतः स्विहते यतंते ॥५५॥
अनादिकालं अमतो सवाब्धो प्रियाप्रियत्वं सकलाः प्रयाताः ॥
जीवस्य जीवा नचु पुद्गलाश्च नोकर्मकर्मश्रहणप्रयोगात् ॥५६॥
अनेकशो यत्र मृतो न जातो न सोऽस्ति देशः सकले त्रिलोके॥
सर्वेऽपि भावा बहुशोऽनुसूता जीवेन कर्मस्थितयोऽप्यशेषाः ॥५०॥
चिराय जानिक्षति सर्वसंगे न रज्यते ज्ञानिशुद्धहृष्टिः ॥
विमुक्तसंगस्तपसा समूलमुन्मुल्य कर्माण्युपयाति सिर्द्धि ॥५८॥
इतीरियत्वा वचनं वचस्वी हिताय तस्योपरराम साधः ॥
विशांपतिस्तच तथेति मेने प्रत्येति भव्यो हि मुमुक्षुवाक्यं ॥५९॥

मुक्तिरूपी स्त्री स्वतः जणु उत्कंटित होऊन प्राप्त होत असते. ५४ अज्ञानानें मूर्ख बनछेला जीव स्वतःला व इतरांना त्रस्त करून सोडणाऱ्या इंद्रियांना आवडणाऱ्या अशा पदार्थीना सुख समजून त्यांचीच नहमी उपासना करीत असतो. परंतु आत्मज्ञानी पुरुष अतिशय दुःख देणाऱ्या या इंद्रियभोग्य पदार्थीना दृष्टिविष नांवाच्या सर्पाप्रमाणें जाणून त्यांचा स्वीकार करण्यास भीत असतो. ५५ प्राण्यांना जन्मासारखे दुसरें दुःख नाहीं व मृत्युसारखी दुसरी भीति नाहीं. तसेंच ह्मातारपणासारखें दुसरें अतिशय कप्ट नाहीं. हैं सर्व जाणून सत्पुरुष स्त्रतःच्या हिताविषयीं यत्न करीत असतात. ५६ अनादिकाळापासून संसारसमुद्रांत फिरणाऱ्या या आत्भ्याला सर्व प्रकारचे जीव व पुद्रल पिय व अप्रियपणाला प्राप्त होऊन चुकले आहेत. कारण हे पदार्थ नोकर्म द कर्मरूपानें ग्रहण करण्यांत आले आहेत. ५७ या त्रैलोक्यांत असें एकही ठिकाण नाहीं कीं, जेथें या जीवानें अनेकवेळां जन्म व मरण यांचा अनुभव घेतला नसेल. या जी-वानें सर्व प्रकारच्या परिणामांचा व सर्व प्रकारच्या कर्माच्या जघन्य आणि उत्कृष्ट स्थितींचाही पुष्कळ वेळां असभव घेतळा आहे. ५८ ज्ञानाने ज्याची दृष्टि निर्मळ झाली आहे असा आत्मा हें सर्वसंसाराचें स्वरूप जाणून नेहमीं सर्व परिग्रहामध्यें आसक्त होत नाहीं. सर्व परिग्रहांचा त्याग करून व तपश्चरणानें सर्व कर्मीचा नाश करून तो मोक्षाला जातो. " ५९ उत्तम भाषण करण्यांत निषुण असलेले ते सांसारिकीं वृत्तिमवेत्य कष्टां निवर्त्य चित्तं विषयाभिलाषात् ॥
तपो विधातुं विधिनाचकांक्ष श्रुतस्य सारं हि तदेव पुंसः ॥६०॥
आर्द्रोत्तरीयां नयनांबुसेकैरपास्य कांतां सह राज्यलक्ष्म्या ॥
सद्यस्तदन्ते स तपोधनोऽभून्न कालहानिभहतां हितार्थे ॥६१॥
प्रावर्ततालस्यमपास्य दूरमावश्यकासु प्रकटिकयासु ॥
गुरोरनुज्ञामधिगम्य भेजे मदोत्तरान्साधुगुणानशेषान् ॥६२॥
श्रीष्मे महोष्माकुलसर्वसत्वे शृंगे नगस्याभिमुखं खरांशोः ॥
श्रीष्मे महोष्माकुलसर्वसत्वे शृंगे नगस्याभिमुखं खरांशोः ॥
श्रीष्मे पहोष्माकुलसर्वसत्वे श्रीरानिपातैः स्थिगताष्टदिक्कः ॥
विद्यहृशा प्रावृषि वीक्ष्यमाणो घनाघनैरास्त स वृक्षमूले ॥६४॥

मुनिराज याप्रमाणें राजाच्या हिताकरितां भाषण करून विराम पावले. राजानेंही त्यांचें तें भाषण सत्य मानिलें. वरोवरच आहे कीं, भव्य जीव मुनाश्वरांचें भाषणावर विश्वास ठेवित असतात. ६० संसाराचें हैं दुःखदायक स्वरूप समजून घेऊन राजानें विषयेच्छेपासून आपल्या मनास पराष्ट्रच केलें व शास्त्रोक्त पद्धतीनें अर्थात् दिशा घेऊन तप करण्याची तो इच्छा करू लागला. बरोबरच आहे कीं, पुरुषाने जो शास्त्राभ्यास केलेला असतो त्याचें हेंच सार आहे कीं, त्यानें दिशा घेऊन आत्म्याचें कल्याण करून घ्याचें.

६१ डोळ्यांतिळ अश्रुप्रवाहांनीं जिचें वरचें वस्त्र भिज्न आछें चिंद झाछें आहे अशा आपल्या कवकप्रभा पत्नीचा राज्यळक्षीसह तत्काळ त्याग करून तो कनकष्ट्यज राजा मुन्नत मुनीजवळ दीक्षा घेळन तप हेंच व्याचें धन आहे असा मुनि वनला. वरोजर आहे कीं, जे मोठे पुरुष आहेत ते आपल्या हितकर कार्याच्या सिद्धीसाठीं वेळ गमावीत नाहींत. अर्थात् 'शुभस्य शीघ्रं' या म्हणीला अनुसरून हितकार्य लौकर करितात. ६२ या तपोधनान आळस दूर झुगारून दिला. व सामायिक, प्रतिक्रमण वगैरे सहा आवश्यक क्रियामध्यें रपष्ट रूपानें-आविकपणाने प्रदत्ता झाला. तसेंच आपल्या सुन्नतगुरूंची आज्ञा मिळवृन त्याने सर्व उत्तर गुणांना प्रदत्ता झाला. तसेंच आपल्या सुन्नतगुरूंची आज्ञा मिळवृन त्याने सर्व उत्तर गुणांना नहमीं धारण केलें. ६३ अतिशय उप्णतेंनें सर्व पाण्यांना व्याकुळ करून सोडण। च्या ग्रीष्म ऋतूमध्यें तो कनकष्ट्यजमुनि पर्वताच्या शिखरावर प्रसर किर णांनीं

गालैयपातक्षतपद्मखंडे माघे शयानो बहिरेकपार्श्वम् ॥ आयामिनीरप्यनयात्रयामा बलेन धीरो घृतिकंबलस्य ॥६५॥ महोपवासान्विविधानशेषान्त्रकुर्वतस्तस्य यथोक्तमार्गं ॥ ययो तनुत्वं तनुरेव बाढं न धेर्यमोदार्यसमन्वितस्य ॥६६॥ समुद्धरिष्याभि कथं निमन्नमात्मानमस्माद्धवरवंजनांतात् ॥ संचितयन्नित्यगमत्प्रभादं न जुष्टयोगैः स वशीकृताक्षः ॥६७॥ व्यपेतशंको मुनिरस्तकांक्षो दूरीकृतात्मा विचिकित्सया च ॥ सम्यक्तवशुद्धं निरवद्यभावः स भावयामास यथोक्तमार्गे ॥६८॥ ज्ञानं च तस्य कियया निकामं यथोक्तया प्रत्यहमाद्दतात्मा ॥ चारित्रमप्यात्मवलानुरूपं द्धिषद्प्रकारं च तपोऽन्वतिष्ठत् ॥६९॥ चारित्रमप्यात्मवलानुरूपं द्धिषद्प्रकारं च तपोऽन्वतिष्ठत् ॥६९॥

युक्त असलेल्या सूर्याच्या सम्मुख राग द्वेपांच्या अभावरूपी छत्नीनें उन्हाला दुर करून मोठा प्रतिमायोग नेहमी धारण करीत असे. ( मूर्यासमार ताँड करून उन्हाळ्यांत उभा राहून ध्यान करणें यास प्रतिमायोग म्हणतात. ) ६४ विजा पाडणीरे, भयंकर गर्जना करणारे, मुसळधार पाऊस पाइन आठही दिशा व्याप्त करून टाकणारे, अञ्चा मेघांकडून वीजरूपी डोळ्यांच्या द्वारें पाहिळा जाणारा तो मुनि पावसाळ्यांत झाडाखाळीं ध्यानांत लीन होत असे. ६५ वर्फाचें पतनानें ज्यार्ने कमल समूहांचा नाश केला आहे अशा माघ महिन्यांत उघड्या मैदानांत एका अंगावर निजणारा हा धीर गंभीर मुनि धैर्यरूपी घोंगडीच्या साह्याने हिवाळ्यांतील मोठ्या रात्री व्यतोत करीत असे. ६६ शास्त्रांत सांगितलेल्या पद्धतीपमाणें नानापकारचें चतुर्थ, पष्ट, अष्टम, दशम वगैरे प्रकारचे मोठमोठे उपवास करीत असतां या मुनीश्वराचें शरीरच अतिशय कृश झालें. परतु उदारता गुणानें युक्त असलेल्या याचें धैर्य कुश झालें नाहीं. ज्यानें सर्व इंद्रियें ताव्यांत वेविलीं आहेत असा तो मुनि या ससार्रूपी चिखलापासून बुडालेल्या माझ्या आतम्याला मी कसा वर काहू शकेन असा विचार करून आवडत्या अशा प्रतिमायोग, दक्षमूल वगैरे थोगामध्यें विलक्कल प्रमाद करीत नसे. या मुनचि मन जीवादि पटार्थाच्या स्वरूपांत निःसंशय झालें होतें. अर्थात् जिनकथित तत्वामध्यें याचें दृढ श्रद्धान होतें. पंचेंद्रिय विषयापासून उत्पन्न होणारें सुख कर्मापासून उत्पन्न होतें व पापवर्द्धक आहे असे जाणून तो त्याविषयीं निरिच्छ झालेला होता. रत्नत्रयधारक अशा भव्यांना रोगांनीं पीडिलें असतां किंवा त्यांचें घाणेरडे शरीर असेल तर त्यांच्या गुणाकेड

इत्थं धुरं विधुरवर्जिताचित्तवृत्या धृत्वा चिरं रामवतां निजजीवितांते सक्छेखनां विधिवदेत्य मृतोऽथ सूत्या कापिष्टमाप्य स शुभे शुशुभे विमाने॥ ७०॥

देवानंदं निजतनुरुचां संपदा साधु तन्वन् ॥ देवानंदं दघदनुपमं नाम चान्वर्थमित्यम् ॥ चक्रे रागं नयनसुभगस्तत्र दिव्यांगनानां ॥ चक्रेऽरागं जिनमपि हृदि द्वादशाव्धिप्रमायुः ॥ ७१ ॥ इत्यसगकृते वर्द्धमानचरिते कनकष्वजकापिष्ठगमनो नाम द्वादशः सर्गः ॥

लक्ष्य देखन हा मुनि किळस करीत नव्हता. यास्तव याचा आत्मा विचिक्तित्मेन रहित अर्थात् निर्विचिक्तित्सत गुणाचा धारक होता. निर्मल पिणामांनी युक्त अशा या मुनीश्वरानें शास्त्रांत सांगितलेल्या पद्धतीय अनुसन्दन सम्यवत्व शुद्ध वनविले होतें ६९ भक्तियुक्त आहे आत्मा ज्याचा असा तो मुनि शास्त्रांत सांगितलेल्या ज्याच्या द्वारें दररोज यथेच्छ ज्ञान प्राप्त करून घेत असे. यथाशक्ति चारिल व वारा प्रकारचें तप यांचें पालन करीत् असे. ७० याप्रमाणें संक्ष्रेशरित अशा आपल्या मनाच्या शांत परिणामांनीं पुष्कळ काळपर्यत शमयुक्त मुनींच्या पुढारीपणाला या कनकथ्वजम्रनींनें धारण केलं होतें. यानंतर जेव्हां त्याचा मरणकाल जवळ आला तेव्हां शास्त्रांत सांगितल्याप्रमाणें सल्लेखना धारण करून त्याचे पाणत्याग केला तेव्हां याचा आत्मा कापिष्ट रवर्गीत जन्मून तेथील सुंदर विमानांत शोभू लागला. ७१ आपल्या शरीराच्या कांतिसंपत्तीनें देवांना अतिशय आनंदयुक्त करणारा व 'देवानंद 'हें अनुपम व अर्थास अनुसरणोरं नाव धारण करणारा असा तो नेत्रमनोहर देव दिन्यांगनाच्या समुदायामध्यें प्रेम करू लागला. ज्यांचे आयुष्य वारा सागरोपम वर्षाचें आहे अशा त्यांने आपल्या हृद्यांत रागरिहत अशा जिनेश्वराला धारण केलें.

याप्रमाणें असगकविकृत वर्द्धमानचरित्रांत कनकथ्वजम्रानि कापिष्टस्वर्गीत उत्पन्न झाले याचें वर्णन करणारा बारावा सर्ग समाप्त झाला.



श्रीमतामथ सतामधिवासो भारतेऽत्र विततोऽस्ति जनांतः॥
नाकलोक इव मानवपुण्येगां गतः स्वयमवंत्यभिधानः॥ १॥
यत्र साररहिता न धरित्री पाककांतिरहितं न च सस्यं॥
पाकसंपदिप नास्ति पुलाका सर्वकालरमणीयविशेषात्॥ २॥
मूरिसारधनधान्यविहीनो नास्ति कश्चिदिप यत्र मनुष्यः॥
द्रव्यमप्यनुपमुक्तमुपत्य स्वेच्छया प्रणियभिनं निकामं॥ ३॥
चारुताविरहिता न पुरंश्रिश्चारुतापि सुभगत्वविहीना॥
यत्र नास्ति सुभगत्वमशीलं शिलमप्यविदितं न धरित्रयां॥ १॥

१ या भरत क्षेत्रांत धनी व सत्पुरुष यांचें निवासरथान असलेला असा एक विस्तीण अवंती नांवाचा देश आहे. तो मनुष्याच्या पुण्यानें पृथ्वीतलावर अवतरलेला जणू स्वर्ग आहे असा शोभत होता. २ या देशांतील जिमनी साररहित नव्हत्या. व त्यांत उत्पन्न होणारीं धान्यें पकावस्था व कांतीनें रहित होतीं असें नव्हतें. पकावस्था देखील पोचट धान्यांनीं युक्त नव्हतीं. अर्थात् जेव्हां धान्य पिकत असे तेव्हां त्याचे दाणे भरीव असे उत्पन्न होत असत. यावरून हें सिद्ध होत होतें कीं, हा देश नेहमीं रमणीय होता. ३ तेथें असा एकहीं मनुष्य नव्हता कीं, ज्याच्याजवल पुष्कलसें उत्कृष्ट धन—गाई, महशी वगैरे व धान्य नव्हतें. जें स्नेही मंडलींनीं येजन यथेच्छ आतिशय उपभोगिलें जात नव्हतें असें द्रव्यच तेथें नव्हतें. अर्थात् तेथील लोकांच्या संपत्ति त्यांच्या स्नेहीं लोकांकडून यथेच्छ भोगल्या जात असत. ४ त्या देशांतील एकहीं स्नी सौंदर्यांनें रहित नव्हती व तें तिचें सौंदर्य सौभा-

निर्जला न सरिदस्ति जलं च स्वादुहीनमहिमं न च यत्र ॥ पीततोयमुदितैः पथिकानामस्तुतं न खलु तच्च समूहेः ॥ ५ ॥ पुष्पकांतिरहितोऽस्ति न वृक्षः पुष्पमप्यतुलसौरमहीनं ॥ यत्र सौरममपि भ्रमरालीरक्षमं वद्यायतुं न नितांतम् ॥ ६ ॥ अस्ति तत्र सकलोज्ज्वलवणां श्रीयुताक्रतिरिवोज्जियनीति ॥ विश्रुता भुवि पुरी निजकान्त्या निर्जितान्यपुरिवभ्रमसपत् ॥ ७ ॥ या मुधाधविलेत्वरसौधरास्थितोज्ज्वलिवसूषणरामैः ॥ भाति मेधपदवी धवलाभैः शारदैरिव चिताशतिहत्कैः ॥ ८ ॥ हमशालरवित्तामलरत्नज्योतिषामिव चितः पटलेन ॥ वत्र च प्रविरलातपलक्षमिलिक्ष्यते ध्वजपटैः स्थिगतोऽर्कः ॥ ९ ॥ यत्र च प्रविरलातपलक्षमिलिक्ष्यते ध्वजपटैः स्थिगतोऽर्कः ॥ ९ ॥

ग्यानें रहित नव्हतें व सौभाग्य-भाग्यवंतपणा पातित्रत्य गुणानें रहित नव्हता व पातित्रत्य गुण अप्रसिद्ध नव्हता. अर्थात् सौंदर्य, सौभाग्य व पातित्रत्य हे तीन गुण तेथील स्त्रियांत मुख्य रीतीनें राहात होते. ५ तेथील एकही नदी निर्जल-पाण्यानें रहित नव्हती व तिचें ते पाणीही रचाद्रहित व गरम असें नव्हतें. अर्थात् पाणी गोड व थंडगार होतें. पाणी पिऊन ज्यांना आनंद झाला आहे अशा वाटसरांच्या समुदायाकडून त्या पाण्याची स्तुति केली गेली नाहीं असे कथीं घडून येत नसे. ६ त्या उज्जायेनी देशांतील प्रत्येक दृक्ष फुलें व कोति यांनी रहित नव्हता. फुळें दोखिल सुगंधपणाने रहित नव्हतीं व जो भुंग्यांच्या पंक्तीला अतिशय वश कर-ण्यास समर्थ नन्हता असा सुगंधपणाही तेथें नन्हता. अर्थात् तेथील झाडें पुष्पें, टवटवीत पणा व .सुगंघपणा यांनीं युक्त होतीं. ७ या देशांत स्वतःच्या सींदर्यानें जिनें इतर भहराची आश्चर्य उत्पन्न करणारी संपात्त जिंकिली आहे अशी उज्ज-यिनी नांवाची नगरी या पृथ्वीतछावर प्रसिद्ध अशी आहे ही नगरी संपूर्ण उज्जवल-गुद्ध अशा बाह्मण, क्षात्रिय व वैश्य या वर्णातील मनुष्यांनीं युक्त व लक्ष्मीसंपन अशी उद्योगापमाणें शोभत होती ८ ज्यांनीं दिशा व्यापून टाकिल्या असून जे विजानीं युक्त आहेत अशा शरदृत्च्या पांढऱ्या मेघांनीं जसें आकाश शोभर्ते तसें उत्तम चमकणाऱ्या अलंकारांनीं सजलेल्या ख्रिया ज्यावर उभ्या राहि-केल्या आहेत असे चुना लावल्यामुळे पांढरे दिसणाऱ्या सुंद्र मोठ्या दाड्यांनी आहतोऽपि मुहुरश्रकरांश्रनोंपयाति पुरतः प्रमदानां ॥
यत्र च प्रियतमा विहितागाः श्वाससौरभवशश्च षडं ितः ॥ १० ॥
संपदं घनपतेरपदानां न्हेपयांन्त घनिनो भुवि यस्यां ॥
अर्थिभिः स्त्रयसुपेत्य समंताद्वृद्धमाणवररत्नसमूहैः ॥ ११ ॥
वालचंदनलतेव भुजंगेवेंष्टितापि नितरां रमणीया ॥
या सदा विद्धघंदसमता राजते सुरपुरीव पुरश्रीः ॥ १२ ॥
वश्रभूपितकरो भुवि राजा वज्रहेतिरिव यः पुरमिद्धां ॥
वश्रसारतनुरध्यवसत्तां वज्जसेन इति विश्रुतनामा ॥ १३ ॥
वश्रसि श्रियसुदीक्ष्य निषण्णायानने च सततं श्रुतदेवीं ॥
यस्य द्धंदित्रशदा कुपितेव दिग्गता न निरवर्तत कीर्तिः ॥ १४ ॥

जी नगरी शोभत होती. ९ जेथें सोन्याच्या तटावर बसाविलेल्या स्फाटिक मण्यांच्या कांतिसमूहानें जणु न्याप्त झालेला व ध्वजांच्या बल्लांनीं आच्छादित झालेला सूर्य ज्याची पकाशशोभा विरळ झालेली आहे असा शोभू लागतो. १० ज्या ननरींत स्त्रियांच्या हाताव्या वोटांनीं वारंवार ताडित झालेला अपराधी प्रियतम-आवडता पति व त्यांच्या श्वासांच्या सुगंधानें वेडावलेला सुंगा है पुनः पुनः त्यांच्या पुढें जात नाहींत काय ? अथीत् जातातच ११ या नगरींत छे श्रीमंत छोक कुवेराच्या दानरहित संपत्तीला लज्जित करितात. कारण याचक लोक आपण होऊन चोहींकडून येऊन त्यांचीं उत्कृष्ट रत्नें वगैरे संपत्तीचें ग्रहण करीत असतात. तेथील लोक अतिशय श्रीमंत असल्यामुळें ते याचक लोकांना रत्नाचे समूह देऊन टाकीत असत अशी त्यांची भूतलावर सर्वत्र प्रासिद्धी होती. १२ जशी वालचंदनलता सर्पानीं वेष्टिलेली असूनही अतिशय रमणीय असते. किंवा जशी विबुध दंद-देवसमू-हानें वेष्टित असलेली सुरपुरी-अमरावती शोभते त्याप्रमाणें विबुधटंदानें-विद्वानां-च्या समृहानें ती उज्जियिनी नगरी शोभत असे. १३ जसा इद्र वज्रभूषितकर-अर्थात् वज्र नांवाच्या शस्त्रानें ज्याचा हात शोभत आहे असा होत्साता स्वर्ग प्रदेशीं अमरावती नगरांत राहात असतो. तसें वज्रचिन्हानें ज्याचा हात शोभत आहे व वज्राप्रमाणें ज्याचें शरीर यजबूत आहे असा पृथ्वीवर वज्रसेन या नांवानें प्रसिद्धं झालेला राजा त्या सुंदर उज्जयिनी शहरांत राहात होता. १४ या राजाच्या वक्षःस्थला-

दूरतो विनिमिताखिलशत्रुं स्वमतापिवसरं विनिनिदं ॥
यः कदाचिदिप युद्धमपश्यन्युद्धदौहृदवशीकृतचेताः॥१५॥
तस्य निर्मलकरस्य सुशीला नाम नाम मृहिपी कमनीया ॥
भूपतरभवदव्यतिरिक्ता कौ मुदीव कुमुदाकरवंघोः॥१६॥
तौ विरेजतुरनन्यसमानौ दंपती भुवि परस्परमाप्य ॥
सर्वलोकनयनोत्सवहेतू कांतियौवनगुणाविव मूर्तो ॥१७॥
स्वर्गसौख्यमनुभूय स देवः श्रीमतोर्थ तयोस्तनयोऽभूत ॥
आख्यया भुवि सतां हरिपेणो धीरधीरिधपितिः सुमनोज्ञः ॥१८॥
यं कलाधरिमवाभिनवोत्थं संस्पृशन्नर्थितः सह देव्या ॥
वीक्ष्य सम्मदिमयाय निकामं प्रीतये भुवि न कस्य मुपुत्रः ॥१९॥

वर छक्षी वसलेली पाहून व मुखांत नेहमी सरस्वती देवी विराजमान झालेली पाहून याची कुंदपुष्पाप्रमाणें निर्मल अशी कीती जणूं रागाऊन सर्व दिशांना निघून गेली. ती परत आली नाही. १९ युद्धाच्या इच्छेनें ज्याचें चित्त च्याकुल झालें आहे अशा या राजाला कथींही युद्ध करण्याचा प्रसंग पाहण्यांत आला नाही झणून दुरूनच ज्यानें सर्व शत्रूंना नम्न केलें आहे अशा स्वतःच्या पराक्रमाच्या सगुदायाची तो निदा करीत असे.

१६ ज्याचे किरण स्वच्छ आहेत अशा रात्रिविकासि कम्ल समृहाचा वंषु असलेल्या चंद्रापासून त्याची सुंदर ज्योत्स्ना जशी अभिन्न असते तशी निर्मलकर-ज्याचे कर घेण निर्मल आहे ह्याणे त्रासदायक नाहीं किंवा ज्याचे हान सुंदर आहेत अशा त्या वज्रसेन राजाला सुर्जीला नांवाची सुंदर स्त्री होती. ती त्याच्या-पासून अभिन्न होती अर्थात ती त्याची फार आवहती होती. १७ ज्यांची वरोवरी दुसरे कोणी कर्छ शकत नाहींत असे ते दोघे पतिपत्नी एकमेकांना प्राप्त करून घेऊन फार शोभू लागले. हे दोघेजण सर्वाच्या नेतांना आनंद उत्पन्न करण्या : कारण होते व मृतिंगंत कांति व तारुण्यच जणु आहेत असे लोकांना चाटत असे. १८ लक्ष्मीसंपन्न अशा त्या उभयतांना स्वर्गसुखांचा अनुभव घेऊन तो देवानंद नांवाचा देव भूतलावर हरिपेण या नांवानें प्रसिद्ध असा मुलगा होऊन जन्मला हा मुलगा गंभीर बुद्धीचा व सत्पुरुपांचा अधिपति होता व अतिशय सुद्र होता. १९ नुकताच ज्याचा उदय झाला आहे अशा सोळा कलांनीं पूर्ण चंद्राप्रमाणें सुंदर

लोकजीवनकरिथितियुक्तं भूरिसारगुणवारिधिमंकं ॥
यं समीयुरवनीश्वरविद्याः सिंधवः स्वयमिनिदितसत्वम् ॥ २० ॥
एकदाथ ससुतो मुनिमुख्याद्धमेमेकहृदयेन निशम्य ॥
भूपतिः श्वतपयोनिधिनाम्नो निःस्पृहः समभवदिषयेषु ॥ २१ ॥
तिन्नयुज्य धरणीतलभारे पुत्रमश्चकाणकाकुलनेत्रम् ॥
संयतोऽजिन नृपः स तदन्ते संसृतेभृति विभेति हि भव्यः ॥ २२ ॥
पूर्वजन्मिन स भावितसम्यग्दर्शनेन विमलीकृतिचत्तः ॥
श्रावकवतमशेषमुवाह श्रीमतामविनयो हि सुदूरः ॥ २३ ॥
स्पृश्यते स दुरितेन न राज्ये संस्थितोऽपि खलु पापनिमित्ते ॥
संगमिजतशुचिपकृतित्वात्पद्मवत्सरिस पंकलवेन ॥ २४ ॥

असलेल्या या राजपुत्राला राणीसह स्पर्श करणारा तो वजसेन राजा पाह्न अतिशय आनंदित झाला. बरोबरच आहे कीं, चांगला मुलगा या जगांत कोणास आनंद-दायक असत नाहीं बरें ? २० ज्यांत पुष्कळ जलचर प्राणी आहेत, जो उत्कृष्ट गुणांच्या रत्नांनीं युक्त आहे व जो लोकजीवन चालेल अशा मर्यादेनें युक्त आहे अशा समुद्राला जशा सर्व नद्या येजन मिळतात, तसें प्रशंसनीय पराक्रमानें युक्त, लोकांच्या उपजीविका चालविणारा, मर्यादेनें सहित व पुष्कल आणि उत्कृष्ट अज्ञा गुणांचा समुद्र असल्लेल्या या राजपुत्राकडे सर्व राजविद्या आपण होऊन येऊन मिळाल्या. २१ एकेवेळीं वज्रसेन राजा आपल्या हरिषेण पुत्रासह श्रुतसागर नांवाच्या मुख्य मुनीश्वराकडे गेला. त्यांच्यापासून एकाम्र चित्तानें धर्माचा उपदेश ऐक्सन त्याला पंचेंद्रियांच्या विषयामध्यें वैराग्य उत्पन्न झालें. २२ यानंतर ज्याचे डोळे अश्रूंच्या कणांनीं भरले आहेत अशा आपल्या हरिपेण पुताला पृथ्वीचें ओझें वाहण्याच्या कार्मी नेमून राजा त्या मुनींच्या जवळ मुनि वनला, वरोवरच आहे कीं, भव्यजीव ससारापासून भीत असतातच. २३ श्रीहरिपेण राजाचे अंतःकरण पूर्वजन्मीं भाविलेल्या सम्यग्द्रीनानें निर्मल झालेलें होतें हाणून त्यानें संपूर्ण श्राव-कांचीं व्रतें धारण केलीं होतीं. वरोबरच आहे कीं, जे खरे श्रीमंत असतात अर्थात् गुणानें व संपत्तीनें श्रीमंत झालेले असतात त्यांच्यापासून अविनय फार दुर राहात असतो. जसें कमल सरोवरांत असूनही निर्मलतेन युक्त असल्यामुळें तें

शासतोऽिष चतुरं बिंधवेला मेखलां वसुमतीं मितरस्य ॥
चित्रमेतदनुवासरमासीिक्षःस्पृहिति विषमेऽिषसमस्ते ॥ २५ ॥
विश्रतािष नवयोवनलक्ष्मीं शांतता न खलु तेन निरासे ॥
स प्रशाम्यित न किं तरुणोिष श्रेयसे जगित यस्य हि बुद्धिः॥ २६ ॥
मंत्रिभिः परिवृतः स तु योगस्थानिबिद्धरिष नाभवदुग्रः ॥
चंदनः किसु जहाित हिमत्वं सर्पवक्रविषविन्हियुतोऽिष ॥ २७ ॥
ऊढजािनरिष मन्मथवश्यो नो वभूव नयमार्गनदीष्णः ॥
यस्य रज्यित मनो न कलत्रे सत्यिष स्मरमये स हि धीरः॥ २८ ॥
स त्रिकालमभिषूज्य जिनेंद्रं गंधमाल्यविलिध्यपितानैः ॥
भिक्तशुद्धहृदयेन ववंदे तत्फलं हि गृहवासरतानां ॥ २९ ॥

योड्याशाही चिखलाने लिप्त होत नाहीं. तसे हा राजा पापाला कारण अशा राज्यांत राहूनही अभ्यंतर परिग्रहांनीं रहित व निर्लोभी स्वभावाचा असल्यामुळें पापांनी स्पार्शेला गेला नाहीं २५ चार समुद्राचे किनारे हेच जिचा कमरपट्टा आहे अशा समस्त पृथ्वीचें शासन कर्रात असतांही या राजाची बुद्धि संपूर्ण पंचेंद्रियांच्या विषयांत दररोज निःस्पृहच होत चालली हैं मात्र मोठे आश्चर्य आहे.

२६ या हारिषेण राजाने नवीन तरुणपणाच्या शोभेला धारण केल होतें तरीही त्यानें आपल्या हृद्यांतृन शांतपणाला हाकालून देऊन उच्छूंखलपणा धारण केला नाही. वरोवरच आहे कीं, ज्याची बुद्धि कल्याण मार्गाकडे लागली आहे तो मनुष्य तरुण असला तरीही शांत रवभावाचा असत नाहीं काय ? २७ शत्रृंचा नाज कसा करावा वगैरे जपाय व सैन्याची रचना वगैरे जाणणाच्या मंत्र्यांनीं हा हरिषेण राजा युक्त होता तथापि उग्र स्वभावाचा वनला नाहीं. वरोवरच आहे कीं, सर्पाच्या तोंडांतील विपाशीनें युक्त असा ही चंद्रनष्टक्ष आपला यंब स्वभाव सोइन देतो काय ? २८ कींनिमार्गात चतुर असलेल्या या राजाने विवाह केला होता तरीही हा कामवज झाला नाहीं. यदन विकारानें पूर्ण असलेल्या पत्नीच्या विकाणीं ज्याचें मन अनुरक्त झालें नाहीं तोच खरा धीर होय.२९हा राजा प्रातःकालीं मध्यान्हकालीं व संध्याकालीं गंघ पुष्पमाला, नैवेब, यूप, या पदार्थीच्याद्वारें समृ- हानें भक्तियुक्त निर्मल हृद्यानें दररोज जिनेश्वरांची पूजा करून त्यांना नमस्कार करीत

आवभौ नभिस लग्नपताका चारु शिसुघया नु विलिप्ता ॥
तेन कारित जिनालयपंक्तिः पुण्यसंपदिव तस्य समूर्तिः ॥ ३० ॥
सिन्नयम्य घनमात्मगुणौष्ठी विदिषोऽपि नयवित्सह मिन्नैः ॥
राज्यमित्थमकरो चिचरकालं सर्वदा प्रशमभूषितचेताः ॥ ३१ ॥
एकदा शमितभूतलतापं तत्प्रतापमिभविष्य सुतीष्णं ॥
लज्जयेव निजदुर्णयवृत्तेः संजहार रिवरातपल्पभीम् ॥ ३२ ॥
तप्तमेव हि मया जगदेतद्रिमिभिस्ततद्वानलक्ष्णैः ॥
कष्टमित्यनुशयादिव भास्वांस्तत्क्षणं भृशमघोवदनोऽभूत् ॥ ३३ ॥
मंडलं दिनक्रस्य दिनांते कुंकुमद्युति निकाममराजत् ॥
संहतात्मकरसंहतिनीतांभोजिनीहृदयरागमयं वा ॥ ३४ ॥

असें. घरामध्यें राहण्यांत आसक्त झालेल्या लोकांना-गृहस्थांना घरांत राहण्याचें हेंच फल आहे. ३० ज्यांना सुंदर रंग दिला आहे व चुना लाविला आहे अशी या राजानें वनविलेलीं जिनमंदिरांची पंक्ति जणु त्याची सूर्तिमंत पुण्यसंपत्तीच आहे असे पाह-णाऱ्यांना वाटत असे. यांच्या शिखरावर पताका छावल्या असल्यामुळें हीं आकाशांत फार शोभत असत. ३१ नेहमीं शांत स्वभावानें आपल्या अंतःकर-णाला ज्यानें भूषित केलें आहे अशा या नीतिज्ञ राजानें आपल्या मित्रांसह आपल्या शत्रूंनाही स्वतःच्या उत्तम गुणरूपी दोऱ्यांनी दृढ बांधून पुष्कळ दिवसपर्यंत उत्ताम राज्य केले. ३२ एके वेळीं आतिशय तीक्ष्ण असूनही पृथ्वीचा संताप दूर करणारा असा या राजाचा विलक्षण शताप पाहून स्वतःच्या अनीतीच्या आचरणाची छाज आल्यायुळें जणु काय सूर्यानें आपछी उन्हाची शोभा संकुाचित केली. ३३ पसरलेल्या जंगलांतील अशीपमाणे भासणाऱ्या माझ्या रवतःच्या किरणांनीं हें सगळे जग-मी भाजून काढलें. अरेरे, ही दु:खदायक गोष्ट घडली असे ह्मणून पश्चात्तापानें जणू सूर्यानें तत्काल आपलें तोंड अतिशय खालीं केंल अर्थात् तो अस्ताला चालला. ३४ दिवससमाप्तीच्या वेळीं केशराप्रमाणें लालभडक झालेलें सूर्यमडल संक्वचित केलेल्या स्वतःच्या किरणरूपी हातांनीं आणिलेल्या कमलिनी-च्या हृदयांतील प्रीतीनें जणु रचिके गेलें आहे असें शोभू लागलें. ३५ जसा एखाद्याचा मिल वारुणीरत-दारू पिण्यामध्यें आसक्त झाला असतां तो त्याला वारुणीरतमुदीक्ष्य पतंगं वारयन्निव तदा दिवसोऽपि ॥
तत्समीपमगमन्न निवार्यं कस्य चोत्पथमनो मुवि मित्रं ॥ ३५ ॥
आत्मनो घनमिवोरु यियासुः क्वापि कश्चन पुनर्थहणाय ॥
स्वप्रियेषु निदधौ परितापं चक्रवाकमिथुनेषु विवस्वान् ॥३६॥
यांतमस्तमपहाय दिनेशं दीप्तिभिः स्थितिरकारि गृहान्ते ॥
जालमार्गपतिताभिरनाशं रत्नदीपमुपयातामिवेद्धं ॥३०॥
आनतो मुकुलिताश्रकरश्रीभीनुमान्बहलरागमयात्मा ॥
सादरं प्रिय इव श्वथमानो दृश्यते स्म रमणीभिरभीक्षणम् ॥ ३८॥
पूर्वभूतिरहितस्य कथं वा जायते जगित सम्मितरस्मिन् ॥
स्वं रिववपुरितीव विदित्वागोपयदिवसुरस्तनगांते ॥३९॥

त्याच्याजवळ जाऊन रोकतो त्याप्रमाणें सूर्य वारुणीरत-दारू पिण्यांत आसक्त पक्षीं पश्चिम दिशेवर आसक्त झालेला पाहून जणु त्याला रोकण्यासाठींच दिवस त्याच्याकडे गेला. वरोवरच आहे कीं कुमार्गाला ज्यांचे मन लागलें आहे अशा मित्राला कोण वरें रोकीत नाहीं? सर्वच रोकतात.

३६ कोठें तरी जाण्याची इच्छा करणारा कोणी यतुण्य आपलें पुष्कळसें धन पुनः आपणास घेतां यांवें हाणून आपल्या आवडत्या माणसाजवळ ठेवितो तसें संतापरूपी धन अस्ताला जात असतांना सूर्यांने स्वतःला पिय अशा चक्रवाक पश्यांच्या जोडण्यामध्यें पुनः घेण्याच्या हेतृनें ठेविले. तात्पर्य-सूर्यारत झाला हाण्जे चक्रवाक पश्यांना विरह्संताप होतो. ३७ अस्ताला जात असलेल्या सूर्याचा त्याग करून त्याच्या प्रकाशानें झरोक्याच्या मार्गावर पहून आपला नाश होऊं नये हाणून प्रकाशयुक्त रत्नदीपांचा आश्रय घेण्यासाठीं जणु घरांत प्रवेश केला! ३८ जसें नम्र झालेला, जोडलेल्या हातांच्या शोभेनें युक्त असलेला, ज्याच्या अतःकरणांत पुष्कळ प्रेम उत्पन्न झालेलें आहे असा व ज्याचा आभिमान हिला झाला आहे अशा आपल्या पतीला स्त्रिया जशा आदरानें पाहतात तसें आनत हाण्जे नम्र झालेला अर्थात अस्ताला चालेला, संकुचित केलेली आहे पुढच्या किरणाची शोभा ज्यानें असा व अतिशय लाल नसलेला आणि स्त्रथमान—ज्याची उचित्याति कमी झाली आहे असा ( सूर्य अस्ताला जातांना खालीं येतो. आकाशाच्या मध्यभागी असतो त्यावेली तो उच असता) सूर्य स्त्रयांकहन साटर हष्टीनें पाहिला गेला. ३९ प्रणु ज्यांनीं आपण हो दान च आपल्या शाखा खालीं वाकाविल्या आहेत

आशु संगतिवहंगिननादैः शाखिनः स्वपामवानतशाखाः॥
प्रोपितोऽयमिन इत्यनुतेषुः कं न तापयित मित्रवियोगः १॥४०॥
उज्झतः खळु परस्परमातिं चक्रवाकिमिथुनस्य दुरंतां॥
द्रष्टमक्षमिथिव निलन्या पद्मचक्षराधिकं निमिमीले॥४१॥
अपज्झ्य दष्टिक्सखंडमशेषं कंदता विपरिवृत्तमुखेन॥
चक्रवाकिमिथुनेन नितांतं मूर्च्छता विजघटे दिवसांते॥४२॥
आवभौ नवजपारुणकांतिः पाशिनः परिगता दिशि संध्या॥
भास्करानुगतदीप्तिवधूनां पाद्यावक्रततेः पदवीव॥४३॥
मीलितानि कमलान्युपहातुं नेषुरेव मधुपा मधुलोलाः॥
आपदा परिगतं सुकृतक्षः स्वोपकारिणमपोज्झित को वा १॥४४॥

असे द्वस लौकरच येऊन बसलेल्या पक्ष्यांच्या शक्षांनीं हा सूर्य आतां प्रवासाला गेला ह्मणून शोक करूं लागले. बरोबरच आहे कीं, मित्रवियोग-सोबत्याचा विरह्पर्सी सूर्यावयोग कोणास वरें दुःखी करीत नाहीं? सर्वीसच दुःखी करितो. ४० ज्यांचे पूर्वीचे घन नष्ट झालें आहे अशांचा या जगांत आदर होणें कसें शक्य आहे? हें समजूनच जणु किरणरूपी धनानें रिहत झालेल्या सूर्यानें आपलें शरीर अस्तपर्वतामध्यें लपविलें. ४१ पररपरापासून वियुक्त होत असलेल्या चक्रवाक पक्ष्यांचें पराकाष्ठेचें दुःख पाहण्यास माझी बुद्धि समर्थ नाहीं असें जणु वाटूनच कमलिनींनें आपले कमलक्ष्पी नेत्र आधिक घट मिटून धरिले. ४२ चावलेले कमलाच्या देठाचे सगले तुक्ते टाकून देऊन आक्रंदन करणारें व तोंड फिरविलेलें आणि मूर्च्छित झालेलें चन्त्रवाक पक्षांचे जोढपें दिवस आस्ताला जाण्याच्या वेळीं एकमकांपासून अगदीं वेगलें झालें. ४३ तुक्रनेंच फुललेल्या जास्त्रवीच्या एष्पाप्रमाणें लाल कांतियुक्त झालेली, पश्चिम दिशेकडे प्रगट झालेली संघ्या, मूर्याच्या अत्यस्केल्या त्याच्या कांतिरूपी ख्रियांच्या पायाला लाक्लेल्या लाक्षारसाच्या पंक्तीची हो जणु परंपरा आहे अशी शोभू लागली. ४४ मकरदांत आसक्त झालेल्या ग्रंग्यांना संक्ताचित झालेल्या कमलांचा त्याग करावा

संदृष्टं विसमुत्सृज्य चक्रद्वंद्वेन मूर्च्छता ॥
 पारिवृत्तमुखाञ्जेन तूर्ण विज्ञघटे तदा ॥ ३ ॥
 जीवंधरचंष्वाः समानार्थकः श्लोकः । षष्ठो छंवः

संध्ययाप्यनुपतंगमगामि प्रोज्झ्य तत्क्षणमपूर्विदिगंतम् ॥ वहमं स्वमपहाय सुरक्ता सिक्तमेति न चिराय परिसम् ॥४५॥ गोखुरोत्थितरजोभिररोधि व्योम रासभतन्रुह्धूभुः॥ कोकदाहिमदनामिसमुद्यत्सांद्रधूम्रपटहिरव कृत्स्नं ॥ ४६ ॥ आववौ संपदि सांद्रविनिद्रो महिकामुकुलशीतलगंधः॥ अधयन्मधुकरैः सह मंदं मानिनीरिप दिनात्ययवायुः॥ ४७ ॥ संफलीवचनमाशु सरागं लीलया गिमतमप्युपकर्णं॥ चूतपह्विमिवाननशोभां चित्रमातनुत मानवतीनाम्॥ ४८ ॥ यक्तमोऽन्हि दिननाथभयेन ध्मासृतां पृथुगुहासु निलीनं॥ तेन तदिगमतो विजजृंभे रंध्रमेत्य महिनो हि वलीयान्॥ ४९ ॥

अशी इच्छा झाली नाही. बरोवरच आहे कीं, चांगला कृतज्ञ मनुष्य आप्ल्यावर ज्यानें उपकार केळा होता तो संकटांत सांपडळा असतां त्याचा त्याग करित नाहीं. ४५ पश्चिम दिशेचा त्याग करून संध्येनेंही सूर्याच्या पाठोपाठच तत्काळ प्रयाण केळे. वरोवरच आहे कीं, स्वपतीवर प्रेम करणारी स्त्री त्याला सोडून इतरांवर कशी आसक्त होईल १४६ गाढवाच्या केसाप्रमाणें धुरकट अज्ञा गाईच्या खुरापासून वर उडालेस्या धुराळ्यानें भक्तन गेळेळें सर्व आकाश कोक पध्यांना जाळणाऱ्या कामाग्रीपासून वर चाललेख्या दाट धुराच्या समुहांनीं जणु भरल्यासारखे भासत होतें ४७ त्यावेळीं चांगला जागृत झालेला, मोगऱ्याच्या कळ्यांच्या थंड सुगंघाने युक्त असा सायंकाळचा वारा भुंग्यांच्या समुदायावरोवर पतीवर रुसळेल्या ख्रियांसही अंध वनविणारा असा होत्साता अर्थात् शीघ्र त्यांना मोहयुक्त करणारा होऊन मंद मंद वाहू लागला. ४८ दूतीचें प्रेमयुक्त भाषण शीघ्र लीलेनें मानवर्तीच्या कानावर पडले तेव्हां आंव्याचें कोवळें पान कानावर ठोविछें असतां जशी त्यांच्या मुखाला शोभा येते तशी न्यानें शोभा आली हें आश्चर्य आहे. तात्पर्य हें कीं, दृतीच्या द्वारें आपल्या पतीचा प्रेमसंदेश त्यांना ऐकावयास मिळाल्यांने त्यांचें मुख आनंदानें उल्हिसित झालें. ४९ सूर्याच्या भीतीनें जो मोटा आंधार पर्वताच्या गुहांमध्यें दडी मारून वसला होता तो सूर्याचा अस्त झाल्यावरोवर चोहीकडे ष्टार्द्धगत झाला. वरोवरच आहे कीं, मालेन कार्य-पापकार्य करणारा मनुष्य संधि-

अंधकारपटलेन घनेन स्यामरोचिरभवज्जगदाप्तं ॥
सर्वतो विदलितांजनभासा न श्रिय हि तमसा सह योगः ॥ ५०॥
भास्वतामविषयो मलिनात्मा दुर्विभान्यगतिरुज्झितसीमा ॥
अंधकारविभवोऽभृत वृत्तिं दुर्जनस्य सुसर्भाकृतसर्वः ॥ ५९ ॥
दूरतोंऽधतमसं भवनेभ्यो रत्नदीपनिवहो नुदति स्म ॥
भानुना निजकरांकुरदंडः प्रेषितस्तम इव प्रणिहंतुं ॥ ५२ ॥
रक्तरागविवशीकृतचित्ताः सर्वतोऽपि कुलटा यसुराशु ॥
यातुधान्य इव संमदतोऽभिष्रेतवासमनिरूपितरूपाः ॥ ५३ ॥
पांडुतामथगतं सुखमेंद्री लंबमानतिषिरालकम्हे ॥
दीनभाववनितेव विकांता निर्यदिद्विकरणांकुरलेशैः ॥ ५४ ॥

साधून जवरदस्त वनतोच. ५० फुटलेल्या इद्रनील मण्याप्रमाणें ज्याची कांति आहे अज्ञा दाट अंधकारांच्या समुदायानें सर्व जग चोहींकडून काळेभेार व भयाण दिसूं लागले. वरावरच आहे कीं, अंधाराशीं झालेला सहवास शोभेला कारण होत नाही.५१ जसा दुर्जन मनुष्य तेजस्वी छोकांपुढें टिक्सन राहात नाहीं, त्याचे विचार मिल. न असतात, त्याचे प्रयत्न गुप्त असल्यामुळें समजून येत नाहींत व त्यानें लोकमर्यादेला तिल्लांजि दिलेली असते आणि तो सर्वाना सारखे समजत असतो तसें अंधार ही तेजस्वी पदार्थापुढें टिकून राहात नाहीं. तो मालिनस्वरूपी असून कोठून येतो हैं समजत नाहीं. त्यानें मर्यादा सोडलेली असते अर्थात् हो अमर्याद पसरलेला असतो आणि उंच सखल पांढरे काले अशा सर्व पदार्थीन। तो समान करून टाकितो. ५२ र्तनांच्या द्रिसमुद्रायांनीं दुरूनच घरांतून दाट अधाराला हुसकावून लाविले. जणु काय अंधाराला ठोकून काढण्यासाठीं सूर्याने आपल्या किरणांकुरांना दंडाचें रूप देऊन पाठविल्याप्रमाणें ते शोभत होते. ५३ जशा पिशाचिणी आपलें स्वरूप मगट न करितां रक्तावरील प्रेमानें ज्यांचें चित्ता पराधीन झालें आहे अशा होऊन मोट्या आनंदानें चोहींकडून भेतवासस्थानीं-इमज्ञानीं जातात त्याप्रमाणें कुलटा क्षिया आपलें रूप कोणी पाहू शकणार नाहीं असा वेष घेऊन अनुरक्त झालेल्या पुरुषावरील मेमानें ज्यांचें मन परतंत्र बनलें आहे अशा होत्सात्या चोहींकडून मोट्या आनंदान अभिषेत वास-आपल्या आवडत्या पुरुषाच्या घरी जाण्यासाठी निघाल्या,

उद्यतः शशभृतो खुद्पादानुद्धहन्नुद्यभूभृद्राजत् ॥
उन्नतस्य विद्धाति हि शोभां प्रश्नयः प्रविमले क्रियमाणः ॥५५॥
रिश्मजालसुद्यांतारितस्य प्राग्विधोस्तिमिरमाशु विभेद ॥
उद्यतः स्वसमय विजिगीषोरण्यामि बलवत्प्रतिपक्षं ॥५६॥
प्राक्तला हिमरुचेरुद्याद्रेविद्धमद्यतिरुद्धा ततोऽर्द्धम् ॥
उद्ययौ तदनु विंबमशेषं कः कमादथ न याति हि वृद्धि ? ॥५०॥
अधकारशबरेण गृहीतां यामिनीं समवलोक्य निजेष्टां ॥
कोपपूरितिधयेव नवोत्थो लोकि विद्यक्ति मृशमासित् ॥५८॥
रागिणः खलु न सिध्यति क य किन्वद्यमिमतं पुरुपस्य ॥
इत्यवेत्य तुहिनांशुरिवोऽज्झद्रागमंधतमसं विनिहंतुम् ॥ ५९॥

५४ जशी पतिवियोगानें युक्त अशी एखादी दीन सी ज्याच्यावर अंधाराप्रमाणें काळे केस विखरले आहेत अशा मुखानें युक्त असते तशी वाहेर निघालेल्या चंद्रिकरणांच्या थोड्या थोड्या अंकुरानीं युक्त झालेलें व अधार रूपी केशांनीं युक्त असें आपलें पांढरें मुख पूर्व दिशेनें धारण केलें. पति परदेशी गेल्यामुळें जिनें आपले केशांची नीट रचना केली नाहीं अशा दीन स्त्रीपमाणे पूर्व दिशा चंद्राचे थोडे थोडे किरण वाहेर पहत असतां दिसूं लागली.५५ उगवत असलेले चंद्राचे कोमल पाद-किरण पक्षीं पाय आपल्या मस्तकावर धारण करणारा हा उदयपर्वत फार शोभू लागला. बरोवरच आहे कीं, निर्मल व्यक्तीविषयीं केला जाणारा आदर उन्नत पुरुषाची शांभाच वाढवीत असतो. ५६ जरें योग्यसंघि साधून दिग्विजयाला निघालेल्या राजाचें पुढें चाललेलें सैन्य प्रतिपक्षाचा नाश करितें तसें उद्य पर्वताच्या आड असलेल्या चंद्राच्या किरणसमूहांनीं प्रथमतः तत्काल अंधाराचा नाश केला ५७ मथमतः उदय पर्वतापासून चंद्राची कलाच वाहेर पडली. तदनंतर पोवळ्याच्या कांतीचे, वरवर ज्याचें किरण पसरले आहेत असे अर्धे विंव वाहेर पडलें. यानंतर त्यांचे सगलें विंव वाहेर पडले. वरोवरच आहे कीं, क्रमानें कोणाची वरें उन्नति होत नसतें १५८ अंघकाररूपी भिछानें आपछी रात्र-रूपी आवडती स्त्री पकडली आहे असे पाहून नुकताच उगवलेला चंद्र कोपानें जणु ज्याची बुद्धि वेफाम झाली आहे असा होऊन अतिशय लालभडक दिसूं लागला.

श्वेतभानुरकृताश्च विनाशं संहतस्य तमसोऽपि निकामं ।
सांद्रचंदनसमझितिषंबः किं न साधयित मंडलशुद्धः? ॥ ६० ॥
प्राप्य पादहितमप्यखरांशोरागतः कुमुदिनी हसित स्म ॥
सन्मुखस्य हि मुखाय न किं वा चेष्टितं पियतमस्य वधूनां?॥६१ ॥
ज्योत्म्नया सरसचंदनपंकच्छायया जगदराजत पूर्ण ॥
कृत्स्वमक्षतजलस्थितिलक्ष्म्या वेलयेव चलढुग्धपयोधेः ॥ ६२ ॥
शीतलैरिप करेस्तुहिनांशोर्निवेवो कमलिनी न च कोकः ॥
नास्ति वस्तु तदमीष्टवियोगे प्राणिनां भवति यत्प्रमदाय ॥६३ ॥
इंदुरिसामिरगाधतयांतर्विद्धतोत्किलकमंखु पयोधेः ॥
क्षोभमुल्वणमनीयत दूरं मानिनीजनमनश्च निकामं ॥६४ ॥

५९ रागांध-प्रेमांध झालेल्या मनुष्याचें कोणतेंही इाच्छित कार्य तडिस जात नाहीं असें समजून जणु चंद्राने दाट अंघाराचा नाज्ञ करण्यासाठीं आपल्या रागाला-छालपणाला सोडिलें. ६० दाट चंदनाच्या लेपाप्रमाणें पांढऱ्या कांतीच्या चंद्रानें जमाव करून उभा राहिलेल्या संपूर्ण अंबाराचा पूर्ण नाश केला. वरोवरच आहे कीं, ज्याचें मडल शुद्ध आहे अर्थात् ज्याला देशांतील सर्व लोक अनुकूल आहेत तो कोणास बरें जिंकू शकत नाहीं? तसेंच चंद्रही मंडलशुद्ध आहे अथीत् स्वच्छ, तेजस्वी विवा-चा आहे न्हणून अंधकारास तो जिंकू शकला. ६१ ज्याचें किरण कोमल आहेत अशा चंद्राच्या पादाहतिला-पायांच्या लाथांना-पक्षीं किरणाच्या आघा-तांना प्राप्त हो ऊन ही ऊमुदिनी-रात्रीं विकसणाऱ्या कमलांची वेली हसूं लागली अर्थात् प्रफुछ झाली. बरोवरच आहे कीं, मसन्न झालेल्या आवडत्या पतीचें कोणतें कृत्य स्त्रियांना आवडत नाहीं वरे ? कथींही नाश न पावणाऱ्या अशा पाण्याच्या स्थिर शोभेने युक्त असंछल्या किनाऱ्यानें चंचल क्षीरसमुद्र जसा शोभतो तसें सरस अशा चंदनाच्या उटीप्रमाणें रवच्छ कांति ज्याची आहे. अशा चांदण्यानें सर्व जग पूर्ण शोधू लागलें ६३ चंद्राच्या थड अशाही किरणांनीं कमिलनीला व कोक पक्षांना आनंद झाला नाहीं. वरावरच आहे कीं, आवडत्या पदार्थीचा वियोग झाल्यावर प्राण्यांना जिच्या पासून आनद होईल अशी कोणतीही वस्तू असत नाहीं.

मित्रमेत्य सकलेंदुमनंगोऽप्याशु लोकमखिलं च विजिग्ये ॥
नूनमूनमिप वा जयलक्ष्मीरभ्युपैति समये सुसहायं ॥ ६५ ॥
विक्षिपन्कुमुद्केसररेणून्सांद्रचंदनिहमोऽपि वभूव ॥
दुःसहः प्रियविमुक्तवधूनां मन्मथानललवानिव वायुः ॥ ६६ ॥
दूरमप्यभिमतस्य निवासं खेदहीनमनयन्मिदराक्षीम् ॥
मार्गदेशनविधावतिदक्षा चंद्रिका प्रियसखीव मनोज्ञा ॥ ६७ ॥
यत्नतोऽपि रचितापि रमण्या मानसंपदचिराङ्कुटी च ॥
यूनि दृष्टिपथमीयुपि नम्ने वाससा शिथिलतां सह भेजे ॥ ६८ ॥
काचिदाशु मदिरामदमोहच्छञ्चना विहितदोपमपीष्टं ॥
वाच्यवर्जितमियाय सखीषु प्रेम कस्य न करोति हि मायां? ॥६९॥

६४ समुद्र हा अतिशय गंभीर असतो तथापि त्याच्या पाण्यांत चंद्राच्या किरणांनीं ख़्प तरग वाढविलें. त्यामुळे तें पाणी क्षोभ पाऊन फार दूरपर्यंत पसरलें. तसेंच या चंद्रिकरणांनीं पतिवर रुसलेल्या स्त्रियांच्या मनांत उत्कंटा वाढऊन तें अतिशय क्षुच्य करून सोडलें. ६५ सकल कलांनीं युक्त असलेल्या चंद्ररूपी मित्राला माप्त करून घेऊन गरीररहित अशाही मदनानें तत्काल सर्व जगाला जिंकिलें. वरोवरच आहे कीं, एखादी न्यक्ति सामर्थ्यानें थोडीशी कमी असली तरी योग्य वेळीं त्याला चांगले साह्य मिळालें तर जयलक्ष्मी त्याचा आश्रय घेते. ६६ ढाट चंद्नाच्या उटीप्रमाणें थडगार असाही कामरूपी अग्नीच्या ठिणग्याममाणं वाटणाऱ्या कमलांतील केसराचें रेणु इकडे निकडे फेंकीत असल्यामुळें तो पतिशीं वियोग पावलेल्या स्त्रियांना फार असहा झाला, ६७ आवडत्या मैत्रीणी प्रमाण मनाला प्रिय व पतिगृहाचा मार्ग दाखिन-ण्यास प्रवीण अशा चिद्रिकेनें (चांदणें) पतीचें घर दूर असतांही खंजन पक्ष्याप्रमाणें जिचें नेत्र स्वच्छ आहेत अशा आपल्या सखीला कांहींही ज्ञास न होऊ देतां तिकडे नेलें. ६८ एका स्त्रीनें पति आला असतां त्याच्याजीं अबोला धरीन व अवया वाकड्या करून पाहीन असा विचार केळा होता व आधीच तशी तयारीही करून ठेविली होती. परंतु नम्र व तरुण असा तिचा पति तिच्या दृष्टीस पडल्या वरोवर वस्त्रासह उपर्युक्त गोष्टी ढिल्या होऊन गेल्या.

वहमं समवलोक्य सदोषं कामिनी प्रकुपितापि पुरैव ॥
संभ्रमं न विजहावथ काचिद्योषितां खलु मनो हि निगूढं ॥७०॥
अन्यरक्तहृदयापि निकामं वारयोषिदनुरागयुतेव ॥
कामुकस्य धनिनोऽजिन वस्या कस्य वस्तु न वशीकरणाय॥७१॥
इत्यं मनोभववशीकृतकामियुग्मैः साधं विनिद्रकुमुदाकरिर्मिलश्रीः॥
राजा शशांककरिर्मिलरम्यहर्म्यं कांतासखः क्षणिमव क्षणदामनेषीत्॥ ७२॥
आलिंगयत्यथ दिशं शशिनि प्रतीचीं गत्वा शनैस्ततकरैः प्रविलोलतारं॥
किंचिन्निमीलय कुमुदेक्षणमाशु दूरं सा यामिनी प्रकुपितेव ययो
विवर्ति ॥ ७३॥

दारू प्याल्यानें उत्पन्न झाछेला उन्मत्तपणा व बेहोशपणा या निमित्तांनीं ज्याच्या-कहून अपराध घडला आहे अशा आपल्या पतीकडे कोणी एक स्त्री आपल्या सखिसमुदायांतून उटून त्याची खरडपर्टी न काढतां शीघ्र निघून गेली. वरोवरच आहे कीं, कोणाचे येम कपट करीत नाहीं वरें १ ७० प्रथमतःच जिल्ला कोप आलेला आहे अज्ञा कोण्या एक ख्रीनें अपराध केलेल्या आपल्या पतीला पाहून आदराची पद्धति सोइन दिली नाहीं. अर्थात् पति आल्याबरोवर ती विनयानें उठून उभी राहिली. बरोबरच आहे कीं, स्त्रियांचें मन गुप्त असतें. ७१ एका वेश्येचें एका वेगळ्याच पुरुषावर अतिशय मन बसलें होतें परंतु ती एका श्रीमत कामी पुरुषावर जणु अनुरक्त झाल्याप्रमाणें त्याला वश झाळी होती. बरोबरच आहे कीं, द्रव्य हें कोणास वश करण्यास समर्थ होत नाहीं बरें ? ७२ याप्रमाणें मदनाच्या स्वाधीन झालेल्या कामी जोडप्यासह प्रफुछ झाछेल्या रात्नाविकासि कमळसमूहाप्रमाणें निर्मेळ सौंदर्य घारण करणाऱ्या हरिषेण राजानें चंद्राच्या किरणाप्रमाणें निर्मल व सुंदर असलेल्या आपल्या वाड्यांत आपल्या स्त्रीसह रात एका क्षणाप्रमाणें व्यतीत केली. ७३ जसें एखादा मनुष्य हळ्च हात पसरून जिच्या डोळ्यांतील बाहुल्या चंचल झाल्या आहेत अशा स्त्रीला आलिंगन देत असतां त्याची स्त्री आपले कमलासा-रखे डोळे थोडेसे मिटून क्रोधाने त्याच्यापासून तत्काळ दूर निघृन जाते. तसें

अभ्यास्य वासभवनाजिरमानतारिं वैवोधिकास्तमध वोधियतुं क्ष्पांते इत्युज्ज्वलाः श्रुतिसुखस्वरमञ्जतांगाः पेठुः सदा अतिनिनादितसौ-धकुंजाः॥ ७४॥

कंदर्गतप्तमनसासिह दंपतीनां धैर्यत्रपाविराहितानि विचेष्टितानि ॥ न्हीतेव वीक्ष्य रजनी रजनीकरास्यं काप्यानमय्य विद्वसी मुमुखा प्रयाति ॥ ७५॥

प्रालेयविंद्विस्मी नवसौक्तिका मेः कीणी विसाति तरवः पतितै-र्नभस्तः॥

शीतत्विषो मृदुकरस्य रसाद्रितानां स्वेदाम्भसामुरुकणेश्वि तार-काणां॥ ७६॥

क्षिपं विहाय कुमुदानि विकाशलक्ष्या त्यक्तानि नाथ! मधुपा मधुपानलौलाः ॥

यान्त्युच्छ्र शत्कमलसौरभवासिताशं पद्माकरं ननु सगंधमुपैति सर्वः

1 00 1

चंद्र हळ् हळ आपले किरणरुपी हात पसदन चंचल नक्षत्रारुपी ढोळ्याच्या बाहु-ल्यांनीं युक्त असलेल्या पश्चिम दिशारूपो पर्न्तीला आर्तिगन देत असनां त्याची रात्ररूपी स्त्री गत्रविकासिकमलरूपी नेत्र थोडेसे मिटवृन त्याच्यावर जणु रागावृन लौकर दूर निघृन गेली. ७४ रात्र समाप्तीनंतर राजवाट्याच्या अंगणामध्ये वस्न **च्याने** शत्रुंना वश केलें आहे अशा हरिपेण राजाला करण्यासाठीं ज्यांनीं राजवाड्यांच्या आंतील प्रदेश प्रतिब्बर्नीर्नी युक्त केले आहेत असे, उज्ज्वल वेषाला बार्ण कर्णार, अन्यंग अवयवांचे भाट लोक कानाला मधुर लागणाऱ्या अशा स्वर्गनीं गायन करूं लागले ७५ मदनानें ज्यांचीं मनें संनप्त झाळीं आहेन अजा पतीयत्नीचीं विये व लजा यांनी रिंदित असलेली कृत्ये पाहून जणु लिज्जित झालेली गत्र आपल्या चंद्ररूपी मुखाला खार्टी यातृन हे सुंदर मुखाच्या राजा ! कोर्टे नर्ग निघृन ज न आहे. ७६ नर्वान मोत्यासारखी कांनी धारण करणाऱ्या हिंमविंहुंनी अङ्न गेछेछे हे



४ उत्तरेकडे तोंड करून ज्यांनी सर्व कर्ममळ नष्ट केळा आहे अशा सिद्ध परमेष्टीना प्रभूनो एकाग्र मनाने नमस्कार करून जणुं हा प्रगट झालेळा रागभावच आहे अशा अकारसमूहाचा त्याग केळा. पृष्ठ ३५९.

यावन्न पक्षयुगलं विधुनोति कोकः श्रांतो निशाविरहजागरिवन्न-यापि ॥

तावनमुदा न समगायि न चक्रवाक्या स्निह्यत्यहो युवतिरेव चि-

सद्यो विनिद्रकमलेक्षणयातिरक्तः पूर्वं प्रसारितकरः रानकैर्विवृत्य।। आर्लिग्यते दिनकरो दिवसाश्रियायं प्रातर्युनेव रिपुमानद ! मानवत्या ॥ ७९॥

इत्थं वचोभिरचिराय स मागधानां निद्रां विहाय शयनादुदगान्नरेंद्रः। कंठापितं मदनपाशामिवातिकृच्छ्रादुन्मोचयन्भुजलतादितयं प्रिया-याः॥ ८०॥

दृक्ष थंड कांतींनें साहित असलेल्या व कोमल किरणांनीं युक्त असलेल्या चंद्राच्या रसानें भिजून ओले झालेल्या नक्षत्नांच्या घामाचे आकाशांतून पडलेख्या थेंबांनी जणु युक्त झाल्याप्रमाणें दिसतात. ७७ हे नाथ ! विकासलक्षी-नें ज्यांचा त्याग केला आहे अशा रात्न विकासि कमलांना मकरदपानांत गढून गेलेल्या भुंग्यांनीं सोडून दिलें व ते विकसित झालेल्या दिवस विकासी कमलांच्या सुगधानें ज्यानें सर्व प्रदेश सुगंधित केला आहे अशा सरोवराकडे जात आहेत. वरोबरच आहे कीं उत्तम सुगधयुक्त पदार्थाकडेच सर्व जात असतात. ७८ थक-लेला कोकपक्षी आपले पंख फडफडावित आहे तोंच रात्रीच्या विरहार्ने व जाग-ण्यानें खिन्न झालेल्या अशा चक्रवाकीनें येऊन आनदानें चक्रवाक पक्ष्यांशीं समा-गम केला.बरोबरच आहे कीं, स्त्री हीच पुरुषावर अधिक प्रेम करीत असते. ७९ भफ़ाछिन कमलाप्रमाणें जिचे डोळे आहेत अशी एकादी रुसलेली स्त्री आपला रुसवा सोड्रन प्रातःकाळीं अशी पूर्वीच ज्यानें आपले हात पसरले आहेत व अतिषेमयुक्त अशा आपल्या पतीला थोडें मार्गे वळ्न पाहून आलिंगन देते त्याप-माणें शत्रृंचा अभिमान नष्ट करणाऱ्या हे राजन् ! प्रथमच ज्यानें आपले किरण हळ्हळ् चोहोकडे पसरले आहेत व जो आरक्त-लालभडक दिसत आहे असा हा सूर्य विकसित झालेले आहेत कमलरूपी नेत्र जिचे अशा दिवस लक्ष्मीकडून मातःकार्टी तत्काळ आर्छिगिला जात आहे.

इति तस्य मुदा नरेंद्रलक्ष्मीं दघतः श्रावकवृत्तिमप्यखंडां ॥
नरनाथपतरनेकमंख्या ययुरव्दाः स्फिटिकाश्मिनमंलस्य ॥ ८१ ॥
मुनिपितमवलोक्य सुप्रतिष्ठं प्रमदवने स्थितमन्यदा नरेंद्रः ॥
समजिन स तपोधनस्तपश्च प्रशमरितिश्चिरकाल्याचचार ॥ ८२ ॥
स जीवितांते विधिवद्धिधिज्ञः सल्लेखनामेकधिया विधाय ॥
अलंचकार क्षितिमात्मकीर्त्या मृत्या महाशुक्रमपि प्रतीतः ॥ ८३॥
दिव्यांगनाजनमनोहररूपसंपत्स प्रीतिवर्धनविमानमनूनमानं ॥
अध्यास्य षोडशपयोनिधिसिक्मितायुः प्रीतिंकरोऽरमतं तत्र विक्
चित्रसौख्यम् ॥ ८२ ॥

इत्यसगक्रते श्रीवर्धमानचिरते हिरेषेणमहाशुक्रगमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥

८० याममाणें म्तुति पाठकांचें प्रातःकालीं जागृत करण्याच्या भाषणांनी अर्थात् भाषणें ऐकून राजा जागा झाला व कंठामध्यें जणु मदनाचे पाजच पडले आहेत अशा आपल्या मिय राणींचे दोन वाहु गळ्यांतृन मोठ्या प्रयासाने काढून तो निद्रात्याग करून अंथरुणावरून उटला, ८१ स्फाटिक मण्याप्रमाणे ज्यांचे अतःकरण निर्मळ आहे अशा त्या राजाने राजलक्ष्मीला व श्रावकधमीला अखंड रीतींनें ६ एण केलें होतें. या दोनींचें पालन करीत असतां या राजाचीं पुष्कळ वर्ष लोटलीं. २ एके दिवशीं प्रमदवनामध्यें सुप्तिष्ठ मुनिपित आलेले पाहून हा गजा त्यांच्या ।ळ मुनि झाला व समभावनेंत भेम ठऊन त्यानें पुष्कळ काळपर्यत तपश्चरण केलें.८२आयुष्याच्या अंती सल्लेखनेचा विधि जाणणाच्या या हिर्पण मुनीनें एकाग्रवु-दीनें सल्लेखना धारण करून आपल्या कीर्तींने पृथ्वीला अलंकृत केले व प्रसिद्ध अशा यानें आपल्या कारीराच्या द्वारें महाशुक्र स्वर्गीत तो अत्यंत सुंदर करीराचा धारक असा देव होऊन जनमला. ८४ ज्याचे प्रमाण फार मोठें आहे अशा त्या प्रीतिवर्धन नांवाच्या विमानांत ज्याचें सोळा सागर वर्षे आयुष्य आहे असा, देवांगनांच्या मनाला हरण करणाच्या सौदर्याने युक्त असलेला तो प्रीतिंकर नांवाचा देव त्या महाशुक्र स्वर्गीत नानाप्रकारच्या सुलांचा उपभोग घेत फार दिवसपर्यंत रममाण झाला.

\* याप्रमाणें असग कविकृत श्री वर्धमान चरित महाकाव्यामध्यें हरिषेण मुनिश्वरांना महाशुक्र स्वर्गाची प्राप्ति झाली याचें वर्णन करणारा तेरावा सर्ग समाप्त झाला \*



द्वीपेऽस्मिन्दधदपरेतरे विदेहे कच्छाख्यामथ विषयोऽस्ति नित्यरम्यः सीतायाः सुरसरितस्तटीमुदीचीमुद्धास्य प्रकटमवस्थितः स्वका-

उद्भिच क्षितितलमुत्थितो हि लोकः किंद्रष्टुं भुवमुत नाकिनां निवासः आयातः स्वयमपि यस्य सूरिशोभां पश्यंतः क्षणममराश्च विस्मयंते ॥ २॥

तत्रास्ति त्रिजगदिवैकतामुपेतं क्षेमादिद्यतिमभिधां पुरं दधानम् ॥ सदृत्तिप्रकृतियुतं विविक्तवर्णेराकीर्णं तिलकनिमं वसुंधरायाः॥३॥

१ या जंबूद्धीपामध्यें पूर्वविदेह क्षेत्रांत कच्छ या नांवाचा नेहमीं सुंदर असणारा एक देश आहे. हा देश सुरसित्-देवनदी जी सीता नांवाची नदी तिच्या उत्तर किनाच्याला आपल्या कांतीनें सुशोभित करून प्रवट रूपानें राहिला आहे. २ या देशाची विपुल शोभा पाहात असतां क्षणपर्यंत देवांनाही आश्चर्य वाटत असे. पृथ्वीतलाला फांडून अधोलोक वर आला आहे काय १ किंवा स्वतः भूलोकाची शोभा पाहण्यासाठीं देवांचें निवासस्थान अर्थात् स्वर्ग हा खालीं आला आहे काय १ असे विकल्प हा देश पाहतांना देवांच्या मनांत उत्पन्न होत असत. ३ या देशांत तेलोक्य जणुं एकवटलें आहे असें क्षेमचुित या नांवाला घारण करणारें शहर आहे. हें शहर सदाचार स्वभावाला घारण करणारे असे जे वेगळे वेगळे वर्ण ब्राह्मण, क्षात्रिय, वैदय, शुद्ध यांनीं युक्त असल्यासुळें सद्दांत्तपकृतियुत—गोलाकारानें युक्त आणि विविक्तवर्णानीं—नाना प्रकारच्या रंगांनीं युक्त अशा

तस्यासीदथ नृपतिः पुरस्य नाथो। नीतिज्ञो विनतरिपुर्घनंजयाख्यः। येन श्रीरतिचपलाप्यकारि वश्या विद्यंते भुवि महतां न दुःकराणि

कल्याणी सकलकलासु दक्षबाद्धिः स्मेरास्या स्मरविजयकवैजयन्ती लज्जाया हृदिव बभूव तस्य राज्ञी विख्याता मनुजपतेः प्रभावती-

सत्स्वप्नौर्नगदितचक्रवर्तिलक्ष्मीः प्राग्देवः सुरिनल्यात्ततोऽवतीर्य॥
पत्रोऽभूद्धिव स तयोर्यशो महीयोमूर्तं वा प्रियपदपूर्वमित्रनामा॥६॥
तं विद्याः प्रथमसुपासिरे समस्ताः प्रत्यक्षं मितिविभवेन लोभ्यमानाः
अभ्येतुं झिटिति परं समुत्सुकायाः साम्राज्यिश्रय इव दूतिकाः प्रधानाः॥ ७॥

सर्वेषामजिन स भाजनं गुणानां रत्नानामिव जलिधः सुनिर्मलानां॥ लावण्यं दथदिप भूरि तिद्धे चित्रं माधुर्यं दिशि दिशि यत्ततान लोके ॥ ८॥

पृथ्वीच्या तिलकाप्रमाणें शोभत असे. ४ या शहराचा अधिपात नीतिज व शत्रंना नम्र करणारा असा धनंजय गांवाचा राजा होता. यानें अतिशय चंचल अशी ही लक्ष्मी अगर्डी मुठींत ठेविली होती. वरोवरच आहे कीं, महापराक्रमी लोकांना या जगांत दुष्कर असें कांहींच असत नाहीं ५ सगळ्या फलामध्ये जिची बुद्धि तिपुण आहे अशी, नेहमी हंसत मुखाची, मदनाची अद्वितीय विजयपताका, व लक्जेच हृदयस्थान असलेली अशी प्रभावती या नांवाची या धनंजयाला कल्याण करणारी प्रसिद्ध राणी होती ६ चांगल्या स्वमांचें द्वारें ज्यानें चक्रवर्तीच्या लक्ष्मीची पूर्वीच मूचना केली आहे असा तो प्रीतिंकर नांवाचा देव महास्मुक्त नव्या लक्ष्मीची पूर्वीच मूचना केली आहे असा तो प्रीतिंकर नांवाचा देव महास्मुक्त असा विद्यानें प्रतिंवत मोर्डे यशच असा विद्यानें नांवाचा मुलगा झाला. ७ त्याच्या बुद्धिवेभवानें मोहित झालेल्या सर्व विद्या त्याची लपासना कल लागल्या. अर्थात् सर्व विद्यांची त्यास प्राप्तिझाली. लेकरच या राजपुत्राची प्राप्ति करून घेण्यास अतिगय उत्केठित झालेल्या सार्वभीम लक्ष्मीच्या या विद्या जणु मुख्य दृती होत्या ८ जसा समुद्र निर्मल अशा

सङ्क्तः सकलकलाधरो वितन्त्रन्नानंदं निजमृदुपादसेवाकानां ॥
संपूर्णो विधारिव भूरिरूपशोभासामग्रीमभिनवयौवनेन भेजे ॥ ९ ॥
संरेजे समद्वधूविलोलनेत्रैस्त्यक्तान्यैरिधगतसंमदं पताद्भः ॥
बिश्राणो मधुसमये प्रस्नलक्ष्मीं प्रत्यग्रामिलिनवहौरिवैकचूतः ॥१०॥
अन्यस्मिन्नहिन धनंजयो जिनेंद्रं स क्षेमंकरमुपगम्य तत्प्रणीतां ॥
धर्मं च प्रवणमना निशम्य सम्यक् संसाराद्विरतमितः परं बभूव॥११॥
विन्यस्य श्रियमथ तत्र पुत्रमुख्ये तन्मूले सपदि स दीक्षितो विरेजे ॥
संसारव्यसनिरासिनी मुमुक्षोः शोभायै भवति न कस्य वा तपस्या?
॥ १२॥

सर्व प्रकारच्या रत्नांचा साठा असतो त्याप्रमाणें हा राजपुत्र सर्व सद्गुणांचें पात्र बनलेला होता. समुद्र पुष्कळ लावण्य-खारेपणा धारण करीत असतो. प्रत्येक दिशेमध्यें त्याचा मधुरपणा न पसरतां खारेपणाच पसरला आहे. परंतु या राजपुत्रानें भूरिलावण्य-पुष्कळ खारेपणा धारण केला आहे तरी याचें माधुर्यच सर्व दिशांत पसरलें आहे हें आश्चर्य होय. अर्थात् लावण्य ह्मणजे सौंदर्य याच्या सौंदर्याची सर्व दिशामध्यें मिसद्धि झाली होती. ९ सद्भुत्तगोल, सकद्धकलाधर सगळ्या कळा-सोळा कळा धारण करणारा, स्वतःच्या मृदुपादांचें-मज किरणांचें सेवन करणारास आनंदित करणारा, असा पूर्णचंद्र जसें पूर्ण सौंदर्याला धारण करितो तसें सदृत्त-सदाचरणी, सकल कलाधर-चौसष्ट कलांचा धारक, व आपल्या मृदुपादांचें-मऊ पायांचें सेवन करणारास नेहमी आनंदित करणारा हा प्रियमित राजपुत्र नवीन तारुण्यानें पुष्कळ रूपकांती्च्या पूर्ण सामग्रीला पावला. १० वसंत ऋतुमध्यें नवीन मोहोर धारण करणारा आम्रद्रक्ष, तारुण्यानें मुसम्रुसलेल्या स्त्रियांच्या नेत्राप्रमाणें चंचल व ज्यांनीं इतर पुष्पांचा त्याग केला आहे व जे आनंदानें येऊन पडत आहेत अशा भुंग्यांनीं जसा शोभतो राजपुत्रही जेव्हां वसंत ऋतूंत पुष्पांच्या माळांची शोभा धारण करीत असे तेव्हां तारुण्यमदाने उन्मत्त झालेल्या स्त्रियांच्या नेत्रांनीं आपलीं इतर कामें सोडून दिलीं व आनंदानें ते या राजपुत्राकडे खिळ्न गेले. यामुळें हा राजपुत फार शोभूं लागला. ११ एके दिवशीं घनंजय राजा क्षेमंकर जिनेश्वराजवळ जाऊन त्यानें त्यांनीं केलेला धर्माचा उपदेश एकाग्रमनानें ऐकिला. त्यामुळें त्याला संसारापासून पूर्ण

दुःप्रापां सकलनृपाधिराजलक्ष्मीं प्राप्यापि प्रमदमशौ तथा न भेजे ॥ विभ्राणः सकलमणुवतं यथावत्सम्यक्तवं सहजमथोज्ज्वलं च राजा ॥ १३॥

तस्येयुः परमरयोऽपि सच्चरित्रैराकृष्टाः स्वयपुगम्य किंकरत्वं ॥ शीतांशोरिव किरणाः सतां गुणाघा विश्वासं विद्धति कस्य वा न शुस्राः॥ १४॥

एकस्मिन्नथ दिवसे सभागृहस्थं विज्ञातो नरपातिमभ्युपेत्य कश्चित्॥ संभ्रांतो नतिरहितं मुदेवमूचे को दिष्ट्या भवति सचेतनो महत्या॥ ॥ १५॥

शालायाममलरुचां वरायुधानामुत्पन्नं विनतनरेन्द्रचक्र ! चक्रं ॥ दुःप्रेक्ष्यं दिनकरकोटिविंवकल्पं यक्षाणामधिपगणेन रक्ष्यमाणं॥१६॥

वैराग्य माप्त झालें. १२ यानंतर त्यानें सर्व पुतामध्यें मुख्य-श्रेष्ट असलेल्या त्रिय-मित्रावर राज्यलक्ष्मी स्थापिली व स्वतः क्षेमंकर जिनेश्वराजवळ तत्काळ दीक्षा घेऊन तो फार शोभूं लागला. वरोवग्च आहे की, ज्याला मोक्ष प्राप्त करून घेण्या-ची इच्छा आहे अशा कोणत्या मनुष्याने घेतलेली व संसार-संकटाचा नाश करणारी तपस्या–दीक्षा कां वरे शोभेछा कारण होणार नाहीं? १३ इतरांना मिळण्यास अशक्य व राजे लोकांवर हुकत चालविणारी राजलक्ष्मी प्राप्त करून देखिल या प्रियमित राजाला तसा आनंद वाटला नाहीं जसा सगर्ली अणुत्रतें व शास्त्रांत सांगितल्याप्रमाणे ज्यांचें स्वरूप आहे असे नैसर्गिक निर्मल सम्यग्द्रीन प्राप्त केल्याने झाला होता. अर्थात् या राजाला राज्यपाप्तिणेक्षां अणुत्रते व निर्मळ सम्यग्दर्शनानें अधिक आनंद झाला होता. १४ त्याचे शत्रु देखिल त्याच्या सदाचार गुणांनीं ओढले गेले यामुळें ते स्वतः येऊन त्याचे नोकर वनले. वरोवरच आहे कीं, चंद्राचे पांढरे किरण जसें सवीना अल्हाटकारक असतात तसे सत्पुरुषांचे ग्रुभ्र गुण-समुदाय कोणाला वरें दिश्वास-आनंद उत्पन्न करीत नसतात <sup>१</sup> १५ यानंतर एके दिवर्शा द्वारपालाकडून ज्याची हकीकत कळविली गेली आहे असा कोणी एक मनुप्य गडवडीनें सभेत आला व तेथें वसलेल्या राजाला नमस्कार न कारीतांच आनंदानें वेहोश होऊन पुढें लिहिल्यापमाणें

तंत्रव स्फुरितमाणिप्रभापरीतो इंडोऽभूदिसरिप शारदांवराभः॥
प्रत्यक्षं यश इव ते मनोभिरामं पूर्णेंदुचातिरुचिरं सितातपत्रं॥१०॥
संसर्पत्करिनच्येन रुद्धिकश्रूलाख्यो मणिरुद्पादि कोशगेहे॥
कािकण्या सममाचिरांशुराजिभासा भूपेंद्र! द्यातिविततेन चर्मणा च
॥ १८॥

आकृष्टाः सुकृतफलेन रत्नभूता द्वारस्थाः सचिवगृहेशतक्षमुख्याः॥ सेनानीकरितुरगाश्च कन्ययामा कांक्षन्ति क्षितिप!भवत्कटाक्षपातं ॥१९॥

संजाता नवनिधयः कुवेरलक्ष्म्याः कुर्वाणा निजविभवैः सदाभिभूतिं प्राग्जन्मप्रजनितसूरिपुण्यशाक्तिः किं कासां न भवति संपदां सवित्री? ॥२०॥

वोलूं लागला. बरोबरच आहे कीं, आतिशय आनंद झाला असतां कोण वरें त्यावेळीं सचेतन-सावधान असतो ? १६ स्वच्छ कांतींनीं युक्त अशा शस्त्रास्त्राच्या शार्छेत ज्यानें सर्व राजसमुदायांना नम्र केलें आहे अशा हे राजा! कोट्यविध सूर्यविवा-प्रमाणें पाहण्यास अशक्य, यक्षांच्या वरच्या आधिकाऱ्याकडून जें राक्षेत्रं जातें असें चक्ररत्न उत्पन्न झालें आहे. त्याच ठिकाणीं चमकणाऱ्या मण्यांच्या कांतींनीं वेष्टि-लेलें दंडरत्न, शरत्कालच्या आकाशाप्रमाणे नीलवर्णाचे खद्गरत्न आणि हे राजा! मार्तिमंत मनोहर असे तुझे यशच जणु असे पूर्ण चंद्राच्या कांति सारखें सुंदर पांढरें छत्र हीं रत्नेही उत्पन्न झालीं आहेत. १९ हे राजाधिराजा! कोशपृहांत-खाजिना ठेवण्याच्या घरांत पसरणाऱ्या किरण समूहानें ज्यानें सर्व दिशा भरून टाकिल्या आहेत असे चूडामणि नांवाचें रत्न विजांच्या कातीप्रमाणें चमकणाऱ्या काकिणी रत्नासह व ज्याची कांति पसरली आहे अशा चर्मरत्नासह उत्पन्ना झालें आहे. १९ हे पृथ्वीपते, तुझ्या पुण्यफलाने आकर्षिलेले व जगांत आति य श्रेष्ट असल्यामुळें रत्न या नांवाला प्राप्त झालेले सचिव, गृहपति, स्थपति हे ज्यामध्यें मुख्य आहेत असे सेनापाते, हत्ती, व घोडा हे सर्व जण कन्या रत्नासह तुम्या कटाक्षपाताची इच्छा करीत दरवाजांत उभे राहिले आहेत. २० आपल्या वैभवानें कुवेराच्या संपत्तीचा नेहमी धिकार करणारे नड निधि हे राजन्! प्रगट झाले आहेत.

तेनोक्तामिति नरलोकसारभूतां संभूतामि स निशम्य चक्रभूतिं॥
भूरेन्द्रो जन इव विस्मयं न भेज प्राज्ञानां किमिह कुत्हलस्य हेतुः।२१॥
प्रत्यक्षं जिनपतिमभ्युपेत्य मक्त्र्या सानंदं सह सकलेन राजकेन॥
संपूज्य प्रथममसौ यथोक्तमार्गेर्मार्गज्ञस्वय विततान चक्रपूजां॥२शा
पर्खंडैः कतिपयवासरेरनूनेराकीणं नृपखचराधिपेश्च देवैः॥
चक्रण स्ववशमकारि तेन कृत्सनंदुःसाव्यं न हि भुवि भूरिपुण्यभाजां

द्यात्रिंशत्सकलनराधिराद्सहसैविंख्यातैरपि विद्याधिपैस्तदर्देः। स्त्रिभिः पण्णवित्सहलसिमताभिः कांताभिः परिकरितो रराज सम्राद्॥२४॥

वरोबरच आहे कीं, पूर्वजन्मी उत्पन्न झालेली पुष्कळ पुष्याची शक्ति, कोणत्या संपर्चीना प्रसवणारी होत नाहीं वरें रे अयोत् पुष्योद्याने सबै संपत्ति मिळतातचः २१ मनुष्य लोकांन सदोत्कृष्ट अशा चक्ररत्न संपत्तीच्या उत्पत्तीचे त्या पुरुषाने केरेंडे वर्णन ऐह्न राजाला सामान्य लोकाप्रमाणें कांहीं आश्वर्य बाट्डें नाहीं बरो-दरच आहे की याजगांत दिहान लोकांना आख्ये उत्पन्न करणारी कोणती वस्तु आहे? तान्पये हे कीं, विद्वान कोकांना कारणांची माहिनी असल्यामुळे अमुक कारणापास्न अपके कार्य उत्पन्न होते असे त्यांना समजते म्हणून त्यांना आवर्य बाटत नाही. २२ त्यमतः सर्वे राजसमृहासङ् मोट्या आनंदाने व भक्तिने प्रत्यक्ष जिनेत्वराकडे जाऊन या राजाविराजानें न्यांची पृजा केली. नंतर पद्धाने जाणाच्या या भूपेंड्रानें शाखांत मांगिवळेल्या मार्गानीं चक्रन्ताची पृत्रा केळी. २३ यानंवर भूगेचारी राजे आणि देव पांनी पूर्ण भरलेला. महा खंडांनी युक्त असलेला कच्छ देश या गजाने चत्ररत्नाच्या साद्यायानें योदक्याच दिवसांत आपल्या स्वाधीन करून येनटा. दरोवरच आहे,की या जगांन पुष्कळ पुष्य ज्यानी संचित केले आहे अशा लो-कांना कोणती गोष्ट असाध्य असते दरें ? कोणतीही असत नाहीं. २४ वर्चीम हजार मांडकिक गन्ने व प्रसिद्ध असे मोळा हजार देव आणि नहाण्णव हजार मुंदर विया यांनीं युक्त हा सार्वभौष राजा शोभूं लागला. २५ नैसर्प, पांड, पिंगल काल, महाकाल, इंख, पद्म, माणव आणि मवेन्न असे नज निधि उत्तर

नैसर्पः सममथ पांडापिंगलाभ्यां कालेन स्थितिमकरोच्च भूरिकालः ॥ शंखाख्या निधिरपि पद्ममाणवाभ्यां कोषया दिशि नवमश्च सर्वरतः ॥ १५॥

प्रासादान्मृदुशयनानि सोपधानान्यासंदीप्रमुखवरासनप्रपंचान् ॥
नैसपों वितरति संततं जनेभ्यः पर्यकान्बहुविधजातिपहिकांश्च ॥२६॥
शालीनां तिलयवमापकोद्रवाणां त्रीहीणां वरचरणकप्रियंगुकाणां ॥
सर्वेषां जनहृदयाभिवांछितानां भेदानामतिधृति पांडुकः प्रदाता
॥२०॥

प्रत्युप्तप्रविपुलरत्नराजिराईमश्रेणीिभः शबलितसर्वदिङ्मुखानि॥ स्त्रिपुंसं प्रति सदशानि भूषणानि श्रीमंति प्रतिदिशति पिंगलो जनेभ्यः॥२८॥

सर्वर्तुप्रसवफलानि सर्वकालं चित्राणि दुमलतिकाक्षुपोद्भवानि ॥ निन्याजं वितरति वांछितानि कालः किन्न स्यात्पुकृतफलेन पुण्यभाजां॥ २९॥

दिशेकडे राहत असत २६ नैसर्प नांवाचा निधि नेहमीं लोकांना राजवाडे, यल विल्ञाने, उशा, नाना प्रकारचीं उत्तम आसनें, पलंग व अनेक प्रकारचीं वर्से अर्पण करीत असे. २७ पांडुक नांवाचा निधि साली, तिल, यव, उडीद, कोंहु, सालीचे निरानिराले प्रकार, वरे, हम्भरे, कंगणी वगैरे लोकांच्या हृद्याला आवडणाच्या व संतोष देणाच्या वस्तु देत असे २८ ज्यामध्यें वसविलेख्या नाना प्रकारच्या रत्न समूहांच्या किरण पंक्तींनी ज्यांनीं सर्व दिशा व्यापुन टाकिल्या आहेत अशीं सुंदर श्लीपुरुषांना योग्य अनेक प्रकारचीं आभूषणें पिंगल नांवाचा निधि लोकांना देत असे. २९ काल नांवाचा निधि झाडें, वेली, झुडपें यांचीं नानाप्रकारचीं व सर्व ऋतूंत उत्पन्न होणारीं फुलें व फलें सहज रीतीनें लोकांना देत असतो. वरोवरच आहे कीं, जे पुण्यवान आहेत त्यांना पुण्याच्या फलानें कशाची वरें प्राप्ति होत नाहीं? ३० भूरि-काल अथवा महाकाल नांवाचा निधि लोकांना त्यांचीं आवडतीं घरें सजविण्याचे नाना प्रकारचे सुवर्णाचे पदार्थ, तांव्याचीं नानाप्रकारचीं मांडीं कुंडीं, अनेक प्रकारचीं न फुटलेलीं लोखंडाचीं उपकरणें, तत्काल प्रयत्नानें अशीं देतो. ३१ तत्-तन्तुवादों,

सौवर्णं सदनपरिच्छदं विचित्रं ताम्रीयं विविधमुपस्करं च छोहं।। छोकेभ्यः समभिमतं ददाति यत्नान्नीरंभ्रं निधिराचिराय भूरिकालः।। ३०॥

वाद्यानां ततघनरं अनद्धभेदैभिन्नानां श्रुतिसुखदायिनादभाजां ॥ संघातं मृजति समीप्सिताय शंखो दुःप्रापं न हि जगतां समग्रपुण्येः॥ ३१॥

चित्राणि क्षणरुचिराक्रचापकांतिं खस्थास्तुं निजमहसा विडंवयन्ति वासांसि स्वतिरायरत्नकंवलादिप्रावारैः सह दिरातीप्सितानि पद्मः ॥ ३२॥

हेतीनां निवहमनेकभेदाभिन्नं दिव्यानामनुगतलक्षणस्थितीनां ॥ दुर्भेद्यं कवचशिरः सुवर्मजातं प्रख्यातं वितरित माणवो जनेभ्यः॥३३॥ रत्नानां वियति सुरेंद्रचापलक्ष्मीमन्योन्यव्यतिकरितेर्गभिस्तजालैः॥ कुर्वाणां जनयित संपदं समग्रां सामग्रीं सकलजनस्य सर्वरतनः॥३४॥

यन-झांज, टाळ वगैरे, रंश्र-पावां, सनई वगैरे आणि नद्ध-कातड्यानें महविलेलीं वार्छे. हीं सर्व कानाला गोड लागणाऱ्या श्रद्धांना जन्म देत असतात. गंख नांवाचा निषि हीं सर्व इच्छित वार्छे लोकांना अपीण करीत असतो. ज्यांचे पुण्य पूर्णावस्थेला पोहोंचलेलें असतें अशांना कांहीं हुर्लभ नसतें. २२ आकाशांत असणाऱ्या इंद्रभनुष्य व बीज यांच्या कांतीला स्वतःच्या कांतीनें लिजित करणारीं अनेक प्रकारचीं वह्नें व अमृल्य अशीं रत्नकंवळ वगैरे पांघरण्याचीं वह्नें लोकांच्या इच्छेला अनुसरून पद्म नांवाचा निषि देतो. ३२ माणव नांवाचा निषि ज्यांचीं लक्षणें भिन्न भिन्न आहेत अशीं दिव्य नानाप्रकारचीं शक्ताह्नें, प्रसिद्ध व अभेय असें चिल्लत व निरस्नाण लोकांना अपीण करीत असतो. ३४ सर्वरत्न नांवाचा निषि एकमेकांमध्यें प्रवेश करणाऱ्या रत्नांच्या किरण समुदायांनीं आकाशांत इंद्र धनुष्याची शोभा लत्यन करणाऱ्या संपत्तींची सर्व सामग्री लोकासाठीं उत्यन्न करीत असतो. ३५ जसें पावसाला नृतन जलाचा वर्षाव करणाऱ्या नृतन मेघांच्या द्वारें सर्व रीतीनें मयूगंच्या इच्छा पूर्ण करीत

लोकानामिति स मनोरथानशेषान्भूपेन्द्रो निधिभिरपूरथिकामं॥
प्रत्यभैनवजलमोशिभिः समंताजजीमृतिरिव शिखिनां तपावसानः॥३५
ओद्धत्यं नवनिधिभिः प्रदीयमानेन द्रव्यैरपिभितेः स संप्रपेदे॥
तोयोधिरिव जलाधिनदोपनीतिधीराणां न हि विभवो विकारहेतुः॥३६॥
अप्येवं समनुभवन्दशांगभोगान्व्यानभैरमरनृपैः सदा परीतः॥
धर्मास्थां शिथिलयति सम न स्विचत्तानमाद्येत न हि विभवेमहानुभावाः॥ ३७॥

आश्विष्टो घनमपि राजराजलक्ष्म्या राजेंद्रः प्रशमरतिं सुखाय मेने॥
सह्ष्टेराधिगतभूरिसंपदोऽपि श्रेयोर्थाका हि विजहाति निर्मलाधीः ३८
पूर्वाणि त्रिमिरधिकान्यशीतिलक्षाण्यानंदं सकलजनस्य चक्रनाथः॥
आतन्वित्रित स निनाय ममिचत्तो विस्तीर्णे विषयसुखामृतांबुराशौ ॥३९॥

असतो. तसें या त्रियित चक्रवर्तीनें या नविनिधींच्या द्वारें सर्व छोकांचे सर्व मनोरय पूर्ण केछे. १६ जसें समुद्राला मोठ्या नद्यांकडून पुष्कळ पाण्यांचे प्रवाह नेहमीं मिळतात तथापि तो जसा उद्धट होत नाहीं, गंभीरच असतो. तसें ह्या चक्रवर्तीला नेहमा नड निधीकडून अपिरिमित द्रव्य मिळत असे पण याला उद्धटपणा कसा असतो हें माहितच झालें नाहीं. वरोवरच आहे कीं, धीर गंभीर अशा माणसांना वैभव विकारास कारण होत नाहीं. ३७ नम्र झालें ह्यां देवांनीं व राजांनीं नेहमीं वेष्टिलेला हा चक्रवर्ती दशांग भोगांचा भोग घेत होता तथापि धमीविषयींचें त्रेम थोडेसें देखिल आपल्या मनापासून तो कमी होऊं देत नसे. बरोवरच आहे कीं, जे महापुरुष आहेत ते ऐश्वर्यानें कथीही उन्मत्त वनत नाहींत. ३८ सार्वभीम राजलक्ष्मीनें ज्याला दृढ आिल्म्याला पुष्कल संपत्ति मिळाली तरी त्याची निर्मलवुद्धि कल्याणमार्गापास्न न्रत्तत्वयापासून भ्रष्ट होत नाहीच. ३९ विस्तीर्ण अशा पंचेंद्रिय-सुखरूपी अमृत—सप्टद्रांत ज्याचें चित्त गढून गेलें आहे अशा त्या चक्रवर्तीनें सगळ्या प्रजेला आनंदित ठेऊन ८२ लक्ष पूर्व वर्षे राज्य

अन्येद्यः प्रविमलद्र्षणं स्विवं संप्रयन्नुपतिः स्वक्णमूले ॥
संलमं विनिगदितुं जरां भिवत्रों दूतं वा नवपालतांकुरं निद्ध्यो ४० तं दृष्ट्वा मणिमुकुरं विहाय सद्यो राजेंद्रश्चिरामिति चिंतयां मृत्र ॥ विश्वस्यादह्मिव कोऽपरः सचेताः संसारे विषयविषेवं शीकृतात्मा ४१ भोगार्थः सुरनृपले चरोपनीतैः साम्राज्ये न सल्ल ममापि जातु रम्ये संतृप्तिः प्रकृतनरेषु केव वार्ता दुःपूरो भवति तथापि लोभगतः॥४२॥ आकृष्टो विषयमुखेर्बुघोऽपि चूनं संसारान्न परिविभेति भूरिदुः खात् आत्मानं बत कुरुते दुराशयातं मोहांघो ननु सक्लोऽपि जीवलोकः ४२ ते धन्या जगित विदां त एव मुख्याः पर्याप्तं मुकुतफलं च भूरि तेषां यैस्तृष्णाविपलातिका समूलतूलं मोन्सूल्य प्रतिदिशमुज्झिता सुदूरं ४४

केलें. ४० एके दिवशीं स्वच्छ अज्ञा दर्पणांत आपलें प्रतिविव पाहात असतांना या चक्रुवर्तील। कानाजवळ पांढरा केश दिसला. जणु तो हे राजेंद्रा! आप-णास आतां लोकेरच हद्धावस्था येणार आहे असें सांगण्याकारितां कानाजवल गेला होता. ४१ रो केस पाहिल्यावरोवर भूपेद्रानें तत्काल हातांनील दूतापमाणें आरसा खाळीं टाक्सन पुढें लिहिल्याममाणें विचार केला. " पंचेंद्रियांच्या विषयरूपी विषांनीं ज्याचा आत्मा वग केला आहे अशा माझ्या शिवाय या जगांत दुसरा कोणता ज्ञानी पुरुप या संसारावर विश्वास ठेवील वरें ? ४२ देव, राजे, व विद्याधर यांनीं अर्पण केलेल्या व रमणीय अशा भोगांच्या पदार्थानीं या साम्राज्यांत माझी-देखील तृप्ति झाली नाहीं, मग सामान्य माणसांची गोष्टच विचारावयास नको. खरोखर हा लोभरूपी खड्डा भरून निवर्णे शक्य नाही. चक्रवतींची संपत्ति म्हणजे ऐहिक सपत्तीची पूर्णता. पण तिनेंही माझा छो। भरूपी खड्डा भरून निवाछा नाहीं मग इतरांना जर असली संपत्ति मिळतच नाहीं तर त्यांचा तोलोथरूपी खड्डा भरणे शक्यच नाहीं. ४३ विषयसुखांनीं ओढलेला विद्वान मनुष्य देखील अतिशय दुःखोनीं भरेलेल्या या संसारापासून भीत नाहीं. व स्वतःला तो देखील अनेक कुत्सित इच्छांनी पीडित करितो. वरोबरच आहे कीं, जगामध्यें सगळेच संसारी जीव मोहानें आंधळे झालेले आहेत. ४४ ज्यांनीं आशारूपी विषाच्या वेलीला मुळापासून उपहून प्रत्येक दिशेला दुर फेक्रून दिलें. या जगांत खरोखर तेच धन्य होत. त्यानाच विद्वानांचे मुक्कटमणि मानावें. आणि त्यांना पुण्याचें पूर्ण, पुष्कळ फळ प्राप्त झालें आहे असें समजावें. ४५ दुःखांच्या अथवा मृत्यूच्या धुखांतून

नो भार्या न च तनयो न बंधुवर्गः संत्रातुं व्यसनमुखादलं हि कश्चित् तेष्वास्थां शिथिलियेतुं तथापि नेच्छेत् धिङ्मूढां प्रकृतिमिमां शरीरा भाजां ॥४५॥

संतृप्तिर्न च विषयैर्निषेठ्यमाणैरक्षाणां भवति पुनस्तृषैव घोरा॥
तृष्णातीं हितमहितं न वेत्ति किंचित्संसारो व्यसनमयो ह्यनात्मनीनः

विष्ठा

जानाति स्वमयमिप वीक्षते शृणोति प्रत्यक्षं जननजरामृतिस्वभावं संसारं कुशलविवार्जितं तथापि भ्रांत्यात्मा प्रशमरतो न जातु जीवः ॥४७॥

अक्षाणां वरामुपगम्य पापकार्ये संसक्तः सुखलवालेप्सया निकामे॥ नो परयत्यपरभवे विचित्रदःखं जीवानामहितरतिः परं स्वभावः

186

संपत्तिस्ति डिदिव चंचला समग्रा तारुण्यं तृणगतदावदीप्तिकल्पं ॥ किं नायुर्गलित पदे पदे समस्तं निःशेषं दलितघटां बुवनराणां॥४९॥

याची सुटका करण्यास वायको, सुलगा, आप्त नातलग अथवा इतर कोणीही समर्थ होत नाहींत. तरी ही हा प्राणी त्यांच्यावरील प्रेम ढिलें करावें असें इच्छित नाहीं. प्राण्यांच्या या मूर्व स्वभावाला धिकार असो. ४६ कितीही विषय भागले गेले तरी इद्रियें तृप्त तर होतच नाहींत पण त्यांना पुनः भयंकर तहानच लागतें. या तहानें च्याकुळ झालेला हा प्राणी हित व आहित याचा विचार करीत नाहीं. बरोबरच आहे कीं, हा संसार दुःखांनीं पूर्ण भरलेला व आत्म्याचें अकल्याण करणाराच आहे ४० हा आत्मा, हा संसार जन्म, म्हातारपणा, मरण या स्वभावांनीं युक्त हितानें रहित आहे असें प्रत्यक्ष स्वतः जाणतो, पाहतो व ऐकतोहिं तथापि स्रांतिलाच स्वतःचें खें स्वरूप समजून शांतिमध्यें कधींहीं आसक्त होत नाहीं.

४८ थोड्या मुखांच्या इच्छेनें हा जीत्र इद्रियांच्या स्वाधीन होऊन पाप कार्यात अतिशय गहून जातो. पुढच्या जन्मामध्ये मला नानामकारचीं दुःखें भोगावी लागतील ही गोष्टच त्याच्या ध्यानांत येत नाहीं. यावक्रन जीवांचें अहित-कर गोष्टीमध्यें मेम होणें हाच स्वभाव आहे असें कष्टानें म्हणावें लागतें ४९ सर्व मकारचीं संपत्ति विजेममाणें चंचल आहे. तरुणपणा गवताला लागलेल्या अग्रीच्या-कांतीममाणें लीकरच नष्ट होणारा आहे. फुटलेल्या र्घागरींतील पाण्यात्रमाणें मनु ध्यांचें सगळें आयुष्य पावलों पावलीं गळ्न जात नाहीं काय १५० हें श्रार घाणेरहें,

वीभत्से प्रकृतिविनश्वरे निकामं हुः पूरे वह विधरोगवासगेहे ॥
विण्मूत्रक्षतजसुपूर्णभांडगेहे को विद्वान्वपुषि करोति वंधु हो ॥५०॥
संसारास्थितिमिति चेतसा विनिंद्य क्षोणीद्याः स्वयमित्रस्य मोक्षमार्ग जिज्ञासुर्जिनमामेवंदितुं प्रतस्थे प्रस्थानप्रहतस्रदंगहत्सव्यः ॥५१॥
तेनाथो समवसृतिः प्रसन्नभव्यश्रेणीभिः परिक्रिताभितो जिनेंद्रः॥
आसदे सुर्पद्वीव तार्तारमध्यस्थप्रविमलपूर्णचंद्रलक्ष्मीः ॥५२॥
अजममरमभेयं केवलज्ञननेत्रं, चतुरस्रिनिकायैः सेवितं प्रांजली खं॥
दिगुणितशमसंपद्धक्तिनम्रोत्तमांगः सकलनरपतीन्द्रम्तं वददे जिनेदस् ॥ ५३॥

## इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचिरते ितयमित्रचक्रवितिसंभवो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

स्वभावतःच नाश पावणारें. याळा कितीही पटार्थ खाण्यास दिलें तरी न भरणारें, नाना रोगांचे राहण्याचे घर असलेलें, विष्टा, मूत्र, रक्त यांनी भरलेल्या भांट्यासारखें आहे. अशा तन्हेच्या शरीरामध्ये कोणता विद्वान हें फार हितकर आहे अशी दुद्धि करील वरें ? अर्थात् करणार नाहीं. ५१ याप्रमाणें संसाराच्या स्थितीचा राजानें मनानें विचार केला व प्रयाणाच्या मृदंगांच्या ध्वनीनें सर्व भव्यांना ज्यानें बोला-विछें आहे असा तो मोक्षमार्गीचें स्वरूप जाणण्याच्या इच्छेने क्षेमंकर जिनेंद्राला वंदन करण्यासाठीं शीघ्र निवाला ५२ यानंतर प्रसन्न अशा भन्य समृहांनीं सर्वे वाज्नें गच भरलेल्या समवसरणांत राजेन्द्रानें प्रदेश केला. ज्याच्या समोंवती प्रकाशमान नक्षत्रें असन जो मध्यभागीं आहे अशा निर्मल पूर्ण चंद्राने आकाश जसें शोभतें तसें सर्व वाज्नें भव्य जीव असून ज्यांच्या मध्यभागीं निमेख, आनुद्कारक, अनंत चतुष्ट्य व आष्ट्रमहाप्रातिहार्य रूपी छक्ष्मीला धारण कर्णारे जिनेश बसले आहेत असे तें समवसरण फार शोभू लागलें ५३ दुप्पट झालेल्या मश्म संपत्तीपासून उत्पन्न झालेल्या भक्तीनें ज्याचे मस्तक नम्र झालें आहे अशा राजाधिराज प्रियमित चक्रवर्तीने चार प्रकारच्या देवांच्या समुदायांनीं सेवनीय व हात जोइन स्तुति करण्यास योग्य, ज्याला पुनर्जन्म व मरण नाहीं व जो अनंत गुणांनीं युक्त असल्यामुळें अमेय आहे, ज्याला केवलज्ञानरूपी डोला आहे अशा त्या जिनेश्वराला नमस्कार केला.

याप्रमाणें असगकावैरचित श्रीवर्द्धमान-चरित्रा मध्यें पियमित्र चक्रवर्तींच्या उत्पत्तीच्या वर्णनाचा हा चौढावा सर्ग संपला.



पप्रच्छाथ प्रांजिलिभिक्तिनमः क्षोणीनाथो मोक्षमार्गं जिनेंद्रं ॥ ज्ञात्वा दौस्थ्यं संसृतिरप्रमेथं भव्यः को वा सिद्धये नोत्सहत॥ १॥ सर्वान्सत्वान्भिन्नजातीन्विमुक्तेर्मार्गं भव्यान्वोधयन्नेवम्चे ॥ वाचं वाचामीशिता दिव्यनादव्याप्तास्थानं निश्चिताशेषतत्वः॥ ॥ स्यात्सम्यक्तं निर्मलं ज्ञानमकं सच्चारित्रं चापरं चक्रपाणे !॥ मोक्षस्येतान्येव मार्गः परोऽयं न व्यस्तानि प्राणिनः संमुमुक्षोः॥ ॥ तत्वार्थानां तद्धि सम्यक्त्वमुक्तं श्रद्धानं यन्निश्चयेनावबोधः॥ तेषामेव ज्ञानमेकं यथावत्स्याच्चारित्रं सर्वसंगेष्वसंगः॥ ॥ ।।।।।

१ या नंतर श्रीक्षेमंकर जिनेश्वराला प्रियमित्र चक्रवर्तीने हात जोडून व मक्तीने नम्र होऊन मोक्षमार्गीचे स्वरूप विचारिलें. बरोवरच आहे कीं, संसारांतील अमर्याद दुःखाचें स्वरूप जाणून कोण भव्य मोक्षमाप्तीसाठीं उत्साहयुक्त होणार नाहीं बरें? र ज्यानें सर्व तत्वांचें स्वरूप निश्चित रूपानें जाणलें आहे, जो दिव्य ध्वनीचा अधिपति आहे असा तो क्षेमंकर जिनेश्वर देव मनुष्य च पशु या बेगळ्या वेगळ्या जातींच्या सर्व भव्यजीवांना मोक्षमार्ग दाखऊन देणारा असा होत्साता दिव्य ध्वनीनें सर्व समवसरणाला व्याप्त करून पुढें लिहिल्याप्रमार्गे उपदेश कर्क लागला. ३ हे चक्रवर्ती राजा, निर्मल सम्यग्दर्शन, तसेंच पूर्णज्ञान—केवलज्ञान आणि उत्कृष्ट पूर्ण चरित्र हे तीन मिळ्नच मोक्षाचा मार्ग होतो. या शिवाय दुसरा मोक्ष मार्ग नाहीं. तसेंच हे तीन वेगवेगले ही मोक्ष प्राप्त करून घेणाच्या प्राण्यांना मुक्तीचा मार्ग होऊं शक्त नाहींत. ४ जीवादिक

जीवाजीवी पुण्यपापासवाश्च प्रोक्ताः सावः संवरो निर्जरा च ॥ वंधो मोक्षश्चेति लोके जिनेंद्रैरिन्द्राभ्यच्यः सन्नवैते पदार्थाः ॥ ५॥ जीवास्तेषु द्विप्रकारेण भिन्नाः संसारस्था निर्वतश्चिति तेषां ॥ स्यात्सामान्यं लक्षणं चोपयोगः सोऽपि द्वष्टाष्टार्धभेदैर्विभक्तः ॥ ॥ संसारस्थास्ते त्वनेकप्रकारा नानायोनिस्थानगत्यादिभेदैः ॥ उक्ता नानादुःखदावे दुरन्ते जन्मारण्येऽनादिकालं अमन्तः ॥ ॥ गत्यक्षाणां स्थानभेदेन देषं सौख्यं दुःखं सर्वलोकत्रयेऽपि ॥ भावरेभिः किर्त्यते वीतरागः प्राप्तोतिति व्यक्तमात्मा जिनेंद्रैः॥ ॥ भावाः पंच क्षायिकाद्यादयः स्युर्जीवस्थाहुस्तत्विमत्याप्तत्वाः ॥ भदास्तेषां द्रौ नवाष्टादशापि प्रोक्ताः सैकार्विद्यातिश्च त्रयोऽपि ॥ ९॥ भदास्तेषां द्रौ नवाष्टादशापि प्रोक्ताः सैकार्विद्यातिश्च त्रयोऽपि ॥ ९॥

सात नत्वाधर श्रद्धा करणे यास सम्यग्दर्शन झणतात. व या साततत्वांचे निश्रयाने ज्ञान करून घेणें हें सम्यग्ज्ञान होय अर्थात् वस्तु ज्ञी आहे तसेच जाणेंग यास सम्यन्जान ह्मणतात, पदार्थीचा निश्चय कर्रे ह्मणजे पदार्थ उछट न जाणणें, कमी अधिक न जाणणें, संशयरूप न जाणणें यास सम्यजान ह्मणतात. संपूर्ण परिग्रहापासून विरक्त असणें यास सम्यक्चारित्र ह्मणांचे. ५ ज्यांची इंद्रपूजा करितात असे सर्वीचे हित करणाऱ्या जिनेम्बरांनीं जीव, अजीव, आस्नव, वंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप, व पुण्य असे नड पदार्थ सौगितले आहेत. ६ या सात तत्वामध्यें जीव या तत्व चे संसारी व मुक्त असे दोन भेद आहेत. कर्मसाहित जीवांना संसारी व कर्मरहित जीवांना मुक्त असे म्हणतात. यांचे सामान्य छक्षण उपयोग-ज्ञान व दर्शन हैं आहे. या उपयोगांचे जानोपयोग व दर्शनोपयोग असे दोन भेद आहेत. पुन. ज्ञानोपयोगाचे आठ व दर्शनोपयोगाचे चार भेद आहेत. ७ संसारी जीव योनि, स्थान, गति या अनेक भेदांनीं अनेक प्रकारचे आहेत. अनेक तन्हेचा दु:खरूपी अग्नि ज्यांत पेटलेला आहे व ज्याचा शेवट दु:खदायक आहे अशा जन्मरूपी अरण्यांत हे संसारी जीव अनादिकालापासून भ्रमण करीत आहेत असे परमागमांत सांगितळें आहे. ८ गति, इद्रियें, चौदा जीवसमास व औदायिकादि पांच भाव यांच्या द्वारें या सर्व जैलोक्यांत हा ससारी जीव सुख व दु:ख यांना प्राप्ता होत आहे असे वीतराग जिनेश्वर स्पष्ट सांगतात.

सम्यक्तं स्यात्सच्चिरत्रं स चाद्यो भेदस्ताभ्यां क्षायिकस्यापि सार्द्धं ज्ञानं लाभो दर्शनं भोगवीयौं ज्ञया दानं चोपभोगश्च भेदाः ॥१०॥ अज्ञानानि त्रीणि चत्वारि सद्भिः संज्ञानानि त्रीण्यथो दर्शनानि॥ मिश्रस्योक्ता लब्धयः पंच सार्द्धं ताभ्यां भेदाः संयतास्यतश्च॥११॥ अज्ञानं च त्रीणि लिंगानि लेश्यापद्धं मिध्यादर्शनासंयतौ च ॥ चत्वारश्च स्युः कषायास्त्विसद्धोऽप्यष्टार्धेते भव्य! तुर्यस्य भेदाः ॥१२॥ जीवत्वं चाभव्यता भव्यता च प्रोक्ता भेदाः पंचमस्य त्रयोऽि ॥ षष्ठश्चान्यः संनिपातोद्भवः षद्त्रिंशद्भेदांस्तस्य च प्राहुरार्थाः ॥१३॥ तुल्याः सर्वे निर्वृताः संप्रणीताः सम्यक्त्वाद्येरक्षयेः सद्गुणैस्ते ॥ उत्तीर्याप्ता दुस्तरं ये भवार्विं त्रेलोक्यां निष्ठितार्थाः प्रतिष्ठां॥१४॥ उत्तीर्याप्ता दुस्तरं ये भवार्विं त्रेलोक्यां निष्ठितार्थाः प्रतिष्ठां॥१४॥

९ ज्यांनीं तत्वांचा निश्चय केला आहे अशा जिनेश्वरांनीं औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदियिक व पारिणामिक असे पांच भाव हे जीवाचे स्वतत्व आहेत असें सांगितलें आहे. या भावांचे पोटभेद ऋगनें दोन, नऊ, आठरा एक-वीस व तीन आहेत असे सांगितलें आहे. कर्माचा उपशम झाल्यानें जीवाचे जे निर्मल परिणाम होतात त्यास औपशामिक भाव म्हणतात, कर्माचा अत्यंत श्रय झाल्यानें जे भाव होतात ते क्षायिक होत. गहूळ व स्वच्छ अशा मिश्रित पाण्या-प्रमाणें होणाऱ्या भावाला क्षायोपश्चामिक भाव म्हणावें. कर्मोद्यांने उत्पन्न होणारे औदायिक परिणाम होत. ज्यांना कर्मीचा उदय, उपशम, क्षयः व क्षयोपशम यांची अपेक्षा न लागतां आत्म्यामध्यें अनादिकालापासून असणाऱ्या भावास पारिणामिक भाव म्हणतात. याप्रमाणे यांचे स्वरूप समजावें. १० पहिल्या औपशमिकभावाचे सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित असे दोन भेद आहेत. अनंतानुवंधी कषाय व दर्शन मोहनीय यांचा उपश्म झाल्यानें औपशामिक सम्यग्दर्शन होतें. चारित्रमोहनीयाचे २१ मेद आहेत.त्यांचा पूर्ण उपश्म झाळा असतां औपशमिकचारित्र होतें. क्षायिक भावाचे क्षायिक सम्यग्दर्शन,क्षायिक चारित्र,केवलज्ञान. केवलदर्शन,दान,लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य असे नज भेद आहेत. सम्यग्दर्शन, व चारित्र हे दोन भाव दर्शनमोहनीय व चरित्र मोहनीय यांचा क्षय झाल्यांने प्रगट होतात. ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणी य या दोन कर्मीचा क्षय झाला ह्मणजे क्रमानें केवलज्ञान व दर्शन हे पाप्त होतात.

धर्माधर्मी पुद्रलाकाशकालाः सद्भिः प्रोक्ता इत्यजीवास्त्वर्थेते॥ तेषां मध्ये रूपिणः पुद्रलाः स्युः कालं मुक्ता तेऽस्तिकायाः सजीवाः॥१५॥

कर्ता जीवः षर्मु नान्ये प्रदेशैर्धमीधर्मावेकजीवेन तुल्यो ॥ वासंख्येयैः स्यादनंतप्रदेशं लोकालोकव्यापकं व्योम नाम ॥ १६ ॥ धर्माधर्मी प्राणभृतपुद्गलानां यानस्थानोपष्रहो लोकमात्रो ॥ कालो देधा वर्तनालक्षणश्च स्यादाकाशं चावकाशोपकारि ॥ १७ ॥ रूपस्पर्शी वर्णगंधौ रसश्च स्थौल्यं भेदः सौक्ष्म्यसंस्थानशब्दाः ॥ छायोद्योतावानपश्चान्धकारं वंधोऽप्येते पुद्गलानांगुणाःस्युः॥ १८ ॥ स्कंधाः प्रोक्ता द्रयाद्यनंतप्रदेशैः संयुक्तास्ते स्यादणुश्चाप्रदेशः ॥ उत्पद्यंते भेदसंघातकाभ्यां स्कंधाः सर्वे जायतेऽणुश्च भेदात् ॥ १९ ॥

वाकीचे उरलेले अर्थात् दान, लाभ,भोग, उपभोग व बीर्य हे भाव अन्तराय कर्माचा क्षय झाला असतां प्राप्त होतात. ११ कुमति, कुश्रुति व विभेगावधि यास अज्ञान ह्मणताते मिथ्यात्वाच्या उद्यासाहित मतिश्रुत व अवधि ज्ञानावरणीय या कर्मांचा क्षयोपश्रुझाळा ह्मणजे हे तीन भाव जीवास लाभतात. माति,श्रुति,अवधि, आणि मनःपर्यय हीं चार जानें त्या त्या ज्ञानावरण कर्माच्या क्षयोपशमाने प्राप्त होतात. चक्षदर्शन, अचुक्षद्शिन आणि अवधिदर्शन ही दर्शनें त्या त्या दर्शनावरण कर्मीचा क्षयोपश्चम झाल्यानें प्रगट होतात. दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य हे अंतराय कर्मक्षयोपशामानें जीवाला मिळतात. सम्यग्दर्शन हें द्रीनमोह कर्माचा क्षयोपशमझाल्यानें व चारित्र चारित्रमोह कर्माचा क्षयो-पशम झाल्यानें प्राप्त होतें. संयतासंयत हें अनतानुवांधि व अप्रत्याख्यान यांचा क्षय (उदयभावी) उपशम व प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन आणि नोक्षपाय यांचा उदय या कारणांनीं प्राप्त होतें. १२ अज्ञान-ज्ञान न होणें हें ज्ञानावरणीय कर्मोद्याने होतें. स्त्रीलिंग, पुर्छिग, नपुंसकालिंग ही तीन लिंगें जीवाला स्त्रीवेट, पुरुषवेट व नपुंसकवेद यांच्या उदयानें होतात. यास भावालिंग हाणतात. अंगोपांग नामकर्माच्या उदयाने जीवाला स्त्रीचा, पुरुषाचा व नपुंसकाचा आकार शरीरामध्ये प्राप्त होतो त्यास द्रव्यिंछंग ह्मणतात. कृष्ण, नील कापोत, पीत पद्म व या सहा छेज्या होत. कषायांच्या उदयानें मन, वचन व शरीर

चलनवलन होणें हें लेक्यांचें लक्षण आहे. मिथ्यादर्जन, मिथ्यात्वकमिंच्या उदयामुळें प्राप्त होतें क्रोध, मान, भाया व लोभ हे चार कपाय त्या त्या
कपायांच्या उदयानें होतात. देवगति, मनुष्यगित, तिर्यचगित. आणि नरकगित
या चार गित त्या त्या नामकर्मोद्यांनं होतात. जसें देवगित देवगित नाम कर्मीद्यांनं, याचप्रमाणें इतर्मसमजाव्यात. असिद्धत्व-सिद्ध न होणें, मोक्ष प्राप्त न होणें. हैं
सर्व कर्मांच्या उदयानं होतें. १३ परिणामिक भावाचें भव्यत्व, अभव्यत्व व
जीवत्व असे तीन भेद आहेत. ज्या शक्तीच्या निमित्तानें आत्म्यामध्यें सम्यग्दर्शन
सम्यग्जान व चरित प्रगट होण्याची योग्यता असते त्यास भव्यत्व ह्मणतात. ज्या
शक्तीच्या निमित्ताने हे गुण प्रगट होण्याची योग्यता नसते त्यास अभव्यत्व
ह्मणतात. जीवत्व-ज्या शक्तीच्या निमित्तानें आत्मा प्राण धारण करितो त्या
शक्तीस जीवत्व ह्मणतात. सहावा सांनिपातिक नांवाचा भाव आहे. त्याचे ३६
भेद आहेत असें सत्पुरुप सांगतात.

१४ सर्व मुक्तजीव सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान वंगरे अविनाशी गुणांनीं समान-च आहेत. हे मुक्तजीव दुस्तर संसार सागरांतून तरून कुतकृत्य झाले व तेलो-क्याच्या अग्रभागावर अर्थात् सिद्धशिलेवर स्थिर झाले आहेत. १५ धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्रल हे पदार्थ अजीव आहेत अर्थात् यांत ज्ञान दर्शन हे गुण नाहींत. या पांच द्रव्यामध्यें पुद्गल हैं रूपीद्रव्य आहे. अर्थात स्पर्श, रस, गंध, वर्ण या गुणांनीं तें युक्त आहे. काल द्रव्याला सोडून व जीवासहित हीं चार द्रव्यें अस्ति-काय आहेत. जसे शरीरामध्यें हातपाय वगैरे पुष्कळ अवयव असतात तसे काल वर्जित या पांच द्रव्यामध्यें पुष्कळ प्रदेश आहेत म्हणून यांना काय म्हणतात व अनादिकालापासून अनंत कालापर्यंत हे असतातच म्हणून यांना आस्त म्हणतात. काल हा नुसता आस्त आहे म्हणजे सदोदित राहणारा आहे, परंतु तो बहुप्रदेशी नाहीं. त्याला एकच प्रदेश आहे. हें एक प्रदेशात्मक द्रव्य आहे. यास्तव त्याला काय म्हणतां येत नाहीं. १६ या सहा द्रव्यापैकीं फक्त, जीवच कर्ता आहे अर्थात् तोच पाप व पुण्य करितो आणि त्याचें फल भोगतो. इतर द्रव्यामध्यें तीं अचेतन असल्यामुळें कर्तृत्व नसतें. एकजीव द्रव्याचे जसे असं-ख्यात प्रदेश आहेत तसेंच धर्व अपर्म या द्रव्यांचेंही असंख्यात प्रदेश आहेत. पुद्रल द्रव्याचे संख्यात, असंख्यात व अनंत प्रदेश आहेत. आकाश अनंत प्रदेशांनीं युक्त आहे व लोक आणि अलोक यांमध्यें तें व्यापून राहिलें आहे. १७ धर्म व अधर्म द्रव्य हीं दोन द्रव्यें जीव व पुद्रल यांना गति व स्थिती करण्यास मदत करितात.

कर्मागानि स्वांतवाणीविचेष्टाः प्राणापानौ जीविताजीविते च ॥ सीरुयंदुःखं चापि निर्वर्तयान्ति स्कंधाजन्तोर्मज्जतो जन्मवाद्धौ ।२०। कायालापस्वांतकर्मेंकयोगो यः सर्वेज्ञरास्रवः स प्रणीतः ॥ द्वी तस्योक्तो पुण्यपापावहत्वाद्भेदौ स्यातां तो शुभश्राशुभश्र ॥२९॥ उक्तो तस्य द्वावधीशो कपायैः संयुक्तश्रासंयुतश्रोति जैनैः ॥ आद्यस्यासौ संपरायस्य भर्ता स्यादन्यस्य व्यक्तमीर्यापथाय॥२२॥ ये क्रोधाद्यैरिद्रयाण्यव्रतानि ज्ञेया विद्धिः पूर्वभेदाः क्रियाश्र ॥ चत्वारः स्युः पंच पंच प्रभेदात्तेषां युक्ता पंचिमिर्विशतिश्र ॥ २३॥

जसें लंगड्यास काटी चालण्यास मद्त करिते तसे धर्मद्रव्य जीव व पुद्रलासू गमन करण्यास मदत करिते. खुर्ची जशी वसण्याला मदत करिते तसे अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलांस स्थिर होण्यास मदत करितें. ही धर्म व अधर्म द्रव्यें लोकाकाश-प्रमाणे आहेत. अर्थात् जेवढे लोकाकाश आहे तेवढींच हीं द्रव्ये आहेत. कालद्रव्य दोन प्रकारचें - निश्चयकाल व व्यवहार काल अज्ञा प्रकारचे आहे. द्रव्यामध्यें होणा वा नवीन जुन्या वरेंगेरे पर्यायांच्या उत्पत्तीस निश्चय काल मदत करितो. निश्चय कालाशिवाय ह्या पर्यायांची उत्पत्ति होत नाहीं. घटका, तास वगैरे व्यवहारकाल हे।य. आकाश द्रव्य हें जीवादिक द्रव्यांना जागा देणारें आहे. १८ पुद्रस्रामध्यें, रूप-रंग, स्पर्श, रस, गंध, स्थूलपणा भेद-तुकडे होणें, पीठ होणें, सूक्ष्मपणा, संरथान-तिकोण, चतुष्कोण वगैरे आकृति, छाया-सावछी, उद्योत चंद्रासारला पंड मकाग, आतप-उप्ण मकाश, अधार व वंध-दोन पदार्थ एकत भिसळणें हे गुण आहेत. १९ टोन, तीन, चार वगैरे संख्यात, असंख्यात, अनंत पदेशांनी स्कंधयुक्त असतात व अणुमध्यें एकच प्रदेश असतो. या शिवाय याला दुसरा प्रदेश नसतो स्णून यास अपदेशी ह्मणतात. स्कंध भेद व संघात यापासून उत्पन्न होतात. मोटा स्कंध फुटणे यास भेद झणतात. हा स्कंध फुट्टन टोन परमाणु पर्यंत याचे अनेक लहान लहान स्कंध होऊं शकतात दोन आदि प्रमाण एक रूप होंग यास संघात द्याणतात. अणु हा भेटापासून उत्पन्न होतो अर्थात स्कथ फुट्टन तो झणुका-च्या अवस्थिपीयत आल्यावर तेही विभक्त झाले असतां अणु वनतो २० या पुद्रल स्कंधापामून ज्ञानावरणादिक आठ कमें, औटारिक, वैक्रियिक वगैरे पांच प्रकारचीं शरीरें, मने, वचन प्रवृत्ति अर्थात् भाषां, श्वासोङ्कांम, जगणे व मरणें, सुख आणि दुःख है प्रकार या जीवाला संसार-सबुद्रांत भाग होनात.

तीव्रातीव्रज्ञातिविज्ञातभावद्रव्योद्धेकैस्ताद्धशेषोऽवगम्यः॥
द्रव्यं विद्यात्साधनं द्विप्रकारं जीवाजीवौ तद्धदन्त्यागमज्ञाः॥२४॥
संरंभाद्यैरिन्वतोऽष्टातिरिकं कोधाद्येश्च स्याच्छतं पूर्वभेदाः॥
सेका पंक्तिर्यः स निर्वतनाद्येश्चको भेदश्चेतरस्य प्रणीतः॥२५॥
स्यानमात्सर्य चांतरायप्रदोषौ निन्हुत्यामा सादनं चोपधातः॥
इत्यात्मज्ञेरास्रवो देहभाजां ज्ञानस्योक्तो दर्शनस्यावृतेश्च॥२६॥

२१ शरीर, भाषण आणि मन यांच्या हारें आत्म्याच्या प्रदेशामध्यें चंचलता उत्पन्न होण यास सर्वज आनव म्हणतात. या आस्रवाचे ग्रुभास्रव व अग्रुभास्रव असे दोन भेद आहेत. ज्ञुभाम्जवापासून पुण्य कर्म जीवाच्या ठिकाणीं येतें. व अशुभास्त्रवापासून पाप कर्म येते. अशुभ क्रिया, अशुभ भाषण व अशुभ विचार यापासून दुःख देणारे कर्ष आणि याच्याविरुद्ध क्रिया, भाषण व विचार थांनीं सुखदायक कर्म जीवाच्या टिकाणीं येतें. २२ या योगाचे दोन स्वामी आहेत असें गणधरांनीं सांगितलें आहे. एक सकपाय व दुसरा अकषाय. क्रोधादि कषायांनीं युक्त अशा जीवाला सांपगयिक आस्त्रव-ससार वाढविणारे आस्त्रव येतात व कषाय-रहित जीवाला ज्याचे कपाय द्वले आहेत किंवा क्षय पावले आहेत अशा जीवाला ईर्यापथ कर्माचे आस्रव येतात अर्थात् या कर्माच्या येण्याने या जीवाला सुख दुःख भोगण्याचा प्रसंग येत नाही. कारण नुसत्या-कपायसहित नसंछल्या परिणामा-पासून कर्मवध फलरहितच उत्पन्न होतो. वाललेल्या भिर्तावर फेंकलेला दगड तेथे न चिकटतां खालीं पडतो त्याप्रमाणें कर्म येतें व जातें. पण फल देत नाहीं. त्या-प्रमाण कपायरहित जीवाला नुसत्या योगार्ने कर्माचे आकर्षणच होते पण त्याला स्थिरपणा येत नसल्यामुलें तें फल देत नाहीं. २३ सांपरायिक आस्त्रवाचे क्रोधादिक चार कपाय, पांच इद्रियें, हिंसादिक पांच अविनित व पंचवीस क्रिया असे भेद आहेत. २४ सांपरायिक आस्त्रवाचे तीव्र परिणाम, मंद परिणाम, जाणून बुजून एखादें कार्य करण, असावधानपणा, अज्ञाना आत्म्याची व देहाची शाक्ति इत्यादिकांनीं या सांपरायिक आस्त्रवामध्यें फरक पडते। अर्थात् जें कर्म येतें त्याची कमी जास्ती स्थिति होऊन त्यापासून सुखदुःखादि फलें कमी जास्ती आत्म्याला भोगावीं लागतात. जीव आणि अजीव हीं दोन द्रव्यें या आस्त्रवाचे अधिकरण आहेत, असें आगमांत गणधरादिक मुनीश्वर म्हणतात. २५ जीवाधिकाराचें सरम, समारंभ. दुःखं शोकाकंदने देहभाजां तापो हिंसादेवनं पर्युपेतं ॥ एतान्यात्मान्योभयस्थानि चासद्वेद्यस्याहुः कारणान्यास्रवस्य॥२०॥ कृत्स्ने भूते चानुकंपा व्रताब्धे दानं साधं सानुरागादिना च ॥ योगः श्रांतिः शौचिमत्येवम।दिः सद्वेद्यस्याप्यास्रवस्य प्रभेदाः ॥२८॥ संघो धर्मः केवली च श्रुतं यत्सर्वज्ञोक्तं नाकिनश्चाप्यमीपां ॥ सार्वेरुक्तो वर्णवादो यतीन्द्रैहेंतुर्जन्तोईष्टिमोहास्रवस्य ॥ २९॥

आरंभः कृतः, करित अनुपोदनः, मनोयोगः वचनयोगः काययोग तसेंच क्रोयः, मान मायाः लोभ या सर्वाचे सामान्य रूपाने १०८ एकर्गे आठ भेट होतात हिंसा वगैरे कार्यामध्यें प्रमत्त वनून प्रयत्न करण संग्भ होय. समारंभ-हिंसादिक करण्याची इत्यारें, काट्या वगैरे सामग्री जुळविण व आरंभ- कार्याला सुरुवान कर्णे. कृत-स्वतः करणें, कारित-दुसऱ्याकहन करविणें, अनुमोदन-कोणी करीत असेछ तर त्यास आपला दुजोरा देणें-जसें क्रोधयुक्त होऊन स्वतः शरीराच्या द्वारें हिंसादिक कार्य करण्यामध्ये उत्साहयुक्त होणे हा पहिला भेट. उन्साहयुक्त करणे हा दुसरा भेद व उत्सादयुक्ताला स्वत ची सम्मतिदेणें हातिसरा भेद अशा रीतीनें गुणाकार रूपानें १०८ भेद होतात. उत्तर भेद पुन: ४३२ चार्कें वत्तीस ही होतात. हे सर्व जीवाधिकारणाचे भेद आहेत. अजीवाधिकरणाचे निर्वर्तना, निक्षेप. संयोग, निसर्ग अशा रीतीनें अकरा प्रकार होतात ( यांचें विशेष स्वरूप तत्वार्थ सूत्रांत पाहावें ) २६ मात्सर्य. अंतराय. प्रदोष. निन्ह्व. आसादन व उपयात अजा कृत्यांनी आत्म्याला जानावरण व दर्शनावरण कर्माचे आस्रव आत्म्याचें स्वरूप जाणणाऱ्या केवलींनीं सांगितर्के आहे. मात्सर्य-कांहीं कारणामुळें शिकविण्यां योग्य देखिल ज्ञान न शिकविणें. अंतराय उच्छेद करणें अर्थात् ज्ञानाची साधनें नाहींशीं करणें. उपघात चांगल्या ज्ञानाछा ह अज्ञानच आहे किंवा हे ज्ञान अयोग्य आहे असे समजून त्याचा नायनाट-क्र्ण्याच्या अभिप्रायाला पटोप हाणतान निन्हच-कांहीं कारणामुळे माझ्याजवळ तें पुस्तक नाहीं. मला तें वस्तुस्वरूप माहीत नाहीं असे माहीत असताही ह्मणणें वगैरे, पदोप-मोक्षाला साधन असल्ल्या ज्ञानाची प्रशंसा चालली असतां आपण दुष्टाभिप्रायाने प्रगंसान् करणे. आसादन -दुसरा कोणी ज्ञान प्रसार करीत असल्यास आतांच तुर्ह्मी हैं कार्य करू नका पुढ़ें पाइतां यहूळ वगैरे सांगृन शरीर आणि वचनानें त्यांचा निषेध करणें हीं ज्ञानसंवधीं असल्यास ज्ञानावरणाचे आस्त्रव येतात. दर्श-नासंवंधीं असल्यास दर्शनावर्ण कर्माचे आसव येतात.

तीनः परं यः परिणामभेदो भनेत्कषायोदयतः स बाढं ॥
चारित्रमोहास्रवहेतुरुक्तो जीवस्य जीवादिपदार्थविद्धिः ॥ ३० ॥
उत्पादनं स्वस्य परस्य चार्तः कषायजातं यातिदूषणं वा ॥
संक्विष्टितंगनताधारणादिः कषायवेद्यास्वकारणं स्यात् ॥ ३१ ॥
दीनातिहासो बहुविप्रलापः प्रहासर्शालत्वसुशन्ति नित्यं ॥
धर्मोपहासादिकमध्युदाराः सुहास्यवेद्यास्रवकारणानि ॥ ३२ ॥
कीडासु चित्रासु च तत्परत्वं शिलेष्वरुच्यादिरिप व्रतेषु ॥
उरांति संतो रतिवेदनीयास्रवस्य हेतुं तनुभूषणानां ॥ ३३ ॥

वेदनीय कर्माचे दोन भेद आहेत एक सातावेदनीय व दुसरा असतावेदनीय ज्या पासून जीवाला संसार। वस्थेंत सुख मिळतें तें सातावेदनीय कर्म होय व ज्या पासून दृःख भिळतें तें असातावेदनीय कर्म होय. असातावेदनीय कर्माचे आस्त्रव ज्या कारणांनीं आत्म्याच्या ठिकाणीं येतात तीं कारणें अशी:--दु:ख-पीडा उत्पन्न करण्याचे विचार नेहमीं करणे, शोक- उपकार करणाऱ्या व्यक्तीच्या वियोगाने मनांत खेद वाटणे. आक्रंदनः—दुःखाने अश्रुपात करणें, रडणें. ताप निंदा, अपनान इत्यादि झाल्यामुळें दुःख होणें. हिंसा-आयुष्य, पांच इंद्रियें, मनोबल, वचनवल व कायवल आणि श्वासोच्छ्वास यांचा नाश करणें. अर्थात् प्राण्यांच्या किंवा स्वतःच्या या प्राणांचा नाश करणे ही हिंसा होय. परिदेवन संक्केश परिणामांनीं युक्त, गुण स्मरण व त्यांच्या वर्णनानें सहित, ज्याच्यांत उपकारा-चें वर्णन आहे असें दया उत्पन्न करणारें जें रडणें त्यास परिवेदन झणतात. हीं कारणें स्वतःमध्यें, अन्य व्यक्तीमध्यें व दोघांच्याही ठिकाणीं उत्पन्न केलीं असतां असाता वेदनीय कर्मीचे आस्त्रव येतात. २८ सपूर्ण प्राण्यावर दया करणें, व्रती लोकावर अर्थात् श्रावक आणि मुनि, आर्यिका व श्राविका या चार संघावर दया करणें, यांना दान देणें तसेंच इतरांना करुणाचुद्धीनें दान देणें, संसाराचीं कारणें जीं मिथ्यादर्शन अविरती वगैरे आहेत त्यांच्यापापून वेगळे होण्याचे उत्कृष्ट परिणाम असणे, प्राण्यांची हिंसा न करणें व इंद्रियें ताव्यांत ठेवणें, श्रावक धर्म चांगल्या रीतीनें पाळणे, मन वचन व शरीराची प्रवृत्ति-क्रिया निर्देश, डेवणें, क्षमा धारण करणें, छोभाचे जितके प्रकार आहेत तितक्यांचा त्याग करणें. रति शिनाशनमन्यजनारितप्रकटनादिकम। हुर्रानेंदिताः ॥ अरितवेद्यधनास्रवकारणं दुरितशीलजनैः सह संगतिं ॥ ३४॥ यो मूकभावो घनमात्मशोकः परस्य शोकश्चित निंदनादिः ॥ स शोकवेद्यास्रवकारणं स्यादित्याहुराशि विदिताखिलार्थाः ॥३५॥

वगेरे साता वेदनीय कर्माचीं कारण आहत. अहताची पूजा करणे, तपस्विजनांची सेवा शुश्रुपा करणें वगैरे ही साता वेढनीय कर्माचीं कारणें २९ संघ, जिनधर्म, केवली अरहंत, व जैनशास्त्र व देव यांच्या ठिकाणी नसत्या दोपांचें आगोपण करणे यास अवर्णवाद ह्मणतात अर्थात् यांच्या शुद्ध स्वरूपाचें वर्णन न करितां तें सदोप रीतीनं वर्णन केल्यापासून दर्शन मोहनीय कमीचें आस्रव येतात असे सर्वाचे हित करणाऱ्या मुनीश्वरांनीं सांगितले आहे केवली भगवान् आपली भूक पिटावी ह्मणून भोजन करतात. शास्त्रांत मांस खावयास सांगितलें आहे असे हाणणें, संघ हा घाणेरडा व शूद्रासारखा आहे असे हाणणें, जिनधर्मे सदोप असून त्या धर्माचें आचरण करणारे लोक असुर होतील वोलणें, देव मांस खातात, टारू पितात वर्गरे ह्मणणें हें ऋमानें केवली वगैरेचे अवर्णवाद आहेत. २० कोध, मान, माया, लोभ या कपायांच्या तीव उदयाने जे आत्म्याचे संक्षेत्रयुक्त परिणाम होतात त्यापासून चारित्र घोहनीय कर्माचे आस्रव जीवाला येतात अने जीवादि पदार्थीचे णारे मुनीश्वर ह्मणतात. ३१ स्वतःला व इतरांनाही दुःख देणें, क्रोधादिक उत्पन्न करणें, मुनींना दोप लावणें, संक्रिश परिणामांनी दीक्षा घेणे, त्रतधारण करणें ही चारित्र मोहनीय कर्माचीं कारणें होत. ३२ गरीवांची थट्टा करणें, असंबंद्ध भाषण करणें. नेहमी यट्टा करणें, धर्माचरणाची यट्टा करणें यापासून हास्यकर्माचे आसव येतात असे मुनीवर ह्मणतात. ३३ नाना प्रकारच्या क्रीडा करण्यामध्ये तत्पर असणें, ब्रतं व शील यामध्ये प्रेम नसणें, यापासून रातिवेदनीय कर्माचे आम्रव येतात.

२४ दुस-यांच्या अंतःकरणात द्वेप उत्पन्न करणे; प्रेमाचा नाश-करणें. पाप करण्यांत नेहर्मा तत्पर असल्टेन्या लोकांशीं सोवत करणें ही कृत्यें अरितेवेदनीय वर्माच्या तीव्र असवाला कारण आहेत, ३५ दुसरा शोक करीत असल्यास त्याचा शोक नार्दामा न करता आपण स्वस्थ वसणें, स्वत. शोक करणें, दुस-या- अथ भयपरिणामः स्वस्य चान्यस्य नित्यं भयविसरविधायी भीति वैद्याम्बदस्य ॥

भवति खलु निमित्तं कारणस्यानुरूपं जगति ननु कथंचिदृश्यते कार्यमार्थैः॥ ३६॥

साधिकयाचारिवधौ जुगुप्सा परापवादोद्यतशिलतादिः॥
निमित्तमाहुर्यतयो जुगुप्सावेद्यास्रवस्यास्रवदोषहिनाः॥ ३७॥
असत्यवादित्वरतिं च नित्यं परातिसंधानपरत्वमेकं॥
प्रश्रद्धरागादिमपीरयन्ति स्त्रीवेदनीयास्रवहेतुमार्याः॥ ३८॥
अर्गवता स्तोककषायता च स्वदारसंतोषग्रणादिरीशैः॥
सतां परिज्ञातसमस्ततत्वैः पुंवेदनीयास्रवहेतुरुक्तः॥ ३९॥
सदा कषायाधिकता परेषां गुद्धोद्रियाणां व्यपरोपणं च॥
प्राहुः परस्त्रीगमनादिकं च तृतीयवेद्यास्रवहेतुमार्थाः॥ ४०॥

च्या शोकाच्या गोष्टी ऐकण्यांत आनंद मानणें, निंदा करणें हीं सर्व कारणें शोक वेदनीय कर्मांचीं आहेत असें सर्व तत्वांना जाणणारे विद्वान झणतात ३६ स्वतःचे परिणाम नेहमीं भययुक्त असणें, दुसऱ्याला नेहमीं भय दाखिवणें या कारणांनीं भय उत्पन्न करणारें भीति वेदनीय कर्म उत्पन्न होतें. या जगांत कारणाला अनुसक्त योग्य असेंच कार्य कथांचित् असूं शकतें असें विद्वान ऋषि झणतात. ३७ मुनींच्या धार्मिक क्रियामध्यें तिटकारा असणें, दुसऱ्याची निंदा करण्यांत, त्याला अतिशय तुच्छ लेखण्यांत नेहमीं तत्पर असणें या गोष्टी आसवात्या दोषापासून अलिश असलेले मुनीश्वर जुगुप्सा वेदनीय कर्माख्वास कारण आहेत असें झणतात ३८ नेहमीं असलेय बोलण्यांत प्रेम असणें, नेहमीं दुसऱ्यांना फसविण्यांत तल्लीन असणें, रागहे-पादि विकार वाढत्या प्रमाणांत असणें. हीं सर्व कारणें ख्रीवेदनीय कर्माच्या आल-वाला कारण आहेत असें आर्थ-श्रेष्ठ लोक म्हणतात. ३९ गर्व न करणें, कपाय मंद असणें, स्वस्तीमध्यें संतोष ठेवणें, यांनीं पुरुष वेदनीय कर्माचे आसव येतात असें सर्व तत्व जाणणारे व सत्पुरुषांचे पुढारी असलेले श्रीजिनेश्वर म्हणतात. ४० नेहमीं कपाय अधिक असणें, दुसऱ्यांचीं गुहोंद्रियें कापून काढणें, परस्तीगमन करणें, दुसऱ्याची स्त्री उपटून आणणें वगैरे नपुंसक वेदनीयाची कारणें आहेत.

बह्वारंभपरिग्रहत्वमसमं हिंसाक्रियोत्पादनं ॥
रोद्रध्यानमृतिः परस्वहरणं कृष्णा च लेक्या परा ॥
गार्थक्यं विषयेषु तीव्रमुदितः स्यान्नारकस्यायुषः ॥
सार्वेरास्रवहेतुरित्यविकलज्ञानेक्षणेः प्राणिनां ॥ ४१ ॥
मायाथास्रवहेतुरित्यभिहिता तिर्थग्गतेरायुपस्तद्धेदाः परवंचनाय
पद्यता निःशीलता केवलं ॥

मिथ्यात्वाहितधर्मदेशनरतिध्यानं तथार्तं मृतौ लेश्ये दे विदुषां वरै-स्तनुमतां नीला च कापोतकी ॥ ४२॥

अल्पारंभपरित्रहत्वमुदितं मर्त्यायुषः कारणं ॥ तद्व्यासोऽल्पकषायता च मरणे संक्लेशतादिः परं ॥ भद्रत्वं प्रगुणाकियाव्यवहातिः स्वाभाविकः प्रश्रयः ॥ स्यादन्यापि परा स्वभावमृदुता शीलव्रतेरुन्नता ॥ ४३॥

असे अर्थ म्हणतात. ४१ ज्यामध्यें पुष्कळ हिंसा होते अशी शेतकी, जद्योग धंदे, युद्ध वगैरे क्रत्यें करणें, परिग्रह अतिशय वाढिवणें, हिंसेचीं कामें करिवणें रोद्रध्यानानें मरण पावणें, दुसऱ्याचें धन हरण करणें, जत्कुष्ट कृष्णलेक्या असणें, पचेंद्रियांच्या विषयामध्ये अतिशय हाव असणें हीं प्राण्यांना नरकायूच्या आस्त्रवाची कारणें आहेत असें निर्मल ज्ञानरूपी नेत्रांनीं युक्त असलेले व सर्वीचें हित करणारें केवली भगवान ह्मणतात. ४२ कपट करणें हें तिर्धचाच्या आयुष्याचें कारण आहे. याचप्रमाणें दुसऱ्यास कसविण्यांत प्रवीण असणें, व्रतें व शील न पालणें, पिथ्यात्वानें युक्त अशा धर्माचा जपदेश देण्यांत प्रेम ठेवणे, आर्तध्यानांत मरण पावणें; नील लेक्या व कापीत लेक्यांनीं मरण पावणें ही प्राण्यांना तिर्धगतीच्या आस्त्रवाला कारण आहेत असें विद्वच्लेष्ट आचार्यादिक ग्राने ह्मणतात.

४२ ज्यामध्यें हिंसा घडते अशीं शेतकीं वगैरे कामें थोडक्या ममाणांत करणें, परिग्रह थोडा ठेवणें हें मनुष्यायुष्याचें कारण आहे. याचाच विस्तार असा कषाय मंद असणें, मरणसमयीं संक्षेत्र परिणाम नसणें अथीत् शांतता ठेवणें, भला स्वभाव असणें किंवा रवत: मिध्यात्वी असूनही जिन्धमीचा द्वेष नकरणें, लोकांशीं निष्कपट व्यवहार ठेवणें, स्वाभाविक विनय गुण असणें, शील व व्रतांनीं वदंति दैवस्य सरागसंयमं सुसंयमासंयममायुषो ब्रधाः॥
तपश्च बालं त्वनभीष्टिनिर्जरां परं च सम्यक्त्वसुदारकारणं॥ ४४॥
निगदन्त्यथ योगवक्रभ्यं प्रतिसंवादनमास्रवस्य नाम्नः॥
अशुभस्य निमित्तमागमज्ञाः शुभनाम्नः खल्ल तद्विपर्ययश्च ॥ ४५॥
सम्यक्त्वशुद्धिर्विनयाधिकत्वं शीलव्रतेष्वव्यभिचारचर्या॥
ज्ञानोपयोगः सततं च शक्त्या त्यागस्तपस्या च परा निकामं॥ ४६॥
संवेगता साधुसमाधिवैयाद्यत्तिक्रियाभ्युद्यतिरादरेण॥
जिनागमाचार्यबहुश्रुतेषु भक्तिश्च वात्सल्यमपि श्रुते च॥ ४७॥
आवश्यकाहानिरुशन्ति मार्गप्रभावना च प्रकटा नितान्तं॥
एतानि चात्यद्भुततीर्थकुत्वनामास्रवस्येति निमित्तमार्याः॥ ४८॥

उन्नत असर्णे हीं मनुष्यायुष्यांचीं कारणें होत. ४४ संसाराला वाढविणाऱ्या मिथ्यात्व, अविरति, कषाय वगैरे कारणांना दूर,करण्याच्या उत्कट भावनेनें प्राणि संयम व इाद्रीयसंयम पाळणें, श्रात्रकांचीं बारा त्रतें पाळणें, वाळतप-ामिथ्यादरीनानें सहित व कायक्केशयुक्त असें तप करणें व अकामनिर्जरा-आपली इच्छा नसतांही आपणावर संकट आले असतां त्या प्रसंगीं शांत परिणाम ठेऊन भूक तहान वगैरे दुःखें सहन करणें हीं देवायूचीं कारणें होत. यामध्यें सम्यक्त्व व सराग संयम आणि संयमासंक्षम हे स्वर्गातील देवत्व प्राप्त करून देणाऱ्या देवा यूला कारण होत व अकाम निर्जरा, बाल तप वगैरे भवनवासी, व्यंतर आणि ज्योतिषवासी या देवामध्यें उत्पन्न करणाऱ्या आयुष्याचीं कारणें होत ४५ मन वचन व शरीराची प्रवृत्ति नेहमीं कपट रूपाची ठेवणें व एखादा प्राणी स्वर्गमोक्षास कारण अशा सत्य आचरणाने वागत असल्यास त्याला त्यापासून भ्रष्ट करून अयोग्य आचरणास सत्य आचरण आहे असे भासऊन त्यामध्ये प्रवृत्त करणें यास विसंवादन ह्मणतात. अशा कारणांनीं अशुभनाम कर्माचे आस्रव येतात व या कारणाच्या उलट प्रद्वात्त ठेवण्याने शुभनाम कर्माचे आस्त्रव येतात. असें शास्त्रज्ञ ह्मणतात. ४६-४८ सम्यग्दर्शन दोषरहित करून धारण करणें, रत्नज्ञय व त्यांचे यांचा आद्रसत्कार धारक करणें, शिंछ व त्रतें हीं निरतीचार पाळणें, नेहमीं ज्ञानाध्ययनांत रत होणें, यथा

गून्याश्रयोद्धस पुरावसितप्रवेशावन्योपरोधकरणं परसाक्षिहेतोः भिक्षात्रशुद्धिस धर्मचरानुवादावेते च चौरिकमहाव्रतपंचदोपाः।५७। स्त्रीरागादिकथ श्रुतेविरमणं तच्चारुतालोकन— त्यागः पूर्वरतोत्सवस्पृतिपरित्यागौ विदासुत्तमैः ॥ वृष्येष्टादिरसस्य वर्जनमपि स्वांगप्रमोदिक्रयाः ॥

प्रायः पंच च भावना निगदिता ब्रह्मबतस्य स्फुटस् ॥ ५८ ॥
मनोहरेष्वप्यमनोहरेषु सर्वेद्रियाणां विषयेषु पंचसु ॥
स्रागविद्रेषविवर्जनं सतामिकंचनत्वस्य च पंच भावनाः ॥ ५९ ॥
हिंसादिषु स्फुटमिहैवपरत्र चापायावद्यदर्शनमनन्यिया निकामं ॥
संसारवासचिकतेन सुभावनीयमंतर्धनं शमवतामिदमेव सारं॥६०॥

पाहण्याचें सोडणें, पूर्वी भोगलेख्या संभोगादि सुखांच्या आठवणी न करणें, कामोत्तेजक व आवडत्या अशा पदार्थाचा त्याग करणें, आपलें शरीर सजविण्याचा त्याग करणें, अशा पांच भावना विद्वच्लेष्टांनी ब्रह्मचर्यव्रताच्या सांगितल्या आहेत. ६० पांच इंद्रियांना आवडणाऱ्या व नावडणाऱ्या अशा वस्तूमध्यें प्रेम व द्वेष न करणें या पांच भावना सत्पुरुषांच्या परिग्रहत्याग व्रतांच्या आहेत. ६० हिंसादिक पांच पापं केल्यापासून इहलोकीं व परलोकीं राजादिकापासून दह भोगावा लागते। व पापवंधही होतो असें स्पष्ट जाणून एकाग्रवुद्धियुक्त व संसारांत फिरण्यापा- सुन भय पावलेल्या पाण्यांनीं या भावनांचें चिंतन करावें. तपस्वी अर्थात् शांति- प्रथान माणसांचें हें अंतरग उत्कृष्ट धन आहे.

६१ संपूर्ण प्राणिमात्रांना दु.ख होऊं नये अशा इच्छेला मैत्री म्हणतात. आपल्यापेक्षां गुणांनीं अधिक असलेल्या लोकांविपयीं मनांत आनंद व आदर मानणें यास प्रमोद म्हणतात. रोगपीडित व दु.खी लोकाविषयी दयाभाव वालगणें व उद्धट अशा मिथ्याद्दाष्टिविपयीं नेहमीं उपेक्षा भाव वालगणें. ह्या चार सामान्य भावना व्रतपालनास योग्य आहेत. व्रतधारकांनीं यांचा विचार करावा. ६२ संसा-रापासून भीति व वराग्य उत्पन्न व्हावें या साठीं जास्त्रांत सांगितल्याप्रमाणें गरी-राचा स्वभाव व जगाची स्थिति नेहभीं आर्य पुरुषांनीं विचारांत घ्यावी. आतां मी वंधाचें स्वरूप संक्षेपानें सांगतों. ६३ मिथ्यात्वपारिणाम, अविरति, प्रमाद, कपाय

सर्वेषु सत्वेषु च भावनीया मैत्री प्रमोदश्च गुणाधिकेषु ॥
कारुण्यमार्तेषु च दुः खितेषु सदाऽविनेयेषु पराभ्युपेक्षा ॥ ६१ ॥
कायस्वभावो जगतः स्थितिश्च संवगवराग्यनिमित्तमार्थैः ॥
संचितनीयं सततं यथावत्समासतो बंधमुदाहारिष्ये ॥ ६२ ॥
मिथ्यात्वभावाविरतिप्रमादाः कषाययोगाः खळु हेतवः स्युः ॥
बंधस्य मिथ्यात्वमपि प्रतीतं प्रचक्षते सप्तविधं मुनींद्राः ॥ ६३ ॥
पिंद्रियाणां विषयप्रभेदान्नरेंद्र ! षद्धायिकिल्पतश्च ॥
दिषाङ्घेधां चाविरतिं प्रतीहि तामेव चासंयममित्युशन्ति ॥ ६४ ॥
शुद्धयष्टकस्यांगमविद्धिरुत्तमक्षमादिकानां विषयप्रभेदतः ॥
सद्धिः प्रमादा नरनाथ ! कीर्तितास्त्वनेकभेदा इति जैनशासने६५

व योग हीं बंधाचीं कारणें आहेत. मुनीश्वरांनीं या मिथ्यात्वाचे सात भेद सांगि-तले आहेत ते असे: — जीव वगैरे पदार्थ सर्वथा अनित्य किंवा नित्यच समजणें यास एकान्त मिध्यात्व ह्मणतातः जिनेश्वरांनीं सांगितलेलीं जीव, अजीव, आस्रव वंगेरे सात तत्वें खरीं आहेत किंवा खोटीं आहेत अशा संशयाला सांश-यिक मिथ्यात्व ह्मणतात. सर्व देव, सर्व शास्त्रें व सर्व धर्म हे समानच आहेत अशा श्रद्धेला वैनयिक मिथ्यात्व ह्मणतात. कुहेतु व कुद्दष्टांतांनीं ज्यांचें मन आहे असा प्राणी तत्व-खरें वस्तु स्वरूप समजत नाहीं. आग्रही बनतो याला दरीन मिथ्यात्व ह्मणावें. खऱ्याला खोटें मानणें, खोटें तें खेर असे समजणें हें विपरीत मिथ्यात्व होय जन्मांथ जसा चांगळें वाईट कोणतेंच रूप जाणत नाहीं तसें ज्याला तत्व अतत्व कांहींच समजत नाहीं त्याला निसर्ग मिथ्यात्वी ह्मणतात. हिंसा करण्यांत धर्म समजणें, परिग्रह युक्ताला गुरु समजणें व रागादिक विकारांनीं युक्त अशा कुदेवाला देव समजणें हें अज्ञान मिथ्यात्व होय. ६४ सहा इंद्रियांचे निरिनराळे विषय व पृथ्वी, हवा, पाणी, अग्नि आणि वनस्पति व त्रसजीव असे षद्भाय जीव याविषयीं अविरति असेंग हाणजे इंद्रियांच्या विषयापासून विरक्त न होणें व षट्काय जीवांचें रक्षण न करणें याप्रकारें अविरतीचे वारा भेद आहेत. या अविरतीसच विद्वान असंयम असेंही ह्मणतात. ६५ भाव शुद्धि-परिणाम निर्मळ असणें, कायशाद्ध-शरीरानें सावधानपूर्वक धर्म किया करणें.रत्नत्वय धारकांचा,यथा-

कषायमेदानथ पंचित्रंशितं वदिन्त संतः सह नोकषायकैः॥
दशित्रिभियोगिविकल्पमेकतः परं च विद्याह्श पंचिभिर्युतम्॥६६॥
एते पंच हि हेतवः समुदिता वंधस्य मिध्यादृशो
मिध्यात्वेन विना त एव गदिताः शेषास्त्रयाणामिष ॥
मिश्रा चाविरितश्च देशविरतस्यान्ये विरत्या विना
पष्ठस्य त्रय एव केवल्लिमिति शिक्षः प्रमादादयः॥६०॥
द्रावन्यौ क्रमतः प्रमादरिहतावुक्तौ चतुर्णा पुनः
शांतश्चीणकषाययोरिष जिनस्यकः सयोगस्य च॥
योगो योगविवर्जितो जिनपतिर्निर्मुक्तवंधत्रयो
वंधो योगनिमिक्तको हि विगमे तेषां कथं जायते॥६८॥

योग्य विनय करणें ती विनयशुद्धि होय. ईर्यापथ शुद्धि कोणत्याही जीवांना त्रास होणार नाहीं अशा रीतीनें गमन करणें. मुनीनीं आहार कसा घ्यावा यावहस्र जे आचार्शास्त्रांत नियम सांगितल्ले आहेत त्याप्रमाणें वागणें यास भिक्षाशुाद्धि ह्मणतात. भतिष्ठापनशुद्धि-मलमूत्र टाक्णे, एकाटा पदार्थ ठेवणे किंवा उचलून घेणे या गोष्टी कारितांना पाण्यांना वाधा पोहोंचणार नाहीं अशी खवरदारी घेणे,स्ती, पशु, पापी लोक जेथें राहतात अशा स्थानीं न राहतां रहित अशा ठिकाणीं निजणें, वसर्णे वगैरे क्रिया करणें यास शयनासन शुद्धि ह्मणतात आरंभ परिग्रह ज्याने वाढेल असे भाषण न वोलतां त्रतादिकांची वाद होईल असे भाषण वोलणें ती वाक्यशुद्धि होय. या आठ शुद्धि पाळण्यामध्यें उत्साह नसेंण यास प्रमाद ह्मणतात.तसेंच उत्तम क्षमादिक दहा धर्माचे पालन करण्यांत उत्साह नसणें यास ही प्रमाद ह्मणतात. या रीतीनें सत्पुरुपांनीं प्रमादाचे अनेक भेद-जैन शास्त्रांत सांगितले आहेत. ६६ आत्म्याच्या ज्ञानादिक गुणांचा नाश करणाऱ्यास कषाय हाणतात. त्यांचे पंचवीस भेद आहेत ते याप्रमाणें: -अनतानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ. अपत्याख्यान क्रोध, मान, माया, मत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ व क्रोध, मान, माया, लोभ हे साळा भेद व नऊ नोकषाय हास्य, रति, अरति, शांक, भय, जुगुप्सा, खींबेट, पुरुषवेद, नपुसकवेद याप्रमाणें पंचवीस कषाय आहेत.

नितरां सकपायस्यतः खलु जीवो नृप! कर्मणः क्षवान्॥
परमावहतीति पुद्गलान्स तु वंधः परिकीर्तितो जिनैः ॥६९॥
प्रकृतिः स्थितिरप्युदारवोधरनुभागश्च समासतः प्रदेशः ॥
इति तिद्धधयः प्रकीर्तिता येस्तनुमाञ्जन्मवनेषु वंश्रमीति ॥७०॥
द्यौ योगहेतू प्रकृतिप्रदेशौ वंधौ भवेतां तनुभृद्गणानां ॥
सदा परौ द्यौ च क्षायहेतू स्थितिश्च राजन्ननुभागवंधः ॥७१॥
ज्ञानावृर्वितिष्टवृतिश्च वेद्यं मोहायुषी नाम च नामतोऽमी ॥
गोत्रांतरायाविति सम्यगष्टावाद्यस्यं वंधस्य भवंति भदाः ॥७६॥
प्रोक्तास्तु पंच नव च क्रमतस्तथा द्यौ षड्भिर्युता मुनिवृष्ध्य विंशतिश्च ॥
द्यौ द्याहतौ नृवर! सप्तयुता च षष्टिद्यौ चोत्तरप्रकृतिवंधविधाश्च
पंच॥७३॥

शरीर नामकर्म आणि अंगोपांग नामकर्माच्या उदयानें व मनोवर्गणा, वचनवर्गणा आणि कायवर्गणा यांच्या आश्रयानें कर्म नोकर्मीना ग्रहण करणाऱ्या जीवाच्या विशिष्ट शक्तीला भावयोग म्हणतात व या भावयोगाच्या निमित्तानें आत्मप्रदेश चंचल होणें यास द्रव्ययोग म्हणतात. या योगांचे तेरा व पंधरा असे भेद आहेत. ते याप्रमाणें:-मनोयोगाचे सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग आणि अनुभय मनोयोग. वचनयोगाचे सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनंयोग व अनुभयवचनयोग. काययोगाचे औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रयोग, वैकि-यिक काययोग व वैक्रियिक मिश्रयोग, व कर्माणयोग या रीतीनें योगाचे तेरा भेद होतात. यामध्यें आहारकाययोग व आहारक मिश्रयोग हे दोन मिसळले असतां पंधरा भेद होतात. ६७ मिथ्यात्व, आविराति, प्रमाद, कषाय व योग या मिथ्यादृष्टि जीवाला-पहिल्या ्रपांच कारणांनीं असलेल्या प्राण्याला कर्माचा बंध होतो. सासादन, व मिश्र आणि अविरत सम्य-ग्दृष्टी या तीन गुणस्थानांत असणाऱ्या जीवांना मिथ्यात्वाशिवाय वाकीच्या का-रणांनीं कर्मबंध होत असतो. देशविराति नांवाच्या पांचव्या गुणस्थानामध्यें अ-विरित मिश्ररूपाची असते अर्थात् या गुणरथानांतला जीव पापांचा कांहीं अंशानें त्याग करूं शकतो. जसें रथावर जीवांची हिंसा त्याच्या हातून घडत असत

आद्यानां तिसृणां परा स्थितिरथो त्रिंशत्समुद्रोपमा ॥
कोटीकोट्य इति ब्रुवन्ति सुधियो धीरांतरायस्य च ॥
मोहाख्यस्य च सप्तिर्द्रिगुणिता पंक्तिश्च नाम्नस्तथा ॥
गोत्रस्य त्रिभिरायुषोऽपि सहितार्सिशत्समुद्रोपमाः ॥७४॥
द्रिषण्मुदूर्तो ह्यपरा स्थितिःस्याद्रेद्यस्य चाष्टाविप नामगोत्रयोः ॥
अथेतरेषां कथिता च राजन्नंतर्मुदूर्तेति समस्तवेदिभिः ॥ ७५॥
भावरथानंतगुणं समस्तैःस दानकाले रसमात्महेतोः ॥
स्थानैः समुत्पादयति स्वयोग्यैः कर्मप्रदेशेष्विलेषु जीवः ॥७६॥
एकदित्रिचतुर्भिरेव विहितो बंधोऽनुमागोंऽगिनां ॥
घातीनां सकलाववोधनयनैः स्थानैश्चतुर्णां जिनैः ॥ ७७ ॥

ह्मणून तो आविरत आहे व त्रसजीवांची हिंसा तो करीत नाहीं ह्मणून विरत आहे. यास्तव त्यास विरताविरत अथवा मिश्र असें ह्मणावयास हरकत नाही. सहाव्या प्रमत्त संयत गुणस्थानांत मिध्यात्व व अविराति ही दोन कारणें नाहींशीं होतात झणून तेथें तीन कारणांनींच कर्मवंध होतो. प्रमाद, कषाय व योग या का-रणांनींच या गुणस्थानांत वंध होतो. ६८ अप्रमत्त संयत, अपूर्वकरण, अनिष्टति-व सूक्ष्मसांपराय या चार गुणस्थानांत कषाय व योगापासूनच वंध होतो. उपशांत मोह, क्षीणमोह, सयोग केवली या तीन गुणरथानांत फक्त योगा-पासून बंध होतो. येथें कषायाचा अभाव झालेला असतो. अयोग केवली या गुणस्थानांत योगही नसतो. यामुळे या गुणस्थानांतील जिनेश्वर अयोग केवली असें हाटलें जातात. अविरति, प्रमाद, कषाय हे तीन नष्ट झाले तरी योगान कर्म वंध होतो. परंतु तो ही नष्ट झाल्यावर बंध कसा होईछ १ मुळींच होणार नाहीं ६९ हा आत्मा कषाययुक्त झाला स्मणजे कर्मरूप वनण्याला योग्य अशा पुद्रल वर्गणांचें ग्रहण करीत असतो. हे राजा! अशा त्याच्या कृत्याला जिनेश्वरांनीं वंध हें नांव दिलें आहे. आतम्याच्या मदेशामध्यें कमीचे प्रदेश दृघ व पाण्याप्रमाणें एकमेकांत पूर्ण मिसळ्न जाणें यास वंध ह्मणतात. ७० ज्यांचें ज्ञान मोठें आहे अशा केवल ज्ञान्यांनीं प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश असे वंधांचे चार भेद सांगितले आहेत. या चार प्रकारच्या वंधांनीं हा आत्मा संसारक्ष्मी जंगलामध्यें वारंवार भटकत आहे. सुखदु:ख वगैरे देण्याच्या कर्माच्या स्वभावाला प्रकृतिवंध हाणतात. आत्म्यामध्ये

राजन् ! द्वित्रिचतुर्भिरेकसमये स्वप्रत्ययेनाहृतः शेषाणां च भवेच्छुभाशुकलप्राप्तेः परः कारणं ॥ ७८ ॥ ज्ञानेक्षणावरणदेशवृतिश्च यांति विष्नैर्नृवेदसाहृताश्चरमाः कषायाः स्थानैश्चतुर्भिरिति सप्तद्शित्राभिश्च सप्तोत्तरं शतमुपैत्यनुभागवंधः ७९ नामप्रत्ययसंयुता इति जिनैः प्रोक्ताः समं सर्वतो योगानां सुविशेषतः समुद्धितः सूक्ष्माः स्थिताः पुद्गलाः ॥ एकक्षेत्रमनुपविश्य सकलेष्वात्मप्रदेशेषु येऽ ॥ नंतानंतवनप्रदेशसहिताः कर्मत्वमायांति ते ॥ ८० ॥ सदेदनीयं शुभयुक्तमायुःसन्नामगोत्रे च वदन्ति पुण्यं ॥ जिनैस्ततोऽन्यत्वलु पापमुक्तं सत्संवरं व्यक्तमथाभिधास्ये ॥ ८१ ॥

कर्म टिक्र्न राहणे हा स्थितिवंध होय. कर्मांच्या अणूंच्या संख्येला प्रदेशवंध ह्राणतात. १ व कर्मा पास्न सुखदु: खादिकांचा अनुभव मिल्रणे यास अनुभाग वंध म्हणतात. ७१ या चार वंधापैकीं सर्व प्राण्यांना योगापासून प्रकृतिवंध व प्रदेशवंध हे होत असतात. हे राजा! कपायापासून स्थितिवंध आणि अनुभागवंध होतो. याप्रमाणे वंध आहे. ७२ हे राजा! कपायापासून स्थितिवंध आणि अनुभागवंध होतो. याप्रमाणे वंध आहे. ७२ यापैकीं प्रकृतिवंधाचे ज्ञानावरणादिक आठ भेद आहेत. ज्ञान न होऊं देणारें जें यापैकीं प्रकृतिवंधाचे ज्ञानावरणादिक आठ भेद आहेत. ज्ञान न होऊं देणारें जें वर्शना-कर्म तें ज्ञानावरणीय, सामान्य पदार्थीचें रवरूपही ज्यानें समजत नाहीं तें दर्शना-वरणीय, हिताहित जाणूनहीं त्यामध्यें प्रवृत्ति न करू देणारें अर्थात् मोह—उत्पन्न करणारें तें वेदनीयकर्म, करणारें तें मोहनीय कर्म, सुखदु:खाचा भास उत्पन्न करणारें तें वेदनीयकर्म, एकाच शरीरामध्यें कांहीं कालपर्यत कोंडून ठेवणारें तें आयुकर्भ, गनापकारच्या शरीराची प्राप्ति करून देणारें तें नामकर्म, नानापकारच्या शरीराची प्राप्ति करून देणारें तें नामकर्म,

नानाप्रकारच्या श्राराची प्राप्ति करून दणार त नामकम, जीवाला उच्चावस्था व नीचावस्था प्राप्त करून देणारे जें कर्म त्यास गोत ह्मण- जीवाला उच्चावस्था व नीचावस्था प्राप्त करून देणारे जें कर्म त्यास गोत ह्मण- जात व दान, लाभ, भोग, उपभोग आणि वीर्य यामध्ये विध्न आणणाऱ्या कर्माला अतराय कर्म ह्मणतात. असे हे प्रकृतिबंधाचे आठ भेद आहेत. ७३ कर्माला अतराय कर्म ह्मणतात. असे हे प्रकृतिबंधाचे वान, मोहनीय कर्माचे ज्ञानावरणीयाचे नज, वेदनीयाचे दोन, मोहनीय कर्माचे अवराय अव्यावसि, आयु कर्माचे चार, नाम कर्माचे सदुसष्ट, गोत्तकर्माचे दोन व अंतराय अव्यावसि, आयु कर्माचे चार, नाम कर्माचे सदुसष्ट, गोत्तकर्माचे दोन व अंतराय अमें समजावें. ७४ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व मोहनीय या तीन कर्माचा अमें समजावें. ७४ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व मोहनीय या तीन कर्माचा

जिनैनिरोधः परमासवाणामुदाहतः संवर इत्यमोधैः ॥
स द्रव्यभावदितयेन भिन्नः स्याद्विप्रकारो मुनिभिः प्रशस्यः ॥ ८२॥
मुनिश्वरैः संमृतिकारणिकयानिवृत्तिरुक्तः खळु भावसंत्ररः ॥
स तिन्नरोधे सित कर्मपुद्गलग्रहेकविच्छित्तिरपीतरो सतः ॥ ८३॥
गुप्त्यन्वितः समितिधर्म निरंतरानुप्रेक्षापरीप हजयैः कथितर्श्वारत्रैः ॥
वयकं जिनैः स खळु संवर एप सारः स्यान्निर्जराथ तपसेति च
विश्वविद्धिः॥ ८४॥

सम्यग्योगविनिग्रहो निगदितो शिप्तिः स्वासौ इधैः ॥ वाग्गुप्तिः खळु कायगुप्तिरनघा गुप्तिस्तथा चेतसः ॥

उत्कृप्ट स्थितिवंघ तसि कोटी सागरोपम वर्षाची आहे. अंतरायकर्माचा ही एव-हाच स्थितिवंध आहे. योहनीय कर्माची स्थिति सत्तर कोटिकाटि सागरोपमवेर्ष आहे. नाम व गोत्र या कर्मीची उत्कृष्ट स्थिति वीस कोटि सागरोपम वर्पाची आहे व आयुक्तर्याची उत्कृष्ट स्थिति फक्त तेहतीस सागरीपमवर्षाची आहे. १५ वेदनीय कर्माची जघन्य रियति वारा भुहूर्त आहे. व नाम आणि गोत्र या कर्माची आठ मुहर्त आहे. यागिवाय वाकीच्या कर्मीची अंतर्मुहर्त आहे. असे केवलहान्यांनी सां-गितलें आहे. ७६ जीव कर्मग्रहण करतेवेळीं आपल्या योग्य अशा स्थानांच्या द्वारें संपूर्ण कर्मपटेशामध्ये आत्मानीमेत्तक सर्व परिणामांनी अनंत प्रकारच्या कर्मरसाला-सुखदु खरूपी रसाला उत्पन करितो यासच अनुभाग वंध ह्मणतात. ७७-७८ या दोन श्होकांचा अर्थ समजत नाहीं ७९ ज्ञानावरणादिक कर्माना वनविण्याग कारण असलेले सूक्ष्म पुद्रलपरमाणु आत्म्याच्या ठिकाणी मन, वचन, काय या तीन पकारच्या विभिष्ट योगांनीं येत असतात. हे सूक्ष्म कर्मपरमाणु येऊन आन्ध्याच्या संपूर्ण प्रदेशांत एकक्षेत्रावगाह होऊन राहनात अर्थात् आत्म्याच्या मदेशाशीं यांची एकरूपता होते. हे कर्म प्रदेश प्रतिगमयी अनंतानंत. येतान यालां भिनन्दर्गनीं प्रदेशवय हाटलें आहे. ८० सातावेटनीय. देवायु, मनुष्यायु व तिर्यचायु, नीर्थकरन्व, यशस्कीनी वैगरे वेचाळीस नामकर्म प्रकृति, च उचगोत्र या क्रमेंप्रकृतींना पुण्यपकृति द्याणनान. या शिवाय वाकीच्या कर्मपकृति पापरप अहिन अमें आजिनेत्रगंनीं मागितलें आहे. आनां मी उत्तम अर्थान् आत्याकहन

ईर्यायाः समितिः परा च वचसाप्यादानिक्षेपयोः ॥
उत्सगस्य च पंचमी च समितिः स्यादेपणाया विधिः ॥ ८५ ॥
क्षांतिः सत्योक्तिर्मार्दवं चार्जवं च श्रेयः शौचं संयमः सत्तपश्च ॥
त्यागाकिंचन्यत्रह्मचर्याणि धर्मः प्रोक्तो विद्धिः स्यादशैतानि लोके८६
उशंत्यकालुष्यमथो तितिक्षां सदाप्यमित्रादिषु बाधकेषु ॥
सत्सु प्रशस्तेषु च साधुवाक्यं सत्यं यथाज्ञास्थितिसंयुतं वा॥८७॥
वदंति जात्यादिमदाभिमानप्रहीणतां मार्दवमार्जवं च ॥
अवक्रतां कायवचोमनोभिः शौचं च लोभाद्धिनिवृत्तिरेका ॥८८॥

रवीकारण्यास योग्य अञ्चा संवराचे वर्णन स्पष्ट रीतीनें करितो हे राजन्! तें तूं ऐक ८१ ज्यांचे वचन व्यर्थ होत नाहीं अशा जिनेश्वरांनी आस्रव चांगल्या तन्हेनें रोकला जाणें यांस संवर म्हणावे असे सांगितलें आहे. आत्म्याच्या ठिकाणीं नवीन कर्म येज न देण यास सवर म्हणतात. हा द्रव्यसंवर व भावसंवर अशा प्रकारें दोन मकारचा आहे असे मुनीश्वरांनीं सागितले आहे. ८२ संसार वाढविण्यास कारण असलेल्या मिथ्यात्व, अत्रिरति. प्रमाद, कपाय व योग यांचा आत्म्यांतून पूर्ण अभाव करणें यास भावसंवर, असें मुनिश्वर ह्मणतात. हीं कारणें आत्म्यांतून काढून टाकिली असतां नवीन कर्मपुद्गलसमूह आत्म्यामध्यें येण्याचे बंद होतें. असे होणें यास द्रव्य संवर ह्मणतात. नवीन कर्म न येणें हा द्रव्यसवर होय च त्या कर्माला रोकण्यास योग्य असे आत्म्याचे परिणाम होणें यास भासवर ह्मणतात. ८३ हा दोन पकारचा संवर,आत्म्याच्या ठिकाणीं गुप्ति, सामिति, धर्म, अनुपक्षा, परीषहजय व चारित यांनी होत असतो. असा संवर हांणें हें फार उत्कृष्ट आहें कारण यानें लौकरच मोश प्राप्ति होते. वारा भकारच्या नपांनीं कर्माची निर्जरा-पूर्वी वांधलेलें कर्म उद-याला येऊन नाहींसें होणें-होतेअसें सर्व जगाला जाणणाऱ्या सर्वज्ञ जिनांनीं स्पष्ट सांगिनलें आहे. ८४ उत्तम रीतीनें मन, वचन व शरीर यांची क्रिया-प्रदृत्ति रोकणें यास गुप्ति ह्मणतात. ही गुप्ति तीन प्रकारची आहे. मनोगुप्ति-रागद्वेषादि-विकार मनांत उत्पन्न होऊ न देणें अथवा साम्य भावनेंत मनाला स्थिर करणें. वचन गुप्ति-कटोर, अप्रिय वगैरे भाषण न बोलणें अथवा मौन धारण करणें. कायगुःहि।-शरीरावरील ममत्व सोडून देणें अथवा उपसर्ग प्रसंगींही शरीरामध्यें

प्राणींद्रियाणां परिहार एको यः संयमं तिन्नगदन्ति सन्तः ॥ कर्मश्चयार्थं परितप्यते यत्तपश्च तहादशभेदिभन्नं ॥ ८९॥ त्यागः सुशास्त्रादिकदानिमष्टं ममेदिमत्याद्यभिसंधिहानिः ॥ अिकंचनत्वं गुरुमूलवासः स्याद्वह्मचर्यं सुविरागता च ॥ ९०॥ प्राज्ञाः प्राहुरिनत्यताप्यशरणं जन्मैकता चान्यता कायस्याशुचिता परा च विविधः कर्मास्रवः संवरः ॥ सम्यिङ्नर्जरणं जगच्च सुवचस्तत्वं च धर्मस्थिति वीधेर्द्वर्रभता तथा द्विषडनुप्रेक्षा इमाः श्रेयसे ॥ ९१॥

हालचाल न होऊ देणें. याप्रमाणें तीन गुप्ति आहेत. समि तीचे पांच भेद आहे ते याप्रवाणें -ईयासामिति-स्वतःच्या स्थानापासून इतर ठिका णीं जेन्हां मुनि जातात तेन्हां सूर्याचा चांगला प्रकाश पडल्यावर पुढें चार हात जमीन पाहुन व दर्याद्र अंतःकरणाने तिच्यावर सावकाश पावलें टेवीत जातात. र्यो कृत्यास ईर्यासमिति म्हणार्वे. भाषासमिति–हितकर, थोडेसें, संगयरहित वोलणे. एषणासमिति-ज्यापासून रत्नत्रयाची वाढ होईछ असे शुद्ध अन्न अन्तराय व **उद्गमादिदोषांचा** त्याग करून शुद्ध श्रावकानें विधिपूर्वक दिलेलें घेणें. आदाननिक्षे-पणसामिति-स्वच्छ केलेल्या व पाहिलेल्या जमीनीवर पुस्तक, कमंडलु, फळी वगैरे डेवणें व घेणें. व्युत्सर्गसमिति-निर्जन्तुक अशा जिमनीदर मलमूत्र-विष्ठा हे पढार्थ टाकणें. अशा या पांच समिती ओहत ८५ उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्यागं, आर्किचन्य व ब्रह्मचर्य असे धर्माचे दहा भेट आहेत. संसारदुःखापासून जीवाला सोडऊन त्याला उत्कृष्ट इंद्रादिपदांची जो प्राप्ति करून देतो त्यास विद्वान धर्म म्हणतात. शत्रु वगैरेनी पुष्कळ त्रास दिला तरी मनांत क्रोध उत्पन्न होऊ न देणें व सर्व लास सहन करणें यास क्षमा म्हणतातः मुनि व त्यांचे भक्त अर्थात् श्रावक यांच्याजीं रत्नत्रयाचा उपदेश धर्मरुद्धि व्हावी म्हणून करणें अथवा शास्त्राजेला अनुसरून वोलणें, धर्ममर्याटा टिकेल असे भाषण करण यास सत्य म्हणावें असे विद्वान म्हणतात. ८६ जात. इल श्वाक्त, ऐश्वर्य, ज्ञान, आद्रसत्कार, तप व शरीर या गोर्ष्टाचा आमिमान करणें सोडून देणें यास मार्डव ह्मणतात. मन, वचन व शरीराची प्रष्टाति सरळ,

रूपं योवनमायुरक्षनिचयो भोगोपभोगो वपु—॥ वीर्यं स्वेष्टसमागमो वसुरतिः सोभाग्यभाग्योदयः॥ नो नित्याः स्फुटमात्मनः समुदिता ज्ञानेक्षणाभ्यामृते॥ शेषा इत्यनुर्चितयंतु सुधियः सर्वे सदानित्यतां॥ ९२॥ व्याधिव्याधभयंकरे भववने मोहेद्धदावानले हंतुं सृत्युमृगारिणा सरभसं क्रोडीकृतं रक्षितुं॥ आत्मेणीपृथुकं जिनंद्रवचनादिस्मन्परे नेशते मित्राद्या इति भावयन्त्वंशरणं भव्या भवालंधिनः॥ ९३॥

ठेवणें यास आर्जेव ह्मणतात. लोभाचा त्याग करणें यास शौचधर्म ह्मणतात. ८७ त्रस आणि स्थावर अज्ञा प्राण्यांची हिसा होणार नाहीं अज्ञा रीतीनें वागणें व आपलीं इंद्रियें ताब्यांत ठेवणें यास इंद्रियसंयम ह्मणतात. तसेंच कर्मीचा श्रय व्हावा ह्मणून उपवास करणें, एकदां जेवणें वगैरे जें बारा प्रकारचें तप केलें जातें त्यास सत्पुरुष तप असे ह्मणतात. ८८ शास्त्र देणें, आहार देणें, अभय देणें, व औषध देणें यास त्याग हाणतात. शारीरावर तसेच इतर पदार्थावर हे माझे आहेत असा जो संकल्प उत्पन्ना होतो त्याचा त्याग करणें त्यास आर्किचन्य ह्मणतात. गुरूच्या स्वाधीन होऊन राहणें व कामविकारापासून पूर्ण विरक्त होणें यांस ब्रह्मचर्य ह्मणतात. याप्रमाणें दशधर्माचें स्वरूप आहे. ८९ अनित्यता, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, शररिाचा अपवित्रपणा, नानाका-रचे कमीचे आस्रव, संवर, उत्ताम निर्जरा, लोकधर्मस्वाख्यातत्व व वोधिदुर्लभानु-प्रेक्षा अज्ञा या बारा अनुप्रेक्षा आत्म्याचें कल्याण करणाऱ्या आहेत. ९० सौंदर्य, तारुण्य, आयुष्य, इंद्रियांचा समुदाय, भोगोपभोगाचे पदार्थ, शरीर, शक्ति, आव-डत्या पदार्थीची प्राप्ति, धन, प्रेम. सौभाग्य व भाग्योदय, या सर्व गोष्टी आत्म्याला पाप्त झाल्या तरी नित्य नाहींत यांचा नाश होतोच, आत्म्याचें ज्ञान व दर्शन हे गुणच नित्य आहेत यामधाणें विद्वान लोकांनीं नेहमी पदार्थीच्या अनित्यपणाचें चिंतन करावें. ९१ या संसाररूपी वनामध्यें मोहरूपी प्रदीप्त अग्नि पसर्छा आहे व रोगरूपी पारधी येथे राहात असल्यामुळें हें भयंकर दिसत आहे. या विकाणीं मृत्युरूपी सिंहानें गोठ्या त्वरेनें आत्मारूपी हरिणीचा बच्चा पकडळा आहे संसारः खळु कर्मकारणवशाज्जीवस्य जन्मांतरा— वाप्तिर्वंधिविपर्ययेर्वेह्यविधेरात्यक्षयोन्यादिभिः ॥ किं वा सांप्रतमेव यत्र तनयोप्यात्मात्मना भाव्यते तस्मिन्नीद्दशि कीदृशीं बत विदां संतो रितं कुर्वते ॥ ९४ ॥ जन्मव्याधिजरावियोगमरणव्यावृत्तिदुः खोदधा— वामज्जन्नहमेक एव नित्रां सीदामि मे नापरे ॥ विद्यंत सुहृदो न चापि रिपवो न ज्ञातयः केवलं ॥ धर्मो बंधुरिहापस्र च परामित्येकतां चिंतयेत् ॥ ९५ ॥ अन्योऽहं नित्रां शरीरत इतो बंध प्रति प्रायशः ॥ सत्येक्येऽप्यथ लक्षणाहितभिदो भेदो ममास्त्यस्य च ॥

जिनेश्वराच्या वचनाज्ञिवाय दुसरे मिलादिक याचे रक्षण करूं शकत नाहींत. जिनवचन हेंच आत्म्याचें रक्षण करितें असे ससाराचें उर्द्धघन करणाऱ्या भन्य जीवांनीं विचारांत आणावें ९२ मिध्यात्वादिक कर्मरूपी कारणांनीं एकजन्म सुटून पुनः दुसरा जन्म धारण करणें यास संसार म्हणतात. गाति, इंद्रिये, प्राप्त झालेल्या अवस्था या जीवाला वंधुसार्ख्या दाटतात पण त्या त्याच्या गत्रु आहेत, कारण या अवस्थानीं त्याला संसारांत फिरावें लागत आहे. या संसारांत योग्य अस काय आहे ? कारण या संसारांत हा आत्मा स्वतःहि रवतःचा मुलगा होतो. यास्तव अशा रीतीच्या या संसारांत जाणते सत्पुरुप कसें वरें प्रेम करतील ? करणारच नाहीत-९३ जन्म, नाना प्रकारचे रोग, ह्यातारपणा, इष्ट पदार्थीचा वियोग होणे, मरण वगैरे संकटें ज्यामध्यें आहेत अशा या दुःखरूपी समुद्रांत वुडणाऱ्या मलाच अति. शय दृ ख भोगावे लागतें. माझ्या दु:खांचे वाटेकरी दुसरे होऊन शकत नाहीत. या जगामध्यें माझे कोणी मित्रही नाहींत शत्रूही नाहींत व नातलगही नाहींत. फक्त धर्मच या लोकीं व परलोकीं वधु-हितकर्ता आहे या प्रमाणे रवतःच्या एक त्वाचें चिंतन करावें. ९४ जरी जरीराशीं माझा एकरूपणा सध्या दिसत आहे तरी तो कर्मवंध झाल्यामुळेंच तसा समजावा. वास्ताविक पाहिलें तर मी व शरीर यांची छक्षणें भिन्न असल्यामुळें मी शरीरापासून देगळा आहे. मी म्वतः ज्ञानमय नित्य आहे, व माझे शरीर अचेतन, नाशवत व इंद्रियांनीं सहित आहे. मी अतीद्रिय आत्मा ज्ञानमयो विनाशरहितोऽप्यज्ञं वपुर्नश्वरं ॥
साक्षं वाहमनक्ष इत्यपघनात्मंचितयेदन्यता ॥ ९५ ॥
अत्यताश्चियोनिसंभवतया शश्विमसर्गाश्चि—
त्वडमात्राष्ट्रितगंधिकुनवद्धारं कृमिन्याकुलं ॥
विण्मूत्रप्रसवं त्रिदोषसहितं नद्धं शिराजालकैः ॥
बीभत्सं वपुरेतदित्यशुचितां मान्यः सतां मन्यताम् ॥ ९६ ॥
उक्तास्त्वास्रवहेतवः सह जिनेरक्षेः कषायादयो ॥
दुःखांभोनिधिपातिनो हि विषयास्तेषामिहासुत्र च ॥
आत्मा तद्दशगश्चतुर्गतिगुहां मृत्यूरगाध्यासिताम् ॥
अध्यास्ते श्रुवमास्रवस्य सुधियो ध्यायंतु दोषानिति ॥ ९७ ॥

शरीर तसें नाहीं. याप्रमाणें शरीरापासुन रवतःची भिक्तता जाणून घेऊन विचार करावा. ९६ हें ज्ञरीर अत्यंत अपावित्र अज्ञा योनिरथानापासून उत्पन्न होतें. हें कायमचें व रवाभाविकपणें अपवित्र आहे. हें फक्त कातड्यानें झांकलें आहे. या शरीराला जीं नक छिद्रें आहेत त्यांतून मळ वाहात असतो. या शरीरांत कामि भरले आहेत. विष्ठा व सूत्रा यांचें हें जत्पात्तिस्थान आहे. वात पित्त आणि कफ यांनीं सहित आहे व हैं शिरांनीं जखडून बांधलें गलें आहे. बीयत्स अशा या शरीराच्या घाणेरडेपणाचा सत्पुरुषांना मान्य असलेल्या लोकांनीं त्रिचार करावा. ९७ इद्रियें कषाय, अन्नतें, अहिंसादिकन्नतें न पाळणें, व सम्यक्त्वादिक पंचवीस क्रिया हीं सर्व आस्रवाचीं कारणें आहेत असें जिनेश्वरांनीं सांगितलें आहे. हे इंद्रियांचे विषय जीवाला दु:खरूपी समुद्रांत टाकून देणारे आहेत. इहलोकीं व परलोकीं आत्मा त्यांच्या स्वाधीन होऊन मृत्युरूपी सर्प ज्यामध्ये राहात आहे अशा नरकादि गतिरूपी गुहेंत प्रवेश करितो. याप्रमाणें विद्वान लोकांनीं आस्रवाच्या दोषांचें मनांत चिंतन करावें. ९८ जसें समुद्रात नावेला भोंक पडले असता ती पाण्यानें भक्षन जाते तसें हा आत्मा ज्यामध्यें अनंत दुःखे भरलीं आहेत अश् या जन्मांत आस्नवरूपी समुद्रात बुद्दन जात आहे. यास्तव मन वचन, व शरीर हीं ताब्यांत ठेऊन आस्त्रवाला रोकार्वे ह्मणजे आत्म्याचे कल्याण होते. कारण मन वचन व शरीराच्या हालचालीला आळा वसला हाणजे हा आन्मा लोकरच

पोतो वारिधिमध्यगः सित जलैश्चिं प्रपूर्णो यथा ॥
मज्जत्याञ्च तथास्रवे च पुरुषो जन्मन्यनंतासुखे ॥
तस्मादाम्बरोधनं त्रिकरणेः श्रेयो यतः संवृतो ॥
निर्वास्यत्यचिराय संवरिमिति ध्यायंतु संतः परम् ॥ ९८ ॥
यत्नेनापि विशोपणादुपचितो दोषो यथा जीर्यते ॥
गाढं कर्म तथैव निर्जरयति व्यानद्धमप्याचितम् ॥
वीरः कातरदुश्चरेण तपसा रत्नत्रयालंकृतो ॥
नान्येनेति विदंतु संततिममां भव्याः परां निर्जराम् ॥ ९९ ॥
लोकस्याथ यथा जिनोदितमधास्तर्यक्तथोध्दं परं ॥
वाहुल्यं वरसुप्रतिष्ठकनिमं सस्थां च संचिंतयेत् ॥
सर्वत्रापि च तत्र जन्ममरणे आंतिं चिरायात्मनः ॥
सम्यक्त्वामृतमादरादिष्वतः स्वप्नांतरेऽपि क्वित् ॥ १०० ॥

निर्वाणपदाला प्राप्त होईल. याप्रमाणें सत्पुरुप उत्कृष्ट संवराचा नेहमीं विचार करोत. ९९ औषध घेणे वगैरे यत्नांनीं व उपवासानें जसें शरीरांत रोग उत्पन्न करणारे दोष नाश पावतात त्याप्रमाणे आत्म्याच्या टिकाणीं पूर्वी वांधलेले व संचित झालेलें कर्म रत्नत्रयानें अलंकुत झालेले धर्मवीर धर्यहीनाला करण्यास अशक्य असलेल्या तपश्चरणाच्या साह्यानें जाणे करून टाकितात. ही धर्मवीरांची कर्मानिर्जरा इतर उपायाने होणें शक्य नाहीं, याप्रमाणे भव्यानीं नेहमी निर्जरेचें असे उत्कृष्ट स्वरूप समजून घ्यावें. १०० श्रीजिनेश्वरांनीं या जगाची खाली, वर, मध्यभागीं जी कांही लांबी रुदी सांगितली आहे ती तशी जाणून याचा आकार सुप्रतिष्ठकाप्रमाणें आहे असे चिंतन करावें. ज्यानें स्वप्रामध्यें देखील कधीं सम्यक्तवरूपी अमृत प्राश्चन केलें नाहीं अशा प्राण्याला या जगांत सर्व टिकाणीं जन्मपरण करीत भ्रमण करावें लागतें असा भव्य जीवांनीं विचार करावा. १०१ जगाचें कल्याण व्हावें म्हणून तत्व- झानरूपी नेत्राचे धारक अशा जिनेश्वरांनीं हिंसादि दोपांनीं रहित असें धर्माचें उत्कृष्ट स्वरूप प्रतिपादिलें आहे. जे सत्पुरुप या धर्मामध्यें निमय झाले आहेत ते या अपार ससाररूपी समुद्राला गाईच्या पावलाप्रमाणें ओलांइन जातात व जो अनंन सुखांचें टिकाण हाणून प्रसिद्ध आहे अशा मोक्षाला ते प्राप्त होतात. १०२ या

स्वाख्यातो जगतां हिताय परमो धर्मो जिनैरंजसा ॥
तत्वज्ञानिवलोचनैर्विरहितो हिंसादिदोषेरयं ॥
संसाराणवमप्यपारमिचरादुछंच्य वा गोष्पदं ॥
ख्यातानंतसुखास्पदं परमितं तैरेव येऽस्मिन्नताः ॥ १०१ ॥
मानुष्यं खळ कर्मभूमिरुचितो देशः कुळं कल्पता ॥
दीर्घायुः स्वहिते रितश्च कथको धर्मश्चितिः स्वादरात् ॥
सत्स्वेतेष्वतिदुर्लभेषु नितरां बोधिः परा दुर्लभा ।
जीवस्येति विचित्तयंतु सुकृतो रत्नत्रयाळंकृताः ॥ १०२ ॥
सन्मार्गाच्यवनविशिष्टनिर्जरार्थं षोढव्याः सकळपरीषहा सुनिशैः॥
कुच्छ्रेषु श्रियमपुनर्भवासुपतुं वांछंतः स्वहितरता न हि व्ययंते ॥१०३॥

जगांत मनुष्यपणा लाभणें कठिण आहे. तो लाभला तरी कर्मभूमीमध्यें जन्म होणें त्याहीपेक्षां दुर्छभ आहे. उत्तम देशांत जन्म मिळणें याहून कठिण असून उत्तम कुलांत जन्मणें हें त्यापेक्षां दुर्रुभ ओह. यापेक्षां आरोग्य, दीर्घायुष्य हीं दुर्रुभ असून आत्मकल्याणाच्या बुद्धीची प्राप्ति होणें आतिशय दुर्रुभ आहे. आत्माहिताच्या बुद्धि वरोवर सद्गुरूची जोड मिळणें धर्मोपदेश ऐकण्यांत प्रेम असणें ह्या गोष्टी उत्तरोत्तर दुर्लभ आहेत. या सर्व गोष्टी प्राप्त झाल्या नरी रत्नस्रयांची जीवाला प्राप्ति होणें हें सर्वीत अधिक दुर्लभ आहे असें रत्नत्नय धारक जीवांनीं नेहमीं मनांत चिंतावें. १०३ रतनज्ञय पुण्यवान मार्गापासून आपण सुटूं नये म्हणून व कर्मीची विशेष निर्जरा व्हावी ह्मणून सर्व परीषह मुनीश्वरांनीं सहन करावेत. आत्मकल्याणांत नेहमीं अनुरक्त असणारे व मोक्षलक्ष्मीच्या प्राप्तीची इच्छा करणारे मुनि अशा संकटपसंगीं-परीपह ं सहन करण्याच्या प्रसंगीं बिछकुछ खेद मानीत नाहींत. १०४ क्षुधा वेदनीय क-र्माच्या उदयानें पीडा होत असतांही आहार लाभापेक्षांही आहार न मिळाल असतां मनामध्यें खेद न मानतां आनंदच मानितो. व आहार घेतांना जो न्यायपू-र्वक आहार घेतो व घेतांना अयोग्य दात्यांच्या येथें जो आहार घेत नाहीं. तसें निर्दोष आहार जो घेतो त्या मुनीश्वराचा हा क्षुधाविजय नांवाचा परीषह जाणावा. १०५ जो म्रानिराज आपल्या हृदयरूपी घागरींत असल्लेखा निर्मल आत्म-

क्षुद्रेदनीयोदयबाधितोऽपि लाभादलाभं वहु मन्यमानः ॥ न्यायेन योऽश्वाति हि पिंडगुद्धिं प्रशस्यते श्रुद्धिजयस्तदीयः ॥१०४॥ स्वहृदयकरकस्थितेन नित्यं विमलसमाधिजलेन यः पिपासां ॥ प्रशमयति सुदुःसहां च साधुर्जयति स धीरमतिस्तृषोऽभितापम् १०५ प्रालेयवायुहतिमप्यवि।चिन्त्य माघे यः केवलं प्रति।निशं वहिरेव शेते।। संज्ञानकंनलनलेन निरस्तशीतः शीतं वशी विजयते स निसर्गधीरः 1 308 1

दवामिज्वालाभिजीटिलितवने श्रीष्मसमये स्थितस्योष्ट्रैर्भानोः शिखरिणि मयूखैरभिमुखं॥ समुत्तरांगस्य क्षणिमह धृतेरप्यचळतः॥ सहिष्णुत्वं तस्य प्रथयति मुनेरुष्णसहनम् ॥ १०७॥ दष्टोऽपि दंशमशकादिगणेन वाढं मर्मप्रदेशमुपगम्य निरंकुशेन ॥ यो योगतो न चलति क्षणमप्युदारस्तस्येह दंशमशकादिजयोऽवः सेयः ॥ १५८॥

ध्यानरूपी पाण्याने दुरसह अशी तहान शांत कारितो तो श्रेष्ठ बुद्धीचा मुनि तहाने पासून होणाऱ्या दु:खाला जिंकितो १०६ जो युनिराज माघ महिन्यांतील थंडगार वाच्याचा आघात विचारांत न घेतां प्रत्येक रात्रीं उघड्या मैदानांतच शयन करितो व सम्यग्जानरूपी घोगडच्या सामर्थ्यानें थंडीला हाकालून लावितो, स्वाभाविकच धीर असा तो जितेद्रिय मुनीश्वर शीतपरीषहाला जिंकितो असे जाणार्वे १०७ ग्रीप्मऋ तूंत अग्निज्वालांनी सगळें वन व्यापृन गेले असतां, पर्वतावर जो सूर्याकडे तोंड करून उभा राहतो व सूर्याच्या तीक्ष्ण किरणांनी सगळे शरीर संतप्त झाले असतां देखील जो घैर्यापासून क्षणभरही भ्रष्ट होत नाही अज्ञा त्या मुनीश्वराचें उप्णता सहन करणें त्याच्या सहनशीलतेला प्रसिद्ध करितें १८८ ज्याला डास, ढेकूण,चिलटें मुंग्या वगैरे प्राणी चाऊन अतिशय तास देत असतां ही-निर्भयपणें त्याच्या मर्म प्रदेशीं जाऊन त्यास पीडित असतांही, एक क्षणभर दोखिल जो ध्यानापासून डळमळत नाहीं त्या उदार महातम्याचा या लोकी दंशमशक्षपरीपह जय जाणाचा. १०९ नग्नता ही याचना, प्राणिहिंसा वगैरे दोषांनी रहित आहे. व ही संपूर्ण परि- याञ्चाप्राणिवधादिदोपरहितं निःसंगतालक्षण—
मप्राप्यामपरैः समुत्मुक्यितुं निर्वाणलक्ष्मीं क्षमं ॥
नारन्यं कातरदुर्धरं धृतवतोऽचेलव्रतं योगिनः ॥
पर्याप्तिं समुपैति तद्धि विदुषां तत्वैषिणां मंगलम् ॥ १०९ ॥
इंद्रियेष्टविषयेषु निरुत्मुक्तमानसः पूर्वभुक्तमुखसंपदमप्यविचित्यन् ॥
यस्तपश्चरति दुश्चरमेकविमुक्तिधोर्मुक्तयेऽरितपरीषहजित्स विदां वरः
॥ ११० ॥

आवाधमानासु मिथो जनीषु मनोभवाभिप्रभवारणीषु ॥ यः कूर्मवत्संवृतिचित्तमास्ते स्त्रीणां स बाधां सहते महात्मा ॥१११॥

ग्रह रहितपणाचे लक्षण आहे. ही नमता इतर मिथ्यात्व्यांना प्राप्त न होणाच्या मोक्षलक्ष्मीला मुनिकडे जाण्याविषयीं उत्सुक करण्यास समर्थ आहे. ही नम्रता भित्रीं माणसें धारण करूं शकत नाहीत. ही निर्दस्त नग्नताच योगिजनास रक्षण करण्यास-क्रमार्गापासून पराष्ट्रत्त करण्यास समर्थ आहे. खऱ्या आत्मस्वरूपाच्या लाभाची इच्छा करणाऱ्या विद्वानांचें हीच मंगल -कल्याण करिते ११० इंद्रियांच्या आवडत्या पदार्थाविषयीं ज्याचें मन पूर्ण निरुत्सुक झालें आहे, पूर्वी उपमो-गिलेल्या सौख्य संपत्तीचें जो कघींही मनांत स्मरण करीन नाहीं; जो आतेशय कठिण असें तपश्चरण करितो व फक्त मुक्तीकडेच ज्याचें लक्ष लागलें आहे तो बिद्वच्छ्रेष्ठ मुनिराज अराति परीषहाचा विजयी होय. १११ मदन-कामविकाररूपी अग्नि उत्पन्न करण्यास अराणि नांवाच्या लांकडाप्रमाणें असलेल्या सुंदर स्निया एकांतस्थानीं लास देत असतां ज्यानें कासवाप्रमाणें आपली मनोद्यात्ति संकुाचित केली आहे तो महात्मा मुनि ह्मीपरीपह विजयी होय. ११२ जिनमंदिर, मुनि व आपले आवडते गुरु यांना वंदन करण्यासाठीं जो देशांतरीं जातो व आपल्या सयमाला अनुकूल अमा मार्ग पाहून योग्य अशा कालीं जो गमन करितो, जात असतां काटे, दगढ यांच्या समुदायांनीं पाय फाटून गेलें असतांही गृहस्थाश्रमांतील नानाप्रकारच्या हत्ती घोडा, पालखी. बगैरे वाहनांची ज्याला आठवण होत नाही मुनिराजाचें चर्यापरीषह जिंकणें सज्जनांना मान्य ११३ पर्वताची गुहा, पडकें घर वगैरे ठिकाणीं प्रथमतः शास्त्रोक्त एद्धतीनें येथें जीव-

नंतुं भैत्ययतीनगुरूनभिमतान्देशांतरस्यातिथेः॥ पंथानं निजसंयमानुसदृशं काले यतेः स्वोचिते॥ भिन्नांत्रेरिप कंटकोपलचयैः पूर्वस्वयुग्यादिनः॥ यानस्यास्मरतः सतामभिमतस्तस्यैव चर्याजयः॥ ११२॥

भूभृदुहादिषु पुरा विधिवन्निरीक्ष्य वीरासनादिविधिना वसतो निकामं॥

सर्वोपसर्गसहनस्य मुनेर्निषद्यापीडाजयो दुरितवैरिभिदोऽसेयः

ध्यानागमाध्ययनभूरिपरिश्रमेण निद्रां मनाग्गतवतः स्थपुटोर्व-रायां॥

कुंथ्वादिमईनभियाऽचिलतांगयष्टेः शय्यापरीपहजयो यमिनोऽ वगम्यः॥ ११४॥

मिथ्यात्वेन सदावलिप्तमनसां क्रोधाविसंदीपकं ॥ निंद्यासत्यतमादिवाक्यविरसं संश्रृण्वतोऽप्यस्रवं ॥

जंतु आहेत किंवा नाहींत हें नेशांनीं चांगलें पाहून त्या गुहादिक विकाणीं वीरासन वैगेरे आसनें घालून जो वसतो व सर्व उपसर्ग सहन करितो अशा पापरूपी शत्रुचा नाश करणाच्या त्या मुनिराजाचा तो निषद्या परीषह विजय होय. ११४ ध्यान व शाख्रपटन करून झालेल्या पुष्कळ परिश्रमानें उंच सखल अशा जिमनीवर जो योडीशी झोंप घेतो. व झोपीत कृमिकीटकांना पीडा होईल त्यांचें मईत होईल या भीतीनें एकच वाजूनें जो झोप घेतो व आपलें अंग थोडेसे देखिल हालवित नाही अशा त्या मुनिराजाचा शय्यापरीपह जय जाणावा ११५ मिथ्यात्वकर्माच्या उद्यानें ज्यांचें मन नेहमीं गर्वोद्धत वनलें असल्यामुळें, ज्यांच्या मुखांतून निंच व अतिशय असत्य, कठोर अशीं भाषणें वाहेर पडतात अशा मिथ्यात्वी लोकांची कटुवाक्यें क्रोधरूपी अग्नीला मज्वलित करणारी असतात तथापि तीं वारंवार ऐक्नहीं तिकडे लक्ष न देतां जो उत्कृष्ट क्षमा धारण करितो उत्तम वृद्धिधारक अशा त्या मुनीश्वराचा तो आक्रोश परिषह विजय होय. ११६ नानाप्रकारच्या शस्ताचे

तद्व्यासंगविवर्जितन मनसा क्षांतिं परां विभ्रतः॥ तस्याक्रोशपरीषहप्रसहनं ज्ञेयं यतेः सन्मतेः॥ ११५॥ नानाविधास्त्रहातियंत्रनिपीलनाधैव्याहिन्यमानतनुरप्यरिभिः

प्रसह्यम् ॥

ध्यानात्परादचलतः सहते विमोहो मोक्षोद्यतो वधपरीषहमप्यस-ह्यम् ॥ ११६॥

नानारोगैर्बाधितोऽपि प्रकामं स्वप्रेप्यन्यान्याचते नौषधादीन् ॥ यः शांतात्मा ध्यानिर्धृतमोहो यात्रा तेन ज्ञायते निर्जितोति ११७ महोपवासेन कृशीकृतोऽपि लाभादलामं परमं तपो मे ॥ भैक्ष्यस्य योगीत्यपि मन्यते यो जयत्यलामं स विनीतचेताः ११८ प्रस्तिश्चरं युगपद्दियतिचित्ररोगैर्जे ह्योपधादिविविधर्दियुतोऽप्यु पेक्षां॥

काये परां प्रकुरुते खळु निःस्पृहत्वाद्यः सर्वदा गदपरीषहजित्स योगी॥ ११९॥

आघात, यंत्रांत पिळणें, एकेक अवयव तोडणें वगैरे प्रकारांनीं शत्रूच्या द्वारें जवर दस्तीनें शरीराचा नाश केला जात असतांही मोहरहित व मोक्षप्राप्त करून घेण्या. साठीं उद्युक्त झालेला जो मुनीश्वर हें सर्व सहन कारितों व उत्कृष्ट अशा आत्मध्या-नापासून श्रष्ट होत नाहीं त्याचा हा असहा वध परीषह जय जाणावा. ११७ जो नानारोगांनीं अतिशय पीडित होऊन देखिल स्वप्नांत देखिल औषधाची याचना करीत नाहीं, ज्यानें ध्यानाच्या द्वारें मोहाचा नाश केला आहे -अशा त्या शांत मुनीश्वराचा तो याचना परिषह विजय समजावा. ११८ पक्षोपवासादिक उपवा सांनीं कृश होऊन देखिल आहारलामा पेक्षांही त्याचा लाभ न होणें हेंच माझें-उत्तम तप आहे असें जो समजते। शास्त्रांनीं संस्कृत झालें आहे मन ज्याचें असा तो योगीश्वर अलाभपरीपह विजयी जाणावा. ११९ ज्याला एकदम अनेक तन्हें च्या रोगांनीं पीडित केलें आहे व ज्याला नाना रोगाविनाशक जलीं । श्रिक्रीद्ध प्राप्त झाल्या असतांहीं निस्पृहपणामुळे जो शरीराची विलक्कल परवा इ.स्मीत

यस्तिष्णवर्मतृणकंटकशर्कराचैरादारितांत्रियगलोऽपिहतप्रयादम्।। चर्यादिषु प्रयत्ते विधिना क्रियास तस्य प्रतीहि तृणतोदजयं सुनीशः॥ १२०॥

अंभःकायिकसत्विहंसनिभया स्नान कियामासतेः प्रत्याख्यातवतोऽपि दुःसहतरां कंद्वतिसुद्धाटनं ॥ आरोहन्मलसंपदा प्रतिदिनं वल्मीकभूतं वपु— विभाणस्य परीपहो मलकृतो निश्चीयते योगिनः ॥ १२१ ॥ ज्ञाने तपस्यप्यकृताभिगने निदाप्रशंसादिषु यः समानः ॥ पूजापुरस्कारपरीषहस्य जेता सधीरो सुनिरप्रमादः॥ १२२॥

नाहीं तो योगीश्वर रोगपरीपह विजयीं १२० खराव रस्त्यांतील तीक्ष्ण काटे, बाळु, खुर दगड इत्यादि-कानी ज्याचे दोनही पाय फाटून गेले असतांही विलक्षुल आलस न कारितां जाणें वगैरे क्रिया योग्य विधीनें करीत असतो अशा त्या म्रुनीश्वराचा तृण रपर्श परीपह विजय जाणावा. १२१ जलकायिक जीवांची हिसा होईल या भीतीनें आमरण ज्यानें स्नानत्याग केला आहे, वर्चेवर ज्यांच्या अंगावर मळ चढत असल्यामुळें जो प्रतिदिवशी बाद्धळासारखे ज्यांचे शरीर झाड़े आहे असा भासू लागतो व पुष्कळ खाज सुटली असतांही जो ती व्यथा सहन कारतो अज्ञा त्या साधूचा तो मलयरीपह विजय होय असे हैं राजन तू समज. १२२ जो मुनिवर्य ज्ञान व तपश्चरणायध्ये विलक्षल अभिमान धारण करीत नाही. अर्थात् स्वतः अतिशय ज्ञानी व महातपस्वी असतांही जो विलक्कल निगवीं आहे, निंदा प्रशंसा वगैरेमध्यें समानता धारण करिता तो सन्धुनि पूजा परीपह विजयी समजावा अर्थात अशा महाद्यनीचा कोणी आदरसत्कार नाही केला तरी मनांत त्याविषयी खेद मानीत नाहीत १२२ मी संपूर्ण द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपी समुद्रात्न तरून त्याच्या दुसऱ्या किनाऱ्यास जाऊन पोंचलो आहे. माझ्यापुढें हे अल्पज्ञ लोक पशुसारखे असल्यामुळे शोभत नाहींत अशा रीतीचा ज्ञानगर्व जो विस्कुल त्यागितो मोही स्वभाव ज्यानें नष्ट केला आहे अशा त्या साध्वयांचा तो प्रज्ञा

तीणीिखळश्चतमहांबुनिधः पुरस्तादन्ये ममाल्पमतयः पश्चो न भांति इत्यादिकं मतिमदं जहतोऽवसेयः प्रज्ञापरीषहजयो हतमोहवृत्तेः। १२३ किंचिका वेत्ति पशुरेष विषाणहीनो लै। केरिति प्रतिपदं खळ निंदितोऽपि ॥

क्षांतिं न मुंचित मनागि यः क्षमावानज्ञानजं विषहते स परीषहार्ति ॥ १२४॥

वैराग्यातिशयेन शुद्धमनसस्तीर्णागमांभोनिधेः॥
सन्मार्गेण तपस्यतोऽपि सुचिरं लिब्धनं मे काचन॥
संजातेत्यविनिंदितप्रवचनं संक्लेशमुक्तात्मनः॥
तस्यादशनपीडनैकविजयो विज्ञायते श्रेयसे॥ १२५॥
चारित्रमाद्यं कथितं जिनेंद्रैः सामायिकं तद्विविधं प्रतीहि॥
कालेन युक्तं नियमेन चैकं तथा परं चानियतेन राजन्॥ १२६॥

परीषह जय होय ! १२४ हा कांहीं जाणत नाहीं. शिंगें नसलेला हा पशु आहे असें लोकांनीं प्रत्येक पावलीं जरी निंदा केली तरीही जो थोडादेखील क्षमेचा त्याग करीत नाहीं तो क्षमावान् मुानि अज्ञान परीषहाचा विजयी समजावा. १२५ तीव्र वैराग्याने अंतः करण निर्मळ बनून मी संपूर्ण द्वादशांगश्रुतज्ञानरूपी समुद्र तरून गेलो आहे. रत्नज्ञय मार्गाला अनुसरून फार दिवसापासून तीत्र तपश्चरण करीत अस-तांही मला अद्यापि एकही लिब्ध-ऋदि प्राप्त झाली नाहीं यास्तव तपस्च्यांना अनेक ऋद्धि प्राप्ता होत असतात असे शास्त्रांत लिहिलेल वचन खोटें आहे असे मानून जो शास्त्राची बिलकुल निंदा करीत नाहीं व अंतः करणांतून संक्लेश परि-णामाला जो दूर सारतो अशा त्या मुनिरायाचा अदर्शन परीषहिवजय मोक्षाला कारण मानला जातो. १२६ श्री जिनेंद्रांनीं पहिल्या सामायिक चारित्राचे दोन भेद सांगितले आहेत. पहिल्या भेदाचा काल ट्राविक असतो व दुसऱ्या भेदाचा तसा नसतो. स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, वंदना वगैरे कर्तव्यें नियमितकालीं करावयाची असतात म्हणून ह्यास नियतकालिक सामायिक म्हणतात. व ईर्यापथ वंगेरे कांईां क्रियांचा काल ठरवितां येत नाहीं. देववंदना, आहार, शौच वगैरे क्रिया करावयाच्या वेळीं इंयोप्थ करावें लागतें यास्तव याचा काल ठर्वितां येत नाहीं. सामायिक झण्जे अन्तर्भुहूर्त वगैरे कालप्रमाण करून पंच पातकांचा सर्वत्र त्याग करणें, स्वाध्याय वगैरे छेदोपस्थापनारुयं निरुपमसुखदं सुक्तिसोपानभूतं॥ चारित्रं तद्दितीयं दुरितविजयिनां जैत्रमस्त्रं सुनीनां॥ प्रत्याख्यातप्रमादस्खलनियमनं स्वागमानुक्रयेण॥ छेदोपस्थापनेति प्रक्थनमथवा या निवृत्तिर्विकल्पात्॥ १२७॥ परिहारविद्युद्धिनाम्थयं नृप! चारित्रमवेहि तचृतीयं॥ परिहारविद्युद्धिरित्युदीणां सकलप्राणिवधात्परा निवृत्तिः॥ १२८॥ उपलक्षय सूक्ष्मक्षांपरायं नृप! चारित्रमनुत्तरं तुरीयस्॥ अतिसूक्ष्मकषायतस्तत्प्रवदंतीह यथार्थनाम संतः॥ १२९॥

क्रियेंत ही यांचा त्याग होतोच ह्मणून या क्रियांनाही सामायिक ह्मणण्यास हरकत नाहीं. १२७ छेदोपस्थापना नांचाचे दुसरे चारित उत्कृष्ट सुख देणारें व मोक्ष प्राप्तीस पायरीप्रमाणे आहे. हें मुनीश्वराच्या पातकांचा नाज करून देणारे विजयी शस्त्र आहे वर्ते व नियम यांच्या आचरणांत प्रमादानें दोप लागल्यावर आग-मांत सांगितलेल्या प्रायाश्वित्ताविधीनें त्या दोपापासून आपलें रक्षण करणे यास किंवा विकल्पांचा—अहिंसा, सत्य वगैरे विकल्पांचा त्याग करून अभेदरूपानें पालणें यास छेदोपस्थापना ह्मणतात.

१२८ हे राजन, परिहार विद्याद्धि नांवाचें तिसरें चारित्र आहे. संपूर्ण प्राणि-वधापासून पूर्ण निवृत्ति होणें यास परिहारित गुद्धि नांवाचें चारित्र ह्मणतात असे तूं समज. या चारित्राचा धारक मुनिराज षट्काय जीवांनीं पूर्ण भरलेल्या प्रदेशां-तृन जरी विहार करूं लागला तरी ही कमल पाण्यांत असूनही तें जसें त्यापासून अलिप्त असतें त्याप्रमाणें यालाही पापापासून अलिप्त राहतां येतें, अर्थात् या मु-नीच्या ठिकाणी अशी एक विलक्षणता उत्पन्न होते कीं त्या प्राण्यांना तिल्मालहीं तास पोहोंचत नाहीं. यास्तव या चारित्राचे परिहारित गुद्धि हे नांव योग्य आहे. १२९ हे राजेश्वरा ! सूक्ष्मकषाय नांवाचें चौथें उत्कृष्ट चारित्र आहे. हें चारित्र क्रोध मान माया या कषायांचा उपग्रम अथवा क्षय झाला असतां आणि लोभ अत्यंत क्षीण झाला असता मुनिवर्यास प्राप्ता होतें असें समज. या चारिताचें सूक्ष्म कषाय हें नांव अगदीं अन्वर्थक आहे. १३० चारित्र मोहनीय कर्माचा पूर्ण क्षय अथवा उपग्रम झाला असतां यथाख्यात नांवाचें प्रसिद्ध असें पाचवें चारित्र आत्म्याला प्राप्त होतें. हे नरेश्वरा ! या चारित्रामुलें जीवाला आपले खेरे जिनैर्थथाख्यातिमिति प्रतितं चारित्रमुक्तं खेलु पंचमं तत् ॥ चारित्रमोहोपरामात्क्षयाच्च याथात्म्यमात्मा समुपैति येन ॥१३०। अथावगच्छ द्विविधं तपस्त्वं बाह्यं सदाम्यंतरामित्यपीष्टं ॥ प्रत्येकमेकं खेलु षिव्वधं तद्वक्ष्ये समासेन तयोः प्रमेदान् ॥ १३१ ॥ रागस्य प्रशमाय कर्मसमितेनीशाय दृष्टे फले ॥ हृचे चाप्यनपेक्षणाय विधिवद्धचानागमावासये ॥ सिद्धंचे संयमसंपदोऽप्यनशनं धीरः करोत्यादरात् ॥ तेनैकेन हि नीयते मित्सतां दुष्टं मनो वश्यतां॥ १३२ ॥ प्रजागरायोद्धतदोषशान्त्ये संवाहनार्थं च सुसंयमस्य ॥ स्वाध्यायसंतोषनिमित्तमुक्तं सदावमोदर्यमुदारबोधैः ॥ १३३ ॥

स्वरूप पूर्ण प्राप्त होतें. १३१ हे राजन्! तपाचें वाह्य तप व अभ्यंतर तप असे दोन भेद आहत व हे दोन भेद आत्ग्याचें कल्याण करणारे आहेत. या प्रत्येक भेदाचे सहा सहा मकार आहेत. यांचें मी संक्षेपानें म्वरूप सांगतो. १३२ राग विकार शांत व्हावा, कर्मीचा नाश व्हावा हाणून आदरसत्कार, कीर्ति वगैरे ऐहिक सुंदर फलांची इच्छा न ठेवितां हें दोन मकारचें तप करावें लागतें, शास्त्रोक्त पद्धतीनें ध्यानाची प्राप्ति व्हावी व संयम संपत्ति लाभावी ह्मणून धीर मुनि अनशन नां-वाचें पहिलें बाह्य तप आद्रानें करीत असतात. याच एका तपानें बुद्धिमान लो-कांना आपलें दुष्ट मन स्वाधीन ठेवतां येते. अनशन हाणजे अन्न, पिण्याचे पदार्थ, खाद्य-बर्फी, लाइ, चिवडा वगैरे, व चाटण्याचे पदार्थ या चार आहारांचा त्याग करणें. याचें षष्ट, अष्टम, पक्ष, मास वगैरे पुष्कळ भेद आहेत. १३३ जागरूकपणा, वातापितादिकांचें उपभामन, संयम चांगला पालता येण, स्वाध्याय व संतीष या गों धींच्या सिद्धचर्थ हें अवमोद्य तप करावें असे केवळज्ञानी जिनेश्वर भव्यांना सांगतात. कमी आहार घेणें यास अवमोदर्थ किंवा ऊनोदर ह्मणतात. एक हजार तांदळांचा घास या प्रमाणास धरून पुरुपाचा आहार वत्तीस घास प्रमाण मान-लेला आहे, एकेक घास कमी करीत करीत एक घासापर्यंत आहार घेणे हें सर्व ऊनोदराचे भेद होतात. १३४ एक घर, गर्छा, दाता, अन्न, चगैरेविपयीं कांहीं संकल्प करणें यास द्विपरिसंख्यान ह्मणतात. अशा संकल्पाने मन ताव्यांत

संकल्प एकभवनादिक गोचरो यश्चित्तावरोधनमवेहि तपस्तृतीयं तृष्णारजःशमनवारि निरत्ययाया लक्ष्म्यास्तदेव हि वशिकरणैक-मंत्रं॥ १३४॥

दुष्टेन्द्रियाश्वगणदर्पविनिग्रहार्थ निद्राप्रमादविजयाय तपश्चतुर्थं ॥ स्वाध्याययोगसुखासिद्धिनिमित्तमुक्तं त्यागो घतप्रमुखवृक्षरसस्य यस्तत् ॥ १३५ ॥

यथागमं शून्यगृहादिकेषु विविक्तशय्यासनमामनंति ॥
स्वाध्यायदेवव्रतयोगसिद्ध्ये मुनेस्त १ः पंचममंचितं तत् ॥ १३६ ॥
श्रीष्मातपस्थितिघनागमवृक्षमूळवासाभवासविविधप्रातिमादिकं रात्
पष्टं तपः परमवेहि नरेंद्र! कायक्केशाभिधानमिद्मेव तपः सुमुख्यं १३७

राहतें. हें तप लोभरूपी धूळ धुऊन टाकण्यास पाण्यासारखें आहे व निर्वाध अगा मोसलक्ष्मीला वग करण्यास हें वशीकरण मंत्रासारखें आहे. अमुक दात्याने आ हार दिला तर घेईन, अमुक पात्रांतून आहार दिला तर घेईन इत्यादि संकल्पास हित्पिरिसंख्यान तप ह्मणावें. १३५ दुष्ट इंद्रियरूपी घोड्यांची मस्ती नाहींगी व्हावी ह्मणून व निद्रा व आलस यांना जिंकण्यासाठीं, स्वाध्याय व ध्यान यांची सुखाने प्राप्ती व्हावी ह्मणून, तूप साखर वगैरे रसाचा त्याग करणें यास रसपिरत्याग तप ह्मणावें १३६ जाखाला अनुसरून पडकें घर, सोहून दिलेलें घर, पर्वताची गुहा वगैरे ठिकाणीं स्वाध्यायतपासाठीं व ब्रह्मचर्यव्रत चांगलें पालावें ह्मणून मुनि निजतात व वसतात त्यांचें हें विविक्त शय्यासन नांवाचें हें पांचवें पूल्य नप होय.

१३७ उन्हाळ्यांत उन्हामध्यें तपश्चरण करणें, पावसाळ्यांत झाडाच्या खाळीं तप करणें, इतर वेळीं अथीत्-हिवाळ्यांत उघड्या मैदानांत तपश्चरण करणें तसेंच रात्रीं स्मग्रान वंगरे टिकाणीं ध्यान धरणें, मूर्यासंमुख मुख करून ध्यान धरणें वंगरे प्रकारानें तप करणें यास हे राजन्! कायक्रेश नांवाचें तप म्हणतात असें समज्ञ. हेंच तप सर्व तपामध्यें मुख्य आहे. १३८ सर्वज जिनेश्वराच्या आजेला अनुसक्त प्रमादापासून जे दोप आपल्या हातून घट्टन येतात त्यांचें नियमन परणें अर्थान् ज्या उपायांनीं ते दोप द्र होतात असें आगमामध्यें सांगिनलें आहे ते उपाय अमलांन आणणें यास मायश्चित्त तप म्हणतात. या तपाचें टहा

अथ दर्शविधं प्रायिश्वत्तं प्रमादभगगसां
प्रतिनियमितं सर्वज्ञाज्ञाप्रणीतिविधानतः ॥
प्रवयसि जने प्रवज्याद्यैः स यः परमादरो ॥
भवति दिनयो मूलं मुक्तेः सुखस्य चतुर्विधः ॥ १३८ ॥
निजतनुवचःसाधुद्रव्यांतरैर्यदुपासनं ॥
ननु दश्विधं वैयावृत्त्यं यथागममीरितं ॥
अविरतमथ ज्ञानाभ्यासो मनःस्थितिशुद्धये ॥
शमसुखमयः स्वाध्यायोऽसौ दशाधिविधो मतः ॥ १३९ ॥

भेद सांगितले आहेत. दीक्षा, ज्ञान, तप वगैरेनीं अधिक अञ्चा वयोधिक मुनि आचार्य वगैरे विषयीं जो उत्कृष्ट आदर करणें तें विनय नांवाचें तप होय. याचे दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय व उपचारविनय असें चार भेद आहेत. शंकादि दोषरहित असें तत्वावर श्रद्धा टेवणें हा दर्शन\_ विनयः मोठ्या आदरानें ज्ञानाचा अभ्यास करणें, मनन करणें यास ज्ञानविनय म्हणतात. चारित्नांत पूर्ण स्थिरता असणें हा चारित्रविनय व पत्यक्ष आचार्य आले असतां उठून उभा राहणें, हात जोडणें वैगेरे उपचाराविनय होय. हा विनय मुक्तिमुखाचें मूळ आहे. १३९ स्वतःचें शरीर, वचन, व निर्दोष असे औषधादि-पदार्थ यांच्या साहाय्यानें मुनीश्वरांची आगमाला अनुसरून उपासना करणें-सेवा सुश्रुषा करणें यास वैयावृत्य म्हणतात. याचे आगमांत दहा भेद सांगितले आहेत. मनाची विशुद्धता चांगली गहावी म्हणून नेहमी ज्ञानाभ्यास करणे यास स्वाध्याय ह्मणतात. हा स्वाध्याय शांति व सुख यांनीं भरलेला आहे अर्थात् यापासून याची शाप्ति होत असते. या स्वाध्याय तपाचे पांच भेद आहेर. निर्देशि ग्रंथ शि-कविणें यास वाचना ह्मणतात. संशय नाहींसा होण्याकरितां अथवा आपणास अस लेल्या माहितींत बलकटी यावी ह्मणून प्रश्न करणे यास पृच्छना ह्मणावें. शुद्ध पाठ ह्मणणें तो आम्नाय व जाणलेल्या तत्वाचें वारंवार मनानें चिंतन करणें यास अनुपेक्षा, धर्मकथा सांगणें, उपदेश देणें। यास धर्मीपदेश झणतात. १४० मी या पदार्थाचा स्वामी आहे व ही वस्तु माझी आहे अशा प्रकारच्या आपल्या संकल्प बुद्धीचा उत्तम रीतीनें त्याग करणें यास जिनेश्वरांनीं व्युत्सर्ग तप असें नांव दिल्लें आहे. याचे बाह्योपाधि त्याग-घर, धनधान्य यांचा त्याग करणें व

आत्मात्मीयायाः स्वसंकल्पबद्धेः सस्यक्त्यागो यः प्रणातो जिनेंद्रैः॥
म व्युत्सगों दिप्रकारः प्रतीतो ध्यानं चातः सप्रभेदं प्रवक्ष्ये॥१४०॥
अविह सत्संहननस्य सूक्तमेकाश्रचितास्निनरोध एकः॥
ध्यानं जिनेंद्रैः सकलावनोधरंत्रभृहूर्ताद्य तच्चतुर्धा ॥ १४१॥
आर्तं च रेष्द्रं नरनाथ! धर्म्यं शुक्छं च तद्भेद इति प्रणीतः॥
संसारहेत् प्रथमे प्रदिष्टे स्वमोक्षहेत् यवतः परे दे ॥ १४२॥
आर्तं विद्धि चतुर्विधं स्मृतिसमन्वाहार इष्टेतरा—
वाप्तस्तिद्धरहाय चेष्टविरहे तत्संगमायेति यः॥
अप्यत्युद्धत्वदेन॥भहतये घोरं निदानाय तत्—
प्रादुर्भृतिरुदाहृता खु गुणस्थानेषु प्रद्स्वादितः॥ १४३॥

अभ्यंतरोपाधि-क्रोधादि विकागचा त्याग करणे असे दोन भेद आहेत. आनां ध्यानाचे भेद्सहित मी वर्णन करितां, १४१ एकाच विपयाकडे विचाराला रोक्नन ठेवणें यास ध्यान म्हणतात. हें ध्यान वज्जवृषभनाराच, वज्जनाराच व नाराच या तीन सहननिधारकांना अंतर्धृहर्तपर्यंत होऊं शकतें असें सर्वज़ जिनांनीं सांगितलें आहे असे हे राजन्! तुं समज. १४२ या ध्यानाचे आर्तध्यान, गैद्रव्यान, धर्म्यध्यान आणि शुक्रध्यान असे चार भेट आहेत. हे राजाधिराज, पहिली होन ध्याने संसाराला व जेवटवीं होन ध्याने मोक्षाला कारण आहेत. १४३ आर्तध्यान चार तन्हेचे आहे. अनिष्ट पढार्थीचा मंयाग झाला असतां तो दृर व्हावा असा नेहमी विचार करणें, यास अनिष्ट मंयोगज आर्तध्यान म्हणतात आवडत्या पटार्थाचा वियोग झाला असनां न्यांच्या प्राप्तीविषयी नेहमीं विचार करणें यास इष्टवियोगज आर्तब्यान म्हणतात. रोगापासुन देदना उन्पन्न होऊं लागळी असतां ती दूर व्हावी असा नेहमीं विचार परणें व पुरें मला उत्तम भाग्य पटार्थ मिळावेत अजी इच्छा असणें हें निवान भार्न यान होय. पहिन्दीं नीन ध्याने पहिल्या गुणस्थानापामून साहव्या यु परिधानापर्यत होतानः सहाच्या गुणस्थानांत निहान आर्निष्यान होत नाहीं. १४४ हिंसा. अमन्य भाषण, चोरी व परिग्रहाचे रक्षण करणे या कार्यान

अगरी गर्न जाणे व न्यामुळे परिणामामध्ये अतिहास ऋगता उत्पन्न होंणे सास

हिंसानृतस्तेयपरिश्रहैकसंरक्षणेभ्यः खलु रौद्रमक्तं॥ तस्य प्रयोक्ता विरतो निकामं स्यात्मंयतासंयतलक्षणश्च ॥ १४४ ॥ आज्ञापायविपाकसंस्थितिभवं धर्म्यं चतुर्घा मतं यः सम्यज्विचयाय तत्स्मृतिसमन्वाहार आपादितः॥ भावानामातिसोध्स्यतो जडतया कर्मोदयादात्मनः॥ तत्राज्ञाविचयो यथागमगतं द्रव्यादिसंचितनम् ॥ १४५॥ मिध्याःवेन सदा विमृहमनसो जात्यंघवत्प्राणिनः॥ सर्वज्ञोक्तमताच्चिराय विमुखा मोक्षार्थिनो ज्ञानिनः॥ सन्मार्गादवबोधनादिभसताहूरं प्रयांतीति यत्॥ मार्गोपायविचिंतनं तद्धितं धर्म्यं दितीयं चुधैः ॥ १४६॥ अपायविचयोऽथवा निगदितो जिनैः कर्मणां अपायविधिर्चितनं नियतमात्मनः संततम् ॥ अपेयुरहितादिमे कथमनादिमिध्यात्वतः शरीरिण इतीरिता स्मरणसंतितश्चापरा ॥ १४७॥

रौद्रध्यान म्हणतात. या ध्यानाचा स्वामी अविरत जांव व संयतासंयत अर्थात् आवक हे होत. आवकाला पिरग्रहांचें संरक्षणामुळें हें ध्यान होऊं शकतें परंतु तें त्याला नरकगतीला कारण असूं शकत नाहीं. मुनींना जर हें रौद्रध्यान होऊं लगलें तर ते आपल्या संयमापासून श्रष्ट होतात. १४५ रत्नलयधर्मापासून जें वेगळें नाहीं त्यास धर्म्यध्यान म्हणतात. याचें आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय असे चार भेद आहेत. आज्ञा वगैरेचा उत्तम रीतींनें वारंवार विचार करणें, स्मरण करणें, यास धर्म्यध्यान म्हणतात. जीवादिपदार्थांचें सूक्ष्म स्वरूप स्वतःला कर्मीद्यामुळें वुद्धीला मांच आल्यानें शास्तांत जसें सांगितळें असेल तसें प्रमाण मानून त्याचें वारंवार चिंतन करणें यास आज्ञाविचय धर्म्यध्यान म्हणतात. १४६ जन्मांघाला कांहीं दिसत नसल्यामुळें तो खाच खळग्यांत जसा पडतो तसें पिथ्यात्वानें या जीवांचें मन नेहमीं मूढ वनलें आहे यामुळें हे सर्वज्ञ जिनेश्वरांनीं दाखविल्लया सन्प्रार्गापासून श्रष्ट होत आहेत. जिनेश्वराच्या

यज्ज्ञानावरणादिकर्मसमितंद्रव्यादिकं प्रत्ययः ।
प्रोद्यचित्रफलोच्चयानुभवनं प्रत्यकसंचितनम् ॥
सम्यक्तिन्नतरां विपाकविचयो लोकस्य संस्थाविधेः ॥
यत्संस्थाविचयो निरूपणिमिति स्याद्रप्रमत्ताच्च तत् ॥ १४८ ॥
चतुर्विकल्पं निगदंति शुक्कध्यानं जिना ध्यानिविभिन्नमोहाः ॥
आद्ये सदापूर्वविदो भवेतां परे परं केवलिनः प्रणीते ॥ १४९ ॥
प्रोक्तित्रवर्गस्य जिनैः पृथक्तवितर्क आद्यः स इति प्रणीतं ॥
द्वितीयमेकत्विवर्तकं एक्योगस्य च ध्यानमनूनवोधैः ॥ १५०॥

करयाणकारक उपदेशापासून हे अज्ञ प्राणी फार दुर जात आहेत यामुळें संसार भ्रमरूपी अपाय यांना झाला आहे असें चिंतन करणें व यापासून यांच्या **उपायाचा विचार करणे यास** उपाय<sup>े</sup> थर्म्यप्यान म्हणतात. १४७ कर्मापासून जीवाचें नेहमीं अकल्याण होतें असें जिनांनीं सांगितले आहे. सर्वे कर्मीपैकीं मिथ्यात्व कर्म हैंच जीवाचा फार अपाय करिते अशा मिथ्यात्वापासून हे प्राणी कर्से वरे दुर होतील ? असें नेहमीं स्मरणरूप चिंतन करणें यास अपाय विचय असेंही हाणतात. १४८ ज्ञानावरणादिक आठ कर्मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इत्यादि कारणसामग्री मिळाली असतां उदयाला येऊन नानाप्रकारची फळें-सुखदुःखादिक फळें जीवास भोगावीं लागतात. त्या प्रत्येक कमीच्या फलाचें उत्तम रीतीने चिंतन करणें याम विपाकविचय असें ह्मणतात. लोकाच्या आकाराचा व त्यामध्यें होत असलेख्या दु खादिकांचा व लोकांच्या अनेक भेदाचा-स्वर्ग, नरक, द्वीप, समुद्र, मोक्ष इत्या-दिकांचा विचार करणे यास संस्थानविचय असें ह्मणतात. हें धर्मध्यान अविरत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तविरत व अप्रमत्तविरत या चार गुणस्थानातील जीवांना होते. १४९ शुक्लध्यान चार प्रकारचे आहे असे ध्यानाच्या द्वारं मोद्दर्भीय कर्म ज्यांनीं नष्ट केलें आहे अज्ञा श्री जिनेश्वरानीं सांगितलें आहे. पहिलीं दोन ध्याने चौदा पृत्रीचें ज्ञान ज्यांना आहे अञा मुनीवगम होते व पृद्वीं दोन त्यानें सयोग के उली व अयोग केवली या उभयतांना होत असतात. जमें अतिशय स्वन्छ केलेलें वल पूर्ण पांढरें होतें तसे या ध्यानामध्यें आत्म्याचे परिणाम अगर्टी निर्गळ होतात म्हणून या ध्यानास शुक्लध्यान हैं नाव आहे. स्क्ष्मिकयास प्रतिपादितेन स्क्ष्मिकयादिप्रतिपातिनामा ॥
तत्काययोगस्य वदंति शुक्लं तृतीयमालोकितिवश्वलोकाः ॥१५१॥
अथो विपूर्वोपरतिकयादिका निशृत्तिकारव्या परमस्य कीर्तिता ॥
नरेन्द्र शुक्कस्य समस्तदृष्टिमिर्भवत्ययोगस्य तद्व्यदुर्लभम् ॥१५२॥
एकाश्रये विद्धि कुशाश्रबद्धे वितर्कवीचारगते निकामं
पूर्वे द्वितीयं त्रिजगत्पद्यिजिनैरवीचारमिति प्रणीतम् ॥ १५३॥
नुधा वितर्क श्रुतमित्युशन्ति वीचार इत्याचरणप्रधानाः ॥
अर्थस्य च व्यंजनयोगयोश्र संक्रान्तिमाकान्तशमैकसौक्याः॥१५॥।

१५० पृथक्तव वितर्क हें पहिलें शुक्ल ध्यान मन वचन व काययोग या तीनहीं योगांनीं उत्पन्न होतें अर्थात् तीन योगाचे धारक असे पूर्व श्रुतज्ञान्याला हैं पहिलें शुक्लध्यान् होतें. दुसरें एकत्ववितर्क नांवाचें शुक्लध्यान तीन् योगांपैकीं कोणत्याही एक योगाला घारण करणाऱ्या मुनीराजास होतें असे पूर्ण ज्ञान धा-रण करणारे जिनेश्वर सांगतात. १५१ ज्यावेळीं सयोग केवळी जिनेश्वर योगनि-रोध करितात त्यावेळीं काय योगाला अतिशय सूक्ष्म करितात. या योगाला सूक्ष्म करतांना त्यांना सूक्ष्म किया प्रतिपाति हैं ध्यान होतें. यावेळीं इतर योग आधींच नष्ट झालेले असतात. असें सर्व तत्वांना पाहिलेले अरहंत भगवान सांगतात. या ध्यानाचें द्वारें भगवान् अयोग केवली वनतात. १५२ यानंतर व्युपरत क्रिया नि-द्यति नांवाचें चौथें शुक्लध्यान होतें. हें ध्यान सर्वोत्कृष्ट आहे. हें अयोग केव-इतरांना याची प्राप्ति होत होतें. सर्वदर्शी जिनेश्वरानी सांगितलें आहे. या अयोग केवलीच्या अवस्थेंत योगाचा पूर्ण निरोध होतो. व त्यामुळें या ध्यानाचें व्युपरताक्रिया निष्टात्ति असे नांव आहे १५३ पृथवत्विवतके व एकत्विवतके हीं दोन शुक्लध्यानें हे निष्णुण राजन् एकाच आधारांत असतात अर्थात् चौदा पूर्वींचे ज्यांना ज्ञान आहे अशा मुनी-श्वरांना हीं दोन ध्यानें होत असतात. पहिंच्या शुक्ल ध्यानांत वितर्क व वीचार असतो म्हणून त्यानें पृथक्त्ववितर्क वीचार असे नांव आहे. दुसऱ्या ध्यानांत वीचार नसतो म्हणून त्यास त्रैलोक्याला दिपासारखे प्रकाशित करणाऱ्या जिने-अरांनीं एकत्व बीतर्क अवीचार असे नांव दिलें आहे. १५४ आचरणाला-चारि-ज्ञाला प्रधानमुख्य समजणारे मुनीश्वर श्रुतज्ञानाला वितर्क असे नांव देतात. व ज्यांनीं समतारूप अद्वितीय सुखाची प्राप्ति करून घेतली आहे अशा जिनेश्वरांनीं अर्थ व्यंजन व योग यांच्या संऋगणाळा वीचार असें नाव दिलें आहे.

ध्येयं द्रव्यम्थार्थिमत्यभिमतं तत्पर्ययो वापरो राजव्यंजनिमत्यवेहि वचनं योगांगवाक्चेतसां ॥ प्रस्पंदः परिवर्तनं यदुदितं संक्रान्तिरित्यंजसा ॥ स्वालम्ब्येकतमं क्रमेण विधिना कृत्स्नेषु चार्थादिषु ॥ १५५ ॥ द्रव्याणुं सुवशीकृताक्षतुरगो भावाणुमप्यादतो ध्यायन्त्राप्तवितकशक्तिरनधः सम्यक्षृथक्त्वेन यः ॥ अर्थादिन्मनसा क्रमाच शमयन् संसर्पतोन्मूलयन् ॥ मोहस्य प्रकृतीरसो वितनुते ध्यानं सदाद्यं सुनिः ॥ १५६ ॥ प्राप्यानंतगुणैकशुद्धिसहितं योगं विशेषक्रमात्। छिंदन्मोहतरुं समूलमचिराज्ज्ञानावृतेः संततं ॥

१५५ ज्याचें चिंतन करावयाचें त्याला ध्येय ह्मणतात. द्रव्य, गुण व पयोय यांचा जो समुदाय त्यास अर्थ ह्मणतात व हा अर्थंच ध्येय आहे व्यंजन द्मणजे शब्द अर्थात् शास्त्रांतील 'एको ह शाश्वतः आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः' इत्यादि वाक्यांना व्यंजन असे झणतात. शरीर, वचन व मनाची जी प्रदृत्ति चलन वलन होते यास संक्रांति ह्मणतात. ही संक्रांति तीन मकारची आहे. अर्थ संक्रांति, व्यंजन सक्तांति व योगसंक्रांति. द्रव्यरूप ध्येयाला सोडून पर्याय किंवा गुणरूपी ध्येयाकडे प्रद्यात्ती होणें ही अर्थ संक्रांति होय. एका श्रुत शब्दाचा किंवा वाक्याचा आश्रय घेऊन ध्यान करीत असतां तें सोइन दुसऱ्या श्रुतवचनाचा आश्रय घेण नें सोड्न तिसऱ्याचा घेणे या सर्वाला व्यजन सक्रांति म्हणतात. काययोगाच्या आश्रयाने आधा ध्यान करून नंतर मनोयोगाने ध्यान करणे तोही सोडून नंतर वचन किंवा मनोयोगानें ध्यान करणें इत्यादिकांना योग संक्रान्ति ह्मणतात. पहिल्या ध्यानांत रहता नसतें म्हणून असें परिवर्तन होतें परंतु दुसऱ्या ध्यानांत हा प्रकार नाहीं. १५६ इद्रियरूपी घोड्यांना ज्याने उत्तम बश केंछ आहे असा मुनिराज श्रुत जानाची शक्ति प्राप्त करूत घेऊन द्रव्यगुण पर्याय वगैरेचें वेगळ वेगळे चिंतन करितो. आपल्या मनोवेगाने द्रव्याणु म्हणजे द्रव्याचा सूक्ष्मपणा व भावाणु म्हणजे भावाचा स्वंसंवेटन पिगामाचा मूक्ष्मपणा याचे मुनिराज चिंतन करितो. आपत्या परिणामाच्या निर्मलतेने मोहनीय कर्गाच्या पकृतीना शमविणे किंवा त्यांचा क्षय करणे हीं कार्य या पहिल्या ध्यानांत होतात.

र्रंघन्वंघमि स्थितेश्च जनयन् न्हांसक्षयौ निश्चलः ॥
स्यादेकत्विवर्त्तकभागिति यतिः कर्माणि हंतुं सहः ॥ १५७ ॥
अर्थव्यंजनयोगसंक्रमणतः सद्यो निवृत्तश्चतः ॥
साधुः साधुक्रतोपयोगसहितो ध्यानश्चमाकारभृत् ॥
ध्यायन्श्चीणकषाय इत्यचलितस्वांतः पुनर्ध्यानतः ॥
निर्लेपो न निवर्तते मणिरिव स्वच्छाकृतिः स्फाटिकः ॥ १५८ ॥
निःशेषमेकत्विवत्तकशुक्कध्यानान्निद्ग्धाखिलघातिदारः ॥
ज्ञानं परं तीर्थकरः परो वा स केवली केवलमभ्यपेति ॥ १५९ ॥
चूडारत्नांशुजालैः किशलियतकरैर्वंद्यमानः सुरंद्रैः ॥
स्वज्ञानान्तर्निमन्निज्ञजगदनुपमस्तीर्भसारसिंधुः ॥
उत्कर्षणायुषोऽसौ विहरति भगवान्भव्यद्वंदैः परीता ॥
देशोनां पूर्वकोटीं शिशविशदयशोराशिभः श्वेतिताशः ॥ १६० ॥

१५७ अनतपर्टानीं ज्यांत विशुद्धि झाळी आहे अशा कीणत्यातरी एका योगाचा आश्रय करून विशेषरीतीनें क्रमानें मोहनीय कर्माचा नाश करण्यास मुनिराज सुरवात करितात. व त्यावेळीं मोह सर्व मूळसहित नष्ट करून टाकितात. याच प्रमाणें ज्ञानावरणीय कर्माचा वंध रेाकून व त्याची स्थिति कमी करून टाकितात. अशा रीतीनें मुनिराज ज्यांचा योग निश्चळ आहे असे वनले ह्मणजे ते कर्मनाश करण्यास समर्थ होतात. असले याति एकत्ववितर्कशुक्छध्यानी होत. १५८ जेव्हां या ध्यानास मुनिराज सुरवात करितात त्यावेळीं त्यांचें श्रुतज्ञान निश्चळ होतें व त्यावेळीं अर्थ व्यंजन व योग यांच्या सक्तांति झणजे परिवर्तनें नाहींशीं होतात. व योगाची पूर्ण एकाम्रता प्राप्त होते. ध्यानाला योग्य अशा आकाराचे धारक असे ते मुनिराज या एकत्व वितर्क ध्यानाणासून जेव्हां पराष्ट्रच होत नाहींत तेव्हां त्याचें क्षीण कषाय हें गुणस्थान प्राप्त होतें. त्यावेळीं यांचा आत्मा स्वच्छ आकाराच्या स्फटिक मण्याप्रमाणें निर्लेप बनतो अर्थात् मोहनीय कर्माचा पुनः त्यांना बंध होत नाहीं. १५९ एकत्विवतर्क शुक्ळध्यानरूपी अमीने जाळून टाकिले आहेत ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय व अंतराय कर्म संपूर्ण ज्यांनीं असे ते तीर्थंकर किंवा सामान्य मुनि केवलज्ञानाला प्राप्त होतात. १६० तेव्हां

अन्तर्भुहूर्तिस्थितिकं यदायुस्तत्तुल्यवेद्यान्वितनामगोत्रः ॥
विहायवाद्यानसयोगमन्यं स्वकाययोगं खळु वादरं च ॥ १६१ ॥
आलंब्य सूक्ष्मिकृतकाययोगमयोगतां ध्यानवलेन यास्यन् ॥
स्क्ष्मिकृयादिप्रतिपातिनाम ध्यायत्यसौ ध्यानमनन्यकृत्त्वः ॥१६२॥
आयुःस्थितेरप्यपरं निकामं कर्मत्रयं यद्यधिकं स्थितं स्यात् ॥
तदा समुद्धातसुपैति योगी तत्तुल्यतां तत्त्रितयं च नेतुं ॥१६३॥
दंडं कपाटमनधं प्रतरंच कृत्वा स्वं लोकपूरणमसौ समयेश्चतुर्भिः ॥
तावाद्भिरेव समयेरुपसंहतात्मा ध्यानं तृतीयमथ पूर्वविदभ्युपैति
॥ १६२ ॥

चूडामणिरत्नाच्या किरण समृहांनीं उयां हे हात पाछवी फुटल्याप्रमाणें शोभतात अशा देवेन्द्राकडून जे बंदिले जातात. ज्यांच्या ज्ञानामध्यें त्रैलोक्य निमप्त आहे जे अनुपम असून संसारसमृद्रांतून तरून गेले आहेत असे ते मुनिराज भव्यसमूहांनीं वेष्टित वनून पूर्वकोटि वर्पीना काहीं कमी अशा उत्कृप्ट आयुष्यानें विहार करितात व आपल्या चंद्राप्रमाणें निर्मल अशा स्वतः च्या यशसमूहांनीं सर्व दिशा पांढच्या करितात. १६१--६२ जेव्हां अंतर्भुहूर्त आयुष्य राहतें व नाम, वेदनीय आणि गोत्न ही कर्में ही अंतर्मुहूर्त रिथतीचीं अस-तात त्यावेळीं वचनयोग व मनोयोग यांचा त्याग करून व वाद्र काययोगाचा आश्रय वेतात. काययोगाला सूक्ष्म करून ध्यानवलाने ते अयोगावस्येला प्राप्त होतात. इतर कोणतेंही कुत्य नसल्यामुळं सूक्ष्मिक्रयामातिपाति नांवाच्या ध्यानाला ते पारंभितात. १६३ आयुकर्मापेक्षां नाम गोल, व वेदनीय ही तीन कर्मे ज्यांची अविक स्थितीची उरली असतील तर त्या कमीची स्थिति आयुक्रमी एवढी कर्-ण्याकरितां ते योगी समुद्धात करितात यांच्या या समुद्धाता लोकपूरणसमुद्धात असें नांव आहे. या समुद्धातामध्यें योग्याचे आत्मप्रदेश सर्वछोकभर पसरून ते पुनः सकुंचित होऊन देहस्थ होतात. १६४ पहिल्या चार समयांत या योग्याच आत्मप्रदेश दंडाकार वनून देहाचा आश्रय न सोडतां देहापास्न वाहेर पडतात नंतर कवाड व पड्याच्या आकाराचे वनून चवध्या समयांत सर्व लोकभर पस-रतात व नर्सेच चार समयांनी आत्मप्रदेश संकुचित होतात यानंतर तिसऱ्या ध्या-

ततः समुच्छिन्नपदादिकित्रियानिवृत्तिना ध्यानवरेण कर्मणां ॥
निरस्य शिक्तं सकलामयोगतां प्रपद्य निर्वाणमुपैति केवली ॥१६५॥
स्वपूर्वकृतकर्मणां च्युतिरुदीरिता निर्जरा
द्विभद्मुपयात्यसाविति विपाक्तजा पाकजा ॥
पचाति भवि कालतः परमुपायतो योग्यतो
वनस्पतिफलानि मनुजनाथ कर्माण्यपि ॥ १६६ ॥
सम्यग्दृष्टिरुपासकश्च विरतः संयोजनोद्रेष्टको
मोहस्य क्षपकस्तथो ।शमको दृष्टेश्चरित्रस्य च ॥
शांताशेषकषायकः क्षयकरः प्रक्षीणमोहो जिनो
नासंख्येयगुणक्रमाञ्चनु भवत्येषां परा निर्जरा ॥ १६७ ॥
इति संवरनिर्जरानिमित्तं द्विविधं सत्परिकीर्तितं तपस्त्वं ॥
शृणु संश्रयणीयमेकबुद्धचा क्रमतो मोक्षमतस्तवाभिधास्ये ॥१६८॥

नाला ते सुरवात करितात. १६५ यानंतर समुच्छिन्न किया प्रतिपाती नांवाच्या उत्कृष्ट चौथ्या ध्यानानें अद्यापि कर्मीची सर्व शक्ति नष्ट करूच मुनिराज योगर-हित बनून निर्वाणपदाला प्राप्त होतात.

१६६ पूर्वी संचित केलेल्या कर्माची आत्म्यापासून थोडी थोडी सुटका होणें यास निर्जरा म्हणतात. या निर्जरचे सविपाका व अविपाका असे दोन भेद आहेत. यथाकालीं कर्म उदयाला येऊन आपलें फळ आत्म्याला देऊन तें नष्ट होणें यास सविपाक निर्जरा म्हणतात व जसें झाडाचीं फलें उपायांनीं पक्षावस्थेला नेता येतात त्याममाणें हे राजन हीं ज्ञानावरणादि कर्म देखिल पक्षावस्थेपत नेऊन त्यांना आत्म्यापासून काढून टाकिता येतें. या निर्जरेला अविपाका निर्जरा म्हणतात. १६७ सम्यग्हिष्ट, त्रतीश्रावक, महात्रती म्राने, (साह्व्या व सात्व्या गुणस्थानांतलें) अनंतानुवंधी कषायांचे विसंयोजन करणारे—त्यांना अपत्याख्या स्वभावाचे वनविणारे, दर्शनमोहाचा क्षय करणारे, चारित्रमोहाचा अप करणारे ज्यांचे चारित्र मोहकर्म पूर्ण उपश्म पावलें आहे असे, चारित्रमोहाचा क्षय करीत असलेले व त्याचा पूर्ण क्षय केलेले व स्योगि जिन या सर्वीची उत्तरोत्तर कर्माची असंख्यातपटीनें आधिक अधिक निर्जरा होत असते. १६८ याप्रमाणें संवर व

वंधस्य हेतोर्नितरामभावात्मुसंनिधानादिष निर्जरायाः ॥
समस्तकर्मस्थितिविप्रमोक्षो मोक्षो जिनेंद्रौरिति संप्रणितः॥१६९॥
प्रागेव मोहं सकलं निरस्य गत्वाथ च श्रीणकपायसंज्ञां ॥
विवोधदृष्ट्यावरणांतरायान्हत्वा ततः केवलमभ्युपैति ॥ १७० ॥
चतुर्व्थासंयतपूर्वसम्यग्दृष्ट्यादिषु भाक् सुविशुद्धियुक्तः ॥
स्थानेषु किर्माश्चिदिष क्षिणोति मोहस्य सप्त प्रकृतीरशेषाः॥१७१॥
निद्रानिद्रा प्रचलास्त्वपूर्वी श्रिणोति मोहस्य सप्त प्रकृतीरशेषाः॥१७१॥
विद्रानिद्रा प्रचलास्त्वपूर्वी तिर्यग्गतिस्तत्प्रकृतानुपूर्वी ॥ १७२ ॥
एकेंद्रियादिश्चतुर्रिवियांता चतुर्विधा जातिरथातपश्च ॥
उद्योतकस्थावरस्क्षमसंज्ञा साधारणाख्या प्रकृतिश्च राजन् ॥१७३॥

निर्जरा या उभयतांना कारण-असछेछे दोन मकारचें (अंतरंग व वहिरंग) तप हैं राजन मीं वर्णिलें आहे. आतां ऐकण्याला योग्य अज्ञा मोक्षाचें क्रमानें मी तुला स्वरूप सांगतो. तूं एकाग्रवुद्धिने तें ऐक. १६९ वंधाच्या कारणांचा (मिध्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग ) पूर्ण अभाव झाला असतां व निर्जरा कर्मवंथाने रिहत अशी होऊं लागली असतां संपूर्ण कर्म सत्तेंतून पूर्ण नष्ट होतें यास जिनेश्वरांनीं मोझ म्हणावें असे सांगितलें आहे. १७० प्रयमतः संपूर्ण मोहर्नाय कर्भ नष्ट करून व क्षीण कषाय नांवाच्या गुणस्थानांत प्रवेश झाळा असतां तेथें जानावरण, दर्शनावरण, अंतराय या तीन क्यीचा आत्मा नाश करितो व केवली वनता. १७१ चौष्या गुणस्थानापासून सातव्या गुणस्थानापर्यंत कोणत्या ही एका गुणस्थानांत परिणामांच्या निर्मळतेने युक्त होऊन दर्शन मोहनीय कर्मी-च्या-सातप्रकृतींचा आत्मा नाज करितोः अशीत् मिथ्यात्व, सन्यङ् मिथ्यात्व, सन्य-क्त्य, अनंतानुवंधिकोध, मान, माया व लोभ यांचा नाज्ञ करितो. १७२-७३-७४ तदनंतर निद्रानिद्रा पचलापचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगाति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्थ-गाति, तिर्युगत्यानुपूर्वी, एकेंद्रिय. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिद्रिय जातिनामक्षे, आतप, उद्योत, स्यावर, सुक्ष्म, साधारण या सोळा कर्म प्रकृतींचा अनि-द्यत्तिवादरसांपराय गुणस्थानांत हे राजन् नाज्ञ होतो तदनंतर याच गुणस्था-नांत अम्त्यारन्यान क्रोध, मान, माया छोभ प्रत्यारन्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, कोभ अशा आटकपायांचा नाश मुनिश्वर करीत असतात.

क्षिणोति शुद्धचा सहितोऽनिवृत्तिस्थाने स्थितः सन्निति षोडशैताः॥ ततः कषायाष्टकमेकवारं तत्रैव नष्टं क्रियते यतीशा॥ १७४॥ नपुंसकं वेदमथ क्षिणोति स्त्रीवेदमप्याहितशुद्धवृत्तः ॥ ततः परं तत्र च नोकषायषद्वं च धीरो युगपत्समस्तं ॥ १७५॥ तत्रैव पुंवेदमथो विहन्ति पृथंकपृथक्संज्वलनत्रयं च ॥ लोभोऽपि सूक्ष्मादिकसांपरायस्यांते क्षयं संज्वलनः प्रयाति ।१७६। ततः क्रमात्क्षीणकषायवीतरागोपदेशं समधिष्ठितस्य ॥ उपान्तिमे द्राक्समये निकामं निद्रा विनाशं प्रचला च याति ॥ १७७॥ अथ द्योरन्यतस्थ्र वेद्यो दैवी गतिस्तत्प्रकृतानुपूर्वी ॥ औदारिकं वैकियिकं शरीरमाहारकं तैजसकार्मणे च ॥ १७८॥ स्पर्शाष्टकं पंच रसाः शरीरसंघातकाः पंच च पंच वणीः॥ लघुश्र पूर्वो निहितागुरुश्च तथोपघातः परघातकश्च ॥ १७९॥ प्रा विहायोगतिरप्रशस्ता तथा प्रशस्ता च शुभाशुभा च ॥ स्थिरास्थिरौ सुस्वरदुःस्वरौ च पर्याप्तकोच्छासकदुर्भगाश्च ॥१८०॥ प्रत्येककायोऽप्ययशःपदादिकीर्तिस्त्वनादेयसमाह्वया च ॥ निर्माणकर्मप्रकृतिश्च नीचैगोंत्रं च पंचापि शरी (बंधाः ॥ १८१ ॥

१७५-१७६ यानंतर याच गुणस्थांनात आणखी आत्माचें चारित्र विशुद्ध वनलें म्हणजे नपुंसक वेद, व स्त्री वेदाचाही नाश होतो. यानंतर धीर असे हे मुनिराज याच गुणस्थानांत एकदम हास्य, रित, अरित, शोक, भय, जुगुप्सा या सहा नोकषायांचा नाश करितात. याच गुणस्थानांत पुंवेदाचा नाश करून नंतर संज्वलन कोध, मान, याया यांचा नाश होतो. यानंतर दहावें गुणस्थान प्राप्त होतें तेथें संज्वलन लोभाचा पूर्ण नाश होतो. १७७ यानंतर वाराव्या गुणस्थानांत-श्लीण कषाय गुणस्थानांत जीव जेव्हां प्रवेश करितो तेव्हां याच्या जपान्त्य समयीं निद्रा व प्रचला यांचा नाश होतो व शेवटच्या समयांत पांच ज्ञानावरणीय कर्में, चार दर्शनावरणीय कर्में, पांच अंतराय कर्में यांचा क्षय होतो. १७८-१८१ यानंतर अन्यतर वेदनीय कर्म, देवगित, देवगत्यानुपूर्वी, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, संस्थानपद्वं, त्रिशरीरकांगोपांगं च पदसंहननं द्विगंधं ॥
हन्तीत्युपान्ते समये नृपैता द्वासप्तिंच प्रकृतीरयोगः ॥ १८२ ॥
वेद्यद्वयोरन्यतरं नराणामायुर्गितिश्चापि तदानुपूर्वी ॥
जातिश्च पंचेद्रियशब्दपूर्वा पर्याप्तकाख्यस्नसवादरौ च ॥ १८३ ॥
स्रुतीर्थकत्त्वं सुभगो यशः स्यात्कीर्तिस्तदादेयससुच्चगोत्रे ॥
त्रयोदशेताः प्रकृतीः समं च हिनस्ति सान्त्ये समये जिनेंद्रः ।१८६।
व्यपेतलेशः प्रतिपद्य भाति शैलेशिभावं नितरामयोगः ॥
विराजते वारिदरोधमुक्तो निशासु खे किं न शशी समग्रः ।१८५।
भावानां खलु मुक्तिरौपशिमकादीनामभावात्परं ॥
भव्यत्वस्य च भव्यसत्वसमितेहत्कंठमातन्वती ॥
सम्यवत्वाद्य केवलावगमनाद् हृष्टेश्च सिद्धत्वतः ॥
स्यादत्यंतिनरंजनं निरुपमं सौख्यं परं विभ्रती ॥ १८६॥

तेजस व कार्मण हीं पांच गरोरें, गीत, उप्णादिक आठ स्पर्श, कडू आंवट वेगरे पांच रस, औदारिक संघानादि पांच संघात, पांढरा, काळा वेगरे पांच रंग, अगुरु लघु, उपयात, परचात विहायोगित, (प्रशस्त व अप्रशस्त) ग्रुभ, अग्रुभ, स्थिर, अस्थिर, सुस्तर, दुःस्तर, पर्याप्त, उच्छ्वास, दुर्भग, प्रत्येक गरीर, अयशस्कीति, अनादेय, निर्माण, नींच गोत्र, औदारिक वंघन वगैरे पांच वंघन कर्मे, समचतुरस्नादिक सहा संस्थानें, औदारिक वैक्तियिक आहारक अंगोपांग अशीं तीन अंगोपांग, वज्रपेभ, नाराचादिक भहा संहननें, सुगंघ दुर्गथ अशा वहात्तर प्रकृति अयोग गुणस्थानाच्या उपान्य समयांत नष्ट होतात. १८३-१८४ अन्यतर वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्य गित, मनुष्यात्यानुपूर्वी, पंचेद्रियजाति, अपर्याप्त, त्रस, वादर, तीर्थकरत्व. सुभग, यग्नः कीर्ति, आदेय, उच्चगोत्रा, या नेरा प्रकृतींचा चौदाच्या गुणस्थानाच्या शेव-टब्या मगयांत जिनेत्वर नाज करितान. १८५ योवर्जी चौदाच्या गुणस्थानांच्या अमन्देन्या या जिनेत्वर नाज करितान. १८५ योवर्जी चौदाच्या गुणस्थानांच अमन्देन्या या जिनेत्वरांना लेट्या कोणनीदी राहात नाही. अटग हजार जीलांची माप्ति होतें. योवर्जी है जिनगज फार गोभनान. वरोवर आहे कीं, मेघांच्या तिने वर्षातृन मुक्त झानेट्टा संपूर्ण चंद्र गत्नीच्या प्रार्भी शोभत नाही काय ? या गुण-



५ एकदां प्रभु अतिमुक्तक नांवाच्या स्मशानांत रात्री प्रतिमायोग धारण करून ध्यानांत लीन हाले अमतां नानाप्रकारच्या विद्यांच्या सामर्थ्यानें उपसर्ग करणारा भव नांवाचा अफरावा रुद्र संसाररित वीर प्रभूला जिंकण्यास असमर्थ झाला. तेव्हां त्यानें पुष्कळ पेळ नमस्कार करून हर्षानें प्रभूचे महाति महावीर असे नांच ठेविलें. पृष्ठ ३६१.

आविष्टपांतादथ याति सौम्यकर्मक्षयानंतरमूर्ध्वमेव॥
एकेन मुक्तः ममयेन मुक्तिश्रियाप्यमूर्तः परिरम्यमाणः ॥ १८६॥
पूर्वप्रयोगान्नियमप्रकृष्टादसंगकत्याच्च विवंधलेपात् ॥
गतिस्वभावस्य तथाविधत्वानमुक्तात्मनामूर्ध्वगतेः प्रसिद्धिः॥१८७॥
सौम्याविद्वकुलालचक्रवदथो निर्लेपकालाबुवत् ॥
वातारिश्चपवीजविष्णिविद्यावच्चेति तत्वैषिभिः ॥
सद्दष्टान्तचलुष्ट्यं निगदितं पूर्वोदितानां क्रमात् ॥
हेत्नां परिनिश्चयाय च गतेः सद्भिश्चलुर्णामपि ॥ १८८॥
धर्मास्तिकायस्य न यांत्यभावात्ततः परं सिद्धिसुखोत्कसिद्धाः ॥
धर्मास्तिकायादिविवर्जितत्वादलोकमाहुः परिमद्धवोधाः ॥१८९॥

स्थानाच्या नंतर जीवाला मोक्ष प्राप्त होतो. औपरामिक, क्षायोपरामिक, औद्यिक व पारिणामिक भावांपैकीं भव्यत्व यांचा, मुक्तीच्या वेळीं नाश होतो. ही मुक्ति भव्यजीवाच्या अंतःकरणांत उत्कंटा उत्पन्न करीत असते. या मुक्तिमध्यें जीवा. च्या ठिकाणीं सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलद्र्शन, सिद्धत्व, हे गुण राहतात. उप-भारहित आणि कर्मरहित असें उत्कृष्ट सुख येथें प्राप्त होतें.

१८६ कमीचा क्षय झाल्यावरोवर हा आत्मा एका समयांत लोकाच्या अंतापर्यंत वरच जातो. व तेथें त्याला मुक्तिलक्ष्मी गाढ आलिंगन देते. १८७ जीवाचा वर जाण्याचा नेहभीं पूर्वीपासून प्रयत्न चाललेला असणें, कर्मापासून वेगला होणें, सर्व कर्मांच्या वंधाचा लेद होणें, व वर गमन करण्याचा स्वभाव असणें या कारणांनीं मुक्त जीवांचें ऊर्ध्वगमन सिद्ध होतें. १८८ हे सीम्य राजा, वर उर्द्धगमनाचे जे चार हेतु सांगितलें होते त्यांची माहिती चांगली व्हाची म्हणून कमानें चार दृष्टांत तत्वज्ञानीं सत्पुरुषांनीं सांगितलेले आहेत. ते याप्रमाणें कुंभागनें एकदा चाक जोरानें फिरविलें म्हणजे तें संस्कार क्षय होईपर्यंत फिरतें त्याप्रमाणें जीवाला वर जाण्याच्या संस्कारानें वर जाता आलें. ज्याचा लेप निघून गेला आहे असा भोषला पाण्यावर उसळ्न येतो त्याप्रमाणें जीवाचें कर्माचें लिंपण कमी नष्ट झाल्यामुळें जीव वर गमन करितो. एरडाचें वी जसें विज कोशाचीं वंधनें ढिलीं झालीं असतां वर उद्दन जातें तसें कर्माचें

80

आवरण तुटून गेलें असतां जीव वर जातो. अशीची जाते स्वाभाविकपणें वर जाते तसें हा आत्मा कमीभाव झाल्यावर स्वाभाविक वर जातो. १८९ म्राक्ति सुखाविष-र्यी उत्कंठित झालेले सिद्धजीन धर्मद्रव्याचा अभाव असल्यामुळे अले।काकाशांत जात नाहींत. लोकाकाशाच्या पुढें धर्मास्तिकाय वगैरे द्रव्यें नसल्यामुळें वाकी राहिलेल्या आकाशाला उत्कृष्ट जानी जिनेश्वर अलोकाकाश असे म्हणतात. १९० क्षेत्र, काल, चारित्र, लिंग, गति, तीर्थ, अवगाहना, प्रत्येकवुद्ध, वोधितवुद्ध, ज्ञान, अंतर, संख्या, अल्पवहुत्व, या पकारांनी व दोन नयांच्या आश्रयाने फक्त मानलेला आहे. वास्तविक त्यांच्यांत भेद नाहींत. क्षेत्रसिद्ध-प्रत्युत्पन्न नयाच्या अपेक्षेनें आत्मपदेशांत अथवा सिद्धिक्षेत्रांतच मोक्ष प्राप्त होतो. परंतु भूतानुग्राही नयानें पाहिलें असतां पंथरा कर्मभूमिमध्यें जीवाला मोक्ष प्राप्त होतो. कालसिद्ध--पत्युत्पन्ननयापेक्षेनें एका समयांत सिद्धि होते. परतु भूतानुग्राही नयानें उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालांत मोक्षलाभ होतो. विशेष रीतीने पाहिलें असतां अवसर्पिणी-च्या सुषम दुःषमाच्या अंतभागीं व दुःषम सुषमकालांत जन्मलेला सिद्ध होतो. दु:षमकालांत उत्पन्न झालेला सिद्ध होत नाही. चारित्रसिद्ध-यथाख्यात चारित्रानें सिद्धि होते अथवा चार व पांच चारित्रांनींही मोक्षप्राप्ति होते. छिंगसिद्ध-मोक्षमाप्तीच्यावेळीं स्त्री, पुरुष, नपुंसक असे कोणतेंही छिंग नसते म्हणून अर्छिगत्वानें सिद्धि होते. अथवा भावि छगाच्या हृष्टीनें पाहिलें असतां तीन्हीं लिगांनी सिद्धि होते. द्रव्यालिंगानें फक्त पुर्लिगानेंच सिद्धि होते. गति-सिद्ध-मनुष्यगतीनें मोक्ष प्राप्त होतो. गागच्या गतीनें विचार केळा असतां चारी गतींनीं मोक्ष प्राप्त होतो. तीर्थसिद्ध-तीर्थकर होडन सिद्ध होणें व सापान्य मुनि होऊन सिद्ध होणें. अवगाहनासिद्ध-उत्कृष्टावगाहना ५२५ धनुष्यें, जघन्यावगाहना साडे तीन हात अवगाहनांचे मध्य वि मल्ट असल्यात आहेत. या अवगाहनांनीं सिद्धि होते. प्रत्येकवुद्ध-परोपदेशाशिवाय ज्ञानप्राप्ति करून घेऊन सिद्ध होणें. वोधितबुद्ध-परोपदेशानें ज्ञानलाभ करून मोक्ष प्राप्त करून ज्ञानसिद्ध-केवल्जानानेंच मोक्ष प्राप्त होतो. परंतु भूतपूर्व नयाने पाहिले असतां मित व श्रुत या दोन ज्ञानांनीं अथवा मितिश्रुताविध या तीन ज्ञानांनीं, किंवा मित श्रुत मन पर्येय या तीन जानांनीं, किंवा मति श्रुत अवधि मनःपर्यय या चार ज्ञानांनीं मोक्ष मिळतो. अंतरसिद्ध-एक समय अंतर पहून जवन्य रीतीनें मोक्ष प्राप्त होतो व उत्कृष्ट रीतीने एक जीव मोक्षास गेल्यानंतर दुसरा सहा महिन्यांनी मुक्त होतो. संख्यासिद्ध जयन्य रीतीनें एका समयांत एक जीव सिद्ध होतो व उत्कृष्ट

क्षेत्रं कालचिरित्रिलिंगगतयस्तीर्थावगाहो मतो ॥
प्रत्येकप्रतिबुद्धबोधितांवधा ज्ञानं तथैवान्तरम् ॥
संख्या चाल्पबहुत्वामित्यभिहितो भेदस्त्वमीभिः परं ॥
सिद्धानां सन्यैनयद्धयंबलात्संप्रत्यतीतस्पृशः ॥ १९० ॥
विधिवदिति जिनेंद्रश्चकनाथाय तस्मै
सदिस नवपदार्थान्व्यक्तसुक्ता व्यरंसीत् ॥
अपि सुविहितबोधस्तस्य गोभिः समंतान्
अभिनव इव पद्मः पद्मबंधोर्विरेजे ॥ १९१ ॥
विज्ञाय मेक्षपथमित्यथ चक्रवर्ती चक्रिश्रयं तृणिवि प्रजहो दुरंताम्॥
जानन्त्रसन्नपयसः सरसः प्रदेशं पातुं सृगोऽपि यतते मृगतृष्णिकां

स्वं ज्यायसे सकलराज्यमरिंजयाय प्रीत्या प्रदाय तनयाय बमार दीक्षां॥

दाला ॥ क्षेमंकरं जिनपतिं समुपत्य भक्त्या क्षेमाय षोडशसहस्रनृपैः स सार्द्ध ॥ १९३॥

रीर्नानें एका समयांत १०८ जीव सिद्ध होतात. अल्पबहुत्वासीद्धि-अनेक प्रकारची आहे. गतीच्या हिंगें जसे तिर्यंच गतींत्न येऊन थोडे जीव ग्रुक्त होतात. यापेक्षां मनुष्यगतींत्न येऊन मोक्षाछा जाणारे जीव ज्यास्ती आहेत. अशाच रीतीनें अल्पबहुत्व क्षेत्र, काळ वगैरेमध्यें देखीळ जाणावा. १९१ याप्रमाणें शास्त्रोक्त पद्धतीळा अनुसक्त जिनेंद्रांनीं चक्रवर्तीळा समवसरणांत नऊ पदार्थीचा उपदेश केळा व नंतर ते थांवळे. जसें सूर्याच्या किरणा-पासून कमळामध्यें विकास उत्पन्न होतो तसे भगवंताच्या वाणीपासून चक्रवर्तीळा उत्तम बोध झाळा. १९२ मोक्षमार्गाचें स्वरूप याप्रमाणें जाणून चक्रवर्तींनें दुःख-दायक अशा चक्रवर्तींच्या वैभवाचा गवताश्रमाणें तुच्छ मानून त्याग केळा. बरोबरच आहे कीं, प्रसन्न पाण्यानें भरळेल्या सरोवराच्या प्रदेशाची ज्याळा चांगळी माहिती झाळी आहे असा हरिण मृगजळाचें पान करण्याची खटपट करीळ काय १ १९३ चक्रवर्तींनें आपळें सर्व राज्य अरिजय

मनिस प्रशमं निधा र शुद्धं विधिना सः धु तपश्चाचार घोरं ॥
भुवि भव्यजनस्य वत्सलत्वात्त्रियमित्रः प्रियमित्रतां प्रयातः ॥१९४॥
अथायुरंते तपक्षा तनुत्वं तनुं स यातां विधिना विहाय ॥
करुंप सहस्रारमनरुपपुण्येः स्वर्राजतं वर्जितमाप खेदैः ॥ १९५ ॥
तत्राष्टादशक्षागरायुरमरस्त्रणां मनावस्त्रभो
हंसां के रुचकाव्हये प्रसु दत्ति सत्रशन्तिमाने परे ॥
बालावात्मतन् रुचा रुचिरया सूर्यप्रभां देपयन् ॥
दिव्यामष्टगुणां बभार सुचिरं सूर्यप्रभः संपदम् ॥ १९६ ॥

इत्यसगकृते वर्द्धमानचरिते सूर्यप्रभसंभवो नाम पंचद्शः सर्गः समाप्तः

नांवाच्या मोठ्या मुलाला प्रीतीनें देऊन टाकिलें व क्षेमंकर जिनेश्वराकडे भक्तीनें येऊन सोला हजार राजांसह आपलें कल्याण न्हावें ह्मणून दीक्षा घेतली. १९४ भन्यलोकांवर मेम करीत असल्याकुळें हा पियमित्र चक्रवतीं पियमित्र या अन्वर्थक नांवाला प्राप्त झालेला होता. यानें मनामध्यें निर्दोष प्रश्नम धारण करून योग्य विधीनें निर्दोष व घोर असें तपश्चरण केलें. १९५ नंतर जेन्हां आयुष्य संपलें त्यावेलीं या चकीनें तपश्चरणानें कुश झालेल्या श्वरीराचा सल्लेखना करून त्याग केला व जेथें विलक्षल दु ख नाहीं अशा सहस्रार रवर्गाची विपुल पुण्यानें प्राप्ति करून घेतली. १९६ त्या स्वर्गीत याचें आठरा सागर वर्षीचें आयुष्य होतें. देवां-गना याला पाहून फार आनदित होत असत. हंसाच्या चिन्हाने युक्त असलेल्या रुचक नांवाच्या न्वतः च्या विमानांत हा आनंदित होऊन राहत असे. स्वतःच्या सुंदर शरीरकांतीनें सूर्याच्या वाल कांतीला याने लिज्जत केलें होतें. यामुलें याचें सूर्यप्रभ हें नांव सार्थक होतें. ह्या सूर्यप्रभ देवांने पुष्कल कालपर्यंत आणिमा माहिमा वगैरे आठ दिन्यगुणांनीं युक्त अशा ऐश्वर्याला धारण केलें होतें.

याप्रमाणें असगकविकृत वर्द्धमानचरित्रामध्यें सूर्यप्रभदेवाच्या उत्पत्तीचें वर्णन करणारा पंधरावा सर्ग समाप्त झाला.





अथ नाकसौरूयमनुभूय बहुविधमचिन्त्यवैभवम् ॥
संगरिहतमवतीर्य च स त्वमभूरिह प्रकृतिसौम्यनंदनः ॥ १ ॥
वपुरादधिविधमाशु विजहदिप कर्मपाकतः ॥
मेघ इव वियति वायुवशात्परिंचभ्रमीति पुरुषो भवोदधौ ॥ २ ॥
पुरुषेण दुर्रुभमवेहि परममविनाशि दर्शनम् ॥
येन सहितमचिराय यतस्तमुपैति मुक्तिरिप मुक्तिवर्त्मना ॥ ३ ॥
सफलं च जन्म खलु तस्य जगित स विदां पुरःसरः ॥
गुप्तिपिहितदुरितागमनं भववीतये भवित यस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

१ दुःखरिहत व नाना प्रकारचें अवर्णनीय ऐश्वर्य ज्यामध्यें आहे असें स्वर्णसुख भोगृन तूं या पूर्व देशांतील श्वेतातपत्नानगरीमध्यें स्वभावतः सौम्य असा नंदन नांवाचा राजा झाला आहेस. २ हे राजन् या जगामध्यें आत्मा कर्मा द्यामुळें नाना भकारचें शरीर ग्रहण करीत असतो व सोहन देत असतो. अशा रीतीनें हा आत्मा मेघ जसा वाच्याच्या धक्षचामुळें आकाशांत इकडे तिकडे भ्रमण करीत असतो तसा या संसारसागरांत वारंवार भ्रमण करीत आहे. ३ हे राजा या जगांत अविनाशी व उत्कृष्ट असें सम्यग्दर्शन आत्म्याला प्राप्त होणें फार दुर्लभ आहे असें तूं समज. हें सम्यग्दर्शन मोक्षाचा मार्ग आहे. व या सम्यग्दर्शनांन जो आत्मा युक्त बनला आहे त्याला लौकरच मोक्षाची देखील प्राप्ति होते. ४ मनो ग्राप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति या गुप्तींच्या द्वारें पातकाला न येंद्रं देणारें असें ज्यांनें चारित संसाराचा नाश करण्यास कारण होतें त्याच आत्म्याचें जन्म घेणें सफल

घनरूढमूलमि नाम तरुमि महामतंगजः॥
मोहमिखलमिचराय पुमान्स भनिक्त यः प्रशमसंपदा युतः॥५॥
अववोधवारिशमकारि मनिस शुचि यस्य विद्यते॥
क्रांतजगदिप न तं दहित न्हदमध्यमिनिरिव मन्मथानलः॥ ६॥
अधिरूढसंयमगजस्य विमलशमहेतिशालिनः॥
श्वांतिघनतरतनुत्रभृतो व्रतशीलमोलपरिरक्षितात्मनः॥ ७॥
स्वातुमिप न सहते पुरतो निह दुजयोऽस्ति सुनयावलिन्वनाम्।८।
सुवशीकृताश्चहृदयस्य शमनिहृतमोहसंपदः॥
दैन्यरहितचरितस्य सतः किमिहैव मुक्तिरपरा न विद्यते॥ ९॥

आहे व जगांत तोच विद्वानांचा खरा पुढारी आहे, असें समजावें. ५ जसें मोठा हत्ती ज्याच्या दाट मुळ्या फार खोळ गेल्या आहेत अशाही झाडाला तत्काळ जपडून टाकितो तसे प्रशम संपत्तीने युक्त असलेला आत्मा फार दिवसापासून सर्वे आत्मप्रदेशांत खोल रुनून वसलेल्या अशा रागद्वेषात्मक मोहाला तेथून तत्काल नष्ट करून टाकितो. ६ ज्याच्या हृदयांत मोहाचे शमन करणारें पवित्र असें ज्ञानरूपी पाणी राहात आहे त्या आत्म्याला तळ्याच्या मध्यभागीं प्रवेश केलेल्या मनुष्याला जसें आग्ने जाव्हं शकत नाहीं तसें सगळ्या जगाला ज्यानें व्यापून टाकिलें आहे असा मदनरूपी अग्नि दग्ध करूं शकत नाही. ८ जो संयमरूपी इत्तीवर आरूढ होऊन हातांत निर्मल प्रशमरूपी तरवार धारण केल्यानें शोभत आहे. ज्यानें क्षमारूपी दृढ चिललत आंगांत धारण केलेलें असून व्रते व अठरा हजार शील्ररूपी मुख्य सैन्याच्या द्वारें ज्यानें स्वतःचें रक्षण केलें आहे असा मुनिरूपी राजा ज्यावेळीं तपरूपी रणामध्यें लढण्यासाठीं तयार होऊन उभा राहतो, त्यावेळी पापरूपी शत्रु पुष्कळ उद्घट असला तरीही तो त्याच्यापुढें उभा देखिल रादण्यास समर्थ होत नाहीं. वरोवर आहे कीं, ज्यांनीं सन्मार्गाचा आश्रय घेतला आहे त्यांना जगांत दुर्नय असा कोणता पदार्थ आहे वरें ? ९ ज्यानें आपर्छी इाद्रियें व मन पूर्णपणें स्वाधीन केलें आहे. प्रशमाच्याद्वारें ज्यानें मोहाची सर्व संपत्ति नष्ट करून टाकिली आहे, ज्याच्या आचरणांत दीन-पणाला राहावयास जागा मिळालेली नाहीं अशा सत्पुरुपाला इहलोकींच दुसरा अमृतच्युता मुनिगिरा विबुधमहितया तमोनुदा ॥
पद्म इव शिशिररिगरुन प्रतिबोध्यते भुवि न दूरभव्यकः ॥ १०॥
श्रुतमिद्धमप्यफलमेव विपयनिरतस्य चेष्टिते ॥
श्रुतमिद्धमप्यफलमेव विपयनिरतस्य चेष्टिते ॥
श्रुतमिद्धमप्यफलमेव विपयनिरतस्य चेष्टिते ॥
श्रुतमिद्धमपद्धुतमर्चित्यबहुविधगुणं सुदुर्लभं ॥
स्तिमव भजित भव्यजनः श्रुरणे निधाय भुवने कृतार्थतां ॥ १२॥
इति नंदनाय समुदीर्थ मुनिपतिरतीततद्भवान् ॥
व्यक्तमविधनयनो व्यरमत्पुरुपार्थतत्वमिप तत्ववेदिने ॥ १३॥
स वमनमुदाश्च शुचि तस्य वचनमवधार्य नंदनः ॥
चंद्रमणिरिव रराज गलज्जलाबिदुरिदुकरजालसंगतः ॥ १२॥

मोक्ष प्राप्त झाला नाहीं काय ? १० ज्यापासून अमृत पाझरते, जो देवामध्यें आदरणीय मानला जातो, जो अंधाराचा नाश करितो अशा चंद्राच्या थंडगार किरणाच्या कांतीने सूर्यविकासि कमळ जसें प्रफुल्लित होत नाहीं, तें मिटलेलेंच राहतें त्याप्रमाणें ज्यांतून अमृतासारखा कल्याणप्रद उपदेश बाहेर पडत आहे व जें विद्वानांना व देवांनादेखील मान्य असून मिध्यात्वाचा व अज्ञानाचा नाश करिते अशा मुनीराजाच्या भाषणानें या जगीं जे दूर भव्य आहेत तें प्रसन्न होत नाहींत अर्थात् त्याच्यावर कांहीं परिणाम होत नाहीं

११ जो पुरुष चारित धारण करूनही विषयामध्ये आसक्त बनतो त्याचे शास्त्रज्ञान उत्कृष्ट असूनही व्यर्थ होय. युद्धामध्ये भयाने थरथर कांपत असलेल्या माणसाच्या तीक्ष्ण शक्षाप्रमाणें ते विफल आहे असे हे राजा तूं जाण. १२ मुनी-व्याचा उपदेश अद्भुत व अचितनीय फलाला देणारा, अनेक सद्धुणांनी युक्त व अतिशय दुर्लभ असल्यामुलें चितामणी रत्नाप्रमाणें आहे,जो भव्य जीव हा उपदेश आपल्या कानामध्ये धारण करितो तो तेलोक्यांत कृतार्थ होतो. १३ अवधिज्ञान-रूपी नेत धारण करणाऱ्या त्या प्रोष्टिल महामुनीनीं याप्रमाणें तत्व जाणणाऱ्या नंदन राजाच्या पूर्व भवाचे स्पष्ट वर्णन वरून व धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष या चार पुरुषार्थाचें स्वरूप सांगृन विश्रांति घेतली. १४ जसा चंद्रकांत मणि चंद्रिकरणांच्या सहवासानें ज्याच्यांतून पाण्याचे भेंच गळत आहेत असा होत्साता शोभूं लागतो. तसा त्या मुनीव्याच्या पवित्र भाषणाला हृद्यांत धारण

प्राणिपत्य मौलितटनम्रमुकुलितकराग्रपल्लवः॥
अक्तिविसरपरिनद्धतनुमुनिमित्यवोचत वचो महीपतिः॥१५॥
विरला भवन्ति एनयोऽथ विनतजनताहिताय ये॥
रिचत्रमणिगणवितानमुचो विरलाश्च ते जगित वारिवाहिनः।१६॥
विरलाः किथन्त इह सन्ति लसदवधिबोधलोचनाः॥
रत्निकरणपरिभिन्नजलस्थलसंपदः प्रिगिला जलाशयाः॥१७॥
भवतः करिष्यति वचोद्य मम सफलमीश जीवितं॥
अस्तु नियतमियदेव परैः किमुदीरितैर्विफलमिप्रयैस्तव ॥१८॥
अभिधाय धीरमिति वाचमवनिपतिर।दिशत्मुतम्॥
वर्महरमतिविनित्मिलाभवितुं तमं बनिधिवारिवाससं॥१९॥

करून तो नंदन राजा आनंदाश्च गाळणारा असा शोभूं छागछा। १५ भक्तीच्या भारानें ज्याचें शरीर नम्र झाले आहे, ज्यानें मुकुटाच्या किनाच्या- वर आपलें नम्र हातरूपी कोमल पछवांना मिटिविलें आहे अशा त्या नंदनराजानें नमस्वार करून मुनिश्वरांना पुढें लिहिल्याप्रमाणें वोळण्यास सुरवात केली. १६ हे मुनिराज, नम्र अशा भव्यांच्या हितासाठीं उचुक्त होणारे मुनि आपल्यासारखे विर्लाच असतात. वरोवरच आहे कीं, नानापकारच्या रत्नसमूहाची वृष्टि करणारे मेप फार विरळाच असतात. १७ शोभणाच्या अवधिज्ञानरूपी नेत्रानें युक्त असलेले मुनिश्वर जगांत किती असणार? ते विरळाच असतात. रत्नाच्या किरणांनीं ज्यांनीं पाणी व किनाच्याचा प्रदेश व्याप्त केलेला आहे—सुशोभित केला आहे अशीं सरोवरें जगांत थोडींच असणार. १८ हे मुनिराज! आपलें हें भाषण आज माझ्या जीविताला अवश्य सफल करील. एवढेंच वोलणें पुरें आहे. आपल्याला अप्रिय असल्याला अवश्य सफल करील. एवढेंच वोलणें पुरें आहे. आपल्याला अप्रिय असल्याला इतर भाषणांना घेळन काय करावयाचें आहे ?

१९ याप्रमाणें गंभीर भाषण करून राज्य पालन करण्यास योग्य, अतिशय नम्न अशा आपल्या नंद नांवाच्या मुलास समुद्राचें पाणी हेंच जिचें वस्न आहे अशा पृथ्वीचें रक्षण करण्यास राजानें सांगितलें. २० जगांत मिसद झालेल्या मौष्टिल मुनीस नमस्कार करून राज्यलक्ष्मीचा त्याग करून दहा हजार राजांसह नंदन राजानें तपाचा स्वीकार केला. २१ अंगवाहा व अंगपविष्ट सहनंदनः श्रियमपास्य दशशतदशिक्षतिश्वरैः ॥
प्रौष्ठिलमुनिं नु जगत्प्रथितं तमिष्रणम्य समुपाददे तपः ॥ २० ॥
श्रुतवारिधिं द्रयधिकपंक्ती विउसदमलांगवीचिकं ॥
तूर्णमतरदुरुबुद्धिभुजा बलतोंऽगवाद्यविविध्रममाकुलं ॥ २१ ॥
मनसाश्रुतार्थमसकृत्स विषयविमुखेन सावयन् ॥
तप्तुमसुकरमुपाक्रमत क्रयतो द्रिपिड्वध्रमनुक्तमं तपः ॥ २२ ॥
जहदात्मदृष्टफललौल्यमनिमनतरागशांतये ॥
ध्यानपठनसुखसिद्धिकरं प्रयतोऽकरोदनशनं सुनिश्चितस् ॥ २३ ॥
विधिवत्प्रजागरिवतर्कपरचितिसमाधिसिद्धये ॥
सत्वममलमवलम्ब्य सुनिर्मितभोजनं विमलधीश्वकार सः ॥ २४ ॥
अरुणात्सुधः खलु कृशोऽपि सुनिरिति तृषो विसर्पणं ॥
दित्रिभवनगमनोचितया विधिवतस्वृक्तिपरिसंख्यया परं ॥ २५ ॥

या दोन तटांनीं युक्त असलेला आचारांग, सूबद्धतांग वगैरे निर्मल वारा अंगे या लाटांनीं युक्त असलेला, अंगवाह्याचे जे सामायिक, चतुर्विश्वतिस्तव वगैरे जे भेद आहेत हेच भोवरे ज्यांत आहेत अशा श्रुतज्ञान रूपी समुद्राला हा नंदन मुनि आपल्या मोट्या बुद्धिरूपी वाहूच्या सामर्थ्यांनें तरून गेला.

२२ पंचेंद्रियांच्या पदार्थापासून विरक्त झालेल्या मनाच्या द्वारें वारंवार शा-स्नांत सांगितलेल्या जीवादि पदार्थाचें चिंतन करणाच्या या नंदनमुनींनीं करण्यास कठिण असें वारा प्रकारचें उत्तम तप क्रमानें करण्यास सुरवात केली. २३ आदर-सत्कारादि लें. किकफलाची इच्छा न ठेवितां व संयमाला अयोग्य अशा रागभा-वांचा उपशम व्हावा झणून ध्यान व स्वाध्याय यांची सुखानें प्राप्ति करून देणारें अनशन (चार प्रकारच्या आहारांचा त्याग करणें) तप निश्चितरूपानें प्रयत्नशील होऊन हे मुनिराज करीत असत. २४ जागरूकपणा राहावा, तर्कशाक्ति बाढावी व ध्यानांसिद्धि व्हावी झणून शास्त्रांत सांगितल्याप्रमाणें आपले निर्मल परिणामांचा आश्रय घेऊन निर्मल बुद्धीचे धारक असे हे मुनिराज मितभोजन करीत असत. हे मुनिराज कृष झाले होते तरी भूक व तहानही वाढली असतांही त्यांना ताव्यांत ठेवीत असत. दोन अथवा तीन घरांतच मी आहार घेईन अशा शास्त्रोक्त पद्धतीनें हें प्रविधाय वृक्षरसमोक्ष्मविजितिनद्राक्षचापलः ॥ क्षोभविसरजनकानि सदा मनसो रुरोध खल्ल कारणानि सः ॥२६॥ स पदेष्वजंतुवधकेषु विहितद्यायनासनिस्थितिः ॥ ध्यानपरिचितिच्तुर्थवरत्रतरक्षणार्धमभवत्समर्थधीः ॥ २७ ॥ स तपे तपोभिरभिसूर्यमचल्लघितरान्त दुःसहे ॥ त्यक्तनिजतनुरुवेर्महतः किमिहास्ति किंचिदिप तापकारणं ॥ २८ ॥ तरुमूलमावसददभ्रधनवलयमुक्तवारिभिः ॥ सिक्ततनुरिप नभस्यचलं शामनामहो चरितमद्भुतास्पदं ॥ २९ ॥ शिशिरागमे विहरशेत निशि शिशिरपातभीषणे ॥ भीतिविरहितसमाचरणः किम्र दुष्करेऽिप परिमुद्यति प्रभुः ॥ ३० ॥ परमांतरं च स चकार निरुपममतंद्रितस्तपः ॥ ध्यानविनयताध्ययनप्रभृतित्रिग्रिप्तिभूरिसंवरः ॥ ३१ ॥

ष्टितिपरिसंख्यान नांवाचें तप करीत असत. २६ गुळ, साखर वगैरे रसाचा त्याग करून ज्यांनीं झोंप व इांद्रियांची चपलता जिंकली आहे अशा या मुनीश्वरांनीं मनामध्यें रागद्देषादि विकार उत्पन्न करणाऱ्या कारणांचा त्याग केला. २७ जेथें प्राण्यांचा वघ होत नाहीं अशा निर्जतुक ठिकाणीं हे मुनिराज वस्णें, उठणें, निजणें हीं कार्ये करीत असत. व ध्यानाची वाढ करण्यास कारण असलेल्या ब्रह्मचर्य व्रताचें रक्षण करण्यासाठींच समर्थ बुद्धीचे हे मुनिराज हीं कार्ये करीत असत. निश्चल घेर्याचे धारक हे मुनीश्वर दुःसह अशा ग्रीष्मऋतुंत सूर्याकढे मुख करून व तपश्चरणाच्याद्वारें शरीरावर निस्पृह होऊन राहत असत. वरोवरच आहे कीं, स्वतःच्या शरीरावर प्रेम करणें ज्यानें सोहन दिलें आहे अशा महात्म्याला या जगांत कोणताच पदार्थ तापदायक असूं शकत नाहीं. २९ पाण्यानें भरेलल्या मेघमंडलाकडून पाण्याच्या वर्षावांनी ज्यांचे शरीर भिजून ओले चिंव झालें आहे असे हे मुनिराज श्रावण मासांत झाडाच्याखालीं निश्चल होऊन तप करीत असत, योग्यांचें चित्र खरोखर फार आश्चर्यपूर्ण असतें; आश्चर्यांचे स्थान असतें २० वर्ष पडण्यानें भयंकर वाटणाच्या हिवाल्यांत रातीच्या वेलीं भयरहित चारिच पाळणारे हे मुनीश्वर उघक्या मेदानांत वाहेर निजत असत जे मोठे

अथ कारणानि परिबोधिवशदतरधीरभावयत् ॥
-तीर्थंकरिवपुलनाम्न इति प्रगतानि षोडशिवधाः सुभावनाः॥३२॥
समभावयत्पिथ जिनेंद्र परिविरिचते विमुक्तये ॥
जातिवपुलधितरचलितः स चिराय दर्शनिवशुद्धमिद्धधीः॥३३॥
अपवर्गकारणपदार्थपरिघिटतमिक्रभूषितः ॥
नित्यमपि विनयमप्रतिमं स गुरुष्वतिष्ठिगदिनिष्ठितादरं ॥३४॥
प्रथयांवभूव परिगुप्तिममलविधिना समाधिना ॥
शीलवृति परिवृतेषु सदा स परं व्रतेष्वनित्वारमाचरन् ॥ ३५॥
समभावयन्नवपदार्थविधिकथनवाङ्मयं सदा ॥
तत्वमिखलजगतः सकलं इतशङ्कमैक्षत पुरःस्थितं यथा ॥३६॥

असतात ते दुष्कर कार्य करतांनाही गोंधळून जात नाहींत. ३१ तीन गुप्तींच्या द्वारें धारण केलेला आहे पुष्कल संवर ज्यांनी असे ते मुनीराज आलसराहित होऊन ध्यान, विनय, स्वाध्याय, प्रायिश्वत्त, वैयादृत्त्य, ज्युत्सर्ग अन्ना रीतींन सहा प्रकारचे अंतरंग उत्कृष्ट निरुपम तप ते करीत असत. ३२ आत्मानुभवानें आपिक निमल झाली आहे बुद्धि ज्यांची असे हे मुनीश्वर तीर्थंकर पदवीला कारण असलेल्या पोडश कारण भावनांचे चिंतन करीत असत.

३३ ज्याच्या ठिकाणीं अतिशय धैर्य प्रगट झालें आहे, ज्यांचें ज्ञान उज्ज्वल झालें आहे, जिनेश्वरांनीं निर्माण कलेल्या मोक्ष मार्गामध्यें जे दृढ आहेत असे ते मुनिराज पुष्कळ काल्लपर्यंत सम्यग्दर्शनाच्या निर्मलते वितन करीत असत. ३४ मोक्षाला कारण अशा जीवादि पदार्थापासून उत्पन्न झालेल्या भक्तीनें अलंकृत झालेले हे मुनिराज गुरूंच्या ठिकाणीं नेहमीं अत्यादरयुक्त, अपतिम विनय करीत असत. ३५ निर्दोष विधीनें ध्यानाच्याद्वारें शीलक्षी कुंपण ज्यांना आहे अशा आहंसादि व्रतामध्यें अतिचार बिलकुल उत्पन्न न होऊं देणारे हे मुनिवर्य त्यांचें सर्व तन्हेनें रक्षण करीत असत. ३६ जीवादिक नऊ पदार्थीचें ज्यांत स्वरूप व त्यांचें प्रकार वगैरे सांगितलें आहे अशा शास्त्रांचें मनन करणारे हे मुनीश्वर सर्व जगाचें सर्व स्वरूप विशदपणें पुढें उभें राहिल्याप्रमाणें शंका-रहित पाहात असत. ३० या दुःखदायक अशा संसाररूपी जंगलांतून

स्वितः कथं व्यपनयामि भवगहनतो दुरंततः ॥
नित्यमवकलयतोऽस्य मितविमला समाधिमिति वेगमास्थिता ३७
स्वमिप स्वकीयमपलील्यमितरिनिशमात्मना त्यजन् ॥
लोभलवमिप कथं कुरुते हृदयेऽथवा विदितमुक्तिपद्धतिः ॥३८॥
आनेगुद्ध वीर्य मस्मानमक्तत स तपस्तपोधनः ॥
भाविनिरुपमसुल्स्पृह्यायितमान्निवस्यित यथावलं न कः ॥३९॥
स समाद्ये स्वमथ भेदकृति सित च कारणे परं ॥
धैर्यमवगतपदार्थ गतिर्विजहाति कुन्क्रपिततोऽपि नाथवा ॥४०॥
गुणिनां चकार स गदेपु नि गुणतर्थाः प्रतिक्रियां ॥
त्यक्तसक्लममतोऽपि सदा यतते परोपकृतये हि सन्जनः ॥४१॥
स बहुश्चतेष्वथ जिनेषु गुरुषु च परां सदागमे ॥
भावविशदहृदयेन ततो विततान गिक्तमनवद्यचेष्ठितः ॥ ४२ ॥

मी स्वतः हा कसे वरे मुक्त करीन असा नेहमीं विचार करणाऱ्या या यतिवर्याची निर्मे छवुद्धि अतिशय देगानें समाधीवर दृढ राहि ही. ३८ ज्यांनों मोक्षाचा मार्ग जाणिला आहे, पदार्थावरील आसक्तीचे परिणाम ज्याच्या चुद्धीपासून वेगले झाले छे आहेत, हें मांझें आहे व मी यांचा स्वामी आहे अशी भावना नेहमीं ज्यांनों स्वतः काहून टाकि छी आहे असे हे मुनि पुंगव आपल्या हृद्यामध्यें योडा देखील लोभ घारण करतील काय १३९ आपली शाक्ति न छपितां हे तपस्वी उत्कृष्ट असं तपश्चरण करीत असतः वरोवरच आहे कीं, पुढें प्राप्त होणाऱ्या निरुप्तमुखान्या इच्छेने कोणता बुद्धिमान मनुष्य यथाशाक्ति प्रयत्न करीत नाहीं वरें १ प्रयत्न करितोच. ४० रत्नत्रयापामून पृथक करण्याचीं कारणें प्राप्त झार्छी असतां पदार्थाचें स्वरूप ज्यांना चांगल माहीत झार्ले आहे असे ते मुनीत्वा स्वतः सकतः मध्ये पुन.रिथर करीत असतः व संकटप्राप्त झार्ले असतांही धर्याचा त्याग करीत नसतः ४१ सर्वीविषयीं ममताभावाचा ज्यांनीं त्याग केला आहे असे हे आतिशय निपुण बुद्धीचे तपस्वी रत्नत्रयघारक अशा गुणी भव्यांना रोग झाला असतां त्यांचा इलाज करीत असतः वरोवरच आहे कीं, सज्जन पुरुप नेहमीं परोपकार करण्यानार्थीच प्रयत्न करीत असतातः ४२ निर्होप

अन्पेतकालमथ पद्मु नियमविधिपूद्यतोऽभवत् ॥ इत् ॥ इतिविमलसकलावगमेर्न हितोद्यतेरलसतावलम्ब्यते ॥ ४३ ॥ वरवाङ्मयेन तपसा च जिनपतिसपर्यया सदा ॥ ४४ ॥ धर्ममनवरतमुज्ज्वलयन्समयस्य साधुरकरात्मभावनाम् ॥ ४४ ॥ अधिखङ्गधारिभव द्यातमसुकरतरं यथागमं ॥ इतिविधरिप चरनसुतपः सहधमसु प्रकृतिवत्सलोऽभवत् ॥४५॥ कनकावलीं परिसमाप्य विधिवदिप रत्नमालिकां ॥ सिंहिविलसितसुपावसद्धुरुमुक्तये तदनु मौक्तिकावलीं ॥४६॥ अथ भव्यचातकगणस्य गुद्धविरतं प्रवर्द्धयन् ॥ इतिनमस्यवारिदः॥ ४७ ॥ ज्ञानजलशामितपापरजाः शुरुभे सदा मुनिनमस्यवारिदः॥ ४७ ॥

चारित्राला धारण करणारे हे मुनिश्रेष्ठ पिरणामांनी निर्मल झालेल्या अंतःकरणोंने स्वमत व परमताला जाणणारे मुनिवर्य, श्रीजिनेश्वर आचार्य व शास्त्र यांच्या िं काणीं उत्कृष्ठ मक्ति करीत असत. ४३ हे मुनिराज सामायिक मितक्रमण वैगेरे सहा प्रकारच्या अवक्रयक क्रियांमध्यें योग्य वेलेचें उल्लघन न करितां तत्पर राहात असत. बरीवरच आहे कीं, ज्यांनीं निर्दोप अशा सर्व शास्त्रांचें अध्ययन केलें आहे व रवतःच्या हितासाठीं उद्यक्त झालेले असे पुरुष आलसाचा आश्रय करीत नाहींत. ४४ उत्कृष्ट धर्मीपदेशानें, उत्तम तपश्चरणाने, श्रीजिनेश्वराच्या पूजनानें नेहिंध धर्मीला उज्वल करणाच्या या मुनिराजांनीं या जैनशासनाची उत्तम प्रभावना केली.

४५ हे मुनीराज तरवारीच्या धारेप्रमाणें तीक्ष्ण व अतिशय किटण असे शास्त्रोक्त तप करीत असत. हे ज्ञानाचा खिजना होते तथापि साधिर्मिक इतर मुनिजनावर हे हृदयापासून पेम करीत असत. ४६ या मुनिराजांनीं प्रथमतः योग्य विधीस अनुस-कन कनकावली तपश्चरण करून नंतर रत्नमालिका तपश्चरण केले या नंतर सिंहनिष्क्रीडित व उत्कृष्ट मुक्तिसुख प्राप्त होण्यास मौक्तिकावली हें तपश्चरण केलें. कन कावली व्रतांत चारशें चौतीस उपवास व अव्याऐशी पारणा असतात. हे व्रत एक वर्ष पांच महिने व बारा दिवसांत समाप्त होतें. रत्नमालिका व्रतांत तीनशें चौत्याऐशी उपवास व पारणा अव्याऐशी होतात. सिंहनिष्क्रिडित व्रतांत चारशे शहाण्यव उपवास व प्रकस्त्र पारणा होतात. हे व्रत पांचशें सत्तावन दिवसांत

अपरिग्रहोऽपि स महर्द्धिरभवदमलांगभागपि ॥

श्लीणतनुरतनुधीश्च वशी विभयोऽपि गुप्तिसिमितिप्रवर्तनः ॥४८॥ अमितश्लंसमृतजलेन मनिस निरवापयत्परं ॥ कोधशिखिनमविचित्यमहो खल्ल कौशलं सकलतत्त्ववेदिनां ।४९। मनसो निराकुरुत मानिपमुचितमार्दवेन सः ॥ ज्ञानफलिमित तदेव परं कृतबुद्धयो हि यमिनां प्रचश्चते ॥५०॥ अपि जात्त न प्रकृतिसौस्यविशदहृदयः स मायया ॥ प्रापि विमलशिशिशांशचयः समवाप्यते किमुत मिश्रया शशी ।५१। निजविश्रहेऽपि हृदि यस्य तनुरपि न विद्यते स्पृहा ॥ तेन विजित इति लोभरिषुः किमु वात्र विस्मयपदं मनीपिणः॥५२॥

समाप्त होते. मुक्तावली व्रतांत पचवीस उपवास व नऊ पारणा होतात हें व्रत ३४ दियसांत समाप्त होते. ४७ भन्यरूपी चातक समुहास नेहमी अतिशय आनंद देणारे व ज्ञानरूपी पाण्याने पापरूपी धूळीचा ज्यांनीं उपशम केला आहे असे हे मुनिराज श्रावण मामांतील मेघाप्रमाणें शोभूं लागले. ४८ हे मुनिराज परिग्रहरहित अम्नही विषुल ऐश्वर्यानीं युक्त होते. अर्थात महाऋदियुक्त होते. यांना अणिमा महिमा वगैरे पुष्कळ ऋाद्धि पाप्त आल्या होन्या. निर्मेस शरीराचे धारक असूनही श्रीण गरीगचे होते. अर्थात तपः प्रभावानें यांचें गरीर तेजस्वी वनलें होतें. यांची बुद्धि विशाल होती व हे जितेंद्रिय होते. भयरहित असूनही गुप्ति व समिती यामध्ये प्रवृत्त होते. ४९ पुष्कळ क्षमारूपी अमृतासार्ख्या पाण्याने मनामध्ये उत्पन झालेला कोधरूपी अग्नि यांनी पूर्ण शांत केला. वरोवर आहे कीं, संपूर्ण तन्वें जाणणाच्या महापुरुपांचें चातुर्य आचित्य आहे. ५० उत्तम व योग्य अजा गार्ट्य गुणाने या मुनिवर्यानीं आपल्या मनांतुन गर्व विष काहृन टाकिलें होतें. जे विदान असतात ते मुनीवगच्या जानाचें हेंचे फल आहे असे सांगतात अर्थात् विनय धारण करणे हें जानाचें फल आहे. ५१ स्वाभाविकपणेंच जांत व निर्मल हदय ज्यांचे आहे असे हे मुनिवर्य मायेनें-कपटानें कथींही युक्त झाले नाहींन. यरोवरच आहे की निर्मल व यंहगार किरणसमृहानी युक्त अमलेला चंद्र अंघ:-कारपूर्ण अभा गतीर्थी कर्या संयोग पावेल काय ? ५२ या मुनिश्वराच्या चित्तांत

अतिनिर्मलं तमुपगम्य मुनिगुणगणास्तमोपहाः॥
रेजुरिषकमवदाततमाः स्फिटिकाद्रिमिंद्राकिरणा इवोन्नतं ॥ ५३ ॥
उदपाटयन्मदमुदारमितिरिति तरां समूलतः ॥
संगविरिहतसमाचरणो मरुदल्पमूलिमव जीर्णपादपं ॥ ५४ ॥
तपसा दहम्निप स कर्ममलमखिलमात्मिन स्थितं ॥
तापमभजत मनागपि न स्वयमेतदद्भुतमहो न चापरं ॥ ५५ ॥
न तुतोष भिक्तिविनतस्य नच पिर्चुकोप विद्विषे ॥
स्वानुगतयितजने प्यभवन्न रतः सतां हि समतेव भाव्यते ॥५६॥
शमसंपदास्थितमुपेत्य तमिप तपसा विदिद्यते ॥
भाति जलधरपथं विमलं रिविबंबमेत्य कि मुँ नो घनात्यये ॥ ५७ ॥
भाति जलधरपथं विमलं रिविबंबमेत्य कि मुँ नो घनात्यये ॥ ५७ ॥

रवतःच्या शरीराविषयीं ही थोडीशी ही इच्छा ( प्रेम ) नव्हती यावरून त्यांनीं लोभरूपी शत्रूला जिंकिलें होतें हें सिद्धच होतें. विद्वान मनुष्याला यांत आश्चर्य करण्यासारखें काय आहे १ ५३ अंधाराचा नाश करणारे, अत्यंत निर्मल असे चंद्र किरण जसें उच्च व आतिशय निर्मल अशा स्फटिकाच्या पर्वताचा सयोग प्राप्त कर्रू कात आतिशय शोभतात त्याप्रमाणें अज्ञाननाशक, आतिशय स्वच्छ असे मुनीश्वरांचे गुणसमूह अति निर्मल व उन्नत अशा या नंदन मुनिराजाचा आश्रय घेऊन अतिशय शोभूं लागले. ५४ जसें वारा थोड्याशा मुलांच्या जोरावर उभा राहिलेख्या जुनाट दृक्षाला उपडून टाकितो तसें विशालवुद्धीच्या या मुनीश्वरांनीं—परिग्रहांनीं पूर्ण रहित असें आपलें चारित्र ठेऊन गर्वाला मुलापासून पूर्ण उपडून टाकिलें. ५५ स्वतःच्या आत्म्यांत सांटलेल। सर्व कर्म मल या मुनीश्वरांनीं तपांच्याद्वारें जाळ्न भस्म केला परंतु त्या तपाच्याद्वारें हे स्वतः थोडेसे देखिल संतप्त झाले नाहींत हेंच फार आश्चर्यकारक आहे. याशिवाय दुसरी गोष्ट आश्चर्यकारक नाहीं.

५६ जो भक्तीनें आपल्या चरणीं नम्र झाला आहे त्याच्या विषयीं यांना आनंद होत नसे व शत्रूवर रागावतही नसता जे या मुनिराजांना नेहमीं अनुसर्तात त्यांच्याविषयीं देखिल यांच्या टिकाणीं प्रेम उत्पन्न होत नसे वरोवरच आहे कीं, सत्पुरुष नेहमीं समतेचाच विचार करितात तीच अपल्या अंगीं आणण्याचा प्रयत्न करीत असतात. ५७ शांतिसंपत्तिनें युक्त असलेल्या या मुनिष्वरा च्या टिकाणीं तपश्चरणानें प्रवेश करून चेतल्यामुळें ते फार शोभूं लागले. वरोवर

अतिद्वःसहाद्पि चचाल न स निजधतेः परीषहात् ॥ भीममंद्रसिहतोऽपि तटीं समतीत्य याति किमु यादसां पतिः ५८ जनताहिताय तामिताश्च शमनिधिः नेकलब्धयः ॥ गीतरुचिभिव शरत्समये शिशिराः सुधारसपरिच्युतो रुचः॥५९॥ विस्लारायं तसुपगस्य विरहितधियोऽपि मानवाः ॥ धर्ममनुपममुदा जगृहुः शमयेन्मुगानिप न किं दयार्द्रधीः ॥ ६० ॥ स्वमतार्थसिद्धिसिमवीक्य तमभजत भव्यसंहतिः॥ पुष्पभरविनतचूततरुर्न परीयते किसु मुदालिमालया ॥ ६९ ॥ इति वासुवृज्य जिनतीर्थमुरुगुणगणैः प्रकाशयन् ॥ सम्यगञ्चत स तपः परमं चिरकालमन्ययतिभिः सुदुश्चरं ॥ ६२ ॥ आहे की, शरत्काली निर्मल अशा मेघमार्गाचा-आकाशाचा आश्रय करून सूर्य-पंडल शोभत नाहीं काय ? ५८ अतिशय दुःसह परिपह होत असतांही हे मुनिपुं-गव स्वतःच्या धैर्यगुणापासून चलायमान झाले नाहींत अर्थात् त्यांनीं धैर्य सांहन दिले नाहीं. बरोवरच आहे कीं, फार मोठ्या वाऱ्याने खबळलेला असाही समुद्र तटाला उछंघून वाहतो काय? ५९ पूर्ण ज्ञांतीचा सागर असलेल्या या मुनिराजांना लोककल्याणास्तव अनेक ऋद्वींची प्राप्ति गरत्कालीं अमृतरसाची वृष्टि ज्याच्यापासून होत असे थंडगार किरण जसें चंद्राचा आश्रय करितात व त्यापासून लोकाना आनंद प्राप्त होतो त्याप्रमाणे यांना अनेक ऋदि पाप्त झाल्या. ६० निर्मल विचारयुक्त अशा या मुनीवरांकडे येऊन अतिगय मुर्ख अशींही माणसें जिनधर्माचा अनुपम आनंदानें स्वीकार करीत असत. वरीवरच आहे की, दयेने ओली झाली आहे बुद्धि ज्याची अर्थान् अतिशय दयाळ् असा मनुष्य पश्नंना देखिल शांत चनवीत नाहीं काय ? ६१ अापल्या मताची-जनवर्गाची वृद्धि या मुनीश्वरापासून होत आहे असे पाहन भव्यांचा समुदाय यांची उपातना करूं लागला, वरावरच आहे कीं, मोहरांनीं अनिमय लक्षडलेला आस्रवृत सुरयांच्या समुदायानी आनंदाने वेदला जात नाही काय ६६२ यात्रमाणें श्रीवासुपूच्य नीर्थकरच्या तीर्थाचा आपल्या फार मोठ्या अशा गुणानी चौहीं उटे उत्तम रीतीने प्रसार करणाऱ्या या महा मूनी वर्गनी करण्यास ं निवस्तय पाटिण अमें उन्कृष्ट नपअरण इनर मुनीसह पार दिवसपर्यन में छें.

अथायुरंते खलु मासमेकं प्रायोपवेशं विधिना प्रपद्य ॥ ध्यानेन धर्म्येण विहाय विन्ध्य प्राणान्स्निः प्राणतमाप कल्पं ॥६३॥ -पुष्पोत्तरे पुष्पसुगंधिदेहो बसूब देवाधिपतिर्विमाने॥ तस्मिन्नसौ विंशतिसागरायुः नामोति किं सूरितपः फलेन॥ ६४॥ तं जातमिद्रमवगम्य सुराः समस्ताः सिंहासनस्थमिषिच्य सुदा त्रणेसः ॥ लीलावतंसियव पाद्युगं तदीयं रक्तोत्पल्युतिहरं युकुदेषु कृत्वाह्य

भावी तीर्थकरोऽयमित्यविरतं संपूज्यमानः सुरैः॥ अक्षय्यावधिरप्सरोजनवृतो रेमे स तस्मिन्सुदा ॥

६३ यानंतर आयुष्य समाप्तीच्यावेळीं एक माहिनापर्यंत शास्त्रांत सांगितः ल्याप्रमाणें प्रायोपवेशविधीनें ध्यान करून दशलक्षणीक धर्माचें चिंतन विंध्यपर्वतावर ह्या मुनिराजानीं प्राणत्याग केला. तेव्हां त्यांचा आत्मा प्राणत स्वर्गीत उत्पन्न झाला. स्वतःच्या शरीराचा औषधादिकांनीं स्वतः उपचार न करणें व इतरांकडून कोणताही उपचार अथवा सेवा-ग्रुश्रूषा करून न घेतां धर्मध्यानांत प्राणत्याग करणे यास प्रायोपवेश ह्मणतात. ६४ तो महामानि फुलाप्रमाणें ज्याचा देह सुगंधयुक्त आहे, ज्याचे वीस सागर वर्णांचें आयुष्य आहे असा होत्साता त्या स्वर्गीत पुष्पोत्तार विमानांत सर्व देवांचा अधिपात अर्थात इंद्र होऊन जन्मला. बरोबरच आहे कीं, पुष्कळ तपश्चरणाच्या फलानें जगामध्यें कोणती वस्तु माप्त होत नाहीं बरें? सर्व उत्तम वस्तु तपाच्या प्रभावानें मिळतातच.

६५ हे नंदन महामुनी आपल्या स्वर्गाचे अधिपती अर्थात् इद झाले आहेत. असें जाणून सिंहासनारूढ झालेल्या त्यांच्या सर्व देवांनीं अभिषेक केला व तांवड्या कमळाच्या कांतीला जिंकणाऱ्या त्याच्या चरणकमलाला क्रीडाभूपणाप्रमाणे समजून मोठ्या आनंदानें त्यांनीं नमरकार केला. ६६ हा इद्र पुढच्या जन्मीं तीर्थकर (महावीर जिन) होणार आहे म्हणून दैवाकड्न नेहमीं पूजिला जात असे. (या इद्राच्या) गुणसंपत्तीने जणु काय उत्कंठित झालेल्या मोक्षलक्ष्मी कहून वर्फाच्या कांतीला पराजित करणाऱ्या हारलतेच्या मिपानें आलिंगिला गेलेला व ज्याचें अवाधितान क्षय न पावणारे अर्थात् रुढ्या जन्मीही वरोदर जाणारे आहे उस औत्सुक्यं गुणसंपदा गमितयेवालिंग्यमानो गले॥ नीक्षारच्चतिहारिहारलतिकाव्याजेन मुक्तिश्रिया॥ ६६॥

श्चिह्म वर्द्धमानचरिते नंदनपुष्पोत्तरगमनो नाम षोडशः सर्गः समाप्तः श्चा

होत्साता त्या स्वर्गीत अप्सरांनीं वेष्टित होऊन मोट्या, आनंदानें रममाण होत असे.

अ याप्रमाणें महाकवि असगकृत वर्द्धमान चरित्रांत नंदन महामुनि पुष्पो-त्तर विमानामध्यें उत्पन्न झाळें याचें वर्णन करणारा सोळावा सर्ग समाप्त झाला.





श्रीमानथेह भरते स्वयमस्ति धात्र्या पुंजीकृतो निज इवाखिलकां-तिसारः॥

नाम्ना विदेह इति दिग्वलये समस्ते ख्यातः परं जनपदः पदमुन्न-तानाम् ॥१॥

गोमंडलेन धवलेन सदापरीता स्वेच्छानिषण्णहरिणांकितमध्यदेशा॥ रात्रौ शिशोरपि चिराय विलोकनीया यत्रेंदुमूर्तिरिव भात्यटवी समग्रा ॥२॥

क्षेत्रेषु यत्र खलता ललनालकेषु कौटिल्यमंबुजवने मधुपप्रलापः॥ पंकस्थितिः कमलशालिषु सर्वकालं संलक्ष्यते शिखिकुलेषु विचि-त्रभावः॥३॥

१ या भरत क्षेत्रांत संपूर्ण दिक्कंडलांत मसिद्ध व सत्यु क्षांची उत्कृष्ट निवासभूमि असा विदेह नांवाचा देश आहे. हा संपत्तीनें पूर्ण भरलेला आहे व पृथ्वीचा
आपोआप एकत झालेला संपूर्ण कांतीचा जणु उत्कृष्ट समुदाय आहे-असा शोभत
आहे. २ या देशांतील सर्व अरण्य भाग पांढ-या रंगाच्या गायींनीं गत्रवजलेला
व स्वच्छंदपणें बसलेल्या हरिणांनीं युक्त आहे मध्यभाग ज्याचा असा असल्यामुळें रातीं लहान मुलाकडूनहीं पुष्कल वेलपर्यंत पाहण्यास योग्य अशा चंद्राच्या
विवाममाणें शोभत असे. चंद्रविंबही धवल गोमंडलानें—अर्थात् पांढ-या किरण
मंडलानें शोभत असतें व त्याचा मध्यभाग स्वेच्छेनें बसलेल्या हरिणानें युक्त आहे
अशा चंद्रविंबाला लहान मुलेंही रात्रीं जसें निर्भयपणें पाहूं शकतात तसें या देशा-

पुगहुमैः स्वगतन(गलतादलाभश्यामीकृतांवरतलैनिंगमाः परीता ॥ भास्वन्महामरकतोप&कल्पितोच्चशालावलीवलयिता इव यत्र सान्त्॥॥

वृष्णां सदाश्रितजनस्य दिनाशयद्भिरंतः प्रसित्तसिहतैरनपेतपद्भैः॥ तोयाशयेरमिलनिद्धजसेवनीयैः सद्भिश्च भाति सुवि यः समतीत-संख्यैः॥५॥

यस्मिन्सदास्ति सुरजेषु कराभिघातो वंधिस्थितिर्वरहयेषु च राद्ध-शास्त्रे॥ दंद्रोपसर्गगुणलोपविकारदोषो विंवाधरे सृगदृशामिप विद्वस्त्रीः॥६।

च्या जंगलांन हरिणे व गायी नेहमीं राहात असत. इतर क्रूर जंतु विलक्कल नसल्यामुळें लहान मुलांनाही रातों देखिल ते अरण्य पाहातांना भय वाटत नसे.
या देशांतिल शेतांतच फक्त खलता—धान्याचे खळें होतें. लोकांमध्यें खलता—
हुप्टता नव्हती, क्राटिलपणा फक्त खियांमध्यें होता, अर्थात कपटाचार फक्त सियांमध्यें होता. इतर ठिकाणीं क्रुटिलता—वांकडेपणा नव्हता. कमलसम्हामध्येच
मधुप मलाप—धुंग्यांचा गुजारव होता. लोकांमध्यें मधुप मलाप नव्हता अर्थात
टारु पिकट उनमत्त वनून वरलणें ही गोष्ट नव्हती. पंकास्थिति—चिखलांत राहणे
ही गोष्ट पत्क कमलें व साली यापध्ये आढळ्न येत असे. लोकांमध्यें पंकास्थिति—
पाप कार्योत राहणें ही गोष्ट आढळत नव्हती. विचित्र भाव नाना रंगाचें अस्तित्व
गोरामध्यें आढळ्न येत होने व तथील लोकांमध्यें कपट, द्वेष वगैरे अनेक तब्हेंचे
अयोग्य मनोविकार नव्हते. ४ स्वतःला वेहणाव्या नामवेलीच्या पानांच्या
कांतीनें व्यांनी आकाश भागाला हिरवेगार केलें आहे अशा सुपारीच्या झाडांनी
व्याप्त झालेर्जा या देशांतील गांवें चमकणाच्या अमूल्य पांच रत्नांनीं वनविलेल्या
उंच तट पंक्तीनीं वेहल्याप्रमाणें शोमत असत.

५ तो विदेह देश आश्रित लोकांची तहान भागविणारे, तळभागीं नेहमी स्वच्छ असलेले, कमलांनी सिहत असलेले, हंस पक्षांनी सेवनीय अगा असंख्यात नेलीं व सरोवरें यांनी या भूतलावर जसा शोभत आहे तसाच आश्रित लोकांच्या आगोचा नाग करणारे अधीत त्यांची इच्छा पूर्ण करणारे, हृदयांत नेहमीं प्रसन्नता धाग्ण करणारे, लक्ष्मीरें-संपत्तीनें युक्त, व निर्दोप असे ब्राचण, क्षात्रिय व वैश्य तत्रास्त्यथो निखिलवस्त्ववगाहयुक्तं भास्वत्कलाधरबुधैः सवृषं सतारं॥ अध्यासितं वियदिव स्वसमानशोभं ख्यातं पुरं जगित कुंडपुरा-भिधानं ॥ ७॥

माकारकोाटिघाटितारुणरत्नभासां छायामयैः परिगता पटलैः

आसाति वारिपरिखा नितरायनेकां संध्याश्रियं विदधतीव दिवापि यत्र ॥ ८ ॥

धौतेंद्रनीलमणिकल्पितकुद्दिमेषु यत्रोपहार**रचितान्यसितोत्पलानि ॥** एकीकृतान्यपि सलीलतया प्रयांति व्याक्तिं पतद्धमरहुंकृतिभिः समंतात् ॥ ९॥

याक्षडून आदरणीय अज्ञा असंख्यात सत्पुरुषांनीं चोहोंकडे शोभत आहे. ६ या विदेह देशांत कराभिघात-हातांनीं ठोकण्याची क्रिया फक्त मृदंगामध्येंच घडून येत होती. लोकामध्यें परस्परांत ही क्रिया घडून येत नव्हती. उत्ताम घोड्यांच्या ठिकाणींच बंध स्थिति–बांधून घातल्यामुळें एकाच ठिकाणीं राहणें ही क्रिया होती. परतु लोकामध्यें ही गोष्ट होत नव्हती. शब्दशास्त्रामधीं-व्याकरणांत द्वंद्र समास, प्र. पर, उप प्रगैरे उपसर्ग, गुण, लोप, विकार होणें वगैरे गोष्टी होत्या परंद्र तेथील लोकांत इंद्र-तंटा, उपसर्ग,-दुःख देणें, गुणलोप-गुणांचा-सदाचारा-चा नाश होणें, विकार-रोगादिक उद्भवणें हे दोष नव्हते. या देशांतील स्त्रियांच्या तोडल्याममाणें असलेल्या ओठांत विद्वमश्री पोवळ्याममाणें कांति होती. परंतु तो देश विद्यमश्री-झाडांच्या शोभेनें रहित नव्हता. अर्थात तेथे पुष्कळ झाडें असल्या-मुळें त्याला फार शोभा आली होती. ७ त्या विदेह देशांत सगळ्या वस्तूंना आश्रय देणारें, सूर्य, चंद्र, बुध, दृषभ राशि, यांनीं सहित, तारागणांनींयुक्त, अशा आका-ज्ञापमाणें गोभा धारण करणारें जगांत प्रख्यात असलेलें कुंडलपूर या नांनाचें शहर आहे. हें शहरही (निखिलवस्त्ववगाहयुक्त-सर्व वस्तृंना आश्रय देणारें) भास्वत्कलाधर बुधैः अध्यासित, शोभणाऱ्या कलांना धारण करणाऱ्या विद्वान लोकांकड्न निवास केले गेलेले, सद्दप-धर्मानें सहित अथवा वैलांनीं सहित, सतार-चांदी, सोनें, मोतीं यांनीं युक्त असें शोभत होते. ८ तटाच्या शिखरांना

जैत्रेषवः सुमनसो मकरध्वजस्य निस्तेजितां इजरुचे। शशलक्ष्मभासः अप्रारंषो नवपयोधरकांतियुक्ता यस्मिन्विमान्त्यसरितः सरसा

रमण्यः ॥ १०॥ अखुनताः शशिकरभकरावदाता मूर्धस्थरत्नरुचिपछवितांतरिक्षाः

उत्संगदेशसुनिविष्टमनोज्ञरामाः पौरा विभांति भुवि यत्र सुघालयाश्च॥ ११॥

बसिवेछेल्या बद्धराग रत्नांच्या कांतीच्या छायामय समूहांनीं सर्व वाजूंनीं न्याप्त झाछेला पाण्याचा खंदक या शहरांत दिवसा दोखिल नाना प्रकारच्या विपुल संध्या काळच्या शोभेला उत्पन्न करीत असल्याप्रमाणें शोभतो. ९ रवच्छ अशा इंद्रनील रत्नांनीं निर्मिछेल्या जिमनीवर शोभेसाठीं ठेवलेलीं निर्ली कमळें जिमनीशीं समान कांतीमुळें एकरूप झालीं होतीं परंतु त्यावर लीलेनें येऊन पडणाच्या ग्रंग्यांच्या गुंजारवांनीं हीं कमळें आहेत व ही जमीन आहे असे व्यक्त होत होतें. १० या कुंडलपुर शहरांतील खिया निर्मल अंत करणाच्या होत्या व मदनाच्या विजयी वाणा-प्रमाणें होत्या. यांचें सौंदर्य चंद्राच्या किरणाप्रमाणें मनोहर होतें व यांनीं कमला-पध्यें जिचें प्रेम आहे अर्थात कमलामध्यें जी नेहमीं राहत असते अशा लक्ष्मीला तेजोविहीन वनविलें होतें, वर्षाऋतु नवपयोधर कांतियुक्त असतो अर्थात नवीन पयोधर मेघ त्यांच्या कांतीनें शोभेनें युक्त असतो परंतु या स्त्रिया वर्षाऋतु स्वरूपी नसतांही नवपयोधर—नवीन स्तनांच्या कांतीनें युक्त होत्या तसेंच या खिया नदीच्या स्वरूपाच्या नसतांही सरसा अर्थात सरसांनीं श्रगादि रसांनीं सहित होत्या, नदीही सरसा अर्थात रसानें—पाण्यानें सहित असतात.

११ या कुंडलपुरशहरांतील श्रीमंत लोकांचे वाडे आतिशय उंच, चंद्राच्या किरणसमूहाप्रमाणें निर्मल, गचीच्या अग्रभागीं वसविलेख्या रत्नांच्या कांतीनें आकाशाला पल्लवयुक्त-पालवी फुटल्याप्रमाणें करणारे, ज्यांच्या मध्यभागीं सुंदर- स्तिया वसल्या आहेत असे शोभतात. याचप्रमाणें तेथील पुरुषही आतिशय उच कुलांत जन्मलेले, चंद्राच्या किरणसमूहाप्रमाणें सुंदर, मस्तकावरील चूडामणि रत्नाच्या कांतीनें आकाशाला पालवीनें युक्त करणारे, व ज्यांच्या मांडीवर सुंदर स्त्रिया वसलेल्या आहेत असें शोभतात. १२ हाताच्या अग्रभागीं असलेले कीडेचे निलंक कमल सोइन देऊन व ज्यांतून मकरंद गळत आहे असें कानावरील कमल

लीलामहोत्पलमपास्य कराग्रसंस्थं कर्णीत्पलंच विगलन्मधु यत्र भृंगाः निश्वाससौरभरता वदने पतंति स्त्रीणां सृदुर्श्वदुकराहतिमीप्सवश्राशिशा आमुक्तमौक्तिकविभूषणराश्मिजालैः श्वेतीकृताखिलदिशो विहरंति यस्मिन् ॥

वारांगनामदसलीलिमतस्ततोऽपि ज्योत्स्नां दिवापि सुभगामिव दर्शयन्त्यः॥ १३॥

यस्मिन्विमानखितामलिचत्ररत्नच्छायावितानशबलीकृत-

वर्छेंद्रचापरचितांशुकगात्रिकेव संलक्ष्यते प्रतिदिनं नितरां दिनश्रीः ॥ १४॥

देखिल त्यागृन श्वासोच्छ्वासाच्या सुगंधामध्यें आसक्त झालेले भुंगे ख्रियांच्या अतिंा शय मज अशा हातांच्या आघातांची इच्छा करणारे असे होत्साते वारंवार त्यांच्या मुखावर पडतात. १३ या नगरांत धारण केलेल्या मोत्यांच्या डागिन्यांच्या किरण समृहांनीं ज्यांनीं सर्व दिशांना उज्ज्वल केलें आहे अशा वेश्या गर्वोद्धत हो जन ळीळेनें जेव्हां इकडे तिकडे फिरतात त्यावेळीं त्या दिवसा देखिळ सुंदर असें रात्रींचे चांदणें जणु छोकांना दाखवित आहेत असें वाटत असे. १४ या नगरांत सात ताळांच्या माडीला लावलेल्या स्काटिक वगैरे नानाप्रकारच्या कांतिमंडपानें चित्र विचित्र केल्या आहेत दिशा अशी दिवसलक्ष्मी इद्रधनुष्याच्या वस्नानें जणु जिचें शरीर गुरफटलें आहे अशी होऊन दररोज फार शोभिवंत दिसत असे या शहरांतील लोक आहे-इन-वपु सर्पीचा मालक जो शेष त्याचे सारखें शरीर धारण करीत असूनही अधुजंगशील होते अर्थात् सर्पाच्या स्वभावाचे नव्हते. या विरोधाचा परिहार याप्रमाणें अ-हीन-वपु-उत्तम शरीराचे धारक असे तेथील लोक अधुजंगशील होते. भुजंग जार पुरुष त्याच्या स्वभावाचे नव्हते. तसेंच ते लोक मित्रानुरागसहित-सूर्याच-रील प्रेमाने युक्त असून कलाधरेच्छ-चंद्राची इच्छा करणारे होते. या विरोधाचा परिहार मित्रानुरागसहिता-मित्रावरील प्रेमानें सहित होते व नाना कलाधारक आपण बनावे अशी इच्छा करणारे होते. याचपमाणें तेथीळ जनता प्रसिद्ध असे

यस्मिन्नहीनवपुरप्यभुजंगशीला मित्रानुरागस्हितापि क्लाधरेच्छा।
भाति प्रतीतसुवयःस्थितिरप्यपक्षपाता निवासिजनता सरसाप्यः
रोगा ॥ १५ ॥
सूर्याशको निपतिता भवनोदरेषु वातायनस्थितहरिन्मणिरश्मिः
लिक्षाः॥

तिर्यभिवेशितनवायतवंशशंकामभ्यागतस्य जनयंति जनस्य यत्र ॥ १६॥ रामाविभूषणमणिप्रकरांशुजालविष्वंसितांधतमसेषु गृहोदरेषु॥

रामाविसूपणमाणप्रकराशुजालाव वासतावतमसंबु गृहादरेषु॥ व्यर्थीभवन्ति निशि यत्र परं प्रदीपा यद्यंजनं खळु वमंति न नेत्रपथ्यं॥१७॥ दोपः स यत्र निशि सौधचयाग्रलग्नस्पीतेंदुकांतमणिकल्पितदुर्दि-

दापः स यत्र । नाश साधचयात्रल्यस्फातदुकातमाणकाल्पतदुाद-नेन ॥ तिम्यंति यद्युवतयोर्द्धपथे स्मरात्रीश्चंद्रोदये प्रियानिवासगृहं प्रयान्त्यः ॥ १८॥

जे चांगले पक्षी त्याच्या अवस्थेनें युक्त होते (भतीतसुवयः स्थितिः) असें असूनही अपलपाता पंखांच्या पडण्यानें रहित होती अर्थात् मिसद्ध व उत्तम असे जे वय अर्थात तरुणपणा त्यानें युक्त होती व पलपातानें रहित होती. याचभमाणें ती जनता सरसा श्रृंगारादि रसानें सहित व रोगरहित होती. १६ खिडकीला वसविलेल्या पांच रत्नांच्या किरणांनीं लिप्त झालेले सूर्याचें किरण जेव्हां घरांत मवेश करीत असत तेव्हां घरामध्यें आलेल्या लोकांस येथें नवीन लांव वेळ तिरपें

रच्न ठेविछे असावेत अशी शंका उत्पन्न करीत असत. पांच रत्नाच्या हिरव्या कौतीर्शी संलग्न झालेले व खिडकींत्न तिर्षे येऊन आंत शिरणारे सूर्य किरण उपयुक्त कल्पनेपमाणें भासत असत. १७ या नगरांत स्त्रियांच्या डागिन्यांत जड. विलेल्या रत्नांच्या किरणसमृहांनी जेथील ढाट अंशार नाहींसा केला आहे अशा

वराच्या मध्यभागीं छावछेछे दिव्यांना जर नेताछा हितकर असे अंजन त्यांनी दिछें नसर्ते तर व्यर्धपणा आछा असता. १८ या नगरांत रात्री चंद्रोदय झाछा असतां स्वच्छे कपोलफलके निशि कामिनीनां संलक्ष्यते शश्वरः प्रतिमा-च्छलेन ॥

आदातुमागत इवाननभूरिशोभां यस्मिन्स्वकांत्यविमलत्वातरस्त्रि-

आनम्रराजकशिखारुणरत्नरिमबालातपप्रसरचुंबितपादपद्मः ॥ राजा तदात्ममातिविक्रमसाधितार्थः सिद्धार्थ इत्यभिहितः पुरमध्यु-वास ॥ २० ॥

योज्ञातिवंशममलेन्दुकरावदातः श्रीमान्सदा ध्वज इवायतिमानुद्रशः। निर्व्याजमुत्सवपरंपरया प्रकाशमुत्थापितोद्धरितभूमिरलंचकार ।२१। यं प्राप्य रेज़ुरमला नरनाथविद्याः संयोजयंतमखिलं च फलेन लोकं॥ सर्वा दिशो जलधरात्ययमेत्य कालं कांति प्रसादसहितां किम्रु नोद्ध-हंति ॥ २२ ॥

पिय पतीच्या घरीं जाण्यासाठी स्त्रिया कामाकुल होऊन निघाल्या असतां अध्यी रस्त्यांत मोठ्या वाड्यांना जडाविलेल्या निर्मल चंद्रकांत मण्यापासून गळत असलेल्या जलधारांनीं त्या भिज्ञ्न ओल्या होत असत. एवढाच काय तो दोष त्या शहरांत आढळून येत असे. १९ या नगरांत राजी स्वतःच्या कांतिमध्यें असलेला मिल्लनपणा काढून टाकण्यासाठीं व स्त्रियांच्या मुखांची पुष्कळ शोभा घेण्यासाठीं जण चंद्र त्यांच्या स्वच्छ अशा गोल गालामध्यें प्रतिविंबाच्या मिपानें प्रवेश करीत आहे असें दिसत असे. २० नम्र झालेल्या राजसमूहाच्या मस्तकावरील पद्मराग रत्नाच्या किरणांच्या कोमल प्रकाशाच्या प्रसारानें ज्यांचें चरणकमल स्पिशींले गेले आहेत व ज्यानें स्वतःच्या निर्दोष बुद्धि व पराक्रमाच्या द्वारें विपुल संपत्ति मिलविली आहे असा सिद्धार्थ या नांवाचा राजा या शहरांत राहात होता. २१ जसा ध्वज निर्मल चंद्राच्या किरणाप्रमाणें ग्रुम्न, शोभायुक्त-सुंदर, लांव व वंच असतो व अनेक जत्सवाच्यावेलीं तो उचलून जमीनींत रोवून स्थापन करितात व हा ध्वज त्याला जांडलेल्या चेल्ला स्वाभाविक स्पष्टपणें भूषित करीत असे: त्याप्रमाणें चंद्र किरणा प्रमाणें सुंदर, लक्ष्मी संपन्न, भाग्यशाली असा हासिद्धार्थ राजा पराक्रमी होता. यांने पृथ्विची उन्नति करून तिचा बद्धार केला होता, नेहमीं उत्सवोच्या परंपरेनें

(3\$2) दोषो वभव गुणिनोऽप्ययमेक एव यस्य प्रतापमतुलं द्धती धराया॥ वक्षः स्थिता प्रियतमापि वलात्पुरस्ताद्यद् भुज्यते सतति भष्टजनेन लक्ष्मीः ॥ २३ ॥ तस्य प्रिया नरपतेः प्रियकारिणीति नाम्ना वभूव महिषी भ्वनैकरत्नं। यां वीक्ष्य लोचनसहस्रमिदं कृतार्थमद्येत्यमन्यत वृपापि विवाहकाले २४ किं को मुदी तनुमती नहि सान्हि रम्या दिव्यांगनेयसुत सा न विलो-लनेत्रा॥ वीक्ष्येति विस्मयवशादिष मन्यमानौ यामर्थनिश्चयमपूर्वजनो न लेभ 1 24 | स्वाभाविकपणे प्रसिद्ध अशा आपल्या जातिकुलाला यांने ध्वजाप्रमाणे सूपित केलं होतें. २२ सर्व प्रजाजनाला इच्छित फलांनी संयुक्त करणाऱ्या या राजाला फरुन घेऊन सर्व निर्मल अशा राजविद्या फार शोभूं लागल्या. वरोवरच र्का, गरदत्त्या समयाला प्राप्त होऊन सर्व दिशा प्रसन्नतेने सहित, अगा नोभेला **धारण करीत नाहींत काय १२३ या पृथ्वी तलावर अनुपम पराक्रम** करणाऱ्या या गुणी राजाच्या ठिकाणीं एकच दोप होता. तो असा कीं, अतिशय आवडती व राजाच्या वक्षःस्थलावर राहणारी अशीही लक्ष्मी याच्या देखत इष्ट मित्रंदिकाकहून वद्यात्कारानें भोगिली जात असे. २४ त्रैलोक्यांतील अद्वितीय रतन अशी पियकारिणी नांवाची पत्नी या सिद्धार्थ राजाची पट्टराणी होती. या राजा-राणींच्या विवाहकालीं या भियाति कि प्राप्त ईहाने देखील आज माने हजार टोळे असणें कृतार्थ झालें अ . . . . २५ अपूर्व लोक अर्थात् या राणीला ज्यांनीं पूर्वी पाहिले स्तात अस लोक या राणीला पाहन

आधर्य चिकत होऊन जात जलन, यामुळे विचार करणाऱ्या रयांना वास्ताविक चस्तुस्थितीचा निश्चय होत नसे. त्यांना संशय उत्पन्न होत असे:--काय ही मूर्तिमंत को गुढ़ी-चंडाचें चांडण-आहे ? छेछ री पर कौमुटी असती तर दिवसा रमणीय कशी दिसली असती १ कारण कौमुटी दिवसा रम्य दिसन नाहीं. ही देवांगना असेल असे मानलें तर नेंही योग्य दिसन नाहीं कारण देवांगनेचे टोळे चंचल नसतात. ही तर चंचलनयना दिसत. माममाणें त्यांना कांईां निर्णय कर्ता येत नसे, २९ हा सिद्धार्थगत्रा त्यामाविक

रेजे परं सहजरम्यतयान्वितोऽपि तां प्राप्य भूपतिरनन्यसमानकांतिं। शोभांतरं ब्रजित न प्रतिपद्य हृद्यः किं शारदीं शशघरो भुवि पौर्ण-मासीं ॥ २६॥

साप्यात्मनः सदृशमेत्य पर्ति मनोज्ञं तं दिद्युते रितिरिव प्रकटं मनोजं॥ लोके तथाहि नितरामनुरूपयोगः केषां न दीषयति कांतिमनन्य-साम्यः॥ २७॥

एकोयमेव समभूदिभरामकीत्योंदीपस्तयोर्भ्रवि वधूवरयोरनूनः॥ ऋत्वा पर्दं सुमनसामुपरि प्रकाशं याज्ञिष्यतुः प्रतिदिनं कुसुमायु-धात्तौ॥ १८॥

धर्मार्थयोः सतत्तिस्यविरोधि कान सार्धं तया मृगद्दशानुभवन्नरेद्रः॥ संरक्षणात्ममदयन्सकलां धरित्रीं कालं निनाय स यशोधवलीक्र-ताशः॥ २९॥

सौंदर्यानें युक्त असून जिच्या समान कोणाचीही कांति नाहीं अशा त्या प्रियका. रिणीला प्राप्त करून वेजन अर्थात तिच्यासह संयोगानें फारच शोभूं लागला-वरोवरच आहे कीं या जगांत शरत्कालच्या पौर्णिमा तिथीच्या संयोगानें मूलचाच खंदर असलेला चंद्र अनिर्वचनीय अशा शोभेला प्राप्त होत नाहीं काय १ प्राप्त होतोच. राजा तर सुंदर होताच पण राणीच्या अनुपम सौंदर्यानें त्याला फारच शोभा आली होती.

२७ सुंदर अशा मदनाच्या प्राप्तीनं रित दंवी जशी शोभत होती तशी ही मियकारिणी राणी देखील स्वतःला योग्य अशा सुंदर सिद्धार्थ राजाच्या संयोगानें स्पष्टपणें फार शोर्थू लागली. वरोवरच आहे की ज्याची बरोवरी कोणी करूं शकत नाहीं असा अनुरूप संबंध या जगांत कोणाच्या शोभेला वाढिवणारा होत नाहीं बरें ? २८ सुंदर कीर्तीला धारण करणाऱ्या या पितपत्नींच्या ठिकाणीं एकच मोठा दोव होता. तो हा कीं, उघडपणें हें जोडपें विद्वान व देव यांच्यावर आपलें पाउल ठेवीत असत व दररोज मदनापासून भय पावत असत अर्थात् विद्वान व देव यांच्या चरणांना नमस्कार करीत असत आणि हे काम पुरुषार्थाचा विरोध न येईल अशा रीतीनें अनुभव घेत असत. २९ आपल्या कीर्तीनें सर्व दिशा ज्यानें

भक्तवा प्रणेमुरथ तं मनसा सुरेंद्रं पण्मासरोषसुरजीवितमेत्य देवाः। तस्मादनंतरभवे वितानिष्यमाणं तीर्थं भवोदिधसमुत्तरणैकतीर्थं इंद्रस्तदा विकासितावधिच शुरष्टौ दिकन्यका वितत कुंडल शैलवासाः यूयं जिनस्य जननीं त्रिशलामुपाध्वं प्राग्भाविनीमिति यथोचित-मादिदेश ॥ ३१ ॥ चूडामणिद्युतिविराजितपुष्पचूला चूलावती जगति मालिनिका पर्याप्तपुष्पविनता वनमालिकेव दश्या सदा तनुमतां नवमालिका च पीनोन्नतस्तनघटद्रयभूरिभारताम्यत्ततुत्रिवलिका त्रिशिराभिधाना।

लीलावतंसितसुरहुमचारुपुष्पा पुष्पप्रहाससुभगापि च ॥ ३३ ॥ निर्मल केल्या आहेत असा तो सिद्धार्थ राजा त्या इरिणनेत्रा प्रियकारिणी राणी-सह धर्म व अर्थ या पुरुषार्थीना वाधा न येईल अशा रीतीने कामसुखाचा अनुभव येत व संरक्षण कार्यानें सर्व पृथ्वीला आनंदवीत आपला काल व्यतीत करूं लागला-

३० इकडे ज्याचें देवगतीतलें आयुष्य सहा महिने उरलें आहे व जो पुढच्याच जन्मीं संसार समुद्र तक्षन जाण्यासाठीं अद्वितीय अशा घाटासारख्या तीर्थाचा प्रसार करणार आहे अशा प्राणतेंद्राकडे येऊन देव त्याला मनाने-मनःपूर्वक भक्तीने नमस्कार करूं लागले. ३१ त्यावेळीं ज्याचा अवधिज्ञानरूपी डोला विकसित याला आहे अशा सौधर्म इंद्रानें भावी जिनमाता जी त्रिशला राणी तिची तुम्ही उपासना करा अशी, विरतीर्ण कुहल पर्वतावर ज्यांचा निवास आहे अशा आट टियकुपारींना आजा केली. ३२ च्डामणि रत्नाच्या कांतीने जिचा फुलांचा मुकुट शोभत आहे अशी चूलावती, जगामध्यें आतिशय सुद्र अशी मालानिका, पुष्कलशा पुष्यांनी नम्न झालेल्या वनमालेपमाणें सर्व प्राण्यांना पाइण्यास योग्य अर्थात सुद्र अशी नवपालिका, मोटे व उंच अशा स्तनऋषी दोन कुंभाच्या ओझ्यानें जिचा टेर व विवजी खिन झालेले आहेन अशी विशिश नांवाची दिकन्या, कल्परक्षाच्या चित्रांगदा कनकचित्रसमाव्हया च तेजोऽभिभूतकनका कनकादि

द्राग्वारुणी च सुभगा प्रियकारिणीं तामासेदुरानतिशानिहिताप्र-

ताभिः स्वभावरुचिराकृतिभिः परीता सात्यंत गांतिसहिता नित्रशं विरेजे॥

एकापि लोकनयनोत्सवमातनोति तारावली वलियता किमु चंद्र-लेखा ॥ ३५ ॥

तिर्पिग्वजृंभकसुगश्च निर्घि दधानास्तत्राज्ञया प्रतिदिशं सुसुचुर्ध-

सार्धं त्रिकोटिपरितः प्रनदाय रत्नं लोकस्य पंचदश विस्फ्रारितांशु मासान् ॥ ३६॥

पुष्पांचे जिनें अलंकार धारण केले आहेत व फुलाप्रमाणें मृदु व स्वच्छ इंसण्यानें सुंदर दिसणारी पुष्पचूला, चित्रविचित्र बाहुभूषणांनीं युक्त अशी कनकचित्रा, स्वतःच्या तेजाने सोन्याच्या कांतीचा पराभव करणारी कनकादेवी व सुंदर अशी वारुणी देवी अशा या आठ दिकन्यका नभ्र झालेल्या आपल्या मस्तकावर हातां-चा अग्र स्थापन करून अर्थात् हात जोडून व ते नम्र झालेल्या मस्तकावर ठेंऊंन **पियकारिणी राणीकडे आल्या. ३५ स्वामाविक सुंदर आकृतीच्या अशा या आठ** दिकन्यकांनीं वेष्टिलेली अत्यंत सौंदर्ययुक्त ती त्रिय कारिणी जिनमाता फारच शोभू लागली. बराबरच आहे कीं, चंद्राची कीर एकटीच असली तरीही लोकांच्या नेचां ना आंनंद देणारी होते, मग तारांच्या समुदायांनीं ती वेष्टित झाल्यावर काय विचारावयाचें आहे? अर्थात् ता स्यावेळीं अतिशय आनंददायक होते. त्याप्रमाणें या अष्ट दिक्कन्यांनीं जिनमाता फारच शोभूं लागली.

३६ निधींना धारण करणारे तियीग्वजंभक नांत्राचे देव कुवेराचे आहेनं त्या कुं ७ पुर शहरांत प्रत्येक दिशेमध्यें लोकांना आनंद व्हावा म्हणून पंधरा महिने पर्यत ज्यांचे किरण चोहींकडे पसरले आहेत अशा साडेतीन कोटि रत्नांची टिष्टि कर्लं लागले, २७ अमृतानमाणें पांढऱ्या रंगाच्या महालांत कोमल हंसानमाणें

सोध सुधाधविते मृदुहंसतूले रात्री सुखेन रायिता प्रियकारिणी सा। स्वप्रानिमानथ जिनाधिपतिप्रस्तिप्रक्यापकानुषसि भव्यनुतान्यप-र्यत् ॥ ३७॥ ऐंद्रं गजं मदजलाईकपोलमूलं प्रोत्तुंगिर्भिदुधवलं वृप्भं नदन्तं॥

एद्र गज मदजलाद्रकपालमूल शासुगामद्भवत ध्यम नद्भा ॥ पिंगाक्षमुज्जवलसटं मृगराजमुश्रं लक्ष्मीं मुदावनगजैरिमिप्चियमानां ३८ दामद्रयं भ्रमदलिप्रकरं नभःस्थं विध्वंसितांधतमसं सकलं मृगांकं ॥ बालं गति सर्गाम्यानि विबोधयन्तं क्रीहन्महेन विमलांभिस

वालं रविं सरिसजानि विवोधयन्तं क्रीडन्मदेन विमलांभिस मत्स्ययुग्मं ॥ ३९॥ कुंभो सरे(रुहरृतो फलसंवृत(स्यो रम्यं सरः सरिसजैःस्फटिकाच्छवारि वारां निधिं पिहितदिग्वलयं तरंगैः सिंहासनं मणिमयुखविभूपितांगं

वैचङ्कर्जं सुरविमानमनूनमानं नागालयं समदनागवधूनिवासं ॥ विस्तारितं सुनिवहं दिवि रत्नराशिं वर्निह च धूमरहितं कपिली-कताशम ॥ ४१॥

उत्तर काषुम ज्यांत आंह अशा विछान्यावर रावीं सुखाने निजलेल्या पियका-रिणी राणीनें जिनेश्वराच्या जन्माची सुचना करणारीं भव्यांकडून प्रशिक्षी जा-णारीं अशीं पुढें लिहिलेशी स्वानें प्राताःकालीं पाहिलीं. ३८ मर्तीच्या पाण्यानें ज्याच्या गंडस्थलाचा मृत्र भाग ओला झाला आहे असा उंच ऐरावत हतीं, चट्टा-प्रमाणें पांडरा व गर्नेना करणाग वैल पिंगट डोल्याचा, चमकणाऱ्या आयालांचा,

य उम्र असा सिंह, आनंदानें रानटी हत्ती जिला र्नान घाळीत आहेत अशी लक्ष्मा, आकाशांत लोंवणाऱ्या व ज्याऱ्या सभोवती ग्रुग्यांचा समुदाय फिरत पादे अशा दोन पुत्रपाला, ज्याने दाट अंबार नष्ट केला आहे असा पूर्णचंद्र, कमलांना विकसित करणारा बाल सूर्य, गर्वाने स्वच्छ पाण्यांत कीडा करणारे पादाचे जोटपें, फलांनी ज्यांची तीटे बांकली आहेत असे कमलांनी

करणारं माझाचे जोडपे, फलोनी ज्यांची तोटे खोंकली आहत अस कमलानी वेदिलेलें ट्रोन पलझ, कमलानी मनोहर दिसणारे व स्फटिकाप्रमाणें निर्मल पाण्याने अस्लेलें सरोवर, आपल्या नरंगोनी सर्व दिशांना त्यापृन टाकणारा समुद्र, रत्नांच्या स्वप्रान्सद्स्यवनिपाय जगाद देवी तानात्मजाननविलोकनकौतुकाय सोऽपि प्रमोदभरविव्हलितांतराक्षस्तस्यै क्रमादभिद्धाविति तत्फलानि ॥४२॥

हरेन रो त्रिभुवनाधिपतिर्गजेन पुत्रो भविष्यति वृषेण वृषस्य कर्ता॥ सिंहेन सिंह इव विक्रमवान्खगाक्षि ! लक्ष्म्या सुरैः सुरगिरौ स सुदाभिषेच्यः ॥४३॥

दामद्रयेन भविता यशसो निधानं चंद्रेण चंद्रमुखि! मोहतमोविभेदी। हंसेन भव्यकमलपतिनोधकारी सोऽनंतमाप्स्यति सुखं शफरद्रयेन ॥४४॥

धास्यत्यलं घटयुगेन सलक्षणांगं तृष्णां हिनष्यति सदा सरसा जनानां॥

किरणांनीं ज्याचें सर्व अवयव सुशोभित झाले आहेत असे सिंहासन, ज्याच्यावरील ध्वज हालत आहेत असे फार मोठें देव विमान, योवनोन्मत्त नामित्वया ज्यांत आहेत असे नागभवन, आकाशांत पसरलेल्या रत्नांचा पुंज, ज्यानें सर्व दिशा विगट केल्या आहेत असा धुगनें रिहत अग्नि, अशीं सोला स्वमें राणीनें पाहिलीं. धर राणोनें सभेंत पुत्राचें मुख पाहण्याविपयीं कौतुक मुक्त सिद्धार्थ राजाला हीं स्वमें सांगितलीं, आनदभरानें ज्याचें मन व इद्वियें विव्हल झालीं आहेत अशा त्या राजाने तिला कमानें त्यांचीं फलें सांगितलीं. तीं येणें प्रमाणें: हे हिरणनेत्रे, हत्ती पाहिलास त्यायुळें तुला बेलोक्याचा अधिपति असा मुलगा होईल व बेल पाहिलास त्यायुळें तुला बेलोक्याचा अधिपति असा मुलगा होईल व बेल पाहिलास त्यामुळें धर्माचा कर्ता अर्थात् त्याचा प्रसार करणारा असा पुत्र होईल. सिंह दर्शनानें सिंहाप्रमाणें पराक्रमी, लक्ष्मीदर्शनानें मेरूपर्वतावर—देवांकडून अभिषेक होण्यास सिंहाप्रमाणें पराक्रमी, लक्ष्मीदर्शनानें यशांचा सांठा, हे चद्रवदने, चंद्र दर्शनानें सोहर्जा अथाराचा नाश करणारा, सूर्य दर्शनानें भव्य लोकरूपी कमलांना विकतित करणारा, दोन मत्रयांच्या दर्शनाने अन्ते सुखाला प्राप्त होणारा, दोन कलशांच्या दर्शनानें अत्त अशा शरीराचा धारक, सरोवर दर्शनानें नेहर्मी लोकांची तृष्णा दूर करणारा, समुद्रदर्शनानें संपूर्ण ज्ञानाला प्राप्त करन घेणारा, व लोकांची तृष्णा दूर करणारा, समुद्रदर्शनानें संपूर्ण ज्ञानाला प्राप्त करन घेणारा, व सिंहासनदर्शनानें अन्तीं उत्कृष्टपदाला अर्थात् मोक्ष प्राप्त करन घेणारा, व सिंहासनदर्शनानें अन्तीं उत्कृष्टपदाला अर्थात् मोक्ष प्राप्त करन घेणारा,

देवालयादवतरिष्यति देवधामा तीर्थं करिष्यति फणींद्रगृहेण मुख्यं॥ यास्यत्यनंतगुणतां मणिसंचयेन कर्मक्षयं स वितानिष्यति पावकेन

स्वप्रावलीफ अमिति प्रियतो निशम्य सा पिप्रिये जिनपतेरवतारशंसि। मेने स्वजन्म सफलं वसुधाधिपोऽपि त्रैलोक्यनाथग्रुरुताथ मुदे न केषां ॥ ४७ ॥

पुष्पोत्तरात्समवतीर्य सुराधिपोऽथ स्वप्ने विवेश धवलद्विपरूपधारी ॥
देव्या मुखं निशि शुनौ सितपक्षषष्टयां चंद्रे प्रशृद्धिमति चोत्तर
फाल्गुनिस्थे॥ ४८॥
विभिन्न्योग स्वत्यस्थित्वर्यं स्वर्वीत

तिस्मन्श्रणे स्वहरिविष्टरकंपनेन ज्ञात्वा सुराधिपतयोऽथ चतुर्वि-कृत्पाः ॥ तामेत्य दित्यमणिभूषणगंधमान्यत्रस्यादिभिः सम्वितस्य ययः

तामेत्य दिव्यमाणिभूषणगंधमाल्यवस्त्रादिभिः समभिवूज्य ययुः स्वधाम ॥ ४८॥

४६ देव विमानाच्या दर्शनानें तो स्वर्गापासून अवतरेल, व नागविमानाच्या दर्शनानें युख्य तीर्थाचा कर्ता होइल. रत्नराशीच्या अवलोकनानें तो अनत गुणांचा धारक होईल व अग्नि पाहण्यानें कर्मक्षय करणारा होईल. ४७ या प्रमाणें जिने- श्वाच्या अवतागचे सचक अशा स्वमाचें फल आपल्या पतिराजापासून प्रियका- रिणी राणीला ऐकून फार आनंद झालां. व आपण जन्म धारण करणें हें सफल झालें असें ती मानूं लागली. याचप्रयाणें सिद्धार्थ राजाही आपल्या जन्माचें आज साफल्य झालें असें समजूं लागला. वरोवरच आहे कीं, त्रैलोक्यनाथ अशा जिने- श्वराचे आई बाप होण्याचा प्रसंग कोणाला वरें आनंदाला कारण होणार नाहीं १ अट यानंतर तो प्राणांद प्रयोचर विमानाणायन लवल्य रवामार्थें ज्यानें

४८ यानंतर तो प्राणतेंद्र पुष्पोत्तर विमानापासून उतक्त रवमामध्यें ज्यानें पांढच्या हत्तीचें रूप घारण केलें आहे असा होत्साता रात्रीं आपाढ शुक्क पष्टीच्या दिवशीं उत्तराफाल्गुनि नक्षतावर चंद्र उन्नतावस्थला प्राप्त झाला असतां देवीच्या श्री-हिश्ति श्रहनणा च नहा च कीर्तिरुक्ष्मीश्र नाक्च विकस्तरमदेन देव्यः ॥
एता निजद्युतिविदीिपतवायुमार्गोस्तामाज्ञया सुरपतेः सहसोपतस्थुः
॥ ५० ॥
हक्ष्मीर्सुखे हिद धतिर्ह्णवणां च धाम्नि कीर्तिर्गुणेषु च नहे च
नहा महत्वे ॥
श्रीर्वाचि वाक्च नयनद्वितयेच हज्जा तस्या मुदा सह यथोचित्तमध्युवास ॥ ५१ ॥
गर्भास्थितोऽपि स जहे जगदेकचक्षुर्ज्ञानत्रयेण विमहेन न जातु मातुः॥
धाम्ना न भानुरुद्याद्वितदीविद्याहकुक्षिस्थितोऽपि रुचिरेण
परीयते किं ॥ ५२ ॥
न प्राप किंचिदपि गर्भनिवासदुःखं कामं महेरनुपसं छुतकोमहांगः॥

मुखामध्यें प्रविष्ट झाला. ४९ त्याच क्षणीं आपत्या सिंहासनांच्या कंपनीनें चार प्रकारच्या इंद्रांनीं जिनेश्वराचे गभीत अवतरण झालें असें जाणून जिनेश्वराच्या मातेकडे प्रयाण केलें व तिचा दिच्य रत्नालंकार, गंध, पुष्पमाला अमूल्य वहीं वगैरेनीं त्यांनीं आदर केला व स्वतःच्या रथानीं पुनः प्रयाण केलें. ५० स्वतःच्या देहकांतीनें आकाशाला प्रकाशित करणाऱ्या श्री, देही, धृत्ति, लवणा, बला, कीर्ति, लक्ष्मी व वाक या आठ देवता हार्द्धगत होणाऱ्या आनंदासह इंद्राच्या आहेनें मातेजवल तत्काल येखन हजर झाल्या. ५१ मुखामध्यें लक्ष्मी, हृद्यांत श्रीत, शरीरांत लवणा, गुणामध्यें कीर्ति, वलामध्यें वला, महत्वामध्यें श्री, भाषणांत वाक्, दोन नेवामध्यें लज्जा या रीतीनें देवतांनीं मातेच्या यथोचित स्थानीं मोठ्या आनदानें वास केला. ९२ जगाला अद्वितीय नेवामगणें असलेले प्रमु गातेच्या गर्भामध्यें विराजमान झाले होते. तथापि ते निमेल अशा तीन जानांकट्टन कर्धांहि सोहले गेले नाहीत. वरोवरच आहे कीं, उदय पर्वताच्या तटीहणी विशाल उटरामध्यें सूर्य राहृन देखिल आपल्या सुंदर अशा तेजानें वेटलेला असन नाहीं कार्य असतोच. ५३ रक्त वगैरेमलापासून पूर्ण अलिप्त झालें आहे, कोमल अंग उपाचें असा

पंकानुलेपरहितस्य सारिङ्जलान्तर्मग्रस्य पद्ममुङ्खलस्य किमास्ति खेदः

11 43 11

गर्भस्थितस्य विमलावगमप्रणुन्नं मोहांधकारमिव चित्तगतं वमन्तौ ॥ तस्याः स्तनौ सपदि नीलमुखावभूतां पीनोन्नतौ कनककुंभिनभौ मृगाध्याः॥ ५०॥

आपांडुतां तनुरियाय तदा नतांग्या निर्यत्तदीययशसा धवलीकृतेव॥ पूर्वं तथा न विरराज वलित्रयेण तस्यायथोदरमनुल्बणमेधनेन॥५५॥ तस्यास्त्रिसंध्यमकृतैत्य मनुष्यधर्मा सेवां स्वयं पटलिका निहितानि

विभ्रत्॥ श्लोमांगरागसुमनोमणिसूषणानि प्रख्यापयन्निव जिने निहितां स्वभक्ति॥ ५६॥

तृष्णाविहीनमथ गर्भगतं दथाना तं दौहृदेन न कदाचिदसौ वबाधे एप क्रमोऽयमिति पुंसवनं नरेंद्रस्तस्याश्चकार विबुधैरिप पूजितायाः ॥ ५७॥

त्या जिनेश्वराला गर्भामध्ये निवास करण्यापासून थोडेसेंही दुःख झालें नाहीं. वरोवरच

आहे कीं, चिखलाच्या लेपापासून राहत असून नदीच्या पाण्यांत बुढालेल्या कमलाच्या कलीला कांहीं तरी खेद वाटतो काय ? ५४ प्रभु गर्भीत आले त्या वेळीं मृगनेत्रा अज्ञा त्या राणीचे मोटे व उंच आणि सुवर्ण कुंभापमाणें असलेले दोन रतन तत्काल ज्यांचीं वें डें निली झालीं आहेत असे झालें. गर्भापध्ये येजन राहिलेल्या प्रभूच्या निर्मल जानानें हाकालून दिलेला प्रनांतील मोहरूपी अधारच जणु ते दोन स्तन वाहेर ओकून टाकीत आहेत कीं काय असे शोभूं लागलें. ५५ जिचे शरीर नम्र झालेले आहे अज्ञा त्या मातेचे शरीर पांढरें झालें जणु ते प्रभूच्या वाहेर निघणाच्या यज्ञानेंच धवल झालें. मातेचे वाढणारें पोट जसें शोभूं लागलें तसें पूर्वी अपगट व तीन वलकट्यांनी युक्त असलेलें शोभत नन्होंते. ५६ श्री जिनेश्वरामध्यें असलेल्या आवल्या अस्तीला जण व्यक्तच करीत आहें

५६ श्री जिनेश्वरामध्यें असलेल्या आपल्या भक्तीला जणु व्यक्तच करीत आहे असा कुवेर सकालीं, ढोनप्रहरीं व संध्याकालीं पिटाऱ्यामध्यें वारीक सुंदर वहाँ, अंगाला उटी लावण्याचे पदार्थ, पुष्पमाला, रत्नालंकार वगैरे ठेऊन मातेकडे चेत असे व तिची स्वतः सेवा करीत असे. ५७ मातेनें तृष्णेनें रहित अर्थात् निरपृष्ट अशा जिनभगवंताला गर्भीत धारण केलें होतें रहणून तिला होहाले उत्पन्न होऊन दृष्टे प्रहैरथ निजोच्चगतैः समग्रैर्लभे यथा पतितकालमसूत राज्ञी॥ चैत्रे जिनं सिततृतीयजया निशान्ते सोमान्हि चंद्रमसि चोत्तर-फाल्श्विस्थे॥ ५८॥

आशाः प्रसेदुरथ देहभृतां मनोभिः सर्वाः समं वियदधौतिभियाय शुद्धिम् ॥

पेते मदालिचितया सुरपुष्पवृष्टवा ने हुस्तदा नभा भि इं हुभयश्च मंद्र स्पे ५९ जाते तदा प्रथिततीर्थकरानुभावे तस्मिन्भविच्छिदि जगित्रतयै ।। कनाथे॥

सिंहासनानि युगपित्रदशेश्वराणां कंपं ययुःसहमनोभिरकंपनानि ६० उन्मीलिताविदशा सहसा विदित्वा तज्जन्मभक्तिभरतः प्रण-तोत्तमांगाः॥

धंटानिनादसमवेतिनकायमुख्या दिष्ट्या ययुस्तिदिति कुंडपुरं सुरेंद्राः ॥ ६१ ॥

क्यांही तास झाला नाहीं. ही वंशाची पद्धाति आहे असे समजून देवांनींही पूज्य असलेल्या प्रियकारिणीचा पुंसवन संस्कार राजा सिद्धार्थानें केला. ५८ यानंतर कांहीं दिवसांनीं सर्व ग्रह आपल्या उच्चस्थानीं येजन त्यांनी लग्न पाहिलें असतां, योग्य काल आला असतां, चैत्र शुद्ध त्रयोदशीच्या दिवशीं सोमवारीं पहाटे चंद्र उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्रावर आला असतां त्रिशाला पातेनें श्री जिनेश्वराला जन्म दिला. ५९ भगवंताच्या जन्मानें सर्व प्राण्यांच्या अंतःकरणासह सर्व दिशा प्रसच्न झाल्या. धुतल्यावाचूनच आकाश शुद्ध -स्वच्छझालें. उन्मत्त भुंग्यांनीं व्याप्त झालेली पुण्पदृष्टि देव करूं लागले. आकाशांत देव नगारे गंभीर शब्द करूं लागले. ६० तेलोक्याचे आदितीय स्वामी, संसाराचा नाश करणारे, ज्यांच्या ठिकाणीं तीर्थकराचे चेभव मगट झाले आहे असे जिनेश्वर उप्तच झाले असतां, सर्व इंद्राचीं कंप न पायणारी आसनें न्यांच्या मनासह एकदम कंप पावलीं. ६१ विकसित झालेल्या अविद्यान-रूपी डोळ्यानें अकस्मात् जिन जन्म झाला आहे असे जाणून व भक्तिभागनें ज्यांचीं मस्तकें वाकलीं आहेत, यंटाच्या ध्वनीनें एकत झालेल्या चार प्रशानच्या देवाचे मुख्य असे सर्व इंद्र मोल्या हर्पानें न्यावेलीं गुंडपुगकटे नियाले.

आज्ञाप्रतीक्षणपरेऽप्यनुरागभावात्कश्चित्सुरः परिजने स्वयमेव दथे॥ हस्तद्धयेन कुसुमस्रजमितुं तं कस्याथवा भवति पुज्यतमे न

भक्तिः ॥ ६२ ॥ तस्याभिषेकसमये यदिहास्ति कृत्यं कृत्स्नं तदाशु विदधाम्यहमेव युक्तं ॥

युक्तं॥ कर्तुं दिशामि न परेभ्य इतीव भक्तश चक्रे सुरः प्रमुदितः स्वम-नेकमेकः॥ ६३॥

कृत्वापरः करसहस्रमनेकमुच्चैर्विभ्रिद्धिनद्रकमलानि जिनानुरागात् तेने वियत्यपि सरोजवनस्य लक्ष्मीं शक्ति न कारयतिं किं किमि-वातिभक्तिः ॥ ६४ ॥ केचित्स्यमौलिशिखरस्थितपद्मरागवालातपारुण्मरीचिचयच्छलेन ।

काचत्र्यमा।लाशखरास्थतपद्मरागवालातपारुणमराचिचयच्छलन । अंतर्भरात्सपदि निष्पतितं जिनेंद्रे रेजु शिरोभिरनुरागमिवोद्ध-हन्तः ॥ ६५ ॥ ६२ आपापळा परिवार देवांचा समुहाय आज्ञेची वाट पाहण्यांत तत्पर असतांई। कोणी

एक देवानें तीर्थकराच्या भक्तीमध्यें छीन होऊन स्वतःच आपल्या दोन हातांनीं जिनेश्वराची पूजा करण्याकरितां पुष्पमाला धारण केली. वरोवरच आहे कीं, अत्यंत पूज्य अशा व्यक्तीवर कीणाची भक्ति नसतें वरें? ६३ जिनाच्या अभिषकाच्या वेळीं के काम करावयाचें असते तें सर्व मीच करीन मलाच—करणें योग्य आहे इतरांना करण्यासाठीं मी आजा करणार बाहीं असा जणु मनांत विचार करून भक्तीनें आनंद्युक्त होछन कोण्या एका देवानें स्वतःला अनेक रूपाचे केलें. ६४ कोण्या एका देवानें हजारों हान अम्रव केलें व जिनेश्वराच्या भक्तींत लीन होछन त्यामध्ये त्यानें विकसित कमलें घारण केलीं व त्यानें आकाशांतहीं कमल समृहाची शोभा उत्पन्न केली. वरोवरच आहे कीं, अतिद्यय मोठी भक्ति कोणते कक्तींचें काम करवीत नाहीं वरें ? ६५ कित्येक देव आपल्या किरीटाच्या अग्रभागीं असलल्या पद्मराग मण्यांच्या कोवल्या मकाशांच्या लाल किरीटाच्या अग्रभागीं असलल्या पद्मराग मण्यांच्या कोवल्या मकाशांच्या लाल किरीटाच्या प्रमाला असल्या मस्तकांनीं जणु धारण केलें कीं काय असे शोभूं लागले.

एकावली तरलनीलकरमरोहश्रेणीकरालितमनोज्ञभुजांतरालाः सद्यः प्रसन्नजिनभक्त्यपनीयमानचित्तस्यमोहितिमिरा इत्र केचि-दासन्॥ ६६॥

आयातवेगपवनेन विकृष्यमाणां दूरांतराज्जलघरा विबुधान्सम-न्तात ॥

यानस्थरत्नरचितामरचाषळक्षमीमादित्सयेव नभसि द्वतमन्वयुस्तान्।। ६७॥

देवैविवित्रमणिभूषणवेषयानैस्तैरापतद्भिरूपरुद्धसमस्तदिका ॥ केनापि निर्मितमभित्ति सजीवचित्रं द्योर्विअतीव समवैक्षि जनैः

सचित्रं॥ ६८॥ ज्योतिःसुरा हरिरवानुगतात्मसैन्याश्चंद्रादयः सपदि पंचविधास्तदेयुः शंखस्वनेनभवनोदरवासिनस्ते भृत्यैः सहाशु मिलितश्चमरादयश्च६९

६६ एक पदरी हाराच्या मध्यभागीं असळेल्या मोठ्या इंद्रनील मण्याच्या किरणां-कुरांच्या पंक्तींनीं व्याप्त झालेला आहे दोन बाहूच्या मधील शरीराचा भाग ज्यांचा असे कित्येक देव तत्काल निर्मल अशा भगवंताच्या भक्तीच्या द्वारें ज्यांच्या चित्तांतील मोहरूपी अंधार नष्ट होत आहे असे जणू शोभूं लागले. तात्पर्य हैं कीं, कित्येक देवांनी आपल्या गळ्यांत हार घातले होते. त्यांच्या मध्यभागी असलेल्या इंद्रनील मण्याच्या किरणांनीं त्थांचे वक्षस्थल व्याप्त होऊन गेल्यायुळें हृदयांत उत्पन्न झालेखा निर्मल जिनभक्तीनें तेथें असलेला मोहरूपी अंधार सगला जणु बाहेर आल्याप्रमाणें वाहूं लागलें, ६७ दूर अंतरापासून आलेल्या वेगाच्या वाऱ्यानें सर्व वाजुंकडून आकार्षिले गेलेल्या मेघांनीं विमानांत असलेल्या रत्नापासून चनलेल्या इद्रधनुष्याच्या शोभेला जणु ग्रहण करण्यासाठीं आकाशांत देवांचें जलदीनें अनुसरण केलें. तात्पर्य विमानाच्या वेगानें मेघ ओढले जात असत. परंतु ते विमानांत जह-विलेल्या रत्नांच्या शोभेला हिरावून घेण्यासाठी जणु त्यांच्या यागे धावत आहेत अशी कल्पना केली आहे. ६८ नानाप्रकारचे रत्नालकार, उत्तामवेष व सुंदर विमानें यासह यऊन देवांनीं आकाशांत सर्व दिशा घेरून टाकिल्या. त्यावेळीं सर्व लोक आश्चर्यचिकत होऊन वर पाहात असतां काढलेलीं आकाशानें भिंतीवांचूनच कोणी सजीव

तद्धंतराधिपतयः पटहस्वनेन न्याहूतसेवकनिरुद्धदिगंतरालाः॥ प्रापुः पुरं स्वसमधिष्ठितवाहवेगव्यालोलकुंडलमणिद्यतिलिप्तगंडाः॥ ॥७०॥

आसाद्य राजकुलमाकुलमुत्सवेन प्रत्युत्थितेन विदिता वसुघाधिपेन॥ मातुः पुरः स्थितमनन्यसमजिनेंद्रमिंद्रास्तदा ददृशुरानतमौलयस्तम्॥ ७१॥

मायाभकं प्रथमकल्पपतिर्विधाय मातुः पुरोऽथजननाभिषविक्रयाये॥ बालं जहार जिनमात्मरुचा स्फुरंतं कार्यांतरान्ननु बुधोऽपि करोत्य-कार्य ॥ ७२ ॥

शच्या 'वृतं करयुगेन तमब्जभासा नित्ये सुरैरनुगतो नभसा सुरेंद्रः स्कंधे निधाय शरदभ्रसमानमूर्तिरेरावतस्य मदगंधहतालिपंक्तेः॥७३॥

धारण केली आहेत असे वादूं लागलें. ६९ सिंह गर्जनेला अनुसहत अर्थात् ज्योतिलेकिातं जेव्हां सिंहनाद झाला तेव्हां चंद्रादिक पांच प्रकारचे डेपोतिर्देव आपर रा सैन्यासह शीघ्र सौधर्मेद्राला जाऊन मिळाले. याचप्रमाणे भवना-वासांत शंखध्वानि झाला तेव्हां चमर वैरोचन वगैरे भवनवासी देवांचें इंद्र आपल्या परिवार देवासह सौथमेंद्राला येऊन मिळाले. ७० नगाऱ्याच्या ध्वनीने बोलाविः लेल्या नोकरांच्याहारें ज्यांनीं सर्व दिशांचा मध्यभाग व्यापून टाकिला आहे व स्वतः आरोहण केलेल्या वाहनांच्या वेगाने हालत असलेल्या छुंडलांच्या रतन-कांनीनी ज्यांचे गाल व्याप्त झाले आहेत अर्थात कुंडलांच्या रत्नांची कांति ज्यांच्या गालावर पडली आहे असे व्यंतरदेवाचे इंद्र कुंडलपुराला येऊन टाखल झाले. ७१ अनेक उत्सवांनीं व्याप्त झालेल्या राजवाड्यास प्राप्त होऊन उठून उभा राहिलेल्या राजाकट्टन इसांचा रवीकार केला आहे अर्थात् आटर केला आहे व ज्यांचे किरीट नम्र याले आहेन अशा न्या इंद्रानीं मातेच्या पुढें अंसलेल्या क्यांच्यासारखा जगांत दुसरा सुंदर कोणी नाहीं अशा त्या जिनवालकांस पाहिलें. ७२ यानंतर सौधर्मेंद्रानें मातेन्या पुढें एक मायामयी वालक स्थापून स्वतःच्या कांतीने चमकणाऱ्या जिनवालकाला जन्माभिषेक कर्ण्यासाठी हरण केलें. वरोवरच आहे की, विहान देखील कार्यवश टोउन अरार्य प्रशंत असनो. ७३ कमलायमाणें कांतियुक्त असलेल्या आपल्या जिनवालका**ला** वेतलेल्या उचलन उन्द्राणीन द्रान रानांनीं

रुन्थिन्दिशो दशनवांबुदनादमंद्रस्तूर्यध्विनः श्वितिसुखः परमुच्चचार॥
तद्वर्णशंसि कलमप्रतिकिन्नरेंद्रेर्गानं नभस्यनुजगेऽनुगति त्रमार्गम्
॥ ७४॥
चंद्राकृतिसुतिहरं धवलीकृताशं मूर्तं यशो दिवि तदीयिमवोजिजहानं।
ईशानकलपपतिरुच्छितमातपत्रं तस्य त्रिविष्टपपते विभरांबभूव। ७५
पार्श्वस्थसामजनिविष्टसनत्कुमारमाहेन्द्रहस्त धतचामररुद्धदिका ॥
घौराबभौ स्वयमनुद्ववताभिषेक्तुं दुग्धाब्धिना परिवृतेव जिनेश्वरं तं ७६
उत्क्षेपकस्फिटकदर्पणतालवृत्तं मृंगारतुंगकलशादिकमंगलानि ॥
तस्यात्रतः पटलिकागतकलपवृक्षपुष्पस्रजश्च दिवरे सुरराजवध्वः ७७
वेगेन मंदरगवापुरमामनोभिश्वेत्यालयै रक्तकः कृतभूरिशोभस् ॥
अध्वश्रमं श्लथयता त्रिगुणान्वितेन तत्सानुजेन मरुतो मरुतोपगूढाः

देवांनी अनुसरलेल्या सीधमेंद्रानें शरत्कालच्या मेघापमाणें ज्याचें शरीर शुभ्य आहे त स्वतःच्या मदगंधानें भुंग्याच्या पंक्तीचें आकर्षण करणारा अशा ऐरावत हक्तीच्या खांद्यावर स्थापन करून आकाश मार्गानें नेलें. ७४ नवीन मेघांच्या गर्जनेप्रमाणें गंभीर, कानाला गोंड लागणारा व दहा दिशांना रोकणाग असा वाद्यांचा ध्वनि त्यावेळीं होऊं लागला. तेव्हां निनाच्या यशाचें वर्णन करणारे मधुर व अनुपम, द्रत मध्य व विलंबित असें तीन प्रकार ज्यांत आहेत असें गाणें आकाशामध्यें किन्नरेंद्र गाऊं लागले.

७५ चंद्राची आकृति व कांति हरण करणारे आपल्या कांतीने सर्व दिशांना पांढरें करणारें, जणू प्रभूचें जिनवालकाचें मूर्तिमंत यश्च वर आकाशांत जात आहें असें भासणारे उंच छत्र इशानेंद्रानें तैलोक्यपाति अशा जिनाच्यावर धारण केंद्र होते. ७६ दोन्ही वाजूला उमे असलेल्या हत्तीवर वसलेल्या सानत्तुमारेंद्र व माहेंद्र यांनीं आपल्या हातांत धारण केलेल्या चत्रच्यांनी दिशा व्यापून गेल्या असतां, स्वतः त्या जिनेश्वराला अभिषेक घालण्यासाठीं अनुसरणाच्या स्वीर समुद्रानें जणु वेद- स्याप्रमाणें आकाश शोभूं लागलें. ७७ चामर, स्फटिकमण्याचें द्र्ण, पंता, मृंगार, उंच कलश, वगैरे अप्टमंगल द्रव्यें व करंड्यामध्यें स्थापन केलेल्या पुष्प द्रधाच्या माळा हे पदार्थ इंद्राण्यांनीं जिनवालकाच्यापुढें धारण केलें होनें. ७८ गार्गामध्यें

आसाद्य पांडकवनं विबुधैर्नगस्य तस्यापि पंचरातयोजनमात्रदीर्घा दीर्घार्द्धविस्तृतिरथो युगयोजनोच्चा तैः पांडकंबलशिला शरदिन्दु-पांडुः ॥ ७९॥

तस्यां सुरा रजिनाथकलाकृती तं सिंहासने महति पंचधनुः शतार्द्धस्॥

व्यासोच्छिती दधति तद्दिगुणायतिं च जन्माभिषेकमहिमां विनि-

क्षरिदिधेरतिमुदा तरसोपनीतैर्भास्वन्महामणिघटाष्ट्रसहस्रतोयैः ॥ मांगल्यशंखपटहस्वननादिताशं शकादयस्तममरां सममभ्यिषंचन्

त्तरिंमस्तदा क्षुवति कंपितशैलराजे घोणाप्रविष्टसलिलात्पृश्केंप्यजसं।। इंद्रादयस्तृणमिवैकपदे निपेतुर्वीर्यं निसर्गजमनंतमहो जिनानाम् ८२

भालेला श्रम शिथिल करणारा, सुगंध, शीतल व मंद अशा तीन गुणांनी गुक्त व मेरपर्वताच्या शिखरापासून उत्पन्न होणारा अशा वाऱ्याने आहिंगिलेले देव अक्ट-तिमचैत्यालयांनीं ज्याला फार शोभा आली आहे अशा मेरुपर्वताकडे आपल्या मनास्ह वेगानें जाऊन पोहोचलें अर्थात् मेरुपर्वताकडे जावें असा मनांत विचार येतो तोंच शरीराच्या वेगानें ते तेथें जाऊन पोहोचले. ७९ या मेरपर्वताच्या पांडुक वनाला माप्त होऊन तेथें महायोजनांच्या प्रमाणांनीं शंभर योजनें लांव व पनास योजनें रंद आणि आठ योजनें उंच अज्ञा शरत्कालच्या चंद्राप्रमाणें शुभ्रवणीच्या पांडुकवल शिलेवर देव प्राप्त झाले. ८० चंद्राच्या कलेची आकृति धारण करणाऱ्या त्या पांडुकंबलाशिलेवर पांचशें धनुष्य व्यासाचे व आहिचशें धनुष्य उंचीचे व या-हून दुष्पट छांबीचे अजा सिंहासनावर जिनवालकास स्थापन जन्माभिषेकाचा महिमा करण्यास प्रारंभ केला. ८१ अतिशय आनंदानें व शीध आणिलेख्या चमकणाऱ्या महारत्नांनीं निर्माण केलेख्या एक हजार घागरीं भरलेल्या क्षीरसमुद्राच्या पाण्यांनीं इंद्रादि देवांनीं मंगल शंख, नगारा वैगरेच्या श्रन्दांनीं सगळ्या दिशा शब्दमय करून जिनवालकाचा अभिषेक केला. ८२ रयानेळीं नाकांत पाणी शिरल्यामुळें वालक्ष जिनेम्बरांना शिक आली तेव्हां तो

क्रवाथ वीर इति नाम नतः सुरेंद्रस्तस्याग्रतः सुललितं सममप्सरोभिः अक्षोर्युगं सफलयन्नमरासुराणां साक्षात्प्रकाशितसमस्तरसं नन्त

अत्यञ्चतं विविधलक्षणलक्षितांगं ज्ञानत्रयेण विमलेन विराजमानं ॥ बाल्योचितैर्माणमयाभरणैर्विभूष्य भत्तयामरास्तामिति तुष्टुवुरिष्टि-सिद्धे ॥८४॥

श्रीवीर यद्यथ वचे। रुचिरं न ते स्याद्धव्यात्मनां खलु कुतो भुवि तत्त्ववाधः॥

तेजो विना दिनकरस्य विभातकाले पद्मा विकासमुपयांति किमात्मनैव ॥ ८५ ॥

अस्ने ६ संयुतदशो जगदेकदीपश्चितामणिः कठिनतारहितान्तरात्मा अञ्यालवृत्तिसहितो हरिचंदनागस्तेजोनिधिस्त्वमसि नाथ निरा-कृतोष्मा ॥ ८६॥

मेर पर्वत दोखिल शिंकेच्या आवाजानें हलला व इंद्र जुने झालेल्या गवताप्रमाणें एकदम पहले जिनेश्वराचें स्वामानिक अनंतवल असतें हैं आश्चर्य आहे. ८३ या जिनेश्वराच्या कृत्यानें नम्र झालेल्या इंद्रानें जिनेश्वराचें वीर असें नांव ठेविलें. व सर्व देव आणि देत्य यांच्या नेत्रयुगाला सफल करणारा तो इंद्र संपूर्ण रस ज्यांत प्रकट झाले आहेत असें सुंदर नृत्य अप्सरासह प्रभूच्यापुढें करूं लागला. ८४ आतिशय अद्भुत व नानाप्रकारच्या लक्षणांनीं ज्यांचें अंग युक्त आहे. निर्मल अशा तीन शानांनीं जो शोभत आहे. अशा त्या जिनेश्वराला बालपणाला योग्य अशा रत्नमय अलंकारानीं सुशोभित करून सर्व देव मोल्या भक्तीनें आवडत्या पदार्थाची-मोक्षाची प्राप्ति व्हावी महणून त्याची स्तृति करूं लागले. हे वीरनाथा! जर तुझें सुंदर वचन नसतें तर भच्य जिनां या भूतलावर बस्तुचें खरें स्वरूप कर्से समजलें असतें. वरोवरच आहे कीं, सूर्याच्या प्रकाशावाचूनच प्रातःकाळीं कमलें आयोआपच विकास पावनात काय?

े ८६ हे जिनेशा! आपण तेल व वात यांस राहत असा जगांतील आहित य दीप आहात. कठिनपणानें रहित आहे अंतरात्मा ज्याचा असे आपण चिंतामणी रत्न आहात. प शुजंगाचें वेष्ट्रन न्याका नाहीं असा पंदनवक्ष आपण आहात. क्षीरोदकेनपटलावलिजालगौरं स्थित्वा नमस्यमृतर्शिमपदेन हृद्यं॥ व्याप्तं मया कियदनाप्तमिदं क्षणेन निष्यायतीव जगदीश जगद्यतस्ते ॥ ८७॥

स्तुत्वा तिमत्यथ सुराः पुनराशु निन्युर्मेरोस्ततः कुसुमभूपितसन्नमेरोः सौधात्रबद्धकदलीध्वजरुद्धचमानं यानावतारसमयान्नगरं तिदेद्धं ८८ पित्रोः सुतापगमजा भवतोरथार्तिमां भूदिति प्रतिकृतिं तनयस्य कृत्वा।।

नीत्वामराद्रिमभिषिच्य भवस्तुतोऽयमानीत इत्यभिनिवेद्य दृदुः सुरास्तं ॥ ८९॥ दिव्यांबराभरणमाल्यविलेपनाद्यैः संपूज्यमानवपतिं प्रियकारिणींच। आवेद्य तद्भगवतोऽस्य बळं च नाम भीता ययुः स्वनिलयं त्रिदशाः प्रमृत्य॥९०॥

उष्णतेनें रहित व तेनांचा साठा असें आपण सूर्य आहात. ८७ हे जगदीशा शिरसमुद्राच्या फेनसमृहाच्या पंक्तीप्रमाणें गौरवर्णाचें व रमणीय असे आपलें यश आकाशांत अमृताप्रमाणें ज्याचे किरण आहेत अशा चंद्राच्या मिपानें राहून मी हें जग किती ज्यापिलें आहे व केवढें ज्यापावयाचें राहिलें आहे. असा अणपर्वत जणु विचार करीत आहे. ८८ याप्रमाणें प्रभूची स्तुति करून नंतर फुलांनीं अलकृत झाले आहेतें. उत्तम नमेरु दृक्ष जेथें आहे अशा त्या मेरु पर्वतापासून मोठमोठ्या वाड्याच्या पुढें उभारलेल्या ध्वजांनीं विमानाचें खालीं उत्तरणें रोकलें गेलें आहे अशा समृद्ध नगरांत देवांनीं प्रभूला पुन: लौ तर नेलें. ८९ आपणाला मुलाच्या नेण्यानं पीडा होईल म्हणून मुलाची दुसरी प्रतिकृति मायेनें निर्माण करून व आपल्या मुलाचा मेरुपर्वतावर अभिषेक करून हा आपला मुलगा आही आणिला आहे. असें भगवंताच्या मातापित्याला सांगून देवांनी त्यांना प्रभू परत दिला. ९० दिल्य वसें, अलंकार, पुष्पहार, उटीचे पदार्थ वगैरेंनीं सिद्धार्थ राजाची व प्रियकारिणीची पूजा करून आदर करून आणि त्या भगवंताचे सामर्थ्य व नांव सांगून व नृत्य करून संतुष्ट झालेले देव आपल्या म्थानीं निशून गोले. ९१ भगवंताच्या गर्भापासून स्वतःच्या क्रांची लक्ष्मी मत्येक दिवशीं

तद्गर्भतः प्रतिदिनं स्वकुलस्य लक्ष्मीं हट्टा मुदा विधुकलामिव वर्द्धमानां॥

सार्छं सुरैभेगवतो दशमेन्हि तस्य श्रीवर्छमान इति नाम चकार राजा॥ ९१॥

तस्यापरेश्वरथ चारणल्डिधयुक्ती भर्तुर्यती विजयसंजयनामधयी तद्रीक्षणात्सपदि निःसृतसंशयार्थी आतनतुर्जगति सन्मतिरित्य-भिल्यां ॥ ९२॥

शकाज्ञया प्रतिदिनं 'धनदोऽनुरूपैरानर्च रिमजिटिलैर्मणिभूषणैस्तं। नाथे। व्यवर्द्धत यथेन्दुरकृष्णपक्षे भव्यात्मनामतनुना प्रमदेनसार्द्धं ९३ संप्राप्स्यते न पुनरेच वयुः सुरूपं बाह्यं मया क्षपितसंसृतिकारणत्वात् तस्मादिमां सफलयामि दशाभितीच मत्वाभरेः सह जिनः पृथुकैः स रेमे ॥९४॥

वटवृक्षमंथेकदा महान्तं सह डिंभेरिषरुह्य वर्द्धमानं ॥ रममाणमुदीक्ष्य संगमाख्यो विद्यवस्त्रासयितुं समाससाद ॥९५॥

चंद्राच्या कलेप्रमाण वाहत आहे हें पाहून दहाच्या दिवशीं राजानें देवासह प्रभूचें शीवर्द्धमान असें नांव ठेविलें. ९२ तदनंतर कोणे एके दिवशीं चारण ऋद्धीनें युक्त अशा विजय व संजय या नांवाच्या दोन मुनींनीं भगंवताचें दर्शन घेतल्यावरे।वर ते तत्वांतील संश्यानें रिहत झाले तेव्हां त्यांनीं प्रभूचें 'सन्मित ' असें नांव ठेविलें. ९३ जसा शुक्लपक्षांतील चद्र दररोज वाहत जातो तसे प्रभु भव्यजीवांच्या अतिशय आनंदासह बाढूं लागलें. इंद्राच्या आजेनें कुवेर किरणांनीं व्याप्त अशा रत्नालंकारांनीं प्रभूचा दररोज आदर करीत असे. ९४ मी संसाराचीं सगलीं कारणें नष्ट केली असल्यामुलें पुनः मला असलें सुंदर शरीर व असला सुद्र वालपणा प्राप्त व्हावयाचा नाहीं म्हणून मी ही अवस्था सफल करितो असा विचार करून जणु काय प्रभु इतर लहान मुलांसह कीडा करीत असत. ९५ एके दिवशीं एका मोठ्या वडाच्या दक्षावर इतर लहान मुलांसह चढून भ्रभू खेलत आहे असे पाहून संगम नांवाचा देव त्यांना भिवविण्यासाठीं त्यांच्याजवल आला,

स विकृत्य फणासहस्रभीमं फणिरूपं तरसी वटस्य मूलं॥
विटेपेः सह वेष्टतेस्म वालास्तमथालोक्य यथायथं निपेतुः ॥९६॥
वरणो विनिवेश्य लीलयासौ भगवानमूर्धाने तस्य भोगिभतुः॥
तरुतोऽवनतार वीतशंको भुवि वीरस्य हि नास्ति भीतिहेतुः ९७
अभयात्मत्या प्रहृष्ट्वेता विबुधस्तस्य निजं प्रकाश्य रूपं॥
अभिष्च्य सुवर्णकुंभतोयैः स महावीर इति व्यथत्त नाम ॥९८॥
अथं लेघितशश्च अभेण प्रतिपेदे नवयौवनं श्रिया सः॥
भगवान्निजवापलं विहन्तुं स्वयमभ्युद्यत एव वर्द्धमानः॥ ९९॥
सहजैदेशभिर्गुणिरुपेतं वपुरस्वेदपुरःसरेस्तदीयं॥
अभवद्भवि सप्तहस्तमात्रंशिवकीणं नवकिणकारवर्णं॥ १००॥
भगव।नमरोपनीतभोगान्स निनायानुभवन्भवस्य हता॥
त्रिगुणान्दशवत्सरात्रवावजसुकुमारांत्रियुगः कुमार एव॥ १०१॥
अथं सन्मतिरेकदाऽनिमित्तं विषयेभ्यो भगवानभूदिरक्तः॥
प्रशमाय सदा न बाह्यहेतुं विदितार्थस्थितिरक्षिते सुमुक्षः॥१०२॥

९६ त्या संगम नांवाच्या देवानें हजार फणांनीं भयंकर दिसणारें असें सर्पांचें रूप विक्रियेनें धारण करून शीघ्र वढाचें मृळ अर्थात बुंधा त्याच्या सर्व फांद्यांसह वेहून टाकिला त्यावेळीं त्या भयंकर सर्पाला पाहून सर्व लहान मुलें पटापट खालीं पहुं लागली. ९७ तेव्हां प्रभू लीलेंने त्या सर्पराजाच्या मस्तकावर आपले दोन पाय ठेऊन निभयपणें जमीनीवर झाडावरून उतरले. बरोबरच आहें कीं, वीर पुरुषाला जगांत भय उत्पन्न करणारें कोहीं कारण असत नाहीं. ९८ प्रभूचा निभयपणा पाहून देवाचें अंत करण आनंदित झालें. त्याने आपलें रूप प्रगट करून व सुवण कलशांच्या पाण्यानें प्रभूचा अभिषेक करून त्यांचें महावीर असें नांव ठेविलें. ९९ वाढत चाललेल्या प्रभूनीं स्वतःचा चंचलपणा सोहून दिला व कमानें वालपणाचें उल्लंघन केले तेव्हां नवीन तारूण्यरूपी लक्ष्मीनें त्याचा स्वीकार केला. १०० वाम न येणें, सुगंध शरीर असणें, रक्त दुधासारलें पांढरें असणें वगैरे जन्मत उत्पन्न झालेल्या स्वाभाविक दहा गुणांनी युक्त असलेले त्यांच शरीर कांतीनें पूर्ण भरलेलें व नवीन बांचनारह्याच्या वर्णीचे आणि सात हात उंचीचे असें होतें. १०१ नवीन कमलाप्रमाणें कोमल आहेत, दोन पाय ज्यांचे संतारनाशक अशा भगवंतानीं देवांनीं आणिलेल्या भोगांचा

विमलाविष्या निष्टत्य नाथः ऋमतोऽतीतभवानचित्यत्स्वाम् ॥
प्रकटीकृतवृत्तमुद्धतानामवितृप्तिं विषयेषु चेद्रियाणां ॥ १०३ ॥
प्रात्तबोधियतुं मुदा तदायादय लोकांतिकसंहतिस्तमीशं ॥
प्रकुटांशुभिरिद्रचापलक्ष्मीमपयोदां दिवि कुर्वती विचित्रैः ॥ १०४ ॥
प्रकुलोकृतहस्तपल्लवासौ विनयेन प्रतिपात्य तं मुमुखं ॥
प्रसंहतिरित्युवाच वाचं मुदिता तत्समभावदृष्टिपतिः ॥१०५॥
परिनिष्कमणस्य नाथ योग्या सविधं कालकलेयमागता ॥
स्वयमुत्कत्तया समागमाय प्रियदूती प्रहिता तपःश्रिया वा ॥१०६॥
सहजेन समन्वितस्य भर्तुस्तव वदात्रितयेन निर्मलेन ॥
अपरैः परिचुद्धतावलेशेरुपदेशैः क्रियते कथं विमुक्तेः ॥१०७॥

ष्पभाग घेत कौमाराबर्धेत तीस वर्षे व्यतीन केली. १०२ एकेवेली भगवान सन्मित जिनेश्वर कारणावाचून विषयापासून विरक्त झाले. बरोबरच आहे की, ज्याला जीवादि पदार्थीचें स्वरूप समजलें आहे असा मोक्षेच्छ भव्य जीव वैराग्य पाप्त व्हावें म्हणून बाह्यकारण पाहात बसत नाहीं. १०३ भगवंतांनीं निर्मल अविधिज्ञानानें मागच्या स्वतःच्या भवांना वळ्च पाहिलें व त्यांचा विचार केला. तसंच अविधिज्ञानानें मागच्या स्वतःच्या भवांना वळ्च पाहिलें व त्यांचा विचार केला. तसंच स्वां भवांची प्रति होते कोणत्या गोष्टी पगट झाल्या व विषयामध्ये उद्धत इंद्रियांची प्रति क्यां आसते या गोष्टीचाही त्यांनी विचार केला. १०४ नानाप्रकारच्या मुगटांच्या किरणांनीं मेच नसताही आकाशांत इंद्रधनुष्याचीं शोभा उत्पन्न करणारा लोकांतिक किरणांनीं मेच नसताही आकाशांत इंद्रधनुष्याचीं शोभा उत्पन्न करणारा लोकांतिक हित्रांची समुदाय त्यांवेलीं प्रभूंना उपदेश देण्यासाठीं आनंदांने आला. १०५ देवांचा समुदाय त्यांवेलीं प्रभूंना उपदेश देण्यासाठीं आनंदांने आला. १०५ हात्रूपी कोमल पानें ज्यांने मिटविलीं आहेत अर्थात् ज्यांने हात जोडले आहेत कसा तो देव समूह विनयांने त्या मोक्षेच्छ सन्मित जिनेश्वरास विनयांने नमस्कार करून प्रभूंच्या समताभावास दाखविणाच्या कटाक्षपातांनीं आनंदित होजन पुर किला अर्था समताभावास दाखविणाच्या कटाक्षपातांनीं आनंदित होजन पुर लिलि हो वेल आला आहे. अथवा स्वतः अतिशय उत्कंटित होजन आपला समागम व्हावा जबल आली आहे. अथवा स्वतः अतिशय उत्कंटित होजन आपला समागम व्हावा महणून तपोल्लभी पाठविलेल्या द्वीप्रमाणें ही वेल सध्यां आम्हास वाटत आहे.

१०७ जन्मतः च उत्पन्न झालेल्या अशा निर्मल तीन जानांनीं हे प्रभो, आपण युक्त आहांत ज्यांना तत्वाचें फार थोडें स्वरूप समजलें आहे अशा इतर लोकांकहन आपणास पोक्षाचा उपदेश कसा वरें केला जाईल ? अर्थात् हे प्रभो आमचा या तपसा सुनिरस्य घातिकर्मप्रकृतीः केवलमाप्य भव्यसःवान् ॥ प्रतिवोधय मुक्त्युपायमुक्तवा भववासव्यसनाद्धिभीतिचित्तान्॥१०८॥ अभिधाय गिरं प्रवन्नकालामिति लैंकिंतिकसंहतिव्यरंसीत्॥ भगवानिप निश्चिकाय मुक्तिं वचनं स्वावसरे हि याति सिर्धिं १०९ अथ देवगणाश्चतुर्विकरणास्तरसा छुंडपुरे तदा त्वपश्यन् ॥ प्रतिलोक्कनकौतुकानिसेषाः पुरनारीः स्ववध्विशंकप्रेव ॥ ११०॥ स सुरैभगवान्कृतोरुयूजो विधिना पृष्टसमस्तवं धुवर्गः॥ अभिवाह्य वनं यया मुमुक्षुश्चरणाभ्यां भवनात्पदानि सप्त ॥१९९॥ व्ररत्नमयीं विधुप्रभाख्यां श्रियमाणां नभसि स्त्रयं मुरेंद्रैः॥ शिविकामधिरुह्य वीरनाथो निरगाद्भव्यजनैः पुरात्परीतः ॥११२॥ भगवान्वनमेत्य नागखंडं त्रिद्शेन्द्रैरवतारितः स यानात्॥ अभिह्रय इव स्वकीयपुण्ये स्फटिकाइमन्यातिनिर्मले न्यपीदत्रिशरी हतकर्ममलानुदङ्मुखन प्रणिपत्यैकिधयाथ तेन सिद्धान्॥ प्रसंगीं येजन चार् गोष्टी बोलणें हा नियोगच आहे म्हणून आम्ही या वैराग्याच्या गोष्टी सांगत आहोत. आपणास उपदेश करण्याची आमच्यामध्य पात्रता नाहीं.

१०८ ह भगवंता, तपश्चरणाच्याद्वारे घानि कर्माच्या प्रकृतींचा नाग करून व केवलज्ञानाची प्राप्ति करून येऊन, संसारवासाच्या संकटापामून भ्यालेले आहे चित्त ज्यांचे अ्गा भव्य जीवांना मोक्षाचा उपाय दाखळन उपदेश करा, १०९ या भगाण योग्य कालास अनुसरून लोकांतिक देवसमूह भाषण करून थांवला. भगवंतांनीही मोक्ष प्राप्त करून येण्याचा निश्चय केला वरोवरच आहे की योग्य काली योग्य भाषण केल असनां ते फलदूप होतेंच. ११० यानंतर चतुर्णिकाय देवांचे समुदाय गोन्न कुंडलपुगस आल व पारण्याच्या कीतुकान ज्यांनी आपल्या पापण्या लवाविल्या नाहीत अज्ञा नगरांतील स्त्रियांना त्यांनी ह्या आपल्या देवांगनाच आहेत काय अजा संशयाने पाहिलें. १११ देवाकहून योग्य विथीन ज्यांची मोटी पृजा केली आहे व ज्यांनी आपल्या सर्व वंधुवर्गास विचारिलें आहे असे ते मुश्कु प्रमु बनाकडे जाण्याच्या उद्देशाने घरांतून सात पावले चालन बाहेर आले. ११२ देवद्वांनी आकाशांत स्वतः धारण केलेल्या उत्कृष्ट रत्नांनी निर्माण केलेख्या अगा चंद्रप्रभा नांवाच्या पालखीमध्य भगवंतांनी आगोहण केले व भव्य-जनांनी विष्टिलेल हो जन् नगरांतृन वान्र आले. ११३ नाग खंडवनांत प्रभु आले नेव्हां ने पालखीत्न देवेन्द्राकडून अवनारित झाले. अर्थात् इंहांनी प्रमु पालखीत्न

ज्वलदाभरणोत्करः कराभ्यां प्रकटो राग इव स्वतो निरासे।११४॥ भिवि मार्गिशिरस्थकृष्णपक्षे स दशम्यां प्रथितः श्रियाऽपराण्हे ॥ परमार्थमणि स्पिते शशांके कृतपष्टो भगवांस्तपः प्रपेदे ॥११४॥ निविडीकृतपंचमुष्टिलुसानलिनीलान्मणिमाजने निधाय ॥ स्वयमेव शिरोरुहांस्तदीयान्निद्यौ श्लीरपयोनिधौ महेंद्रः ॥११६॥ अभिवंच तपःश्रिया समेतं विद्यधास्ते प्रतिजग्मुरात्मधाम ॥ जनताभिरयं स इत्युद्शं श्लणमात्रं नमसीक्षितो विचित्य ॥११९॥ अचिरादुपलव्ध सप्तलव्धः स सनःपर्यथवोधमभ्युपत्य ॥ स्रवांकः॥११८॥ अपरेद्यर्गृनसत्वयुक्तो नमसो मध्यमधिष्ठिते पत्तंगे ॥ अपरेद्यर्गृनसत्वयुक्तो नमसो मध्यमधिष्ठिते पत्तंगे ॥ उरुहम्यवयेन पारणायै निवितं कृलपुरं विवेश वीरः ॥११९॥

उत्तरत असतां त्यांना आपल्या हाताचा आश्रय दिला तदनतर स्वत चे पुण्य जणु हुउय अवस्थेला पोहोंचलें आहे. अशा अतिशय निमल स्फिटिकमण्याच्या शिलेपर प्रभृ विराजमान झाले ११४ यानंतर उत्तरेक हे तों ह करून ज्यांनीं सर्व कर्ममल नष्ठ केला आहे अशा सिद्ध परमेष्टींना प्रभूनीं एकाग्र मनानें नमस्कार करून जणु हा प्रगट झालेला राग भावच आह अशा प्रकाशमान अलंकार समूहाचा रवतःपासून त्याग केला ११५ मार्गाशिष कृष्णपक्षाच्या दशमी दिवशीं चंद्र परमायमणावर असतां दोनप्रहरीं उपवासाची प्रतिज्ञा ज्यांनीं केली आहे अशा लक्ष्मीसंपन्न प्रभूनीं या भूतलावर तपाचा रवीकार केला अथात दीक्षा धारण केली ११६ घट धरलेल्या पांच मुठींनीं उपडलेले छंग्याप्रमाणें काले असे भगवंताचे केश इंद्रानें स्वतः रत्नपात्रांत ठेऊन क्षीरसम्बद्धांत टाकिले. ११७ हा सौधर्में हा ईशानेंद्र हा सानत्कुमारेंद्र आहे असे तोड वर आकाशांत थोडा वेल विचार करून पाहिलेले ते देव तपोलक्ष्मीनें सहित झालल्या प्रभूला नमस्कार करून स्वस्थानीं निघृन गेले.

११८ दिक्षा घेतल्यानंतर लोकरच प्रश्न चुद्धि, विक्रिया, तप, वल, औपघ, रस व क्षेत्र अशा सातऋदिनी युक्त झाले व मन. पर्ययज्ञान प्राप्त करून घेऊन ज्याला एक कला प्राप्त झाली नाहीं असा चंद्र जसा तमराहेत होऊन रात्री शोभतों त्याप्रमाणें अज्ञानरहित होऊन व केवलज्ञानरूपीकला अचापि ज्यांना प्राप्त झाली नाहीं असे होत्साते अतिशय शोभूं लागले. ११९ दुसरे दिवशीं आकाशाच्या मध्यावर सूर्य आङ्द झाला असतां अतिशय धैर्यशाली वीर जिनेश्वरानीं पारणेन

भुवि क्ल इति प्रसिद्धनामा नृपतिस्तन्नगराधिपः स्वगेहम् ॥
प्रविशंतमणुन्नती निद्ध्यो भगवंतं प्रतिपालितातिधिस्तं ॥१२०॥
नवपुण्यिचिकपिया धरायां नवपुण्यक्रमवेदिनां वरीयान् ॥
क्षितिपस्तमभोजयत्तदीयान्निरयासीद्धवनाज्जिनोऽपि भुक्त्वा ।१२१।
अथ तस्य गृहाजिरे नभस्तो वसुधारा निपपात पुष्पवृष्टया ॥
सह दुंदुभयोऽपि मंद्रमंद्रं दिवि नेदुिश्चदशैः प्रताङ्यमानाः ॥१२२॥
विकिरन्नवपारिजातगंधं सुववौ गंधवहः सुगंधिताशं ॥
अतिविस्मितचेतसां सुराणां खमहो दानवचोभिरापुपूरे ॥ १२३ ॥
कृति दानफलेन स क्षितिशः समवापाद्धतपंचकं सुरेभ्यः॥
यश्यः सुखसंपदांच हेतुर्गृहधर्माभिज्यां हि पात्रदानं ॥ १२४ ॥
अतिमुक्तकनामनि श्मशाने प्रतिमास्थं निशि नाक्षिमिष्ट जेतुं॥
विविधैरुपसर्गमात्मविद्याविभवैस्तं विभवं भवो वितन्वन् ॥१२४॥

साठीं मोठमोठ्या महालांच्या समुदायानें युक्त असलेल्या कुल्यपूर नांवाच्या शहरांत प्रवेश केला. १२० या पृथ्वीतलावर कूल या नांवानें प्रसिद्ध असलेला एक राजा त्या कुल्यपूर नगराचा स्वामी होता. तो अतिथीची वाट पाहात होता. आपल्या घरीं प्रवेश करणाऱ्या भगवंतास त्या अणुत्रती राजानें पाहिलें. १२१ पात्राचा आदरानें स्वीकार करणें, त्याला उच्चासनावर वसाविणें, पाय धुणें, पूजन करणें, नमस्कार करणें, मनवचन आणि शरीर शुद्ध ठेवणे व आहाराची शुद्धि ठेवणें या नक प्रकारच्या पुण्यक्रमाचे स्वरूप जाणणाऱ्यापध्ये श्रेष्ठ अंसलेल्या त्या राजाने मभूला आहार दिला व मभु देखिल त्याच्या घरीं आहार घेऊन तेथून निघून गेर्लं. १२२ यानंतर राजाच्या घराच्या आंगणांत आकाञ्चांतृन पुष्पद्वष्टीसह रत्नद्विष्ट झाली. आकाशांत देवाकहन ताडले जाणारें नगारे गंभीर शह करूं लागले, ज्यान सर्व दिशा सुगंधित केल्या आहेन अशा नवीन पारिजात कलपृक्षाच्या गंधाहा थारण करून वारा वाहूं लागला. अतिशय आश्चरैचिकत झालें आहे मन ज्याचें अशा देवांच्या टान पर्शेसात्मंक शहांनी आकाश भरून गेलें. १२४ याप्रमाण त्या कुलू राजाने वीर प्रभूला आहार दिला. त्याच्या फलाने त्याला देवापासून पंचाधर्याची माप्ति आली. वरोवरच आहे कीं, पात्रदान हें गृहस्थांना कीर्ति, सुल ब संपत्ति यांची प्राप्ति करून देण्यास कारण आहे. १२५ एकदां प्रश्च आतिश्वताक

प्रणिपत्य ततो सनाभिधानो जिननाथस्य चिराय काशिकायां॥
स महातिमहादिरेष वीरः प्रमदादित्यभिधां व्यधत्त तस्य॥ १२६॥
परिहारविद्याद्धिसंयमेन प्रकटं-दादश वत्सरांस्तपस्यन्॥
रा निनाय जगत्रयेकवंधुभगवान् ज्ञातिकुलामलांवरेंदुः॥ १२०॥
अधर्जकूलोच्छितकुलभाजं श्रीजृंभक्षणमसुपेत्य सम्यक्॥
षष्ठोपवासेन युतोऽपराण्हे सालस्य मूलाश्मिन सिन्निविश्य॥१२८॥
वैशाखमासस्य विशुद्धपक्षे तिथौ दशम्याधुड्रपंऽर्यमस्थे॥
स धातिकर्भाण जिनः प्रहत्य ध्यानासिना केवलमाप बोधस्॥१२९॥
सथ दशविधेरच्छायाद्येर्गणैः सहितं तदा

त्रिद्शपतयो अक्तया नेमुः समेत्य जिनेश्वरम् ॥ विगतकरणं निध्ययितं यथास्यिति सर्वदा ॥ युगपदिखलं लोकालोकं स्वकेवलसंपदा ॥ १३०॥

नांवाच्या इमज्ञानांत रात्रीं प्रतिमायोग धारण करून ध्यानांत लीन झाले असतां नानाय. कारच्या विद्यांच्या सामध्यांनीं उपसर्ग करणारा भव नांवाचा अकरावा रह संसार-रिंत वीर प्रभूला जिंकण्यास समर्थ झाला नाहीं. १२६ तेव्हां त्या भव नांवाच्या रहानें पुष्कल वेळपर्यंत नमरकार करून काशी नगरांत मोळा हर्पानें वीर प्रभूचें महाति महाविर असें नांव ठेविलें. १२७ तैलोनयवंधु, ज्ञातिवंशक्षी आकाशाला शोभा आणण्यास चंद्राप्रमाणें असलेले भगवान वीरनाथ परिहारिवशुद्धि नांवाचें संयम धारण करून तप करूं लागले. या प्रमाणे त्यांची प्रगट रीतीन वारा वर्ष व्यनीत झालीं. १२८—१२९ यानंतर ऋजुकूला नदीच्या उंच किनान्यावर वसलेल्या श्री जंभक नांवाच्या गांवाजवळ यंजन दोन उपवासांच्या पतिज्ञेनं युक्त होजन दोन-पहरीं साल हक्षाच्या खाली असलेल्या शिलेवर उत्तम रीतीनें वस्त जिनेश्वरांनी वैशाख शुक्ल द्यमीच्या दिवशीं अर्थमावर चंद्र आला असतां शुक्ल ध्यानस्पी तरवारीनें मोहनींय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय या चार याति कर्माचा यात करून केवल्जानाची प्राप्ति करून चेतली. १२० सावली न पडणें, नख-केश न वाहणे, उपसर्ग न होणे, कवलाहार नसणें वंगर दहा प्रकारच्या गुणांनीं

## इत्यसगकृते श्रीवर्धमानचरित्रे भगवत्केवलोत्पत्तिनीम सप्तदशः सर्गः।

युक्त, इन्द्रियांची अपेक्षा न टेवितां रवत च्या केवलजान संपत्तीनें एकदम संपूर्ण लोक व अलोक यांच्या रवरूपाला जसें आहे तशा शितीनें नेहमीं पाइणारे व जाणणारे अला वीर भगवंताला न्यावेलीं देवेंद्र येऊन भक्तीनें नमस्कार करूं लागले.

याप्रमाणे अमगमहाराविकृत श्री वर्द्धमान चरिचांत भगवान वीरनाथास केवकोत्पत्ति झाळी याचें वर्णन करणारा सनरावा सर्ग समाप्त झाळा.





अथ धनपतिरिंद्रस्याज्ञया स्वस्य भत्तया विविधवरविसूर्ति तत्क्षण-नेति चक्रे ॥

समवसरणभूमिं तस्य नाथस्य रम्यामभिमतममराणां किं न साध्यं। त्रिलोके ॥ १ ॥

ततो दिषञ्चोजनमात्रविस्तृतं क्षोणीतलं नीलमयं रजोमयः॥ शरत्रभोभागमिवांबदोच्यः शालः परीयाय हिमांगुनिर्मलः॥२॥ स सिद्धरूपैः समभावि मानस्तंभेमहादिश्च दिदृक्षया न्त॥ मुक्तिप्रदेशैर्भुवमागतिर्वा ततः परेभीशुररेणुशालात्॥३॥

१ भगवंतांना केवलज्ञान झाल्यानंतर इन्द्राच्या आजेर्ने व रवत च्या भक्तींनं ही छुवेरानें तत्काल वीरप्रभूच्या रमणीय आणि नानाप्रकारच्या ऐश्वर्यानी युक्त अशा समवसरणभूमीची रचना केली. बरेवरच आहे कीं, देवांना तेलोक्यामध्ये असाध्य अशी कोणती गोष्ट आहे वरें १२ जसा मेघसमुदाय शरहतृंतिल निलसर आकाशाच्या भागाला वेष्टण घालतो तसे चंद्राप्रमाणें निर्मल अना धृलीमाल नांवाच्या तटानें बारा योजन विस्ताराच्या नीलरत्नांनीं निर्माण केलेल्या शृमि - लाला वेष्टण घातलें. अर्थात् नीलरत्नांनीं वारा योजन प्रमाणाची जमीन वनवन तिच्या सभोंवती कुवेरानें धूलीसाल नांवाच्या तटाची रचना केली. ३ या प्रकार शमान धूलीसालाच्या पुढें सिद्ध परमेष्टींच्या मृतींनी युक्त चार महादिशामच्ये चार मानस्तंभ होते. जणु मोक्षाचे प्रदेश त्या धृलीसालाला पाहाण्याच्या टच्लेनें पूर्वान नलावर आले आहेत अरें पाहणारांना वाटत अर्थे ४ यानंवर स्वच्छ पाण्यानें नलावर आले आहेत अरें पाहणारांना वाटत अर्थे ४ यानंवर स्वच्छ पाण्यानें

ततः पराण्यच्छपयोघराणि सपद्मपत्राणि सरांस्यभूवन् ॥ आशामुखानीय घनांतकाले चत्वारि नंदान्हद्नामभांजि॥ १। १। ततः परा विमलजलांबखातिका सवेदिका विकचितांबुजिश्चिता॥ सतारका सुरपद्वी सुरैःसमं व्यराजत स्वयमिव सूमिमागता॥ ॥ समनोन्वितमप्यपेतवोधं वहुपत्राकुलमप्यसैन्यमासीत्॥ विपरीतमपि प्रशंसिवलीवनमाभोगि ततः परं समन्तात्॥ ६॥ भाकारः कनकमयस्ततः परोऽभूत्संयुक्तः सुरजतगोषुरैश्चतुर्थिः॥ आयातो भुवमचिरप्रभासमूहः स्थानुं वा चतुरमलांबदेरुपेतः॥ ।।

पूर्ण भरलेलीं व कमलपत्रांनीं सहित अशी नंदान्द्र नांवाचीं चार सरोवरे होती. हीं शरत्कालीं स्वच्छ वनलेल्या दिशांच्या मुखाप्रमाणे शोभत होती. ५ या सरोव-रानंतर प्रफुल्लित झालेल्या पांढच्या कमलांनीं भरलेला, वेडिकेन साहित व निमेळ पाण्यानें पूर्ण असा खंदक होता. तो नक्षत्रानें साहित व देवांनीं युक्त असें आका श जणु या भृतलावर स्वतः आले आहे असा शोभत होता.

१ पाण्यानं भरलेल्या खंदकानतर त्याच्या समोवतीं उत्कृष्ट वेळीच वन होतें तें मुमनोान्वित अर्थात् देवांनीं किया विद्वानांनीं युक्त अमृनही अपेतवीय होतें अर्थात् ज्ञानगृत्य होतें. या विरोधाचा परिहार याप्रधाणें, तें वर्ळीचें वन सुमनोः न्वित—फुळांनीं युक्त होतें. य एकाद्रिय जीवरूप असल्यापुळें अवीध होतें. यहुपनाक्रुळ अर्थात् पुष्कळ हत्ती, घोडे इत्यादि वाहनांनीं युक्त अधूनहीं असैन्य होतें. — सन्परहित होतें. याचा विरोध परिहार असा—बहुपन—अर्थात् पुष्कळ पानांनीं युक्त होतें. विपरीत असृनहीं भगंसनीय होतें. या विरोधाचा परिहार असा—वि—पर्शान पर्धांना वेढळेळें होतें व प्रशंसनीय होतें. नसेंच आधीगि—विस्तारयुक्त होतें. सारांश हा की, खंदकाच्या सभावती पुळांनी ळकडळेळें, पानांनी यक्त असे विरतीण वेळींचें वन होने. ७ यानंतर सोन्याचा तट चार उत्तम चांदीच्या गोपुरांनी युक्त होता. चार निर्मळ मेघांनी युक्त असा विजांचा समृह जणु या भूतळावर राहण्यासाठी आला आहे असे त्या गोपुरांने सिहत अभा तटांला पाहन छोकांना वाटत असे. ८ पूर्व दिदोच्या उंच गोपुरांचे विजय असे नांच होतें. दाक्षण दिशेंत रत्नांच्या तोरणांनीं युक्त असे ज गोपुर होते त्यांचे वाच होतें. दाक्षण दिशेंत रत्नांच्या तोरणांनीं युक्त असे ज गोपुर होते त्यांचे

प्राच्यां गोपुरमुच्छितं विजयभित्यासी दिभरव्यां दधद्-याम्यां यहिशि रत्नतोरणयुतं तहैजयंताभिधं ॥ वाराण्यां कदलीध्वजैरविकलैः कांतं जयन्ता भेषं कीवेपीमपराजिताल्यमपरेराकीणवेदीतरम् ॥ ८॥ तहाेपुरोच्छ्रितिविराजिततोरणानां नेत्रापहारिविधिनोभयभाग-वर्ति ॥ मांगल्य जातममलांकुरचामरादि प्रत्येकमष्टरातमाविरभूदिभूत्यै । । तेपु व्यराजन्मणिदामघंटा हिरण्यजालादिकलंबनानि ॥ मुक्ताकलापांतरितानि दृष्टेः काराविधायीनि निरीक्षकाणां ॥१०। तहोपुरांतर्गतचारुवीथी दिपार्श्वयोरुच्छितनाव्यशाले॥ दे दे भृदंगध्वनिनेय अव्याच् द्रष्टुं विभातः स्म समाव्हयन्त्यौ॥११॥ वीथीनासुभयविभागयोस्ततः स्युश्चत्वारि त्रिदशजनोपसेवितानि। पिंड्यालीविषमपलाराचंपकामैः कीर्णानि ममदवनान्यनुक्रमेण।१२।

वैजयंत हें नांव होतें. पश्चिम दिशेला ध्वजांनीं पूर्ण व सुंदर जयंत नांवाचें गोपुर होतें व उत्तर दिशेलडे वेदी व तट यांनीं व्याप्त व देवांनी युक्त असे अपराजित नांवाचें गोपुर होतें. ९ या गोपुराच्या उंचीवर शोभत असलेल्या तोरणांच्या दोन्ही भागा- जवल नेलांचें आकर्षण करणारे मंगलाचा लमूहरूप असणारीं निर्मल अग्र भागांनीं युक्त असलेलीं चामर, कलशा. द्र्पण, वैगेरे अप्टद्रव्ये मत्येक गोपुरास१०८ होती.तीं समवसरणाची शोभा वाहवीत असता. १०त्या गोपुरामध्यें मोत्यांच्या गुच्छांनीं युक्त अशा रत्नांच्या माला व रोन्यानें वनविलेल्या झालरी लटकत होत्या. दव व मनुष्यें जेवहां तिकडे पाहात असत तेव्हां त्यांचे डोले तिकडेच खिळून जात असता.१ रत्या गोपुरांच्या मध्यभागीं असलेल्या मार्गावर दोन्ही वाज्स उंच उच अशा दोन टोन नाट्यशाला होत्या. त्या जणु मृद्वांच्या व्यन्तीन भव्यांना पाहण्यासाटीं वोलावित आहेत अशा शोभत होत्या. १२ रस्त्याच्या दोन्ही वाज्रला जेथे देव विहार करित असतात अशीं कशोक, सप्तच्छह, चंपक व अम्रद्वां योक्त अशा लोवलचक फांचांनी चार पादवनें होती. १३ हलणाच्या कोमल पानांनी युक्त अशा लोवलचक फांचांनी

कुर्वाणाः कर्णपूरिश्रयमिव विटंपेरायतैर्दिग्वधूनां ॥
चंचदालप्रवालैः प्रतिकृतिममलां धारयंतो जिनानाम् ॥
चत्वारो यागवृक्षाः प्रति कुसुमजुपामुन्झितांभोजखंडैः ॥
पिंड्याद्यास्तेष्वभूवन्समदमधुकृतां मंडर्लिमंड्यमानाः ॥ १३ ॥
तिस्तिस्तां विमलसिललास्तत्र वाष्यो विरेजुः ॥
चतत्र्यस्तप्रकटचतुराः स्वाकृतीर्धारयन्त्यः ॥
नंदा कीर्णा कनककमलैर्नदवत्युत्पलौधैः ॥
मेघानीलैः स्फटिककुमुदैर्नाम नंदोत्तरा च ॥ १४ ॥
प्रासादा मणिमंडपा बहुविधा धारागृहश्रेणयश्वकांदोलसभालयाः सुरुचिरा मुक्ताशिलापृह्वाः ॥
कीडापर्वतकाः सुरासुर्चितास्तत्रिव रेजुर्धृताः
कृजन्मत्तिश्रंहिमंडलवृत्तप्रांतैर्लतामंहपैः ॥ १५ ॥

दिशारूपी स्त्रियांना कर्णपूर छंकाराची शोभा उत्पन्न करणारे, निर्मछ अशा जिनां च्या प्रतिमा धारण करणारे अशाक वगैरे चार यागृष्टक्ष होते. ज्यांनीं कम छ सम्हांचा त्याग केछछा आहे व जे प्रत्येक फुछांचर (यागृष्टक्षांच्या) आनंदाने वसछे आहेत अशा भुंग्याच्या सश्चदायांनीं हे यागृष्टक्ष फार शोभत होते. १४ या ममदवनामध्यें निर्मछ पाण्यांने भरछेल्या गोछ, तिकोणी व चतुष्कोणी अशा उत्तम आकृतीछा धारण करणाच्या विहिरी शोभत होत्या. नंदा ही सुवर्ण कमछांनीं, नंदवती तांवड्या कमछांनीं, मेघा नीळ कमछांनीं व नंदोत्तरा स्फिटिका-सार्च्या पांदच्या कमळांनीं व्याप्त होतीं.

१५ त्या प्रमद्वनामध्यें नानाप्रकारचे रत्नमंडणांनी सहित प्रासाद, धारागृहांच्या पंक्ति ( जेथून सर्व वाज्नीं पाणी पडत असतें अशा घरांना धारागृह म्हणतात. उन्हाळ्यांत श्रीमंत लोक व रांजे लोक उन्हाचा त्रास हो उत्त नये म्हणून यांत विश्रांति येत असतात. ) चक्री झोपाले, सभागृहें, सुंद्र फळीच्या आकाराच्या मौक्तिक पापाणाच्या शिला, देव व ढानव यांनी युक्त असलेल क्रीडापर्वत, हे सर्व ज्यांचे पांतभाग ध्वानि करणाऱ्या उन्मत्त मोरांच्या समुद्रायांनीं व्यापून गेले आहेत अशा मंद्रपांनीं शोभत असत. १६ या प्रमद वनाच्या पुढें अकाशामध्यें स्वतःच्या

वनात्परा वज्रमयी नभस्तले प्रसारिताखंडलचापमंडला॥ वभूव वेदी निजरिंगसंपदा युता चतुर्भिवररत्नतोरणैः॥ १६॥ भयूरमाल्यांबरहंसकेशरिद्धिपोक्षताध्यांबजचक्रलांछनाः॥ धजा दशैकेकमभूच्च साष्टकं शतं सुवीथीरिंभतस्ततः परे॥१७॥ एकस्यां दिशि कतवः सुरनदीकलोलभंगा इव

क्रांतांभोदपथाःसहस्रमभवन्साशीति वीष्रत्विषः ॥ ते सर्वेऽपि चतुर्दिगंतरगताश्चेकत्र पिंडीकृताः॥

विंशत्या च चतुःसहस्रमपरैर्युक्तं शतैश्र त्रिभः॥ १८॥ ततः परो हेममयः स्फुरत्यभा बभूव शालोम्बजरागगोपुरैः॥ चतुर्महासांध्यघनैः समन्वितं विडंबयन्नैखिलविद्यतां चयम्॥ १९॥ तद्गोपुरेषु प्रथितान्यराजन्मांगल्यवस्तानि घटादिकानि॥ ततः परौ हारिमृदंगनादौ दौ द्वावभूतां वरनाट्यगेहो॥ २०॥ तेभ्यः परावुभयतोऽपि पथामुद्रशौ दौ दौ स्थितौ सुरभिधूपज— धूमप्रक्तौ॥

संरेजतुः कनकधूपघटौ मनोज्ञौ नीलाभजालिपहिताविव हेमशैलौ२श

किरण संपत्तिनें इंद्रधनुष्याचा प्रसार करणारीं अशी वज्रनिर्मित वेटिका होती. हिला रत्नांची चार उत्कृष्ट तोरेंण होतीं. १७ त्यानंतर मोर, माळा, वस्त, हंस, सिंह हत्ती, वैल, गरुड, कपल व चक्रवाक पक्षी या चिन्हांनीं युक्त अशा टहा प्रका-रच्या ध्वजा एक एक मार्गात एकशे आठ एकशें आठ होत्या. १८ गंगा नदींच्या लहांच्या तुक ख्याप्रमाणें वाटणारे मेघमंडलास नाऊन भिडलेले ज्यांची कांति पसरली आहे असे ध्वज एकेका दिशत एक हजार ऐशीं होते. चारी टिशांची ध्वजसंख्या एकच केली असतां चार हजार तीनशें वीस होते. १९ यानंतर चमकत आहे कांती ज्याची असा सुवर्णमय तट पद्मराग मण्यांनीं वनविलेलया चार गोपुरांनीं यक्त होता. संध्याकालच्या चार मेघांनीं सहित असलेल्या सर्व विनांच्या समृदांचे जण तो सुवर्ण तट अनुकरण करीत आहे असे लोकांना वाटन होने. २० त्या गोपुरामध्ये घट, द्वेण, चामर वगेरे प्रसिद्ध मंगल वस्तु शोभन असन. पांच्याधूरें

तत्रैव कल्पेश्वरसेवितानि कल्पहुमाणामभवन्वनानि ॥
चतुर्महाशास्थितसिद्धरूपसिद्धार्थवृक्षांकितनामकानि ॥ ६२ ॥
ततः परासीच्चतुरुच्चगोपुरैर्विराजमानोत्पलवज्ञवेदिका ॥
अधित्यकानीय सुरैर्निवेशिता परांजनाद्रोरिव तत्र विस्तृता ॥२३॥
दश दश वररत्नतोरणानि द्युतिविचितानि ततः पराष्यभूवच ॥
सुरतरुकुसुमप्रवालपणैर्विरचित्तवंदनमालिकां दघाति ॥ २४ ॥
तैरेवांतरिता वभुनेवनवस्तूपाः पदार्था इव ।
प्रादुर्भावसुपागता जिनपतिं द्रष्टं तदा कोतुकात् ॥

सिद्धानां प्रतियातनांचिततया चंद्रातपश्रीमुषः । पिंडीभूय मुवि स्थिता इव पृथक्मुक्त्येकदेशा इव ॥२५॥

मृदंगाच्या मधुर शद्वांनीं युक्त अशीं दोन दोन नाट्य नहें होतीं २१ यांच्या पुढे ररत्याच्या दोन्ही बाजूला सुगंधी धूपापासून उत्पन्न झालेल्या धुरानें युक्त व उंच अस दोन ढोन सुंदर सुवर्ण ध्रुपघट होते, हे ध्रुपघट नीलमेबांच्या समुदायाने आच्छाडिन झालेल्या सुवर्ण पर्वताप्रमाणें शोभत असत. २२ त्या मार्गामध्येच इंद्राला विहार करण्यास योग्य अशीं कल्परक्षाची वने आहेत. हीं वनें चार महादिशांमव्ये असलेल्या सिद्ध प्रतिमांना धारण करणाऱ्या सिद्धार्थ हुक्षानीं अंकित आहे नांव ज्यांचें आहेत अर्थात् या चार दिशांना चार सिद्धार्थ वनं आहेत व त्या वनांत सिद्ध प्रतिमांना धारण करणारे द्वक्ष पूर्वादि दिशामध्ये आहेत. २३ यांच्यादुहें चार उंच गोपुरांनीं शोभणारी उत्पल वजनेदिका होती. देवांनीं अंजनपर्वनावरचा भाग कार्न तो जणू येथें आणून टेविला आहे काय असा तिला पाहन भास होत होता. २४ त्या वज्रवेदिकेवर कांतिपरिपूर्ण व उत्कृष्ट रत्नांनीं वनलेली अशीं दहा दहा तोरणे होती. त्या तोरणावर कल्परकाच्या फुळानी व कोमळ पळवानी तयार फेलेल्या माळा लाविलेल्या होत्या. २५ त्या तोरणमालांनीं अंतरित अर्थात् तोरणमाला ज्यांच्या सभीवती आहेत असे नऊ नडा रतृप तेथें आहेत. जणु जिनेश्वरांना पादण्यासाठीं जीवादिक नवपदार्थच कौतुकानें स्तृपाच्या मिपाने येथे आले आहेन. चंद्रकिरणांच्या शोभेला हरण करणारे ते नड नड रत्प सिद्धांच्या मतिमांनी युक्त होते म्हणून ते क्षक्तीचे मदेश एकत्र होऊन जणु येथे येऊन रगहेले आहेत असा स्तृपांना पाहून जनास भास होत होता.

विविधानि समंतत्रश्च तेषां पृथुक्टानि सभागृहाणि रेजुः॥
कान्धान्यनगरसेवितानि धन्यमालाविरलीकृतात्यानि॥ २६॥
आकाशस्काटकमधस्ततः परोऽयुत्पाकारो हरिमाणगोपुरस्तृतीयः॥
स्तितं रवयनुपगन्य वायुगार्गः संद्रष्टुं जिनमहिमामिवागतः ६मां २७
तक्षपुराणां गमनाश्रमानां द्विपार्भयोः संनिहिता विरेजुः॥
गांगल्यवस्त्ति विचित्रत्नेविनिर्मितान्यद्वघटादिकानि॥२८॥
तन्मध्ये क्षचिरं विभेगसहितं पीठं मनोइं चभा—
वाशालात्मस्ताः प्रदक्षिणमहापीठस्पृशो वेदिकाः॥
आकाशस्कृतिकः परस्परपृथ्यस्ताः कृता भाषुरै—
रासन्द्वादशिभगिषः स्विनयरध्यास्यमाना युदा॥ २९॥
तालामुपर्यनुपमद्यतिशातक्षंयस्तंभर्धतो विविधरत्नमयो वभूत्र॥
ध्रीपंडपो मध्रपपंडलमंड्यमानः श्रोत्कृत्वहेमक्रमहैविहितोपहारः ३०

२६ त्या नउ नउ स्तूपांच्या समोवती ऋषि, श्रुनि व अनगार यांनी सेवनीय व ध्वजपंक्तींच्या द्वारें ख्र्यभवाशाला एंद करणारीं, मोट्या शिखरानीं युक्त अशीं सभाग्रहें शोभत होतीं. २७ य नंतर पाचरत्नांनीं वनविलेख्या गोपुरांनीं युक्त असलेळा आकाश स्फटिकाचा सुंदर तट होता. जिनेश्वराचा महिमा पाहण्यासाठी अस्तिक आकाश जणु सृतिक वन्न भूवर आलें आहे काय असें या तटाला पाहणाऱ्यांना वाटत होतें. २८ आकाशाला आपल्या अग्रांनीं स्पर्भ करणाऱ्या त्या गोपुरांच्या दान्ही वाजूला नाना रत्नांनीं निर्माण केलेलीं कलश, दर्मण वमैरे मंगल द्वन्यें शोभत होतीं. २९ रफटिकिनिधित तटापाञ्चन पसरलेल व मदिलण रूपानें महासिंहासनाला रार्श करणारे प्रकाशमान आकाश रफटिकांनीं वनिलेल्या एक एक रवतंत्र वेगलेवेगळ्या वेदिका होत्या. या वेदिकावर ऋषि, आर्थिका वमैरे द्वादश गण वित्यानें व मोठ्या आर्दानें वस्त होतें. या सर्व वेदिकांच्या मध्यभागीं तीन कठळ्यांनीं रुहित, कातियुक्त च लोकांचे मन हरणारे असें सिंहासन होतें. ३० या वेदिकांच्या वर अनुप्र तेजानें तळपणाऱ्या सौन्याच्या खांवांनीं धारण केलेला ज्यांत नाना मकारपी रत्नें जडविलीं आहेत असा श्री मंदप होता. भुंग्यांच्या सहस्वायांने दर्यांचा शहसा श्री संदर्य होता. भुंग्यांच्या सहस्वायांने दर्यांचा शहसा श्री सहस्वायांने क्यांना सहस्वायांने दर्यांचा शहसा श्री संदर्य होता. भुंग्यांच्या सहस्वायांने दर्यांचा काली आहे आहेत असा श्री संदर्य होता. भुंग्यांच्या सहस्वायांने दर्यांचा काली आहे आहेत असा श्री

चतुर्महादिश्च धृतानि यक्षेश्चत्वारि सूर्ध्ना मुक्कटोज्ज्वलेन ॥
सदाद्यपीठे सह धर्मचकाण्यासां बसूबुर्मणिमंगलीधैः ॥ ३१ ॥
हैमे द्वितीयमाणिपीठतले विरेजुरष्टी ध्वजाः प्राविमला हरिदष्टकस्थाः॥
चक्रद्रिपोक्षकमलांवरहंसतार्श्वमाल्यांकिता विविधरत्निपनद्धदंडाः
॥ ३२॥

रराज चृडामणिविश्वेशेक्यास्तृतीयपीठे सगविश्वासः॥
मनोहरो गंधकुटीविमानः सर्वार्थिसिद्धीद्धविमानलीलः॥ ३२॥
तस्था स तस्मिस्त्रजगत्प्रतीक्ष्यः प्रतीक्ष्यमाणामलवाग् जिनेद्रः॥
विवंधनो मन्यजनैरुपेतैः सुगंधिगंधांबुभिरुक्षितांते॥ ३४॥
तस्थुर्यतींद्रदिविजप्रमदायिकाश्च ज्योतिष्कवन्यभवनामरवामनेन्नाः॥

तं भावना वनसुरा प्रहक्षणजाश्च मत्यीः प्रदक्षिणसुपत्य स्याः क्रमण ॥ ३५ ॥

अलेख्या सुवर्ण कमलांनी या मंडपाला नजराणा केला होता. अधीन् या मंडपाच्या पुढे सुवर्ण कमलांची सुंदर रचना केली होती. ३१ आद्य सिंहासनावर चार महा-दिशामध्ये मुद्धुदांनी उज्बल दिसणाऱ्या मस्तकांच्या हारे यक्षांनी धारण केलेली यम्बक्तें आठ मिण्लाचित मंगल द्रव्यासह श्रेष्ट्रे लगनलीं. ३२ रत्नखाचित दृसऱ्या सुवर्ण सिंहासनावर आठ दिशामध्यें चक्रवाक पक्षी, हत्ती, बेल, कमल, बल, हंम. गरु, व माला या चिन्हांनी युक्त, व ज्यांच्या वंडाला नाना प्रकारचीं रत्नें जडिय शिंहत असे निर्मल आठ ज्या श्रीभत होते. ३३ बलोक्याला चृडामणि माणाणें शोमा आणणानें, श्री मगदंताचा ज्यावर निवास होतो अर्थात् प्रसु ज्यावर विभाजमान होतान, असे मनोहर गंयकुटी दिमान तिसऱ्या सिंहासनावर होतें. हें गयहटी विमान नवीथ सिर्जीमध्ये असलेल्या तेन: इंज दिमानाची लीला धारण करीन होतें. ६४ तेलोत्य ज्यांची पूजा करीन आहे, ज्याच्या दिण्य ध्वनीची सर्थ लोह याट पातान आहेत, कर्मव्यनगहित व भव्यजनानी वेष्टिलेल असे श्री वर्गान नीथेंदर पुंचर गंयोदेशन ज्याचा मत्यमाग सुगंधिन केलेला आहे अभा गंयकुटी विमानावर विराजमान ज्याचा मत्यमाग सुगंधिन केलेला आहे अभा गंयकुटी विमानावर विराजमान ज्याचा मत्यमाग सुगंधिन केलेला आहे अभा गंयकुटी विमानावर विराजमान ज्याचा मत्यमाग सुगंधिन केलेला आहे अभा गंयकुटी विमानावर विराजमान ज्ञाले २५ मुन्धिन, रवर्गनामी देवांगना,

चतुर्महादिग्वलयप्रमेदाद्विषान्वगणप्रमेदाः ॥
सोपानमाला दशषद्वभास्तरपरितपीठांतगता बसूबुः ॥ ३६ ॥
त्रिशालवर्योन्नतरत्नगोपुरे श्रीद्वारपाला वरहैमवेत्राः ॥
आसन्यशासंख्यमुदारवेषा वन्यामरा भावनकल्पनाश्च ॥ ३० ॥
आसन्यशासंख्यमुदारवेषा वन्यामरा भावनकल्पनाश्च ॥ ३० ॥
आसन्यशालस्य मनोन्नगतिस्त भस्य संख्यानिद्वांवरा ये ॥
सदंतरं चित्रविस्तित्वं तैयुक्तं तैयोजनस्याद्वं मिति प्रणतिं ॥ ३८ ॥
आसस्य शालस्य मनोहरस्य दित्तीयशालस्य च यथ्यमाद्वः ॥
शासस्य शालस्य मनोहरस्य दित्तीयशालस्य जिनागमज्ञाः ॥ ३९॥
वित्रीयशालस्य मनित्रस्तमभावलीसारितमानुमासः ॥
तृतीयशालस्य मनित्रकेतनैर्निरंतरेश्च्छादितवायुवर्त्मनः ॥
दिपारिपीठस्य च कीर्तितं चुधैः स्प्ररत्प्रभस्यांतरमर्थयोजनस् ॥४९॥

आर्थिका, ज्योतिष्क देवांगना, ज्यंतरांगना, भवनवासि देवांगना, भवनवासि देव, ज्यंतर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासि देव, मनुष्यं व पशु हे वीर जिनेश्वराच्या सभोंवती प्रदक्षिणारूपानें वसले. ३६ चार महादिशांच्या वल्यांच्या भटानें पुष्कल अशा गणाचे वारा भेद झाले होते अर्थात चार दिशांचे पिळ्न वारा कोटे झाले होते. व त्यांत उपर्युक्त वारा गणांचे जीव विराजमान झाले होते. व प्रकाशमान अशा सिंहासनाच्या शेवटापर्येत पायच्यांच्या सोला पंक्ति होत्या.

३७ तीन्ही तटांच्या उत्कृष्ट व उच्च रत्नगोपुरावर ज्याच्या हातांत सोन्याच्या वेताची उत्तम छडी आहे व ज्यांचा वेप फार अमूल्य आहे असे व्यंतर, भावन व कल्पवासी देव यथाकम द्वारपाल होते ३८ गणितज्ञामध्यें थ्रेष्ठ अशा विद्वान लोकांनीं पहिल्या तटाचें व सुंद्र मानरतंभाचें उत्तम नानाविध विभूतियुक्त अतर अध्या योजनाचें आहे असे सांगितलें आहे. ३९ कल्पद्यक्षांच्या पंक्तींनीं शोभणाच्या पहिल्या तटाचें व दुसच्या मनोहर तटाचे मध्यें जिनागमाला जाणणारे विद्वान लोक तीन योजनाचे अंतर आहे असे सांगतान. ४० नानाविधरत्नांच्या कांतिगंडलाने सूर्यांच्या किरणांचा तिररकार करणाच्या दुसच्या तटाचें व तिसच्या तटाचें मध्य अतर द्वितेश्रेष्ठ दोन योजनांचें आहे असें म्हणतात. ४१ नानाप्रकारच्या तटाचें मध्य अतर द्वितेश्रेष्ठ दोन योजनांचें आहे असें म्हणतात. ४१ नानाप्रकारच्या

अत्नकांतेर्जिनसांनिधा नदेशस्य धात्रीतलभूषणस्य ॥
अप्यंतरं रत्निवराजनानस्तं भस्य पद्धा जनमाहुरायाः ॥ ४२ ॥
इति धाम जिनाधिपस्य तस्यो ययतो हाद्शयो जनं व्यराजत् ॥
अमरेंद्रफणींद्रभूमिपालैरपरं कीणीभिवान्तरं त्रिलोक्याः ॥ ४३ ॥
पौष्पी दृष्टिरनुहुता मधुक्तेः खेनीकृताशानना ॥
तस्यात्रे सतमालवेव दिनजा ज्योत्सा प्यातांवरात् ॥
संद्रष्टुं तिमवाव्हयन् जिनपतिं यव्यांखिलोकीणतान् ॥
त्रेलोक्योदरमानसे शुतिहुद्धः खे दुंदुभीनां ध्विनः ॥ ४४ ॥
कांतांभोदपथैरनेकविटपै रुंधन्दिशामांतरं ॥
नानापुष्पनवप्रवालसुभगो द्र्तःरस्यं वा मधुः ॥
पक्रीस्य दुरुदुमोत्कर इव द्रष्टुं तयभ्यत्यता ॥
रक्ताशोकतरुः सुरांचिततलोऽप्यासीत्पवित्रः परम् ॥ ४५ ॥

ध्वजांनी ज्यांनी आकागमार्गाला निर्नेतर आच्छ दून टाफिल आहे अशः तिसच्या तटाचें व ज्याची कांति सर्वत रसरली आहे अगा सिंहासनाचें अर्थयोजन अंतर आहे असे विद्वान लोकांनी सांगिनलें आहे. ४२ विटुलकांतियुक्त, यूतलाला यूपणलप असे जिनेश्वर जेथे वसनात त्या रथानाचें व रत्नानी शोमणाऱ्या मानरतंभांचें मध्यांतर सहा योजनाचें आहे असे आर्य-नणधरादिक विद्वान म्हणतात ४३ दोन्ही वाजूनी वारा योजनें प्रमाणाचें तें श्रीजिनेश्वराचे समवसरण गोस् लागले. देवेंद्र, नागेद्र व राजे यांनीं व्याप्त झालेले तें समवसरण जणु है लोक्याचे दुसरें हृदयच होनें. ४४ जिने दिशांचीं तोंडे श्वतवर्णाचीं केली आहेत अभी भुंग्यांनीं अनुसरलेली पुष्पदृष्टि त्या वीर भगवंताच्या एटें जेलां आकाशांतृत होऊ लागली नेव्हां थोड्याशा अधाराने युक्त अभी दिवयाच्या प्ररंभाची ही कांति जणु आहे असे वाटन असे. है लोक्यामध्यें असलेल्या सर्व भव्यांनां भी जिनेश्वराल पाहावयास चला असे स्हणून त्यांस दोलाविणारा कानाचा गोंड लागणारा असा आकाणांनील हुंदुभीचा व्याने सर्व लेलोक्याच्या मध्य भानांत व्यापृत गेला. ४५ मेयमार्गला आक्रमणाच्या अनेक फांद्यांनी विजांच्या मध्य भागांत व्यापृत गेला. ४५ मेयमार्गला आक्रमणाच्या अनेक फांद्यांनी विजांच्या मध्य भागांत व्यापृत गेला. ४५ मेयमार्गला आक्रमणाच्या अनेक फांद्यांनी विजांच्या मध्य भागांत व्यापृत गेला. ४५ मेयमार्गला आक्रमणाच्या अनेक फांद्यांनी विजांच्या प्रयम्मार्गल व्यापृत गेला. ४५ मेयमार्गला आक्रमणाच्या अनेक फांद्यांनी विजांच्या प्रयम्यानी व्याप्त गेली वांनी वींवर विम्लारा

चकॉकृत्य खुरैरुपर्यपरि वा क्षीरांबुराहोः पयो

विन्यस्तं गगने त्रिघा पशिमतं स्वस्य प्रभाख्यातये॥ तस्येंडुचुतिशुभ्रमध्यविरतं भव्योघरागावहं॥

त्रैलोक्येशसुलांछनं भगवतऋछत्रत्रयं दिद्युते ॥ ४६ ॥ धुन्वानावित्र दश्यतासुपगतौ ज्योत्स्नातरंगौ दिवा ॥

यक्षौ तं विमलप्रक्रीणंकपदेनासेविषातां प्रभुं ॥ यस्मिन्पश्यति रतनदर्पण इव स्वातीतजन्मावलीं॥

भव्ये।घहतद्यूत्तदीयवपुषो भामंडळं मंडनं ॥४७॥ नानापत्रलतान्वितं वनभिव व्याजृंभाणाननै—॥

र्युक्तं केशारिभिः सरत्नमकरं धामेव वारां परं ॥ तुगं हेममयं सुरासुरजनैः संसेब्यम् नं सदा ॥

मेरोः शृंगनिवासनं जिनपतेस्तस्यासवद्भासुरम् ॥ ४८ ॥

अशोक द्वक्ष जणूं सृतिमंत अशोक द्वक्षाप्रमाणें वाटत होता. अथवा देवकुरु व उत्तर कुरु या योगभूगीतिक कलपवृक्षांचा समुदाय बीर प्रभूला जणू पहावयास आछा आहे काय ? अक्षा दिसणारा रक्त अशोक वृक्ष सुरांचिततल असूनही म्हणजे दाक्तें युक्त आहे तलभाग ज्याचा असा असूनही पवित्र होता. या विरोधाचा परिहार याप्रमाणें समजावा. सुर म्हणजे देव त्यांनीं अचिततल अर्थात् पूजनीय आहे तलभाग ज्याचा असा तो रक्ताशोकवृक्ष अतिशय पवित्र होता यांत आश्चर्य कसलें?

४६ भगवंताचे छत्त्रचय भगवान त्रेलोक्याचे स्वामी आहेत असे सुचवीत होतें. हें छत्रत्रय चंद्राच्या कांतिनारखें शुभ्र होतें तरी ही भव्यसमूहाच्या ठिकाणीं आरक्तपणा-तांत्रहेपणा एत्पन्न करीत होतें. या विरोधाचा परिहार असा:—छत्रत्रय चंद्राच्या कांतिममाणें होतें व ते भव्यांच्या ठिकाणीं रागावह होतें अर्थात् प्रेम उत्पन्न करीत होतें. एवत:च्या ममची मिसिद्धि व्हाबी म्हणून देवांनीं क्षीरसमुद्राचें पाणी आकाशांत चक्राकार करून एकावर एक अशा रीतीने जणु रचिलें आहे काय अशी छत्रत्रय पाहून कल्पना उत्पन्न होते होती. याममाणें तें वीरमभूचें छत्रत्रय चमकत होते. ४७ निर्मल चामरांच्या मिपानें जणु टिवसा हज्यावस्थेला मान्न झालेल्या चद्मकाशाच्या दोन तरंगांना हलविणारे होन यक्ष प्रभूची सेवा

अजायमानेऽथ पतिः सुराणां दिन्यध्वनौ तस्य जिनेश्वरस्य ॥ आनेतुमात्मावधिदर्शितो यरतं गौतमश्रामभगाद्गणेशं ॥ ४९ ॥ तत्र स्थितं जगति गौतमगोत्रसुरूयं विशं धिया विमलया प्रथितं च कृत्यि।॥

इंद्रस्ति जिनवरांतिकमिंद्रसूतिं वाद्च्छलेन बहुवेपसृदानिनाय।५०। मानस्तं भिवलोकनाद्वनती सूतं शिरो विस्नता ॥ पृष्टस्तेन सुमेधसा स सगवातुद्दिश्य जीवस्थितिम् ॥ तत्संशीतिमपाकरोाज्जनपतिः संसूतद्वियध्वित्— दीक्षां पंचरातार्द्वजातितनयैः शिष्यैः समं सोऽश्रहीत् ॥५१॥

करूं लागले. रत्नदर्पणांत मुख पाहावें त्याप्रभाणें ज्याच्यामध्ये आपल्या पूर्वभवाचें भव्य जीव अवलोकन करितात तें प्रभूच्या शरीराचें कांतिमंडल त्याच्या शरीराचें भूषण झालें. ४८ नाना प्रकारच्या पानांनीं युक्त असें हें वनच आहे काय, अथवा रत्नें व मगर वगैरे प्राण्यांचें निवासरधान असा जलधि–सप्रुद्रच आहे काय' किंवा सुर व असुर यांच्याकडून सदा सेविलें जाणारें हें मेरूचें शिखरच अशा कल्पना उत्पन्न करणारं, ज्यांनीं तोंड केलें आहे अशा सिंहांनीं युक्त असें वीर जिनाचें सिंहासन फार चमकत होतें. तात्पर्य हे कीं, सिंहासनावर पुष्कळ पकारची वेळबुट्टी काढलेली होती म्हणून तें वनाप्रमाणें भासत होतें, रत्नांनीं जडलेलें व मगर वगैरे पाण्यांची आकृति त्यावर काढलेली असल्यामुळें तें समुद्रासार्खे भासत होते व देव त्याची नेहमी सेवा करीत होते व तें फार उंच आणि चमंकणारें असल्यामुळें मेरूच्या शिखरापमाणें भासत होतें. ४९ यानंतर भगवान वीर जिनेश्वराचा दिन्य ध्वनि होत नाहीं हे पाहृन स्वतःच्या अवधिज्ञानाच्या द्वारें जो दाखिवला गेला त्या गौतम गणधराला आणण्यासाठीं देवांचा स्वामी इंद्र गौतम ग्रामीं गेला ५० त्या ठिकाणीं विगल चुद्धीनें व कीर्तीनें जगांत प्रसिद्ध असलेला गौतम गोत्रांतील मुख्य अशा इंद्रभूति ब्राह्मणाला वादाच्या मिपानें वटु वेष धारण करणाऱ्या त्या इंद्रानें श्री वीर यभूजवळ आणिलें, ५१ इंद्रभूतीनें मानस्तंभाचें दर्शन केलें तेन्हां त्याचा गर्व नष्ट झाला व त्याने आपले मस्तक नम्र केले. विद्वान अशा त्याने जीवाच्या आस्ति त्वाला उदेश्न प्रश्न केला तेव्हां ज्यांच्या ठिकाणीं दिव्यध्वानी उत्पन्न झाला आहे

पूर्वाण्हे दीक्षयामा प्रविमलमनशा लब्धयो येन लब्धाः ॥ बुद्धयोपःयक्षयोर्जप्राथितरसत्तपोधिक्रयाः सप्त सद्यः॥ तिसम्बेबान्हि चक्रे जिनपतिवदनप्रोद्धतार्थप्रपंचां

सोपांगां द्वादशांगश्रुतपदरचनों गौतमः सोऽपराण्हे॥५२॥ संप्राप्तस्पर्वात्तिशयं जिनेंद्रमिंद्रस्तदा तं विनयावनम्नः प्रचक्रमे स्तोत्तिमिति श्रुतिज्ञः स्तुत्ये न केषां स्तवनाभिलाषः॥५३॥ अथ जिनेंद्र ! तव स्तवसद्धियो मम फलस्पृहयापि समुद्यता ॥ स्खलति वीक्ष्य मातिर्शुणगौरवं श्रमकरोऽभिमतोऽपि महाभरः॥५४॥ जिन ! तथापि मया हृदयस्थितप्रचर्रमिक्तभराद्भिधास्यते ॥ तव गुणस्तुतिरप्यतिद्रुष्करा सदनुरागश्रुतस्य न हि त्रपा ॥५५॥

अशा वीर प्रभूंनीं त्याचा संशय दूर केला. तेव्हां इद्रभूतीने पांचशे ब्राह्मण शिष्या-सह वीरनाथाजवळ दीक्षा घेतली. ५२ दिवसाच्या पूर्वभागांत दीक्षा घेतल्यावरोवर इंद्रभूती गणधराला परिणामांच्या अतिशय निर्मळपणामुळं बुद्धि, औपय, अक्षय, वळ, रस, तप, विक्रिया या सात ऋद्धि प्राप्त झाल्या. तेव्हां जिनेश्वराच्या मुखापासून निघालल्या अथीचा—जीवादि पदार्थांच्या वर्णनाचा विस्तार ज्यामध्ये केलेला आहे व उपांगांनीं सहित अशा द्वादशांगश्रुतज्ञानाच्या पदांची रचना इंद्र भूतिगणधरांनीं त्याच दिवशीं दिवसाच्या उत्तर भागांत केली.

५३ ज्यांना सर्व अतिशय अर्थात् अरहंताला ४६ गुण असतात ते सर्वगुण प्राप्त झाले आहेत अशा श्रीवीर जिनेंद्राची श्रुतज्ञानी व विनयानें नम्र झाले ल्या इंद्रानें रतित करण्यास प्रारंभ केला. वरे वरप आहे की जो स्तुतीला पात्र आहे त्याची स्तुति करण्याची इच्छा कोणास वरें उत्पन्न होत नाहीं? सर्वीसच होते. ५४ हे जिने वरा! तुझी रत्नित करण्याच्या कार्यी माझी छुद्धि फलाच्या इच्छेंनं प्रवृत्त झाली आहे परंतु तुझ्या गुणांचें फार मोठें ओझें आहे हे पाहन अर्थात् तृत्या टिकाणीं अनंत गुण आहेत हें पाहून माझी छुद्धी रखलन पावत आहे. वरोवरच आहे कीं, आवडतें देखिल मोठें ओझें थकवा उत्पन्न करितेंच. ५५ हे जिननाथ! तरीही माझ्या हृदयांत असलेल्या आतिशय मिक्सुलें तुझ्या गुणाची रत्नित कर्ण अतिशय कटि. ण असतांही भी ती करावयास प्रवृत्त झालों आहे. वरोवरच आहे कीं, उत्तम पता-श्रीवर-आत्म कल्याण करणाप्या पदार्थीदर मेमयुक्त वनलेल्या पाष्यारा लजा

विगतहानि दिवानिशमुज्जवलं विकचकं जचयरिमनंदितं ॥ वहित वीर यशस्तव संततं श्रियमन्नमपूर्वकलासृतः ॥ ५६॥ त्रिमुवनं ५ततं करणकमावरणहीनियदं खलु वीक्ष्यते ॥ जिन ! यथास्थितमस्य परिभ्रमन्न हि विचित्यगुणः परमेश्वरः॥५०॥ श्रुतसुमारुतकंपितिमेरुणा मनासिजो खुदुष्टपधनुर्धरः ॥ अधिरतो भवतेति किमद्धतं वलवता विपमोऽप्यिमभूयते ॥५८॥ जगित यस्य सुदुर्धरमूर्जितं प्रथितधैर्यभेरिपे शासनस् ॥ प्रकटदुःसहगुप्तिनिवंधनं परमकारुणिकः स क्यं भवान् ॥ ५९॥

नसते. ५६ हे वीरनाथा ! तुझे पूर्ण यश अपूर्व चंद्राची शोभा नेहर्मा धारण करीत आहे. या तुझ्या यशाला केव्हांही हानि नाहीं. तें रात्रंदियस उज्ज्वलच राहतें व प्रफुछ झालेल्या कमलसमूहांनीं ( दिवसा विकास पावणाऱ्या कमलसमृहांनी. ) त प्रशंसनीय झालें आहे. दिनविकासि कमलें चंद्राच्या प्रकाशाला पाहन विकासित न होतां मिटतात अधीत त्याच्या प्रकाशाचें स्वागत-अभिनंदन करीत नाईांत. पण हे जिना! तुझ्या यशाला पाहृन तीं प्रफुालित होतात चंद्राला कृष्ण पक्षांत हानि आहे, दिवसा तेजोहीनता ही आहे. य स्तव तुझें यश अपूर्व चढ़ाच्या गोमेला धारण करीत आहे. ५७ हे वर्द्धमान जिना! इदियांच्या क्रमानें व आवरणानें रहित होऊन तुजकडून हें जग जसें आहे तसें पाहिन्नं जात आहे. तसें हे जग पाहण्यासाठी-जाणण्यासाठी तुला फिरावें लागत नाहीं. अथीत एकाच ठिकाणीं राहून तुं सर्व जग जाशीत आहेस. वरोवरच आहे कीं, हे विभो ! तुझे गुण विचार करतां येण्या सारखें नाहीत. ५८ शिंकेच्या वाऱ्यानें हे जिना! त्वां मेरूपर्वत देखिल सकंप केला होता. यास्तव अनुलवल धारण करणाऱ्या तुजकहन कोमल पुष्पांचें धनुष्य धारण कर गारा मदन जिंकिला गेला यांत काय आश्चर्य आहे वरें ? वरीवरच आहे कीं. बलवान प्राण्याक इन तुच्छ देखिल च्य.क्ति जिंकिली जातेच. ५९ हे दीर प्रभो ! तुझे शासन प्रासिद्ध धैर्यरूपी धन धारण करणाऱ्या पुरुषांना देखिल धारण करणे कार्टण आहे. तुझें हें उत्कृष्ट शासन स्पष्ट रीतीने दुःसह अशा गुप्तीनी युक्त आहे. अर्थात् यनोगुप्ति, वचनगुप्ति व कायगुप्ति यांनीं सहित आहे. यास्तव हे प्रभी । आपण-परम दयाळ कसे ? जसे एखादा राजा उघटपण दुःसर अहा काराय्हांत छोकाना

अनुदिनं कुमुदं परिवर्द्धयन् परमलोकिवतापि महो द्धत्॥ विरहितावरणोऽप्यचलिश्यितिजिनपते! त्वमपूर्वतमोपहः॥ ६०॥ सम्पलस्य गिरं जिन! तावकीं हततृपो न भवन्ति न साधवः॥ नभित वाहेविमोरुरजोहरामिनवां ब्रुप्तो सुवि चातकाः॥ ६१॥ छुउणस्निधरप्यजडाशयो वियदनोऽपि निकामस्ख्यदः॥ त्रिजगत्तसिथपोऽप्यपरिग्रहस्तव विरुद्धियदं जिन चेष्टितम्॥६२॥

कां त्रागला म्हणजे त्याची आज्ञा धेर्य धारण करणाच्या लोकांना देखिल पालगांना भीति वाटतें तर्ने हे प्रभी! आपलें ज्ञासन-मत उत्कृष्ट आहे परंतु त्याचे गुप्ति, सिमित वर्गेरे नियम पालणें धीर मनुष्यांना देखिल कठिण वाटतें यास्तव असे कहक नियम पाल्न देणाच्या विभी! तूं द्याळ कथा वरे आहेस ? या ठिकाणीं कवीनें वीर प्रभूच्या मनाची निंदा केली आहे असें वाटेल परंतु ती निंदा नव्हे. पालण्याला किला परंतु आत्म्याचें खरें दाल्याण करून देणारें असेंच वीरप्रभूचें मत आहे यास्तव त्याच्याच ठिकाणीं पूर्ण दयालता संभवते. असें कवीनें आपलें मत दाखिलें आहे. ६० हे जिनेश्वरा! तूं अपूर्वचंद्र आहेस, तूं नेहमीं कुम्रद-कु-पृथ्वी तिला आनंद देतीस, व तुझें तेज आतिशय लोकवितापि लोकांना जस्त करणारें आहे. अर्थीत सर्व लोकाला-जगाला प्रकाशित करणारें—जाणणारें आहे. तुझ्यावर कथीहि कर्मरूपी मेघाचें आवरण येत नाहीं व तुं नेहमी स्थिर राहतोस यारतव तूं अपूर्वचंद्र आहेस. आकाशांतील चंद्र फक्त राजीं विकास पात्रणाच्या कमलांनांच आनंदित करिती. त्याचा प्रकाश सर्व जगभर पडत नाहीं. त्याला हम झांकून टाकितात. व तो एके ठिकाणीं राहात नाहीं. म्हणून त्याच्या ठिकाणीं कांहींच अपूर्वता नाहीं.

६१ हे जिनेष्वरा! तुझ्या उपदेशाची प्राप्ति करून घेऊन सत्पुरुष तृषाराहित होनात. अर्थात् तुझ्या उपदेशक्षी जलापासून भन्य जीवाचा मोटा पापक्षी मल नष्ट होतो व परपदार्था विषयींचा लोभ नष्ट होतो. जसें मोठ्या धूलीचा उपश्म करणारें असें आकाशांतील नवीन मेघाचे पाणी प्राप्त करून घेऊन या पृथ्वीतलावर चातक पक्षी तृप्त होत नाहीं काय १ होतात. ६२ हे जिना! तृं अनेक सद्गुणक्षी रत्नांचा साटा असूनही अर्थात् गुणरत्नसद्धद्र असूनही अजलाशय-समुद्र नाहींस याचा विरोध परिहार असा. अजहाशय-सूर्यंपणाच्या आदायानं रहित आहेस. अर्थात् तृं महाज्ञानी आहेस. तृं विसदन-मदनविकारानं रहित असूनहि अतिक्षय कामावे-

उक्त्वेति संपृष्टवते यथावत्तस्मे स जीवादिपदार्थतत्वं ॥ भन्यान्पथि स्थापयितुं विमक्तिरित्थं जिनेद्रो विजहार वीरः॥८०॥ अपनीतकंटकतृणोपलादिका धरणीतले सपदि योजनांतरे ॥ सुरभीकृताखिलदिगंतराः सुखा मरुतो ववुः पथि पुरो जिनेशिनः

c4 11

अनभ्रवृष्टिः सुरभिर्महीरजः शमं निनायार्क्टतपंकविश्रमा ॥
अधारितास्तस्य पुरःस्वयं ययुर्ध्वजाः समंताद्गगेन मर्चलाः ॥८६॥
मणिमयाञ्दतलप्रतिमा मही विविधरत्नभयी समजायत ॥
सकलसस्यचयो वृद्धेऽवनौ विदितपक्षसृगैरिप तत्यजे ॥ ८७ ॥
पादन्यासे सप्त पद्माः पुरस्तात्पश्चाच्चासन्सप्त तस्यांतिरिक्षे ॥
अप्रे देवैर्वाद्यमानानि भक्त्या मंद्रं मंद्रं दिव्यतूर्याणि नेद्यः ॥८८॥

करीत असतां पुढें आलेल्या किरीटाला डाव्या हातानें पूर्व टिकाणीं योग्य रीतीनें नसवृत इंद्रानें पुढें लिहिल्याप्रमाणें प्रश्न केले. ८३ हे प्रभी ! हें जग कसें स्थिर राहितें आहे व केवढें आहे ? तत्वं कोणतीं आहेत ? अनादि व अविनाशी अशा या आत्म्याला कर्मवंध कोणत्या कारणांनी होतो व कोणत्या कारणांनीं त्याल मोक्ष माप्त होतो १ सर्व पदार्थाचें स्वरूप कसें आहे १ हें आपण आपल्या दिव्य वाणीनं सांगावें. ८४ याप्रमाणे प्रश्न करणाऱ्या त्या इंद्राला यथार्थ रीतीने प्रभूनी जीवादिपदर्थीचें स्वरूप सांगितलें नंतर वीरप्रश्च सर्व भन्यांना मोक्षमागीत स्थापन करण्यासाठीं विहार करूं लागले. ८५ विहार करीत असतां मार्गामध्यें जिनेश्वराच्या पुढें एक योजनपर्यंत पृथ्वीतलावर कांटे, गवत, पाषाण वगैरे दृर करणारे, सर्व दि-शांचा मध्यभाग सुगंधित करणारे असे सुखदायक वारे वाहू लागले.८६ मेघ नसतांही सुगथ अशा गंथोदकवृष्टीनें जमीनीवर चिखल न करितां सर्व धुळ नाहीशी केली.वाच्या-नें हाळणारे ध्वज आकाशांत सर्वत्र अधर रीतीनें प्रभूच्या पुढें गमन करूं लागले. ८७ पृथ्वी रत्नमय दर्पणामभाणें नानापकारच्या रत्नांनीं निर्माण केलेली अशी आली. पृथ्वीवर सर्वे धान्यांची वाढ झाली. ज्यानीं आपापला पक्ष जाणला आहे अशा पशंनीं वैर सोइन दिलें. ८८ आकाशामध्यें प्रभ्र विहार करीत असतां त्यांच्या पाऊल ठेवण्याच्या जागीं पुढें सात कमळें व मागे सात कमळें निर्माण

अग्रेसरं व्योमिन धर्मचकं तस्य स्फुरद्वासुरराश्मचकं ॥

क्रितीयतिग्मद्युतिर्विवशंकां क्षणं ब्रधानामिप कुर्वदासीत् ॥ ८९ ॥

एकादश ख्यातमहानुभावास्तस्येंद्रभूतिग्रसुखा गणेशाः ॥

ससुन्नताः पूर्वधराश्च प्ज्या वसूबुरुद्यस्त्रिशतानि लोके ॥ ९० ॥

मताः सहस्राणि नवाथ शिक्षका युतान्युदारा नविभः शतैः परैः

सहस्रमासन्नवधीक्षणान्वितास्त्रिभः शतैरम्याधिकं च साधवः ९१

धीरा मनःपर्ययवोधयुक्ता बुधस्तुताः पंच शतान्यभूवन् ॥

अनिदिता वैकियिकाः शता निख्याता वभूवृनेव शांतिचत्ताः ॥

अनिदिता वैकियिकाः शता निख्याता वभूवृनेव शांतिचताः ॥

उन्भीलिताशेषकुतीर्थवृक्षा वादिदिपेन्द्राश्च चतुःशतानि ॥ ९३॥

अथार्यिकाः शुद्धचरित्रभूषाः श्रीचंदनार्याप्रसुखा वभूवुः ॥

पद्भिः सहस्रेरिधकानि वंद्यास्त्रिशत्सहस्राणि स्रनीतिभाजः ॥९४॥

होत असत. प्रभूंच्या पुढें देवाक इन भक्तीने वाजविलीं जाणारी दिन्य वार्चे गंभीरपण शब्द करूं लागलीं. ८९ चमकणाच्या तेजस्वी किरणसमूहांनीं युक्त असे धर्मचक्र प्रभूच्या पुढें चालुं लागलें. विद्वान लोकांना देखील हें दुसरें सूर्यमंडल आहे अशी ते शंका उत्पन्न करीत असे. ९० ज्यांचा जानप्रभाव प्रासिद्ध आहे असे श्रीवीरप्रभूचे इद्रभूति वगैरे अकरा गणधर होते. व उन्नत अवस्थेला पोहोचलेले अर्थात उत्तम चारित्वधारक महत्वशाली व पूज्य असे चौदा पूर्वाला जाणणारे तीनशे मुनिरान होते (श्रीवीरप्रभूचे इद्रभूति, वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौन्य, पुत्र, मैत्रेय, अक्रपन, धवेल व प्रभास असे अकरा गणधर होते.)

९१ नउ हजार नजरो शिक्षक मुनि प्रभूच्या समवसरणांत होते, असं
मानिले आहे. तसेंच ज्यांना अवधि ज्ञानक्ष्मी डोळा आहे असे मुनि एक हजार
तीनरों होतें. ९२ विद्वानाकहून रतुत्य वधीर असे मनःपर्यय ज्ञानीमुनि पांचरों होते.
विद्वज्जनांना पूज्य व आतिशय उत्कृष्ट अर्थात् लोकोत्तम असे केवलज्ञानी मुनि
सातरों होते. ९३ प्रशंसनीय व शांत अतःकरणाचे वैक्तियिक ऋदियारक मुनि नजरो
होते. ज्यांनीं संपूर्ण कुधमेरूपी द्रक्षाल अर्थात ज्यांनीं
कुमतक्षी दृक्षाला सपूर्णपण मुलापामृन उपदृन टाकिमें असे

अणुगुणवरशिक्षाभेदभिन्ननतस्था जगति शतसहमाण्यूर्जिताः आवकाः स्यः।

त्रतमणिगणभूपास्तत्वमार्गे प्रवीणाक्षिगुणशतसहस्राण्युज्ज्वलाः शविकाश्च ॥९५॥

तस्यासंख्याता देवदेव्यः सभायां संख्याताः स्तियंग्जातयश्चांप्य-भोहाः॥

आसन्सम्यक्तं निश्चलं धारयंतो ज्ञाताशेपार्थाः शांतया चित्तं वृत्या ॥ १६॥

एभिः समं त्रिमुवनाधिपतिर्विहृत्य त्रिंशत्समाः सक्छसत्वहितोः पदेशी ॥ पावापुरस्य कुछुमाचित्रपादपानां रन्यं श्रियोपवन्यापः तता जि-

कृत्वा योगनिरोधमुज्झितसभः पष्ठेन तस्तिन्वने ॥ व्युत्सर्गेण निरस्य निर्मेटक्चिः कर्माण्यशेषाणि सः ॥ स्थित्वंदाविष कार्तिकासितचतुर्दश्यां निशांते स्थिते ॥ स्वातौ सन्मतिराससाद भगवान्सिद्धं प्रसिद्धाश्रयं ॥१८॥

वादिक्षी गर्नेंद्र अर्थाद बादऋदींचे धारक मुनीश्वर चारणे होतें. ९४ निजाषें चिर्त्रहणी अलंकार ज्यांनी धारण केला आहे व चहना आर्थिका ज्यामध्ये मुख्य आहे अन्ना सुनीतिला अर्थात् मोक्षमार्याला अनुसकत नागणाच्या आर्थिका छत्तीस हजार होत्या. ९५ अणुव्रते, गुणव्रतें आणि विव्यावतें या भेदांनी भिन्न अन्ना व्रतांत स्थिर राहणारे श्रावक या भूतलावर एक लाख होते. व व्यतक्षी-रत्नसमृहाच्या अलंकारांनीं युक्त आणि तत्वमार्यीत निष्णुण निद्रांप अन्ना तीन लाख श्राविका होत्या. ९६ प्रभूच्या समवसरणांत असल्यांत हेवी व देव होते व अमोह अर्थात् मोह रहित असे पंचेदिय निर्यंच सख्यात होनें. हे सर्व तिर्यच, देवी व देव निश्चल सम्यवत्वाला धारण करणारे सर्व पदाधीचें स्टक्षण जाणणारे असे होते. प्रभूच्या समवसरणांत हे सर्व शांत चिक्तानें वस्तत असत. ९७ तीन जगाचे अदियति हंदूर्ण जीवांना हिताचा उपदेश करणारे अन्ना कीर जिनेश्वरांनीं तीम वर्षेपर्यंत वा सर्व

अब्याबाधं पदमतिशयानंतसौरुयं जिनेंद्रे
तस्मिन्याते तनुमनुपमां पूजिनुं तस्य पूतां ॥
भक्त्याजग्मुविब्धपतयो विष्टरोत्कंपनेन ॥
ज्ञात्वा सर्वे द्वतमनुगतास्तं प्रदेशं स्वसैन्यैः ॥९९॥
अमीन्द्रमौलिवररत्नविनिर्गतेऽमौ कर्पूरलोहहरिचंदनसारकाष्टेः संधुक्षिते सपदि वातकुमारनाथैरिंद्रा मुदा जिनपतेर्जुहुनुः शरीरं१०० कल्पाः कल्याणमुच्चैः सपदि जिनपतेः पंचमं तस्य कृत्वा ॥
भ्यान्नोऽप्यस्य भक्त्या ध्रुवमनिविद्यात्सिद्धिसौरूयस्य सिद्धिः॥
इत्यंतिश्चितयंतः स्तुतिमुख्यमुख्यस्तं प्रदेशं परीत्य
प्रीत्या शकादयःस्वं प्रतिययुरमरा धाम संप्राज्यसंपत् ॥ १०९ ॥

संघासह विहार केला. नंतर ते पुष्पांनी युक्त अशा वृक्षांच्या सौंद्र्यांने रमणीय अशा पावापुर शहराच्या उद्यानामध्यें आले. ९८ त्या उद्यानामध्यें दोन दिवस पर्यंत योगनिरोध करून ज्यानीं सभास्थान सोडिलें आहे अर्थात् समवरणाचा त्याग केला आहे, परमावगाट सम्यग्द्र्शनधारक, अशा वरिस्वामीनी कायोत्सर्गाने सर्व कभीचा नाश केला. व कार्तिक कुण्णपक्षाच्या चतुर्दशीच्या पहाटेस स्वाति नक्षत्रावर चंद्र असतां भगवान सन्मति जिनेश्वरांनीं प्रसिद्ध अशा शोभेळा धारण करणाऱ्या मोक्षास प्राप्त करून घेतलें. ९८ उत्कृष्ट व अनंत सीख्य जेथे आहे अशा वाधारहित मोश्चपदाछा बीर भगवान गाप्त झाले असतां, सिंहसनांच्या हलण्याने भगवतांना मुक्तिमाप्ति झाळी हें नाणून आपल्या सैन्यानें अनुसरलेले असे ते सर्व इंद्र मोट्या भक्तीनें उपमारहित अशा जिनेश्वराच्या पवित्र शरीगाचें पूजन करण्यासाठीं त्या महेशाळा-पावा पुराच्या उद्यान मदेशाला-जेथं भगवताला माक्ष प्राप्त झाला आले. े १०० अग्निकुमार देवांच्या इंद्रांच्या मुक्कटाबरील चत्कृष्ट रत्नापासून नियालेला अग्नि कापूर, अगरु, गोशीर्ष चंदन व इतर उस्कृष्ट सुंगाधि लांकहें यांनीं तत्काल यातकुपारदेवांच्या इंद्रांनीं पेटविछा असतां सीधमेंद्र वगैरे इंद्रांनीं प्रभृच्या श्ररीराची आनंदाने दहन किया केळी. १०१ सौधर्मस्वर्ग वगैरे स्वर्गीत राहणाऱ्या देवांनी तस्काल श्रीवीरमभूचे पांचवें कल्याण-मोक्ष कल्याण केलें. व या प्रभूच्या भक्तीने आम्हास देखिल लोकरच मोक्षसुखाची कायमची प्राप्ति होवे। असा त्यांनी मनांत विचार केला. हा विचार करीत व मुखांची एकसारखी स्तुति करीत आनि-

कृतं महावीरचरित्रमतन्मया परस्वप्रतिवीधनार्थ ॥ सप्ताधिकित्रिंगभवप्रवंधं पुरूरवाद्यतिमवीरनार्थं ॥ १०२ ॥ वर्द्धमानचरित्रं यः प्रव्याख्याति शृणोति च ॥ तस्यह्परलोकस्य सोख्यं संजायते तरां ॥ १०३ ॥ संवत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते भावादिकीर्तिम्रानिनायकपादसूले ॥ सोद्रुल्यपर्वतानिवासवनस्यसंप्रसत्च्छ्राविकाप्रजानिते सति वाममत्वे ॥ विद्या मया प्रपठितेत्यसगाब्हयेन श्रीनाथराज्यमखिलं जनता प्रकारि ॥

प्राप्येव चोडिविषये विरलानगर्यां प्रंचाएकं च समकारि जिनोपिदेष्टे॥ इत्यसगञ्जते वधमानचरिते महापुराणोपनिषिद भगविश्वर्गण-गमनो नाम अष्टादशः सर्गः॥ ॥

🕸 समाप्तोऽयं ग्रंथः 🏶

शय भीनीनें इंद्राहिकांनीं त्या प्रभूच्या मोक्षस्थानाला प्रदक्षिणा घातल्या. यानतर हा सर्व विधि करून उत्कृष्ट वेभवान युक्त असलेल्या आपल्या स्थानी—स्वर्गादि-ग्थानीं ते नियन गेले. १०२ पुरुरवाच्या भवापासून वीर जिनाच्या भवापयंत सदतीस भवांचे ज्यांत वर्णन केले आहे असे हे महात्रीर जिनेश्वराचें चिग्न मी [असगमहाकवींने ] स्वतःला व इतर भव्यांना यापामून वोध मिलावा म्रणून रिचलें आहे. १०२ जो भव्य या वर्धमान चिर्त्तांच व्याख्यान करितों अर्थान त्याचें रपष्टीकरण करितों व जो भव्य हें चिरिष ऐकतो त्या भव्यांना अधिक प्रमाणानें इहलोक व परलोकाचीं सुर्खे प्राप्त होतात १०४-१०५ मोहत्व्य नांवाचा पर्वत जेथें आहे अन्ना वनामध्यें राहणाच्या संपत् या नांवाच्या श्रेष्ट शाविकनें महावीरचरिताविपयीं आपला आदर प्रगट केल्यामुळें मी (असग प्रहाकवीनें) भावकीति मुनिष्वरांच्या चरणासमीप नज्यों दहा संवतांत हें विस्य प्रवाचें चरित्र रचिले आहे. प्रजेचें कल्याण कराणाच्या श्रीनाथराजाचे राज्यांन जाऊन मी असगनांवाच्या कर्वानें विद्येचे अध्ययन केलें आहे. व चोल-विस्तित्वा नगरीमध्यें मी [असगकवांनें ] जिनेश्वरोपिटिए असे आठ ग्रंथ

श्रीवीर्ग्सणे असगकाविविराचित महापुराणोपनिषद वर्द्धमानचरित्रांतिल श्रीवीर्ग्नेज्ञतानेचा महासमाधीचे वर्णन करणार हा अठराया सर्ग समाप्त झाला.

सवास